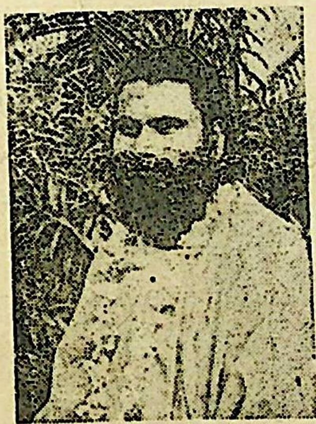
2-5

(आनन्दवनग्रन्थमालायाः षष्ठं कुसुमम्)

ईशावास्योपनिषत्

शांकरभाष्य-आनन्दगिरीयटीकया, ईशावास्यरहस्यविवरणेन, वार्त्तिकेन च सहिता

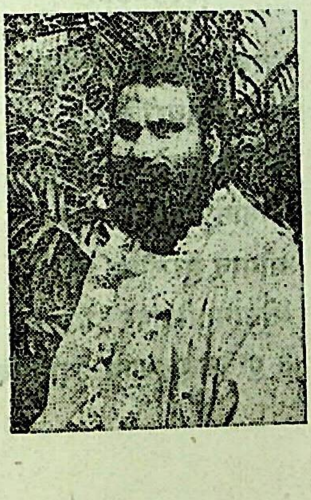


ग्रन्थकारः—
जयमङ्गलाचार्यः (स्वामी काशिकानन्दः)

(आनन्दवनग्रन्थमालायाः षष्ठं कुसुमम्)

ईशावास्योपनिषत्

शांकरभाष्येण, आनन्दगिरीयटीकया, ईशावास्यरहस्यविवरणेन, वार्त्तिकेन च सहिता



रहस्यविवरणकारः—

श्रीमज्जयमङ्गलाचार्यः (स्वामी काशिकानन्दः)

प्रकाशक—श्री स्वामी काशिकानन्द जी ट्रस्ट

सेठ केवलराम की स्मृति में

१०००=००

सेठ केवलराम घनश्यामदास चेरिटेबुल ट्रस्ट की ओर से
श्रीमती मथुरी बाई
श्रीमान् दामोदर दास
श्रीमान् गिरिधर दास
श्रीमान् मुरलीधर और
श्रीमान् पीतांबर दास
ने पुस्तक मुद्रणार्थ प्रदान किया

प्राप्ति स्थान :—
आनन्दवन आश्रम
स्वामी विवेकानन्द रोड
कांदीवली बंबई ६७

मुद्रक :—
गीताधर्म प्रेस,
मिश्रपोखरा,
वाराणसी।

निर्वाणपीठाधीश्वर-महामण्डलेश्वर श्री १००८

श्रीकृष्णानन्दस्वामिपादानां शुभसंमतिः

—०:❀:०—

मया ईशावास्योपनिषदः शांकरभाष्या-ऽऽनन्दगिरिटीकासहितं जयमङ्गलाचार्य-स्वामिकाशिकानन्दविरचितं विवरणं दृष्टम्।

यद्यपि अस्या उपनिषदो बह्व्यष्टीका विद्यन्ते, तथापि पूर्वोत्तर-पक्षसमुन्न्यासपूर्वकं विदुषा स्वामिना यथा विवेचितं तदन्यत्र दुर्लभमेव।

आशासे तत्त्वजिज्ञासूनां कृत इदं विवरणमुपकाराय मनस्तोषाय च भविष्यतीति।

अनन्तश्रीविभूषित श्रीनिरञ्जनपीठाधीश्वर-
स्वामी महेशानन्दगिरि जी महाराज
महामण्डलेश्वर-विरचित

भूमिका

मानव संस्कृति का स्वरूप एक होने पर भी देश, काल, अवस्था, अर्हा आदि के भेद से उसके परिवेश अनेक होकर सामान्य व्यक्ति को उसकी एकता का ज्ञान होना तब तक संभव नहीं होता जब तक विद्वज्जनों के द्वारा प्रतिपादित न किया जाय। उस दिन की कल्पना से ही संस्कृत मानव पुलकित हो उठता है जिस दिन इन परिवेशों से मानव एक दूसरे से विघटित न होकर एक ही के अनेक परिवेश ज्ञान से अपने को अधिक समृद्ध अनुभव करेगा। वही समय होगा जब वैदिक आदर्श मानव मात्र को अनुप्राणित करेगा, क्योंकि विश्व में वेद ही एक-मात्र परिवेशरहित मूल मानव संस्कृति का सन्देशवाहक है। वेद के अध्यात्म प्रतिपादक अंश उपनिषद् कहे जाते हैं। अविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्... विद्योपनिषदिति' आदि भाष्य में सर्वज्ञ शंकर मूलतः संसार के बीजरूप अज्ञान को नाश करनेवाले जीव जगत्-ईश्वर के बाध से होनेवाले अखण्ड आत्मबोध को ही उपनिषद् स्वीकारते हैं, तथापि 'ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दोपपत्तेः' से वे तत्प्रतिपादक ग्रन्थ में उपनिषद् शब्द का बर्ताव करना भी उचित ही ठहराते हैं। इस दृष्टि से उपनिषद् किसी ग्रन्थविशेष का नाम न होकर प्रतिपाद्य विषय विशेष या तत्प्रतिपादक शब्दराशि का नाम ही सिद्ध होता है। वेदों में आनेवाले इस भाग को श्रौत उपनिषद्, एवं वेदेतर भाग में आने वाले भागों को स्मार्त उपनिषद् कहना इसलिये प्रसिद्ध है। गीता को भी उपनिषद् कहा गया है। सर्वज्ञ शंकर ने स्वयं स्वकृत उपदेशसाहस्री को उपनिषद् कहा है। वर्त्तमान में २२० ग्रंथ उपनिषद् नाम से प्रकाशित हो चुके हैं एवं रामकृष्णपरमहंस के उपदेशों का

संग्रह भी रामकृष्णोपनिषद् नाम से छप चुका है। बहुत से लोग उपनिषद् नाम से ही उसे जो वैदिक मान बैठते है, अथवा उसके उपनिषद् होने का खण्डन करने लगते हैं वह इस बात के सम्यग्रूप से न समझने का ही फल है। यदि उसमें अध्यात्मप्रतिपादन नहीं है, तो वह उपनिषद् नहीं है, यही मान्यता वास्तविकी है। तंत्रों में भी प्रत्येक देवता की उपनिषदें प्रसिद्ध हैं। पर ये सभी स्मार्त्त हैं, श्रौत नहीं। स्मार्त्त के पुनः अनेक भेद हैं। पुराणों में या पौराणिक पद्धति पर रचित होने से पौराणिक, तंत्र पद्धति या तंत्रों में आने पर तांत्रिक आदि भेद लेखक का नाम अज्ञात होने से करना आवश्यक होता है।

उपनिषद् शब्द श्रवणमात्र से जो वैदिक धारा स्मृतिपथ में कौंध जाती है, उसका मूल कारण रहा है सर्वज्ञ भगवत्पाद की परम्परा में श्रौत उपनिषदों को ही प्रमाणरूप से स्वीकारना, एवं अन्य परम्पराओं में प्राय उपनिषदों की उपेक्षा। उचित भी है क्योंकि वैदिक मार्ग के प्रतिष्ठाता होने से भगवान् भाष्यकार की परम्परा वेद से अतिरिक्त किसी भी शब्दराशि को परम प्रमाण स्वीकार कर ही नहीं सकती थी। अतः औपनिषद् मत सर्वत्र अद्वैतमत के रूप में ही प्रसिद्ध है। बौद्ध, जैन आदि नास्तिक एवं न्याय, सांख्य, वैयाकरण आदि आस्तिक दर्शनों में औपनिषद् मत का नामोल्लेख करके अद्वैत का ही खण्डन किया है।

वेदों में मंत्र और ब्राह्मण दो भाग हैं। अत श्रौत उपनिषद् भी मंत्रोपनिषद् और ब्राह्मणोपनिषद् उपलब्ध स्थल विशेष के भेद से स्वीकर्त्तव्य हैं। शंकरयुग में मीमांसा का कर्मकाण्ड ही वैदिकों में वैदिक धर्म के नाम से प्रसिद्ध था। मीमांसक ब्राह्मण ग्रंथों को प्रधान एवं मंत्रग्रन्थों को गौण मानते हैं। उनके अनुसार यज्ञ करने को कहने वाले विधि वाक्य, या निषेध वाक्य ही प्रधान हैं। एवं यज्ञों को करने में उपयुक्त होने से मंत्र उन विधि आदि वाक्यों के अंग होने से गौण है। समय के अनुकूल ही अवतारी महापुरुष कार्य करते हैं। अतः भगवान् भाष्यकारों ने प्रधान रूप से ब्राह्मणग्रन्थों में आनेवाले उपनिषदों की विस्तृत व्याख्या करके सिद्ध किया कि कर्मकाण्डियों के तथा कथित दुर्गभाग में भी जब ब्रह्मविद्या ही प्रधान होती है तो देवता के स्वरूप प्रतिपादक भाग मंत्र-

ग्रंथों में तो सगुण या निर्गुण ब्रह्मविद्या की प्रधानता हो इसमें कहना ही क्या ! सर्वज्ञ शंकर के इस प्रयास के फलस्वरूप वैदिक परम्परा में कर्मकाण्डियों को बलात् ब्रह्मविद्या को प्रधान मानना पड़ा एवं शीघ्र ही मीमांसा के सभी सम्प्रदाय समाप्त होकर, वे अद्वैत के अन्तर्भुक्त हो गये। पठन पाठन का विषय ही मीमांसा रह गई, मीमांसाधर्म समाप्त हो गया। कर्मकाण्ड स्वर्गादि के अभिलाषियों के उपयोग में आने लगा, या अन्तःकरण की शुद्धि के। एक अखण्ड वैदिक सम्प्रदाय हो गया। उसके कई शताब्दियों के पश्चात् वैष्णवों ने विद्रोही बनकर यदि भक्ति या उपासना को स्वतंत्र धर्म बनाने का प्रयास किया भी तो पुराण या पांचरात्र आदि आगमों के बल से, न कि ब्राह्मणग्रंथों के बल से। कर्म के मानसरूप में जो ज्ञान की समानता है, उसी से अपने को पुष्ट करने का यत्न किया है, साक्षात् कर्म से नहीं। यद्यपि मानव के अन्तस्तल का यह कर्म के प्रति अनुराग सदा ही रहेगा क्योंकि जिस अहं के आधार पर हमारा सारा व्यवहार टिका है उसमें संवित्प्रकाश की ही तरह अविद्याकार्यता भी वृत्तिरूप में है। अविद्याकार्य में अपने करण की तरफ उतना ही लगाव रहना सहज है, जितना चेतन का अपने कारण की ओर। परन्तु भारत के हृदय से इस लगाव को सर्वथा हटा देना सर्वज्ञ भाष्यकार की इतनी बड़ी देन है जिसकी सानी अन्यत्र नहीं मिलती। भक्तिधर्म ज्ञानकाण्ड के आश्रित होकर ही फले फूले, कर्मकाण्ड के नहीं, यह प्रत्यक्षसिद्ध है।

यद्यपि कालानुरोध से ब्राह्मणोपनिषदों की प्रधानता रखी गई सर्वतंत्रस्वतंत्र वेदावतार भगवान् भाष्यकारों ने मंत्रोपनिषद् को भी अछूता छोड़ना उचित न समझा। अन्यथा यह भ्रान्ति हो सकती थी कि संभवतः मंत्र भाग में अध्यात्म न हो। इसके लिये चुनी हुई उपनिषदों में शुक्ल यजुर्वेद के काण्वशाखा की उपनिषद् का विशेष महत्त्व है। शुक्ल यजु की संहिता सर्वथा कर्मानुसारिणी है। परन्तु अन्तिम अध्याय का किसी भी श्रौत यज्ञ में विनियोग नहीं है। अतः जप मात्र में इसका विनियोग माना गया है। जहाँ कर्मकाण्डी भी कर्म में विनियोग न दिखा सके, वहाँ वेदार्थ संरक्षण के लिये यदि ब्रह्मार्थता सिद्ध हो

जाय तो सच्चा वैदिक प्रसन्न ही होगा। अतः सिद्धार्थ के प्रतिपादन में लगाकर सर्वतंत्रस्वतंत्र श्रुतिन्याय कोविद शंकर ने मंत्रों में अभीष्ट सिद्धि करते हुए भी मीमांसकों को विरोधी न बनाया। किंच संक्षिप्त होने पर भी इसमें विषय बाहुल्य है। सभी लिंगों से इसका तात्पर्य निर्णय भी सहज है। अतएव शांकरसम्प्रदाय में इसी को सर्वप्रथम पढ़ा भी जाता है।

इधर एक नवीन समाज चला है, जो मीमांसकों के ठीक विपरीत मंत्र को ही वेद स्वीकारता है। उसमें भी केवल मात्र चारशाखाओं को ही प्रमाण मानता है। इनके यहाँ यद्यपि माध्यन्दिनशाखा मान्य होने से काण्व का प्रामाण्य नहीं है, पर प्रायः मंत्रों के समान होने से ईशावास्य का भाष्य इनसे विचार करने में काम आता है। इधर महामण्डलेश्वर महेश्वरानन्दगिरिजी ने संहिताओं के अध्यात्म-मत्रसंग्रहों पर अद्वैत व्याख्याएँ लिखकर इस तरफ प्रयास किया है।

वस्तुतः वेद में सर्वत्र ही अद्वैत धारा का प्रवाह चलता है, कहीं व्यक्तरूप से और कहीं अव्यक्त रूप से समग्र वेदों का निष्पक्ष पाठक अवश्य ही इस धारा का दर्शन करता है। वेद के कुछ भागों को पढ़ने से संभव है कि भ्रम रह जावे। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में ही 'सो अङ्गिरोभिरङ्गिरस्तमो' कहकर ईशावास्योपनिषद् के 'मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्' का स्मरण हो आता है। सायणभाष्य है 'अङ्गन्ति गच्छन्ति इति अङ्गिरसो गन्तारः। तेभ्योप्यङ्गिरस्तमो भूत् अतिशयेन गन्ता भवति।' चलने वालों में सबसे तेज चलने वाला। प्रथम मण्डल में ही 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योभिचाकशीति' आ जाता है जिसको उपनिषदों में भी हम पाते हैं। जिस उल्टे वृक्ष का वर्णन कठोपनिषद् व गीता में मिलता है उसे भी 'अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः। नीचीनास्स्थुरुपरि बुध्न एषामस्मेन्तर्निहिताः केतवः स्युः' प्रथममंडल में ही हम पा लेते हैं। पवित्र एवं बलवान् राजा वरुण मूलरहित अन्तरिक्ष में स्थित होकर तेजस्वी स्तूप को खड़ा रखते हैं। इसकी तेजोमयी शाखाएँ नीचे जाती हैं जो हममें प्रविष्ट होकर रहती हैं, पर हमसे छिपी रहती हैं। कोई भी सहृदय यह कहे बिना न रह

सकेगा कि गीता का स्तूप को अश्वत्थ बना देना एवं तेजस्विता वाले भाग को हटा देना न साहित्यिक दृष्टि से गीता वर्णन को श्रेष्ठ बनाता है और न आध्यात्म-भाषा की दृष्टि से ही। तेज का प्रवेश तुरन्त ही आचार्यप्रवर के प्रतिबिम्बवाद के अनुकूल जीव का प्रवेश भी बता देता है। गुहाहितता का पूर्वरूप तिरोधान के द्वारा बता दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेद के प्रारंभ से ही अद्वैत सिद्धान्त प्रतिपादित है। अतः कुछ आधुनिकों की यह मान्यता है कि अद्वैतवाद केवल परवर्त्ती उपनिषदों में मिलता है सर्वथा निर्मूल है। शंकराचार्य को अद्वैत का प्रारंभक स्वीकारना तो उससे भी बड़ी भूल सिद्ध होती है। यह बात दूसरी है कि अष्टादशोपनिषद् में अद्वैत अधिक व्यक्त है, अतः जिज्ञासु को सुविधा से वहाँ सकल सिद्धांत एकत्रित मिल जाता है। सर्वज्ञ शङ्कर के भाष्यों में तो वह पूर्ण मुखरित हो उठा है। हिन्दू धर्म विश्व धर्म इसी रूप में रहा है, एवं मध्य-कालीन मनगढ़े सिद्धान्तों का परित्याग कर पुनः इसे सजीव बनाने पर अवश्यमेव समग्र विश्व इसे स्वीकारेगा।

प्रायः आरोप किया जाता है कि वेदान्त जगत् के स्वरूप का प्रतिपादन निराशावाद की दृष्टि से करता है पर विचार से सिद्ध होता है कि ठीक इसके विपरीत वेदान्त महान् आशा का प्रारंभक है। वेद में ब्रह्म का प्रसार ही जगत् को बताया है। मिट्टी या लोहे के अनन्त पात्रों का रूप लेने पर भी पात्र के पूर्व, मध्य और अन्त में जैसे मिट्टी ही सत्य है, उसी प्रकार अनन्त रूपों में भात होते हुए भी आदिमध्यावसान में एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, कहकर वेदान्त हमें उस आशावाद में स्थित करता है जो समग्र दुःख एवं विपत्ति में भी हमें अविचलित रखने में समर्थ है। विपत्तिकाल के बाद नहीं, विपत्ति काल में भी ब्रह्म आनन्द रूप से ही स्थित है व अन्त में भी उसी रूप में स्थित रहेगा। 'सन्मूला सोम्येमा सर्वा प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' से अधिक और आशावाद का रूप हो ही क्या सकता है। कहीं पात्र और मिट्टी को एक जैसा सत्य मानने का अनर्थ न हो जाय। अतः 'अतोन्यदार्तं' व 'नेह नानास्ति किंचन' की भी स्पष्ट घोषणा करनी आवश्यक थी। समान सत्य मानने पर पात्र की अनित्यता, रूपता आदि दोषों

की प्राप्ति भी मृत्तिका को हो सकती है। इसी प्रकार जगत की ब्रह्म के समान सत्यता उसमें भी पापदोषादि की प्राप्ति करा सकती थी। अतः मूर्धन्य प्रमाण श्रुति ने स्पष्ट इसका निषेध कर दिया।

ब्रह्म अविकारी है अतः जगत् भी उसका विकार नहीं हो सकता अतः अद्वैत सिद्धान्त में जगत् विवर्त्त है। विवर्त्त होने से ही, जगत् का ब्रह्म से उत्पन्न होने पर भी, ब्रह्म से सर्वथा विरुद्ध होना भी संगत हो सकता है। अन्यथा कार्य कारण में एक रूपता होने पर भी जगत् के दृष्टदोष ब्रह्म में मान लेने पड़ते। अतः वेद के विवर्त्त कारणवाद से ही ईश्वर की नित्य शुद्धता सिद्ध हो सकती है। किंच विवर्त्तवाद विज्ञान सिद्ध भी है। बौद्ध धर्म ने भी शैवधर्म की ही तरह विवर्त्तवाद को स्वीकारा है। किसका विवर्त्त इस विषय में भेद होने से उनका सिद्धान्त भेद है। 'अज्ञानं' हि समन्तात्सर्वपदार्थतत्त्वाच्छादनात्संवृतिरित्युच्यते' से माध्यमिक सूत्र भाष्य में चन्द्रकीर्त्ति ने स्पष्ट ही आवरणशक्ति को बताया है। परन्तु अनुमान मात्र को प्रमाण स्वीकार कर श्रुतिपरम्परा की अवहेलना से वे निरधिष्ठान विवर्त्त मान कर नैरात्म्यवाद के कीचड़ में फँस गये। श्रौतपरम्परा ने विवर्त्त दृष्टान्तों के आधार पर साधिष्ठान ही उसे स्वीकारा, अतः प्रपञ्चपशम शान्त शिव अद्वैत तत्त्व उन्हें स्वानुभवानुरूप भावतत्त्व ही अनुभूत हुआ, अभावात्मक नहीं। इसीलिये जहाँ बौद्धवाद निराशा में परिणत होता रहा, वहाँ शांकरवाद सदा ही आशा में फलता फूलता रहा। इस विवर्त्त साम्य के कारण कुछ अविचारकों ने अवश्य बौद्धवाद का शांकरवाद पर आरोप कर दिया। प्रकृतोपनिषद् में प्रथम मंत्र का प्रथम पाद ही इसी वेदान्त दृष्टि का प्रतिपादक है। 'मैं ही सर्व हूँ' इस ज्ञान के द्वारा सभी प्रत्ययों के अधिष्ठान रूप आत्मा का विस्तार ही सर्व जगत् है का प्रतिपादन करना ही मंत्रार्ध का लक्ष्य है यह भाष्य में स्पष्ट ही है। यह विवर्त्त रूप समझ में आगया तो अवशिष्ट वेद अति सरल हो जाता है। 'एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत्सो विशङ्कितः' कहकर वेदमूर्त्ति भगवान् गौडपाद स्पष्ट निर्देश देते हैं कि वेदार्थ को असंशय रूप से केवल अद्वैती ही समझ सकता है।

विश्व के सभी संघर्षों का मूल भेद ही है। अभेद की कल्पना मात्र से भी संघर्ष समाप्त हो जाता है। दीर्घ काल तक दो कुटुम्बों का संघर्ष आपस में बेटी के आदान प्रदान से नष्ट हो जाता है। चन्द्रगुप्त व सेल्यूकस के नित्य युद्ध को चाणक्य ने विवाह संबद्ध के द्वारा ही मिटाया था यह ऐतिहासिक सत्य है। किसी किसी मुसल्मानिन ने राखी भेजकर राजाओं को उस नवाब को मारने से विरत कर दिया था यह भी अनेक कथाओं में प्रसिद्ध है। उभयत्र भगिनी या समधी रूपी रिश्ते से जो एक कल्पित अभेद की प्रतीति होती है उसे ही कारण मानना पड़ेगा। जब कल्पित अभेद भी संघर्षनाशक है तो वास्तविक अभेदानुभूति तो संघर्षगन्ध को भी नहीं रहने देगी। इस दृष्टि से अद्वैत ही सभी संघर्षों को दूर करने का उपाय है। अपने से उत्पन्न भिन्न भिन्न पुत्रों के साथ पिता का संघर्ष नहीं होता यद्यपि वे पुत्र परस्पर संघर्ष रत रहते हैं। एवमेव ब्रह्मनिष्ठ का अपने विवर्त्तरूपों में कोई संघर्ष नहीं बनता। यद्यपि उन विवर्त्तों में परस्पर संघर्ष संभव है। 'अद्वैतम्परमार्थो हि द्वैतन्तद्भेद उच्यते। तेषामुभयथा द्वैतन्ते-नायन्न विरुद्धयते' कहकर आचार्य भगवान् स्पष्ट ही कल्पित द्वैत को ही सर्वथा स्वीकारने वालों कंजूसों से अद्वैतदर्शी के अविरोध का प्रतिपादन करते हैं। वादों में इसीलिये अद्वैत की दृष्टि समन्वयात्मकी रही है। किंच सत्य का त्याग किसी के लिये संभव नहीं। पदार्थों की सीमितता एव भोक्ता के अभिलाषाओं की असीमता निरन्तर अतृप्ति अशान्ति व संघर्ष को जनेगी। मिथ्या का त्याग सहज होने से एवं उनका वंटन कर देने से समाज भी अशान्ति से दूर हो सकता है अतः प्रकृतोपनिषद् में 'मागृधः कस्य स्विद्धनम्' का उद्घोष मिलता है। कर्म और उपासना एवं व्यष्टि व समष्टि का समन्वयात्मक अद्भुत सिद्धान्त भी इस उपनिषद्रत्न में स्पष्ट मिलता है जो इन सभी संघर्षों को समाप्त करता है।

इन्हीं सब कारणों से इस उपनिषद् का आधुनिक युग के महात्मा गाँधी ने प्रचार किया, एवं यहां तक कह दिया कि यदि हिन्दुओं के सभी धर्म ग्रन्थ नष्ट होकर यही उपनिषद् रह जाये, तो भी हिन्दू धर्म बच सकता है, एवं पुनः पल्लवित हो सकता है।

भगवान् शंकर का भाष्य भी इस पर एक अद्भुत विवेचनात्मक ग्रंथ है। यद्यपि अनेक स्थलों से यह प्रकाशित है फिर भी इसका शुद्ध संस्करण अपेक्षित था। हमारे परमहंसचूडामणि विद्वन्मूर्धन्य स्वामी काशिकानन्दगिरि जी महाराज के द्वारा प्रस्तुत यह संस्करण इस कमी को दूर करेगा ही। साथ में भाष्यभावोंद्धाटक सर्वशांकरभाष्यटीकाकार आचार्यप्रवर भगवान् आनन्दगिरि की व्याख्या को भी इसमें दे दिया गया है जो स्वर्ण को चमकाने का काम करती है। आपके टीका ग्रंथ ही भाष्यपाठकों के मार्ग निर्देशक हैं। भगवान् आनन्द गिरि ने सभी उपनिषदों, गीता, ब्रह्मसूत्र, उपदेशसाहस्री आदि शांकरभाष्यों पर ही नहीं बृहदारण्यकभाष्यवार्त्तिक तथा तैत्तिरीय भाष्यवार्त्तिक पर भी व्याख्याएँ लिखी हैं। अतः भाष्य के अर्थ में वे ही प्रमाण माने जाते हैं। शुद्ध संस्करण किसी विद्वज्जन के संपादित ग्रंथ में ही मिलता है। अतः इस कमी को दूर करने के लिये श्रीस्वामी जी भूरिशः प्रशंसा के पात्र हैं।

ब्रह्मसूत्र व गीता की अद्वैतमतानुयायी व्याख्याओं की प्रचुरता देखते हुये मानना ही पड़ता है कि उपनिषदों की कुछ अवहेलना ही की गई है। वस्तुतः ब्रह्मसूत्र से गतार्थता स्वीकारने के कारण ही ऐसा हुआ है। पर आधुनिक जिज्ञासु उपनिषदों के रहस्य को व्यास के आधार पर नहीं वरन् स्वयं उपनिषदों के आधार पर ही समझना चाहता है। जयमंगल वार्त्तिक तथा जयमंगल विवरण के द्वारा सर्वशास्त्रनिष्णात स्वामीजी ने इस कमी को पूर्ण रूप से दूर कर दिया है। स्मर्त्तव्य है कि सभी उपनिषदों पर अद्वैत को छोड़कर अन्य मतानुयायियों ने तो कलम भी नहीं उठाई है। आशा है कि इस प्रकार के विवरण सभी उपनिषद् भाष्य व्याख्याओं पर प्रामाणिक रूप से विद्वान् लेखक शीघ्र प्रकाशित कर अध्येताओं को उपकृत करेंगे।

स्वामीजी वेदान्त के ही नहीं न्याय व मीमांसा के उद्भट विद्वान् हैं। आप उत्तम कोटि के कवि भी हैं। इसके पूर्व भी आपने अनेक ग्रंथ प्रकाशित किये हैं। आपने वार्त्तिक में कुछ नवीन उद्भावनाएँ भी प्रकट की हैं। प्रारंभ में ही शतरुद्री को अद्वैत प्रतिपादक स्वीकारते हुए भी जो मीमांसा दृष्टि से उसे उपनिषद्

स्वीकारने में विघ्न आ सकते हैं उनको भी उठाया है, एवं मीमांसा से समन्वय करते हुए उनका उत्तर भी दिया है। इसी प्रकार त्याग से भोग में जो विरोध है उसे भी स्पष्ट किया गया है। निष्काम कर्म पर विचार करके अनेक आधुनिक विचारकों के मतों की मीमांसा भी नवीन है। इसी प्रकार क्रिया का कर्म से भेद का प्रतिपादन भी अवगन्तव्य है।

सप्तलोकों का आध्यात्मिक विवेचन करके इनकी भाष्योक्त संगति करना विद्वान् लेखक की एक देन है जो सभी सहृदयों को स्पर्श करेगी। इसी प्रकार वायु के अभाव में चन्द्रगमन का आधुनिक दृष्टान्त भी है। इस प्रकार वार्त्तिक में अनेक मीमांसाएँ मिलती हैं। इन्हीं को विवरण में विस्तृत भी किया गया है।

इस प्रकार के संस्करणों में आधुनिक मर्यादाको अनुसरण करते हुए प्रमाण वाक्यों का उद्गम स्थान विशेष भी यदि दे दिया जाता तो अधिक अच्छा था। अग्रिम संस्करण में इस न्यूनता को दूर किया जा सकेगा ऐसी आशा है। वस्तुतः पृ० ७१ में आयी विवरण पंक्ति में 'बृहदारण्यके न दृश्यते' जैसे अनेक स्थल तो अनुभवी को भी भ्रम में डाल देते हैं कि यह उपनिषद् में आया है कि भाष्य को संकेतित करता है। इसी प्रकार यदि मुद्रण की अशुद्धियों पर अधिक ध्यान दिया जाता तो अच्छा था। संस्कृत में विशेषतः भ्रान्ति हो जाती है। अन्यत्र नारायणादिक की प्रशंसा होने पर भी वर्त्तमान उपनिषद् में ईश से शंकर की प्रशंसा नहीं है इसका और अधिक युक्तिसंगत विवेचन होता तो अच्छा था। श्रौत सिद्धान्त चाहे सभी देवताओं की एकता स्वीकृत करे, पर प्रत्येक देवता की प्रकरण भेद से भिन्नता भी उसने मानी ही है। इस प्रकरण में रूढ्यर्थ त्याग आवश्यक है इसका विवेचन अग्रिम संस्करण में हो पायेगा ऐसी हमें आशा है।

जयमंगलविवरण में वैष्णवसम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त श्री रामानुज, श्रीमध्व के अनुयायियों द्वारा किये हुए उपनिषद् टीकाओं में अद्वैत लाञ्छनों पर भी न्याय-युक्त विचार करके उनको असार व तुच्छ व हेय सिद्ध किया है। प्रायः श्रीवल्लभ, श्रीनिम्बार्क श्रीचैतन्य व श्रीरामानन्द का सम्प्रदाय उपनिषदों के प्रति उदासीन ही

रहा है। वस्तुतः ये सभी मतवाद मूलतः वैदिक नहीं हैं। अतः इनके सिद्धान्तों में श्रौत उद्धरण भी नहीं के समान ही पाये जाते हैं। कहीं कहीं हैं भी तो सन्दर्भ के विना तोड़ फोड़ के कुछ पदसमूहों का अर्थ कर दिया गया है। अतः वैदिकों ने इनको उपेक्ष्य ही माना है। पर संस्कृत विद्या के ह्रास तथा देशज भाषाओं की उन्नति के इस युग में देशज भाषा ग्रन्थ ही धर्म का पोषन करने लगे हैं। वेद-वाक्य और तुलसीवाक्य, कबीरवाक्य, सूरवाक्य आदि एक सा प्रामाण्य प्राप्त करते जा रहे हैं। अतः इन सभी का यौक्तिक खण्डन अब श्रौतों को वैसे ही करना पड़ेगा जैसा किसी युग में देशज भाषा प्रसूत बौद्ध व जैन सम्प्रदायों का। धार्मिक लोगों में विचार के प्रति एक निष्ठाहीनता उत्पन्न कर दी गई है। एक समन्वयवाद ऐसा सामने लाया जा रहा है कि जो कोई कुछ भी मान ले वही ठीक है पर सत्य में सोधन हो सकते हैं प्रकार भेद नहीं। हिन्दू सदा ही दार्शनिक रहा है एवं दार्शनिक तो विचारक ही होगा। हिन्दू धर्म की महानता इसी में रही है कि यह थोथे व्यक्तिवाद की अन्ध श्रद्धा पर नहीं वरन् दृढ़ विचार भित्ति पर स्थिर रहा है। यदि इसे छोड़ दिया गया तो विश्व में इसकी विशेषता ही नष्ट हो जायगी। हमारा समन्वय सारी अनुभूतियों के समन्वयात्मक दृष्टि को दार्शनिक विचार पर कस कर स्वीकार करने में हैं, न कि सभी विरोधी बातों को एक सा मान लेने मात्र में। हिन्दू किसी भी आप्त व्यक्ति की अनुभूति को सन्देह की दृष्टि से नहीं देखता, न उसे शैतान प्रसूत मानता है। इसीलिये किसी भी विचारक या धार्मिक को न वह जहर देता है जैसा सुकरात को दिया गया, न सूली पर चढ़ाता है जैसा ईसा को किया गया, न मरते समय पानी माँगने पर घोड़े का पिशाब पिलाता है जैसा कर्बला में हुसैन के साथ किया गया, न फाँसी देता है जैसा मंसूर के साथ किया गया। पर विचार के द्वारा उनकी थोथी दलीलों को एक एक कर हटाता है जैसा बौद्धों या जैनों तथा लोकायतिकों के साथ किया गया। इस प्रकार उन लोगों की अनुभूतियों को वह मान्यता देता है, उनके दर्शनों का अध्ययन करता है, एवं उनका समन्वय करते हुए उपादेय अंशों को ग्रहण करते हुए एक नवीन पूर्वपिच्छया अधिक व्यापक दृष्टिकोण

उपस्थित करता है, जिससे वे लोग भी उन्नत होते हैं। यही हिन्दू का समन्वय है जिसके आधार पर अनादिकाल से आज तक वह जीवित रहा है एवं सनातन धर्म के नाम से प्रसिद्ध हो गया है। यह मूढ़ समन्वयवाद नहीं है। इसका तो नारा है 'अविचार्य यत्किंचित् प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसात् प्रतिहन्येत, अनर्थं च ईयात्'। भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर जो वर्त्तमान हिन्दू धर्म के संस्थापक स्वीकार किये जाते हैं। कहते हैं कि बिना विचार किये जो कुछ भी स्वीकार करने वाला कल्याण मार्ग से भ्रष्ट होकर अनर्थ को प्राप्त करता है। वेद की विशेषता यही है कि इसका समर्थन युक्ति व अनुभव से हजारों वर्षों से होता रहा है एवं आज भी हो रहा है। आशा है कि भावी प्रकाशनों में उपनिषदों व गीता का जो उपर्युक्त सम्प्रदायों ने खींचतान का अर्थ किया है, अथवा जिन उपनिषद् स्थलों में उनकी मान्यताओं का विरोध स्पष्ट है उनका भी यौक्तिक खण्डन प्रस्तुत किया जायगा।

यद्यपि (पृ. ७२) विद्वान् लेखक ने माध्यन्दिन संहिता की ईशावास्य उपनिषद् एवं काण्वशाखीय वर्त्तमान ईशावास्य उपनिषद् में विद्या अविद्या के ही अर्थों में नहीं वरन् उपनिषद् की प्रवृत्तिहेतुता में भी द्विविधा मानी है। तथापि यदि कहीं अन्त में माध्यन्दिन शाखा का संक्षेप में ही पूर्ण विवरण उपस्थित करके इसको सिद्ध कर दिया जाता तो उत्तम था।

अन्त में हम पुनः कहना चाहते हैं कि हिन्दूधर्म का वास्तविक रूप शांकर अद्वैत दर्शन ही है। हमारा उद्देश्य सृष्टि को मंगलमय बनाना है, विरोधों व आग्रहों से उसे कष्टमय बनाना नहीं। हमने इसीलिये धर्म को सीमित न रखा न किसी व्यक्ति विशेष को ही इसका प्रवर्त्तक माना। सारे परिवेशों से रहित अद्वैत शिव का प्रतिपादन करके इसे विश्वधर्म का रूप सहज प्रदान किया। व्यावहारिक जगत् में इसके अनेक परिवेश बने अतः हिन्दू धर्म एक वटवृक्ष बन गया जिसकी छाया में अनेक जीवों ने आश्रय पाया। कुछ ने इसकी छाया से थकावट मिटाकर इसी की लकड़ी को काटकर इसे ही कहीं कहीं छिन्न-भिन्न करने का प्रयास किया। कइयों ने इससे रक्षित होकर

अपराध भी किये। पर यह अक्षयवट आज भी वैसा ही खड़ा है। इसके इसी संदेश में विश्व की सभी समस्याओं का हल है। व्यक्तिगत रूप से जैसे इसमें पुत्र प्राप्ति राज्य प्राप्ति, स्वर्ग प्राप्ति, हिरण्य गर्भ प्राप्ति से लेकर प्रपंचोपशम शिव अद्वैत तक सभी की प्राप्ति का पथ प्रशस्त किया है, उसी प्रकार सभी सामाजिक राजनैतिक, कौटुम्बिक व आर्थिक समस्याओं से लेकर अन्तर्राष्ट्रिय समस्याओं तक का हल प्रदान किया है। पर सभी का मूल यही शिव दृष्टि है कि सभी का कल्याण हो। इस दृष्टि को प्राप्तकर विश्व सुखानुभूति करे तभी हमारा प्रयत्न सफल होकर हम शिव प्रदत्त इस थाती के वास्तविक अधिकारी सिद्ध हो सकेंगे। आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि भगवान् भूतभावन आशुतोष शंकर इस महान्न कार्य में हमारे अपने श्रीमत्स्वामी काशिकानन्दजी महाराज को अपना सुयोग्य अस्त्र बनावेंगे।

महाशिवरात्री २०२७ वि०
श्रीदक्षिणामूर्त्ति मठ, मिश्रपोखरा,
वाराणसी।

इति
भगवत्पादीयो
महेशानन्दगिरि

नहीं हो सकता। तब तत्त्ववेत्ता के प्रति कर्मवाक्य अप्रामणिक होगा ॥१०२॥

सत्यं तत्त्वार्थविज्ञं प्रत्यङ्गीकुर्मोऽप्रमाणताम्।
अननुष्ठापकत्वेन श्येनयागगिरो यथा ॥१०३॥
शत्रौ क्रोधादिरहितः श्येनं नैवानुतिष्ठति।
अप्रामाण्यं ततस्तं प्रत्यननुष्ठापकत्वतः ॥१०४॥

समाधानः—तत्त्वज्ञानी के प्रति अप्रवर्त्तक होने से कर्मकाण्ड की अप्रमाणता को हम अंगीकार करते हैं, जैसे श्येनयागवाक्य की ॥१०३॥ "श्येनेनाभिचरन् यजेत" यह शत्रु को मारने के लिये श्येनयागविधायक वाक्य है। परंतु जिसका शत्रु के प्रति क्रोध ही नहीं है वह इस वाक्य को सुनने पर भी श्येनयाग नहीं करता। अतः अप्रवर्तक होने से अप्रमाणता क्रोधरहित के प्रति श्येनवाक्य की सिद्ध होती है ॥१०४॥

किं चोक्तं पूर्वतन्त्रेऽपि जैमिन्यादिमहर्षिभिः।
फलकामोऽधिकारी स्याद् द्विजत्वाद्यभिमानवान् ॥१०५॥

अब थोड़ा पूर्वमीमांसा में भी देखिये वे क्या कहते हैं। स्वर्गादिफलेच्छा वाला और अपने को द्विज आदि माननेवाला कर्म में अधिकारी होता है ॥१०५॥

न ह्यात्मवित् फलार्थी स्यादानन्दं स्वं परं विदन्।
द्विजत्वादिश्च शारीरो धर्मो नैवात्मनो मतः ॥१०६॥
द्विजोऽस्म्यहमिति ज्ञानं सकलैः शास्त्रवेदिभिः।
आभिमानिकमेवोक्तं मिथ्याज्ञाननिबन्धनम् ॥१०७॥

अपना स्वरूपानन्द जिसको प्राप्त हो गया उसको स्वर्गादि फलकामना संभव नहीं है। अतएव उसके प्रति अप्रवर्त्तक होने से वाक्य प्रमाण नहीं होता। तथा द्विजत्वादि धर्म शरीरगत है आत्मगत नहीं। मैं द्विज हूँ ऐसे ज्ञान को सब ने ही आभिमानिक माना है। यह अभिमान जिसमें न हो वह याग में अधिकारी न होने से उसके प्रति भी शास्त्र अननुष्ठापक होने से अप्रमाण होगा ॥१०७॥

ननु द्विजशरीरं म इतिज्ञो यजतां नरः।
किमर्थमभिमानोऽत्रावश्यंभाव्यभ्युपेयते ॥१०८॥

पूर्वपक्षः—मैं द्विज हूँ यह ज्ञान आभिमानिक है। क्योंकि द्विजत्व आत्मा में नहीं शरीर में है। परंतु मेरा द्विज शरीर है यह ज्ञान तो आभिमानिक नहीं है, और उसी ज्ञान को यज्ञकारण मान लिया जा सकता है, अतः तत्त्ववेत्ता को भी अधिकार संभव है ॥१०८॥

❁ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❁

अन्यथा देवदत्तो घटः राजा भृत्य इत्यादिप्रयोगाणामपि साधुत्वं स्यात्। देवदत्त-राजादिनिष्ठनियामकतानिरूपितनियम्यताया घटभृत्यादौ सत्त्वात्। न च घटो नास्तीत्यत्र घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगित्वं संसर्गो वक्तव्यः। अन्यथा घटवत्यपि घटान्तरविरहेण घटो नास्तीति प्रयोगापत्तेः। तत्र यथा घटत्वावच्छिन्नत्वस्य संसर्ग-कोटौ प्रवेशस्तथात्रापि अन्तर्यामित्वावच्छिन्नत्वं संसर्गकोटौ प्रविशतु का हानिरिति वाच्यम्। यतो घटो नास्तीत्यादौ प्रतियोगित्वमात्रं सम्बन्धः। तत्र घटपदार्थताव-च्छेदकघटत्वस्यावच्छिन्नत्वसम्बन्धेन घटस्य चाधेयतयान्वयः इत्यत एवोपपत्तौ घटत्वादेः संसर्गकोटिप्रवेशानभ्युपगमात्। संसर्गतावच्छेदकसंसर्गानभ्युपगमेऽपि संसर्गीयप्रतियोगित्वानुयोगित्वभानाभ्युपगमावश्यकत्वादवच्छिन्नत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रति-योगिताविशेषस्यैव घटत्वादौ भानोपगमेन दोषाभावात्। न ह्येवं तत्त्वमसीत्यादौ अन्तर्यामिवाचकपदमस्ति। येन पदार्थतावच्छेदकान्तर्यामित्वस्य पूर्वोक्तविधया नियामकतायामन्वय उपपाद्येत। निपातातिरिक्तनामार्थयोर्भेदेनान्वयस्याऽव्युत्पन्न-तया तदन्तर्यामिकत्वादिसम्बन्धेनान्वयस्य शङ्कितुमप्यशक्यत्वाच्च। न च "ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुरि"त्यादावस्य संसर्गत्वमङ्गीकार्यम्। "यदम्बु वैष्णवः कायस्ततो विप्र वसुन्धरे" त्यादौ जलादेस्तच्छरीरत्वस्मरणादन्तर्यामिश्रुतेश्च। तथा च य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरमिति श्रुत्यनुरोधादेव तत्त्वमसी-त्यादावपि तदन्तर्यामिकत्वसम्बन्धेनेश्वरान्वितजीवार्थसिद्धिरिति वाच्यम्। ज्योतींषि विष्णुरित्यादौ बाधसामानाधिकरण्यस्यैवाभ्युपगमेन दृष्टान्तासिद्धेः। उपपादितं च बाधसामानाधिकरण्यं प्रागेवास्माभिर्विस्तरशः।

अन्तर्यामिश्रुतौ च पृथिवीदेव्यादिशरीरातिरिक्तशरीरं तस्य (अन्तर्यामिणः) नास्ति देवताकार्यकरणस्येश्वरसाक्षिसांनिध्येन हि नियमेन प्रवृत्तिनिवृत्ती स्यातामित्या-शयो भाष्ये वर्णितः। न च यथाश्रुतार्थपरित्यागे मानाभाव इति वाच्यम्। यथा-श्रुतशरीरत्वानुपपत्तेः। "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्" इति हि न्यायसूत्रे शरीर-लक्षणमभिहितम्। चेष्टा नामेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारानुकूलव्यापारः। न हि परमात्मन इष्टानिष्टे। नापि तस्येन्द्रियाणि। अपाणिपाद इत्यादिश्रुतेः। नापि सुखदुःखलक्ष-णोऽर्थश्च। तथा च कथमीश्वरस्य शरीरं शक्यं प्रतिपादयितुम्। न च लक्षणमिदं मृतशरीरे व्यभिचरितमिति वाच्यम्। भूतपूर्वगत्या तत्र शरीरव्यपदेशात्। त्वन्मतेऽपि देवदत्तस्य शरीरमिति भूतपूर्वगत्यैव मृतशरीरे वक्तव्यम्। मृतशरीरे देवदत्तस्वा-मिकत्वविरहात्। तस्मात्परमात्मनो जगदन्तरात्मत्वाज्जगति भाक्तस्तच्छरीरत्वव्यव-हारः। कथमन्यथा पूर्णावतारांशावतारार्चावतारादिवज्जगदवतारो द्वैतिभिरेव न प्रतिपादितः। किं च घटावतारपटावतारादयोऽपि वक्तव्याः। तेषामपि शरीरत्वा-

(आनन्दवनग्रन्थमालायाः षष्ठं कुसुमम्)

ईशावास्योपनिषत्

शांकरभाष्येण, आनन्दगिरिकृतभाष्यटीकया

जयमङ्गलाचार्य (स्वामीकाशिकानन्द) कृतेन ईशावास्यरहस्यविवरणेन

सानुवादवार्त्तिकेन च सहिता

१९७१

मू० ६—००

प्रकाशक—

श्री स्वामी काशिकानन्द जी ट्रस्ट

पुस्तक मिलने का पता—

आनन्दवन आश्रम

स्वामी विवेकानन्द रोड

कांदीवली बम्बई ६७

मुद्रक—

गीताधर्म प्रेस,

मिश्रपोखरा,

वाराणसी ।

दो शब्द

भारतीय वाङ्मय में उपनिषदों का स्थान सर्वमूर्धन्य है। ये तत्त्वज्ञान का तो विशाल भण्डार हैं ही, साथ ही आस्तिक तथा नास्तिक समस्त दर्शनों का साक्षात् या परम्परया उपजीव्य भी हैं। सनातन धर्म की मान्यता के अनुसार ये अपौरुषेय अर्थात् किसी पुरुष से कृत नहीं, अनादि हैं और आधुनिक गवेषकों के अनुसार भी विश्वसाहित्य में इनसे पूर्व कोई दार्शनिक या साहित्यिक ग्रन्थ नहीं बना है। भारतवर्ष की गरिमा के ये मूर्त्त चित्र हैं, आज भी इन्हीं से तत्त्वज्ञान प्राप्त कर महापुरुष अपने जीवन को कृतार्थ करते हैं और अनन्त काल तक करते भी रहेंगे।

वैसे तो उपनिषदों की संख्या कितनी है और उनमें प्रामाणिक उपनिषद् कौन कौन हैं वर्त्तमान में यह कहना कठिन ही नहीं अपितु असंभव जैसा है। सामान्य रूप से यही कहा जाता है कि प्रत्येक शाखा के पीछे एक या अधिक उपनिषदें रहीं। उसके अनुसार उपनिषदें हजारों की संख्या में होनी चाहिये। वर्त्तमान में लगभग दो सौ तक उपनिषदें मुद्रित उपलब्ध भी हैं। परन्तु उपलभ्यमान सभी उपनिषदें अपौरुषेय हैं कहना मुश्किल है। इनमें लगभग बीस उपनिषदों की प्रामाणिकता प्रायः सभी आचार्यों ने मानी है। दस उपनिषदें तो प्रसिद्ध ही हैं। इन उपनिषदों में भी ईशावास्योपनिषद् की विशेषता यही है कि यह संहितान्तर्गत है। अतएव ब्राह्मणभाग को परमप्रमाण न मानने वाले भी इस ईशावास्य की परम प्रमाणता मानते ही हैं। अतएव हम ईशावास्य पर प्रथम कुछ विचार विमर्श करेंगे।

वैसे तो ईशावास्य एवं अन्यान्य उपनिषदों पर अनेक आचार्यों के भाष्यादि उपलब्ध हैं। अपने अपने सिद्धान्त के अनुसार मन्त्रों का अर्थ लगाने का भी पूरा प्रयास सब ने किया है। परंतु यह एक तथ्य है कि ग्रन्थकार अपने एक विशिष्ट आशय से ही ग्रन्थ लिखते हैं। उपनिषदों में भी वही बात है। अतएव ग्रन्थार्थ लगाते समय यथाश्रुत अर्थ का ही महत्त्व होता है। खींचातानी से जो अर्थ निकलता है वह प्रायः ग्रन्थकारों का अभिप्रेत नहीं होता। उपनिषदों का भी यथाश्रुत अर्थ ही ग्राह्य होना चाहिये। इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाष्य भगवान् शंकराचार्य का ही सिद्ध होता है। अतएव शांकर भाष्य का अध्ययन उपनिषदर्थ परिज्ञान के लिये परम आवश्यक है।

भगवत्पाद शंकराचार्य के भाष्य की कुछ विशेषतायें ये हैं कि प्रथम वे प्रत्येक शब्दों का पर्याय देकर व्याख्या करते हैं। यद्यपि कुछ मनीषी यह भी कहते हैं कि प्रत्येक पदों की व्याख्या अनुपयुक्त है। परंतु सच बात तो यह है कि पदों का अन्यथा अर्थ लोग करने लगते हैं, अत एव आचार्य ने प्रत्येक पद को व्याख्या करना आवश्यक समझा। इस का परिणाम यह हुआ कि परवर्त्तीयों को आचार्य के अव्याख्यात पदों का तोड़ मरोड़ करने का अवसर नहीं रहा। दूसरी विशेषता यह है कि एक ओर प्रत्येक पद की व्याख्या करते हुए इतना सरल किया और दूसरी ओर संक्षिप्तशब्दों में विचार करते हुए अति गहन भी बना दिया। आपातत: अतिसरल होने पर भी विचारत: अतिगंभीर हो गया। अत एव 'भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं' इस प्रकार पद्मपादाचार्य तथा वाचस्पतिमिश्र दोनों ने एक स्वर से भाष्य को प्रसाद गुणयुक्त तथा गम्भीर स्वीकार किया।

दूसरी ओर भाष्यकार के इस गहन आशय को न समझ कर तथा अपने मताग्रह से मजबूर होकर परवर्त्ती कई मनीषियों ने भगवत्पाद भाष्य पर धूलीपात करने का प्रयास किया। शब्दों को तोड़ मरोड़ कर अर्थ लगाने में भी उन्होंने कोई कसर उठा नहीं रखा। ऐसी स्थिति में भाष्यकार का आशय समझने के लिये विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता प्रतीत होना स्वाभाविक ही है। यद्यपि विद्वदग्रणी अनुभवी महापुरुषों ने भाष्य पर व्याख्यायें लिखी हैं जिनमें श्री आनन्दगिरिजी की टीका अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है। परन्तु आनन्दगिरीय टीका भी अतिसंक्षिप्त है और असमग्र है। बहुत स्थानों में उन्होंने भाष्य को छुआ ही नहीं। कारण उनकी दृष्टि में वे भाष्यांश सरल रहे। तथा परदूषणोद्धारादि आनन्दगिरीय में नहीं के बराबर है। फिर भी भाष्य को समझने के लिये आनन्दगिरीय व्याख्या अत्यन्त उपयोगी है। अतएव हमने आनन्दगिरीय व्याख्या पर तथा आनन्दगिरि के द्वारा अव्याख्यात और अल्प-व्याख्यात भाष्यांश पर भी एक विस्तृत विवरण लिखने का प्रयास किया।

प्रस्तुत व्याख्या में यथा संभव भाष्याशय को व्यक्त किया है। आवश्यक स्थानों में शास्त्रार्थ द्वारा आशय प्रकट किया है। और मतवादियों ने जहाँ जहाँ दूषण किया प्रायः सभी दोषों का उद्धार किया है। व्याख्या लिखते समय मेरे पास आनन्दाश्रम पूना में छपी हुई शांकरभाष्ययुत ईशावास्योपनिषत् थी और रंगरामानुज कृत ईशावास्यभाष्य तथा उसकी एक व्याख्या भी थी, कुछ माध्व-भाष्य का भी अंश था तथा कुछ हिन्दी व्याख्यायें भी थीं। इन सब पुस्तकों में जहां कहीं भी भाष्याशयान भिज्ञता के कारण या मताग्रह के कारण भाष्यविरुद्ध

अर्थ दर्शाया सब का निराकरण कर भाष्यार्थ को स्पष्ट करने का यत्न किया गया। तथा आनन्दगिरीय टीका में जहां दुरूह अंश है उन्हें भी खोलने का प्रयास किया गया।

तुलनात्मक अध्ययनार्थ तथा विचारार्थ कुछ अंश को मैं यहां दिखाना उचित समझता हूँ। यथा—प्रथम मन्त्र में—'ईशावास्यं' का अर्थ बहुत से लोग यह करते हैं कि जगत् ईश्वर से व्याप्त है। परन्तु आचार्य भाष्य में बताया है कि ईश्वर के द्वारा जगत को ढको। 'वास्यं' यह विधि या अर्ह अर्थ में कृत्य-प्रत्ययान्त है। 'वासुदेवः सर्वं' इस प्रकार की सर्वेश्वरभावना से जगत्भाव को मिटाओ ऐसा भाष्याभिमत अर्थ है। मतान्तर में कृत्यप्रत्यय की निरर्थकता स्पष्ट है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' यहां त्याग से भोग करो ऐसी अन्य व्याख्या है। परन्तु भाष्यकार ईश्वर भाव से जगत् का जो बाधात्मक त्याग हुआ उस त्याग से आत्मा रक्षा करो ऐसा अर्थ करते हैं। भुज धातु पालन तथा भोजन दोनों ही अर्थ में प्रसिद्ध है। यहां विचारणीय विषय यह है कि भोग करो यह विधि व्यर्थ है। भोग में सभी राग से ही प्रवृत्त हैं। दूसरी बात, तृतीय मन्त्र में आत्म-घाती मरकर असुर्यलोक में जाते हैं ऐसी आत्मघातनिन्दा की गयी है। परन्तु सहसा आत्मघात निन्दा क्यों उपनिषद् करने लगी? मानना पड़ेगा कि पूर्व में इसका कुछ प्रसंग आया है। त्यक्तेन भुञ्जीथाः से आत्मरक्षा की बात कही। आत्मरक्षा न करे तो क्या हानि? यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। आत्म-रक्षा न कर यदि आत्मघात करेंगे तो असुर्यलोक प्राप्ति होगी ऐसा तृतीय मन्त्र में उसका उत्तर है। इस प्रकार पूर्वापर विचार से भाष्योक्तार्थ सुसंगत बैठता है।

द्वितीय मन्त्र में कर्म का वर्णन देख कर बहुत से लोग यही मानते हैं कि मोक्ष के प्रति ज्ञान और कर्म दोनों ही कारण हैं। कुछ लोग भाष्यकार पर यह आक्षेप भी करते हैं कि स्वयं वैदिक धर्म प्रचारादि कर्म करते हुए भी कर्मत्याग का उपदेश वे कैसे करते रहे इत्यादि। परंतु ये लोग इस बात को भूल जाते हैं कि ये वेदमन्त्र हैं; प्रसङ्गानुसार पूर्वगतकर्मकाण्डोक्त अग्निहोत्रादि कर्म यहाँ कर्मपदार्थ है, न कि स्वाभाविक या व्यावहारिक कर्म। कर्म के हिमायती इन आधुनिक व्याख्याताओं में कितने लोग अग्निहोत्रादि कर्म करते हैं यह बताने की आवश्यकता नहीं है। आचार्य ने कहीं भी स्वाभाविक या व्यावहारिक कर्मों का त्याग नहीं बताया, किन्तु मैं ब्राह्मण हूँ, अधिकारी हूँ इत्यादि अभिमान पुरःसर कर्मों का ही त्याग बताया है। अभिमान और ज्ञान परस्पर विरोधी हैं। अतएव द्वितीय मन्त्र में अभिमान पुरःसर कर्म का ज्ञान के साथ समुच्चय नहीं कहा गया,

किंतु ज्ञान प्राप्त करने में अयोग्य मन्दाधिकारियों को अशुभ कर्म से बचाने के लिये शास्त्रीय कर्म कर्त्तव्यतामात्र बताया है ऐसा भाष्योक्त अर्थ ही समुचित है।

तृतीय मन्त्र में आत्महन शब्द का यद्यपि सबने कहीं स्पष्टतः और कहीं दबी जबान से आत्मयाथात्म्यज्ञानशून्य अर्थ माना। तथापि असुर्य लोक का अर्थ किसी ने असुरों का खास कोई लोक और किसी ने नरक लोक आदि किया। परंतु भाष्यकार ने अज्ञानावृतजन्ममात्र अर्थ माना। इसमें कारण एक यह है कि पौराणिक परिकल्पित गाथाओं को भाष्यकार अधिक महत्व नहीं देते रहे। दूसरी बात यह कि सत्कर्मी भी क्वचित् आत्मज्ञान रहित होने से आत्मघाती हो सकता है। वह भी असुर लोक में पहुँच जाता है तो शास्त्रोक्त स्वर्गादि प्राप्ति वचन के साथ विरोध होगा।

इसी प्रकार अन्य मन्त्रों की व्याख्या में भी विलक्षणतायें हैं। पाठक वर्ग सूक्ष्मनिरीक्षण से स्वयं अवगत कर सकेंगे। इन सब बातों को प्रकट करने के लिये ही प्रस्तुत ईशावास्य रहस्य विवरण लिखने का प्रयास किया गया। परंतु विवरण की भाषा क्वचित् क्वचित् कठिन होने से अल्प शब्दों में भावार्थ-अभिव्यक्ति के लिए पृथक् एक वार्त्तिक भी बनाया गया। वार्त्तिक केवल विवरण का संक्षेप मात्र ही नहीं। अपितु कुछ विशेष बातें भी उसमें बतायी गयी हैं। परंतु आठ मन्त्र तक का ही वार्त्तिक अनुवाद सहित छपाया जा सका। शेष वार्त्तिक का अनुवाद करने के बाद यथा समय वह भी मुद्रित हो जायगा।

यद्यपि छपाई अत्यन्त द्रुतगति से की गयी वा करनी पड़ी जिससे कहीं कहीं अशुद्धियाँ रह गयीं और कहीं कहीं पाठ त्रुटित भी हो गया। आशा है विद्वज्जन उसे सुधार कर पढ़ेंगे। मुद्रण में सहायता देने वाले सभी धन्यवादार्ह हैं।

—:o:—

एक त्रुटित पाठः—पृष्ठः—८५ पंक्ति २६।

यद्वा "आत्मनो घातशुद्ध्यर्थं चरेच्चान्द्रायणद्वयम्। तप्तकृच्छ्रचतुष्कं च त्रिंशत्कृच्छ्राणि वा पुनः" इत्यादिवचनोक्तं पुत्रपौत्रादिकृतप्रायश्चित्तमात्मघातिनोऽपि भवति। पुत्रादिकृतेन प्रायश्चित्तेन पितुः पापनाशो न भवतीति केषांचिन्मतं तु निरस्तमन्यत्रेत्याशयेनास्येति विशेषणमिति ध्येयम्।

ईशावास्योपनिषत्

ॐ

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥
ईश्वर(-भावना) से जगत् का बाध कर आत्मरक्षा करो । धन का लोभ सर्वथा त्यागो

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥
सत्कर्म करते हुए ही जियो । अशुभकर्मों से बचने का अन्य कोई तरीका नहीं है

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥
आत्मोद्धार न करनेवाले मरकर अज्ञानावृत असुर्यलोकों (जन्मों) को प्राप्त होते हैं ।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥
वह आत्मा अचल (निर्विकार) अद्वितीय, उपाधितः सर्वविकारास्पद, व्यापक, इन्द्रियादि के अविषय है, उसी की सत्ता में हिरण्यगर्भ सबका कर्मविभाग करते हैं ॥४॥

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥
वह चल भी अचल भी है, दूर भी समीप भी है, सबके अंदर भी बाहर भी है ॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥
जो सबको आत्मा में और आत्मा को सबमें देखता है वह किसी से घृणा नहीं करता

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥
सारा संसार जिसकेलिये आत्मरूप हो गया एकत्वदर्शी वह शोकमोहरहित होता है ।

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
व्यापक, देहत्रयरहित, निष्पाप, सर्वप्रेरक, सर्वोपरि, स्वयंभू उस आत्मा ने नित्य संवत्सर प्रजापतियों को नियत वस्तुएँ विभाजित करके दी ॥८॥

संसारतापसंतप्ता विधूताशेषकल्मषाः ।
मुमुक्षवो विरक्ता हि शममिच्छन्ति शाश्वतम् ॥५॥

मुमुक्षुओं के लिये व्याख्येय इस लिये हैं कि संसारतापसंतप्त, कल्मषरहित विरक्त, मुमुक्षु शाश्वत शान्ति चाहते हैं ॥५॥

तद्यथेहेत्यनित्यत्वं कर्मजन्यसुखस्य हि ।
श्रुत्युक्तं तेन तद्धेतौ नास्थावन्तो मुमुक्षवः ॥६॥

यदि ये मन्त्र कर्मशेष होते तो मुमुक्षुओं के प्रति व्याख्येय नहीं होते । कारण "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" इस श्रुति में कर्मजन्य सुख को अनित्य बताया है । अतएव ऐसे अनित्यसुख-कारण कर्म तथा कर्मशेष में मुमुक्षु आस्था नहीं रखते ॥६॥

ननु व्याख्येयता युक्ता नियुक्तस्यापि कर्मसु ।
व्याख्येयं शतरुद्रीयं तथा पुंसूक्तमेव च ॥७॥
जुहोति शतरुद्रीयमित्येवं विनियोजितम् ।
कर्मण्येतत्तथाप्यात्मज्ञानं च जनयत्यदः ॥८॥
अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवतारणम् ।
इत्याह शतरुद्रीयं कैवल्योपनिषन्मनुः ॥९॥
एतानि नामधेयानि ह्यमृतस्येति चाब्रवीत् ।
याज्ञवल्क्यवचः स्पष्टं जाबालोपनिषत्स्थितम् ॥१०॥
सर्वोपनिषदां सारो रुद्राध्यायः समर्थितः ।
रुद्रोपनिषदं मुक्त्वा गतिरन्या न विद्यते ॥११॥
इति शैवेऽपि रुद्रस्योपनिषत्त्वमुदीरितम् ।
एवं पौरुषसूक्तानां मन्त्राणामपि च स्थितिः ॥१२॥

पूर्वपक्षः--ईशावास्य मन्त्रों को कर्म में अविनियुक्त सिद्ध करने की आवश्यकता क्या ? क्योंकि कर्म में विनियुक्त शतरुद्रिय (रुद्रपञ्चमाध्याय) तथा पुरुषसूक्तादि व्याख्येय देखने में आते हैं ॥८॥ "शतरुद्रियं जुहोति" इत्यादिवचनों से रुद्रमन्त्रों का कर्म में विनियोग सिद्ध होता है । कर्मविनियुक्त होने पर भी उससे ज्ञान भी होता है ॥९॥ कैवल्योपनिषद् में "अनेन ज्ञानमाप्नोति" इत्यादि बताया है ॥१०॥ जाबालोपनिषद् में भी "ये अमृत के बोधक नाम हैं" ऐसा कहा गया है । शिवपुराण में "रुद्राध्याय सर्वोपनिषदर्थगर्भित है, रुद्रोपनिषद् के बिना अन्य गति नहीं है" ऐसा बताया है और यही स्थिति पुरुषसूक्त के मन्त्रों की भी है ॥११-१२॥

अत्रोच्यत इमे कर्मविनियुक्ता मता यदि ।
तदा तु कर्मसमवा-य्यर्थस्मारकतामियुः ॥१३॥
न कर्मसमवेतार्थस्मारणं संभवेद्यदि ।
जपमात्रार्थता सिद्धयेत्कर्मशेषत्वहेतुतः ॥१४॥
अतो ह्यग्न्यर्थता प्रोक्ता रुद्रशब्दस्य कर्मिभिः ।
रुद्रो यदग्निरित्येवं श्रुतिरप्याह तत्परम् ॥१५॥

समाधानः—यदि ईशावास्यादि मन्त्र कर्म में विनियुक्त होते तो कर्मसमवेत (कर्मान्तर्गत) अर्थ का ही स्मरण कराते ॥१३॥ और यदि कर्मसमवेत किसी भी अर्थ का स्मरण कराना संभव न हो तो कर्मशेष होने ही के नाते केवल जपार्थ होते । ॥१४॥ यही कारण है कि रुद्राध्याय में भी रुद्रशब्द का अर्थ कर्मकाण्डी लोग अग्नि ही करते हैं, न कि ब्रह्म, श्रुति ने भी "रुद्रो वा एष यदग्निः" इस प्रकार अग्निपरक ही बताया ॥१५॥

नन्वेवं शतरुद्रीयमन्त्रा आत्मार्थबोधकाः ।
इत्येषा शास्त्रसिद्धान्तस्थितिः खलु कथं भवेत् ॥१६॥

पूर्वपक्षः—यदि कर्मविनियुक्त मन्त्रों का कर्मसमवेत अर्थ का स्मारकत्व ही हो तो शतरुद्रियमन्त्रों का आत्मप्रतिपादन में ही तात्पर्य है यह शास्त्रसिद्धान्त कैसे संगत होगा ? ॥१६॥

अत्राहुरात्मयाथात्म्यमन्यार्थासंभवित्वतः ।
बोध्यते प्रथमं कर्माऽविनियुक्तैर्वचःशतैः ॥१७॥
सिद्धे सत्यात्मयाथात्म्ये प्राबल्याच्छतरुद्रियम् ।
स्याद्देवताधिकरण - न्यायादात्मार्थतत्परम् ॥१८॥

समाधानः—कर्म में अविनियुक्त मन्त्रों का कर्म से सम्बन्धित कोई भी अर्थ संभव न होने से आत्मयाथात्म्य अर्थ ही अगत्या मानना होगा ॥१७॥ इस प्रकार आत्मयाथात्म्य प्रथम सिद्ध हो जाने पर देवताधिकरण न्याय से शतरुद्रिय मन्त्रों का भी आत्मा में तात्पर्य निश्चित होगा ॥१८॥

नन्वद्वैतात्मतात्पर्यनिर्णयो लिङ्गषट्कतः ।
तच्चेत्स्याच्छतरुद्रीये किं स्यात्कर्मनियोगतः ॥१९॥

पूर्वपक्षः—अद्वैतात्मतात्पर्य तो षड्लिंग से निर्णीत होता है । वह षड्लिङ्ग यदि रुद्राध्याय में है तो कर्मविनियोग से क्या मतलब ? ॥१९॥

मैवं कर्मणि तात्पर्ये श्रुत्या समवधारिते ।
प्रत्यक्षेण विरुद्धत्वात् षड्लिङ्गं न प्रवर्त्तते ॥२०॥

उत्तरः—श्रुति से जब यह निर्णय हुआ कि शतरुद्रिय का कर्मार्थतात्पर्य है तब प्रत्यक्षविरुद्ध होने से षड्लिंग की प्रवृत्ति ही नहीं होगी । अर्थात् आत्मा

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाँ रताः ॥९॥

केवल कर्मी अंधकार में पड़ता है और केवल उपासक उससे भारी अंधकार में पड़ता है

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

वैसे तो उपासना और कर्म का पृथक् २ फल है ऐसे पूर्वव्याख्याताओं से हम सुनते आये हैं

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

असल में कर्म और उपासना को जो साथ २ (समुच्चयरूप से) करे वह कर्म से मृत्यु (पामर प्रवृत्ति) को पारकर उपासना से देवात्मभावरूपी अमृत को पाता है ॥११॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याँ रताः ॥१२॥
अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥
संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वाऽसंभूत्याऽमृतमश्नुते ॥१४॥

असंभूति=प्रकृति । संभूति=हिरण्यगर्भ । मृत्यु=अनैश्वर्यादि । अमृत=प्रकृतिलय १२-१४

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

हे सूर्य ! ज्योतिर्मय आवरण से सत्यात्मा का द्वार ढका है । इसे खोलो । मैं दर्शन करूँ

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योसावसौ पुरुषः सोहमस्मि ।

हे सूर्य भगवन् ! आप रश्मियों को हटावें, तापक तेज का उपसंहार करें । मंगलमय आपके रूप को मैं देखूं । वह आदित्य पुरुष तो वस्तुतः मैं ही हूँ ।१६

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतँ स्मर क्रतो स्मर कृतँ स्मर ॥१७॥

मेरे प्राण सूत्रात्मा को प्राप्त हों । शरीर भस्मान्त हो । हे यज्ञदेव ! मेरे कर्मोंका स्मरण करें

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥१८॥

हे अग्निदेव आप हमें उत्तरायण मार्ग से ले चलें । आप हमारे समस्त कर्म और उपासना जानते हैं । कुटिल पाप से हमें छुड़ावें । इस अन्त समय में हम आपको वार वार प्रणाम करते हैं ॥१८॥ ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं० ॥

ॐ

श्रीमज्जयमङ्गलाचार्यविरचितं

* ईशावास्योपनिषद्भाष्यवार्तिकम् *

सानुवादम्

सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंचारि परमं महः ।
आनन्दैकरसं वन्दे श्रीकृष्णाह्वयमव्ययम् ॥१॥

समस्त वेदान्त सिद्धान्तों का परमतात्पर्यविषय अव्यय आनन्दैकरस श्री कृष्णनामक परम ज्योति की हम वन्दना करते हैं ॥१॥

संस्मरन् भगवत्पादपादपङ्केरुहश्रियम् ।
ईशावास्येऽमलां वृत्तिं विधास्ये तत्पदानुगाम् ॥२॥

भगवत्पाद आद्यशंकराचार्यचरणकमलश्री का स्मरण करता हुआ मैं ईशावास्योपनिषत् की भगवत्पादभाष्यानुगामिनी निर्मल वृत्ति की रचना करूँगा ॥

ईशावास्यादयो मन्त्रा विनियुक्ता न कर्मसु ।
श्रुतिलिङ्गादयो नैव दृश्यन्ते विनियोजकाः ॥३॥

ईशावास्यादि मन्त्रों का कर्म में विनियोग नहीं । अर्थात् जैसे कर्मकाण्डीय मन्त्रों को बोलकर आहुतियां दी जाती हैं वैसे ईशावास्यादि मन्त्रों को बोलकर कोई आहुति आदि नहीं दी जाती । कारण श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्यारूपी जिन छः प्रमाणों को विनियोजक के रूप में मीमांसकों ने माना है उनमें से कोई भी प्रमाण यहाँ पर नहीं है (स्पष्टीकरण आगे होगा) ॥३॥

वर्णयन्त्यात्मयाथात्म्यमेतेऽनन्तशमप्रदम् ।
व्याख्येयत्वं ततस्तेषां मुमुक्षून् प्रति युज्यते ॥४॥

ये (ईशावस्यादि) मन्त्र अनन्त अविनाशी शान्ति को देने वाले आत्म-याथात्म्य (आत्मा के वास्तविक स्वरुप) का वर्णन करते हैं । अतएव (अनन्त शान्तिप्रद होने ही से) मुमुक्षुओं के प्रति इन मन्त्रों की व्याख्येयता युक्त है ॥४॥

संसारतापसंतप्ता विधूताशेषकल्मषाः ।
मुमुक्षवो विरक्ता हि शममिच्छन्ति शाश्वतम् ॥५॥

मुमुक्षुओं के लिये व्याख्येय इस लिये हैं कि संसारतापसंतप्त, कल्मषरहित विरक्त, मुमुक्षु शाश्वत शान्ति चाहते हैं ॥५॥

तद्यथेहेत्यनित्यत्वं कर्मजन्यसुखस्य हि ।
श्रुत्युक्तं तेन तद्धेतौ नास्थावन्तो मुमुक्षवः ॥६॥

यदि ये मन्त्र कर्मशेष होते तो मुमुक्षुओं के प्रति व्याख्येय नहीं होते। कारण "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" इस श्रुति में कर्मजन्य सुख को अनित्य बताया है। अतएव ऐसे अनित्यसुख-कारण कर्म तथा कर्मशेष में मुमुक्षु आस्था नहीं रखते ॥६॥

ननु व्याख्येयता युक्ता नियुक्तस्यापि कर्मसु ।
व्याख्येयं शतरुद्रीयं तथा पुंसूक्तमेव च ॥७॥
जुहोति शतरुद्रीयमित्येवं विनियोजितम् ।
कर्मण्येतत्तथाप्यात्मज्ञानं च जनयत्यदः ॥८॥
अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवतारणम् ।
इत्याह शतरुद्रीयं कैवल्योपनिषन्मनुः ॥९॥
एतानि नामधेयानि ह्यमृतस्येति चाब्रवीत् ।
याज्ञवल्क्यवचः स्पष्टं जाबालोपनिषत्स्थितम् ॥१०॥
सर्वोपनिषदां सारो रुद्राध्यायः समर्थितः ।
रुद्रोपनिषदं मुक्त्वा गतिरन्या न विद्यते ॥११॥
इति शैवेऽपि रुद्रस्योपनिषत्त्वमुदीरितम् ।
एवं पौरुषसूक्तानां मन्त्राणामपि च स्थितिः ॥१२॥

पूर्वपक्षः--ईशावास्य मन्त्रों को कर्म में अविनियुक्त सिद्ध करने की आवश्यकता क्या? क्योंकि कर्म में विनियुक्त शतरुद्रिय (रुद्रपञ्चमाध्याय) तथा पुरुषसूक्तादि व्याख्येय देखने में आते हैं ॥८॥ "शतरुद्रियं जुहोति" इत्यादिवचनों से रुद्रमन्त्रों का कर्म में विनियोग सिद्ध होता है। कर्मविनियुक्त होने पर भी उससे ज्ञान भी होता है ॥९॥ कैवल्योपनिषद् में "अनेन ज्ञानमाप्नोति" इत्यादि बताया है ॥१०॥ जाबालोपनिषद् में भी "ये अमृत के बोधक नाम हैं" ऐसा कहा गया है। शिवपुराण में "रुद्राध्याय सर्वोपनिषदर्थगर्भित है, रुद्रोपनिषद् के बिना अन्य गति नहीं है" ऐसा बताया है और यही स्थिति पुरुषसूक्त के मन्त्रों की भी है ॥११-१२॥

अत्रोच्यत इमे कर्मविनियुक्ता मता यदि ।
तदा तु कर्मसमवा-य्यर्थस्मारकतामियुः ॥१३॥
न कर्मसमवेतार्थस्मारणं संभवेद्यदि ।
जपमात्रार्थता सिद्ध्येत्कर्मशेषत्वहेतुतः ॥१४॥
अतो ह्यग्न्यर्थता प्रोक्ता रुद्रशब्दस्य कर्मिभिः ।
रुद्रो यदग्निरित्येवं श्रुतिरप्याह तत्परम् ॥१५॥

समाधानः—यदि ईशावास्यादि मन्त्र कर्म में विनियुक्त होते तो कर्मसमवेत (कर्मान्तर्गत) अर्थ का ही स्मरण कराते ॥१३॥ और यदि कर्मसमवेत किसी भी अर्थ का स्मरण कराना संभव न हो तो कर्मशेष होने ही के नाते केवल जपार्थ होते । ॥१४॥ यही कारण है कि रुद्राध्याय में भी रुद्रशब्द का अर्थ कर्मकाण्डी लोग अग्नि ही करते हैं, न कि ब्रह्म, श्रुति ने भी "रुद्रो वा एष यदग्निः" इस प्रकार अग्निपरक ही बताया ॥१५॥

नन्वेवं शतरुद्रीयमन्त्रा आत्मार्थबोधकाः ।
इत्येषा शास्त्रसिद्धान्तस्थितिः खलु कथं भवेत् ॥१६॥

पूर्वपक्षः—यदि कर्मविनियुक्त मन्त्रों का कर्मसमवेत अर्थ का स्मारकत्व ही हो तो शतरुद्रियमन्त्रों का आत्मप्रतिपादन में ही तात्पर्य है यह शास्त्रसिद्धान्त कैसे संगत होगा ? ॥१६॥

अत्राहुरात्मयाथात्म्यमन्यार्थासंभवित्वतः ।
बोध्यते प्रथमं कर्माऽविनियुक्तैर्वचःशतैः ॥१७॥
सिद्धे सत्यात्मयाथात्म्ये प्राबल्याच्छतरुद्रियम् ।
स्याद्देवताधिकरण - न्यायादात्मार्थतत्परम् ॥१८॥

समाधानः—कर्म में अविनियुक्त मन्त्रों का कर्म से सम्बन्धित कोई भी अर्थ संभव न होने से आत्मयाथात्म्य अर्थ ही अगत्या मानना होगा ॥१७॥ इस प्रकार आत्मयाथात्म्य प्रथम सिद्ध हो जाने पर देवताधिकरण न्याय से शतरुद्रिय मन्त्रों का भी आत्मा में तात्पर्य निश्चित होगा ॥१८॥

नन्वद्वैतात्मतात्पर्यनिर्णयो लिङ्गषट्कतः ।
तच्चेत्स्याच्छतरुद्रीये किं स्यात्कर्मनियोगतः ॥१९॥

पूर्वपक्षः—अद्वैतात्मतात्पर्य तो षड्लिंग से निर्णीत होता है । वह षड्लिङ्ग यदि रुद्राध्याय में है तो कर्मविनियोग से क्या मतलब ? ॥१९॥

मैवं कर्मणि तात्पर्ये श्रुत्या समवधारिते ।
प्रत्यक्षेण विरुद्धत्वात् षड्लिङ्गं न प्रवर्त्तते ॥२०॥

उत्तरः—श्रुति से जब यह निर्णय हुआ कि शतरुद्रिय का कर्मार्थतात्पर्य है तब प्रत्यक्षविरुद्ध होने से षड्लिंग की प्रवृत्ति ही नहीं होगी । अर्थात् आत्मा

की अनेकता एवं कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादि प्रत्यक्षसिद्ध है, अद्वैतात्मा के प्रतिपादन में उक्त प्रत्यक्ष से विरोध होगा ॥२०॥

आदित्यो यूप इत्यादिः प्रत्यक्षेण विरोधतः।
स्वार्थात्प्रच्याव्यते यद्वत्तद्वदत्रापि संभवेत् ॥२१॥

जैसे यूप (यज्ञस्तम्भ) आदित्य है यह वाक्य प्रत्यक्षविरुद्ध होने से अपने यथाश्रुतार्थ से प्रच्यावित किया जाता है ॥२१॥

ईशावास्यादिषु पुनः कर्माऽतात्पर्यनिश्चयात्।
प्रत्यक्षमवधूयैव षड्लिङ्गं संप्रवर्त्तते ॥२२॥

ईशावास्यादि मन्त्रों की स्थिति अन्यथा है। उनका कर्म में तात्पर्य न होने से प्रत्यक्ष को बाधकर वहाँ षड्लिंग की प्रवृत्ति हो जाती है ॥२२॥

अन्यथा मन्त्रवैयर्थ्यमनर्थकरमापतेत्।
तन्न युज्येताध्ययनविधिसिद्धार्थवत्त्वतः ॥२३॥

अन्यथा प्रत्यक्षविरोध होने से अद्वैततात्पर्य भी नहीं और कर्मविनियुक्त न होने से कर्मार्थता भी नहीं तो ईशावास्यादि मन्त्रों का वैयर्थ्य ही हो जाएगा। और ऐसा मानना महान् अनर्थकारी होगा और स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस अध्ययनविधि से सिद्ध सार्थकता का बाध भी होगा ॥

इत्थं प्रबलया श्रुत्या प्रत्यक्षे संप्रबाधिते।
रुद्राध्यायेऽपि न प्रत्यक्षविरोधो हि प्रवर्त्तते ॥२४॥

ईशावास्यादि श्रुतियों से जो कि प्रत्यक्ष से प्रबल हैं, प्रत्यक्ष के बाधित होने पर रुद्राध्याय में भी प्रत्यक्षविरोध की गूंज नहीं हो सकती ॥२४॥

आत्मानैक्याद्यपच्छेद - न्यायान्निरवकाशया।
श्रुत्या प्रबाधितं रुद्रे समुत्तिष्ठेत् कथं पुनः ॥२५॥

अपच्छेदन्याय से उत्तरभव अथ च निरवकाश श्रुति प्रत्यक्षसिद्ध आत्मनानात्व कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादि का बाध कर डालती है। इस प्रकार बाधित-मृत प्रत्यक्षात्मनानात्वादि विरोध करने के लिये रुद्राध्याय में जाकर कैसे सिर उठायेगा ॥२५॥

नन्वेवं शतरुद्रीयमनुवादः प्रसज्यते।
ईशावास्यादिसिद्धार्थप्रतिपादनहेतुतः ॥२६॥

पूर्वपक्षः—यदि ईशावास्यादि मन्त्रों से अद्वैतात्मतत्त्व का प्रतिपादन होने के बाद ही शतरुद्रिय से उक्त तत्त्व का बोध हो तो शतरुद्रिय अनुवाद हो जाएगा (अनुवाद का स्वतः प्रामाण्य नहीं माना जाता) ॥२६॥

मैवं शब्दार्थबोधो हि शब्दादेव प्रजायते।
न स्वार्थबोधने ह्यन्यमीक्षते शतरुद्रियम् ॥२७॥

परं तु क्वचनाध्यक्षविरोधादावुपस्थिते ।
अन्यार्थसंशयहृन्मीशावास्यादि मन्महे ॥२८॥

समाधान:—अनुवाद की आपत्ति इसलिये नहीं है क्योंकि शब्द अपना अर्थ बताने में स्वतन्त्र है । अपना अर्थ सर्वात्मभाव कहने के लिये शुतरुद्रिय अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता ॥२७॥ हां इतनी बात अवश्य है कि कहीं कहीं प्रत्यक्षादिविरोध सामने आता है तब शतरुद्रिय का शायद कोई अन्य अर्थ तो नहीं है ऐसा संशय होना संभव है । उस संशय को केवल ईशावास्यादि मन्त्र मिटाते हैं ॥२८॥

ईशावास्यादिमन्त्रेषु नैवास्त्यन्यार्थसंशयः ।
कर्मस्वविनियुक्तत्वात् षड्लिङ्गेनार्थनिर्णयात् ॥२९॥

ईशावास्यादि में अन्यार्थसंशय नहीं होता । कारण, कर्मविनियुक्त न होने से षड्लिंग से तुरत अर्थनिर्णय हो जाता है ॥२६॥

तस्मात्कर्माऽनियुक्तैर्हि निर्णयाऽऽत्मयथात्मता ।
कर्मस्वविनियुक्तत्वमतः साग्रहमुच्यते ॥३०॥

निष्कर्ष यह निकला कि आत्मयाथात्म्य का निर्णय तो कर्म में अविनियुक्त मन्त्र से ही सम्यक् संपादित हो सकता है । अतएव यहाँ ईशावास्यादि मन्त्रों का कर्म में अविनियुक्तत्व आग्रह के साथ सिद्ध किया जाता है ॥३०॥

शाखां छिन्द्यादिषेत्वेति विनियुङ्क्ते यथा श्रुतिः ।
ईशावास्यादिभिः कुर्यात्किमित्यूचे न काचन ॥३१॥

श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या ये विनियोजक छः प्रमाण हैं । उनमें श्रुति का उदाहरण :—'इषे त्वेति शाखां छिनत्ति' अर्थात् इषे त्वा यह मन्त्र बोल कर शाखा को काटे (दर्शपूर्णमास प्रारंभ होने के पहले दिन गाय को दुह कर दूध जमाया जाता है । दुहने के लिए बछड़े को गाय से अलग करना आवश्यक है । इसी को वत्सापाकरण कहते हैं । तदर्थ पलाश की शाखा का उपयोग करना चाहिये । उस पलाशशाखा को काटते समय उक्त मन्त्र बोलना चाहिये ऐसा कर्मकाण्ड में कहा गया है ।) इसी प्रकार ईशावास्यादि मन्त्र बोलकर क्या करना चाहिये ? इस बात को बतलाने वाली कोई श्रुति नहीं है ॥३१॥

यद् बर्हिर्देवसदनं दामीत्येतच्च लिङ्गतः ।
बर्हिषो लवनेऽङ्गं स्यात्तदर्थस्य प्रकाशनात् ॥३२॥
ईशावास्याद्यश्चेमे मन्त्राः कर्म न किञ्चन ।
प्रकाशयन्ति किन्त्वात्मयाथात्म्यं तद्विरोधि यत् ॥३३॥

लिङ्गप्रमाण का उदाहरण :—"बर्हिर्देवसदनं दामि" यह मन्त्र लिङ्गप्रमाण से कुशच्छेदन का अंग है। यद्यपि इस मन्त्र को बोलकर कुश काटो ऐसा वचन नहीं मिलता तथापि इस मन्त्र का ही अर्थ सूचित करता है कि इसे बोल कर कुश काटना चाहिये। मन्त्रार्थ है—मैं देवता को बैठने के आसन स्वरूप कुश को काटता हूँ ॥ ३२ ॥ इस मन्त्र में कुशच्छेदन कर्म का प्रकाशन हुआ है वैसे ईशावास्यादि मन्त्रों में किसी भी कर्म का प्रकाशन नहीं है। बल्कि कर्मविरोधी आत्मयाथात्म्य का प्रकाशन है ॥३३॥

न वा कर्मप्रकरणं कर्मकाण्डसमापनात् ।
समभिव्या हृतिदूरात् प्रमाणं वाक्यसंज्ञितम् ॥३४॥

कर्मकाण्ड समाप्त हो चुका है अतः कर्म का प्रकरण न होने से प्रकरण प्रमाण भी नहीं है और वाक्यप्रमाण तो दूरनिरस्त है। साथ साथ में पढे हो तब वाक्य प्रमाण होता है ॥३४॥

समाख्या यौगिकः शब्दः कर्मशेषत्वबोधकः ।
वैदिकी लौकिकी वापि संज्ञा साप्यत्र नास्ति हि ॥३५॥
विशारयेदविद्यां या गमयेद् ब्रह्म शाश्वतम् ।
कर्मावसादयेच्चापि सैवोपनिषदुच्यते ॥३६॥

यौगिक शब्द जो योग से कर्मबोधन करावे उसी को समाख्या प्रमाण कहते हैं। जैसे 'होतृ चमसः' यह संज्ञा 'होता' का चमसभक्षण सिद्ध करती है। संज्ञा क्वचित् वैदिक और क्वचित् लौकिक होती है ॥३५॥ ईशावास्यादि मन्त्रों की संज्ञा है 'उपनिषत्'। इस संज्ञा से योगार्थ को लेकर कोई कर्म प्रतीत नहीं होता। इसका यौगिक अर्थ यही है कि जो आत्मा के समीप में (उप) पहुंचे उसकी अविद्या को नष्ट करती है (विशरण) ब्रह्म को प्राप्त कराती है (गति) कर्म को क्षीण करती है (अवसादन) षद विशरणगत्यवसादनेषु ऐसा धातुपाठ है ॥३६॥

नन्वात्मा कर्मघटकः प्रकाश्योऽत्रेति लिङ्गतः ।
अशेषकर्मशेषत्वं मन्त्राणामिति चेन्न तत् ॥३७॥

पूर्वपक्षः—आत्मा के विना जडशरीरादि से कोई भी कर्म संभव नहीं है। अतः सर्वकर्मघटक आत्मा के प्रकाशक होने से ईशावास्यादि मन्त्र सर्वकर्मशेष क्यों न माना जाए? ॥३७॥

शुद्धत्वापापविद्धत्वाकायत्वाद्ययतादिकम् ।
वक्ष्यमाणात्मयाथात्म्यं विरुद्धं कर्मभिर्यतः ॥३८॥

शुद्धस्यापापविद्धस्य कृत्यदृष्टाद्यभावतः।
कथं कर्तृत्वभोक्तृत्वे शक्यसंभावने खलु ॥३९॥
आत्मनोऽस्याशरीरस्य द्विजधर्माद्यभावतः।
कथं कर्मण्यधिकृति-रेषा दिगितरत्र च ॥४०॥

समाधान :—केवल आत्मा ही यहां प्रतिपाद्य नहीं किन्तु आत्मयाथात्म्य प्रतिपाद्य है। शुद्धत्व, पुण्यपापरहितत्व, शरीररहितत्व, एकत्व, अद्वितीयत्वादि आत्मा का वास्तविक स्वरूप है। और वह कर्म के अनुकूल नहीं बल्कि प्रतिकूल है ॥३८॥ कृति एवं पुण्य पाप के अध्यास के बिना कर्त्ता भोक्ता ही नहीं बन सकता, तब शुद्ध अपापविद्ध आत्मा में इन की संभावना भी कैसे की जा सकती है ॥ ३९ ॥ अशरीर हो तो कर्महेतु द्विजत्वादि धर्म कैसे हो ? ॥४०॥

ननु शुद्धाऽपरिज्ञाने विशिष्टं बुध्यतां कथम्।
विशिष्टज्ञानहेतुत्वाच्छुद्धमाबोध्यतामिह ॥४१॥

पूर्वपक्ष :—विशिष्टज्ञान के प्रति शुद्धज्ञान कारण होता है। जैसे 'दण्डी पुरुषः' इस दण्डविशिष्ट पुरुष ज्ञान के प्रति प्रथम दण्ड एवं पुरुष इन दोनों का ज्ञान चाहिये इसी प्रकार कर्तृत्व भोक्तृत्व द्विजत्वादि विशिष्टोऽहं इस ज्ञान के प्रति भी प्रथम अविशिष्ट कर्तृत्वादि एवं अहं का ज्ञान होना चाहिये। फलतः विशिष्टज्ञान के प्रति कारणीभूत शुद्ध का ज्ञान उपनिषदों में कराया जा रहा है ऐसा माना जा सकता है। तब कर्म के साथ विरोध कैसे ? ॥४१॥

मैवं विशेषणज्ञानं विशिष्टज्ञानकारणम्।
न तु शुद्धपरिज्ञानमिति न्यायविदां मतम् ॥४२॥

समाधान :—विशिष्ट ज्ञान के प्रति विशेषण ज्ञान कारण है यही न्यायवेत्ता मानते हैं, न कि शुद्धज्ञान। 'दण्डी पुरुषः' यहाँ पुरुषः इतना अंश भी पुरुषत्व-विशिष्ट है अतः पुरुषत्वज्ञान कारण माना गया है। पुरुषज्ञान तो किसी के भी मत में कारण नहीं है ॥४२॥

ननु संसर्गसाक्षात्त्वं विशिष्टाध्यक्षमध्यगम्।
तत्र हेतुश्च संसर्गिद्वयसाक्षात्कृतिर्मता ॥४३॥

पूर्वपक्ष :—विशिष्ट प्रत्यक्ष में संसर्गप्रत्यक्ष अन्तर्गत है। उस के प्रति दोनों संसर्गी—विशेषण और विशेष्य का प्रत्यक्ष कारण है। "संसर्गसाक्षात्कारं प्रति संसर्गिसाक्षात्कारस्य कारणत्वात्" ऐसे गदाधर भट्टाचार्यादि नैयायिकों ने लिखा है। अतः विशेष्य आत्मा के ज्ञानार्थ उपनिषद् हो सकती है ॥४३॥

मैवमेतन्मते शब्दात्परोक्षज्ञानमिष्यते ।
अहमो नित्यसाक्षात्त्वाद् व्यर्थः शब्दः प्रसज्यते ॥४४॥

समाधान :—उक्त मत में शब्द से परोक्ष ज्ञान ही होता है। संसर्गसाक्षात्कार के लिये तो संसर्गी का साक्षात्कार चाहिये, शब्दजनितपरोक्षज्ञान नहीं। दूसरी बात—आत्मा नित्य अपरोक्ष है, अत एव उतने ही से विशिष्ट ज्ञान हो जाएगा। शब्द से बोध कराने की क्या आवश्यकता ? ॥४४॥

किं च दण्डी पुमानत्र पुंज्ञानं हेतुरिष्यताम् ।
निर्दण्डपुरुषज्ञानं न हेतुः कस्यचिन्मते ॥४५॥
अकर्त्रात्मपरिज्ञानं तथा कर्त्रात्मबोधकम् ।
न शक्यमुररीकर्त्तुं किन्तु तद्बोधबाधकम् ॥४६॥
अकर्त्तृत्वादिरूपेण शुद्ध आत्मात्र बोध्यते ।
विरुद्धमेव तज्ज्ञानं विशिष्टावगतिं प्रति ॥४७॥

दूसरी बातः—'दण्डी पुमान्' यहाँ शुद्ध पुरुष का ज्ञान कारण मान भी लीजिये फिर भी 'निर्दण्डी पुरुष' ऐसा ज्ञान किसी के भी मत में कारण नहीं है। उसी प्रकार 'अकर्त्ता आत्मा' ऐसा ज्ञान 'आत्मा कर्त्ता' इस ज्ञान का साधक नहीं, स्पष्ट बाधक है। और यहाँ उपनिषद् में अकर्ता अभोक्ता आदि रूप से ही आत्मा का बोधन किया है। अतः वह विशिष्ट ज्ञान का विरोधी होकर कर्म का भी विरोधी ही है ॥४५-४७॥

नन्वेषां मा भवेत् साक्षान्मन्त्राणां कर्मशेषता ।
स्यात्कर्मसमवेतार्थस्मारकत्ववशात्तु सा ॥४८॥
न चात्मा कर्मसम्बद्धो न शुद्ध इति सांप्रतम् ।
यतः कथं न चेदात्मा कर्म संपत्तुमर्हति ॥४९॥
को ह्येवान्याच्च कः प्राण्याद्यद्याकाशो न चेदयम् ।
इत्येवं श्रुतिरप्याह सर्वकर्मनिदानताम् ॥५०॥

पूर्वपक्षः—इन मन्त्रों की कर्मशेषता साक्षात् भले न हो अर्थात् यह मन्त्र बोलकर अमुक कर्म करो ऐसी कर्मशेषता न हो तो भी परम्परया कर्मशेषता संभव है। कर्मसमवेत अर्थों को बतलाने पर भी कर्मशेषता आ जाती है ॥४८॥ यह शंका करें कि ईशावास्यादि मन्त्रों का प्रतिपाद्य शुद्ध आत्मा है और वह कर्म घटक नहीं है अतएव कर्मसमवेतार्थस्मारकत्वेनापि कर्मशेषता संभव नहीं है तो उस का उत्तर यह कि शुद्ध आत्मा न हो तो कर्म होगा ही कैसे ? "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यम्" इत्यादि श्रुति में स्पष्ट बताया है कि उस आत्मा के विना

कोई भी कर्म नहीं हो सकता ॥ ४६–५० ॥

मैवं कारणसामान्ये नेष्यते कर्मशेषता ।
न व्योमकालकृत्यादिः कर्मशेषो निगद्यते ॥५१॥
यद्धि क्रत्वर्थविधया शास्त्रेषु विनिरूपितम् ।
तस्यैव कर्मशेषत्वं पयोदध्यादि तादृशम् ॥५२॥
उत्पाद्यं वा विकार्यं वा संस्कार्यं वाप्यमेव वा ।
तत्स्यात्तद्बोधकं शास्त्रमव्याख्येयं मुमुक्षवे ॥५३॥

समाधानः—यागकारणसामान्य को कर्मशेष नहीं कहते । आकाश, काल, ईश्वरेच्छा, कृति इत्यादि यागकारण होने पर भी कर्मशेष नहीं माने जाते । "अथातः शेषलक्षणं" इत्यादि शास्त्र द्वारा क्रत्वर्थ के रूप में निरूपित व्रीहि दधि आदि ही कर्मशेष होते हैं । वे उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और आप्य इन में से कोई न कोई अवश्य होंगे । उन कर्मशेष अर्थों का बोधन कराने वाला शास्त्र ही मुमुक्षुओं के प्रति अव्याख्येय है (कारण उस साधन से उत्पादित याग से जन्य स्वर्गादि-मुमुक्षुओं के लिये अभीप्सित नहीं है) ॥ ५३ ॥

नात्मोत्पाद्यः पुरोडाशयागस्वर्गादिवन्नृभिः ।
न वा विकार्यो भवति सोमयूपामिषादिवत् ॥५४॥
न संस्कार्यः स्वयंशुद्धो व्रीहिपात्रकुशादिवत् ।
नाप्यो मन्त्रादिवच्चैव स्वात्मत्वादेव सर्वदा ॥५५॥

आत्मा पुरोडाश, याग और स्वर्गादि के समान उत्पाद्य नहीं है (याग और स्वर्ग को भी शेष माना है) और सोमरस यूप खंभा) आदि के समान विकार्य भी नहीं है (क्योंकि उत्पत्तिवाला और विकारवाला नाशवान होता है आत्मा नाशवान नहीं है) आत्मा स्वय शुद्ध होने से व्रीहिपात्रादि के समान संस्कार्य नहीं है और आत्मा होने ही से सर्वदा स्वयप्राप्त प्राप्य भी नहीं हो सकता ॥५५॥

ननु संस्कार्य आत्मा स्यान्मन्त्रैस्तत्स्मरणादिति ।
स्मृत्वा मन्त्रैर्यथा यागे संस्कार्यन्ते हि देवताः ॥५६॥

पूर्वपक्षः—आत्मा संस्कार्य हो सकता है । ईशावास्यादि मन्त्र बोलकर आत्मा का स्मरण करने से आत्मा का संस्कार सपन्न हो सकता है । जैसे मन्त्रों से देवता का स्मरण करने से देवताओं का संस्कार मीमांसकसम्मत है ॥ ५६ ॥

मैवं द्रव्यं देवतेति यागरूपं द्वयं मतम् ।
यागान्तर्भाविनी द्रव्यत्यागोद्देश्या हि देवता ॥५७॥
यागप्रवेशिनोऽर्थस्य संस्कार्यस्यास्तु शेषता ।
न चौपनिषदस्यास्ति पुंसो यागप्रवेशिता ॥५८॥

समाधानः—द्रव्य और देवता ये याग के दो रूप हैं। अतः देवता यागान्तर्गत जो संस्कार्य है उसे शेष माना जा सकता है। किन्तु औपनिषद आत्मा याग में प्रविष्ट भी तो नहीं है॥ ५७–५८॥

ननु यागाऽप्रविष्टार्थः शस्त्राद्यैः स्मर्यते क्वचित्।
स्मर्यतां तावता तस्य शेषत्वं नैव सिद्ध्यति ॥५९॥
किं च तत्र प्रकरणाच्छेषत्वमनुमन्यताम्।
नात्र प्रकरणं किंचित्कर्मकाण्डसमापनात् ॥६०॥

स्तुति आदि में यद्यपि क्वचित् यागाऽप्रविष्ट अर्थ का भी स्मरण होता है तथापि उसमें शेषता सिद्ध नहीं होती। और प्रकरणवशात् शेषत्व मान भी लिया जाए फिर भी औपनिषद पुरुष में प्रकरण भी नहीं है ॥६०॥

अपि च स्मृतिसंस्कार्यं नात्मानं मन्महे वयम्।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते ह्यप्राप्य मनसेत्यतः ॥६१॥
अखण्डाकारवृत्तिश्च नात्मानं स्प्रष्टुमर्हति।
अज्ञानध्वान्तविध्वंसमात्रैकफलवत्त्वतः ॥६२॥

अन्य भी कारण है। वह यह कि आत्मा को सिद्धान्त में स्मृतिसंस्कार्य माना ही नहीं गया है; "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इस श्रुति में आत्मा को मन का अविषय बताया है ॥६१॥ तत्वमस्यादिवाक्यजन्य अखण्डाकार वृत्ति भी आत्मा का स्पर्श नहीं कर सकती है। उसका फल केवल इतना ही है कि वह अज्ञानान्धकार नष्ट कर देती है। (जो स्पर्श नहीं कर सकती उससे संस्कार किस प्रकार हो ?) ॥६२॥

कर्मार्थत्वाच्च पुरुषः शेष इत्याह जैमिनिः।
कर्मार्थत्वं च कर्त्तृत्वाद् विशिष्टस्यैव संमतम् ॥६३॥
कर्त्तृत्वादिविशिष्टश्च शुद्धादात्मातिरिच्यते।
न चात्र प्रतिपाद्योऽसौ तत्तात्पर्यानवेक्षणात् ॥६४॥

महर्षि जैमिनि ने भी शुद्ध आत्मा को कर्मशेष नहीं माना है। "पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्" इस सूत्र में कर्मकर्त्ता होने से पुरुष को शेष बताया है। वह तो कर्त्तृत्वविशिष्ट ही हुआ। विशिष्ट शुद्ध से अतिरिक्त वेदान्त में माना गया है। अतः शुद्ध की कर्मशेषता जैमिनि को भी संमत नहीं है और विशिष्ट आत्मा तो उपनिषदों का प्रतिपाद्य नहीं है। कारण विशिष्ट में तात्पर्य देखने में नहीं आता ॥६४॥

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥६५॥

उपक्रम तथा संहार की एकरूपता, अभ्यास (बार बार कथन) अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति ये छः तात्पर्यनिर्णायक लिङ्ग हैं ॥६५॥

ईशावास्यमुपक्रम्योपसंजह्रे स पर्यगात्।
अनेजदेकमभ्यासो नैनद्देवा अपूर्वता ॥६६॥

ईशावास्य यह सर्वान्तर्यामी व्यापक आत्मा का उपक्रम और स पर्यगाच्छुक्रं यह उसी का उपसंहार है। अनेजदेकं तन्नेजति इत्यादि निष्क्रिय आत्मा का अभ्यास है। नैनद्देवा आप्नुवन्—इन्द्रियाँ आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकीं, यह अपूर्वता है ॥६६॥

फलमत्र च कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।
कुर्वन्नेव स्तुतिर्निन्दाऽसुर्या नामार्थवादवाक् ॥६७॥

एकात्मदर्शी की शोकनिवृत्ति होती है यह फल है अर्थवाद स्तुति निन्दात्मक दोनों यहाँ हैं। कुर्वन्नेव यह स्तुति है और असुर्यलोकगमनोक्ति निन्दा है ॥६७

तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधातीत्युपपत्तिगीः।
एवं लिङ्गानि बोद्धव्यान्यन्यासूपनिषत्स्वपि ॥६८॥

हिरण्यगर्भ उस परमात्मा की सत्ता से ही कर्मफल का विभाजन कर सकते हैं यह उपपत्तिकथन है। इसी प्रकार अन्य उपनिषदों में भी षड्लिङ्ग समझना चाहिये ॥६८॥

लिङ्गैः षड्भिर्यथाप्रोक्तैः शुद्धे तात्पर्यमीक्ष्यते।
न ह्येकत्वं विशिष्टस्य नाकायत्वादिकं तथा ॥६९॥

इन छः लिंगों से ईशावास्य का तात्पर्य शुद्ध में ही सिद्ध होता है, न कि कर्त्तृत्वादिविशिष्ट में। विशिष्ट तो दो के मिलने से होता है वह एक नहीं होता। और शरीरादिशून्य कर्त्तृत्वादिविशिष्ट नहीं हो सकता ॥६९॥

विशिष्टे नास्ति तात्पर्यं कर्माङ्गत्वेन संमते।
तात्पर्यविषये शुद्धे नेष्यते कर्मशेषता ॥७०॥
ईशावास्यादिमन्त्रेषु तस्मादेतेषु सर्वथा।
न कर्मशेषता साक्षात्पारम्पर्येण वा मता ॥७१॥

जो कर्माङ्ग कर्त्तृत्वादिविशिष्ट है उसमें मन्त्रों का तात्पर्य नहीं है और जिसमें तात्पर्य है वह शुद्ध आत्मा कर्माङ्ग नहीं है ॥७०॥
फलतः ईशावास्यादिमन्त्रों में साक्षात् या परम्परया किसी भी प्रकार कर्मशेषता नहीं यह सिद्ध हुआ ॥ ७१ ॥

संशयश्च कुतर्केण न कर्त्तव्यो मुमुक्षुभिः।
गीतानां मोक्षधर्माणामत्र संवादसत्त्वतः ॥७२॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥७३॥
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥७४॥

और मुमुक्षुओं को इस विषय में कुतर्क के द्वारा संशय भी नहीं करना चाहिये। क्यों कि गीता में तथा मोक्षधर्म में इसी अर्थ का स्पष्टीकरण कर तर्क को निराधार कर दिया है ॥ ७२ ॥ गीता में कहा है:—सर्व भूतों में समभाव से तथा विनाशियों में अविनाशी रूप से रहने वाले परमेश्वर को जो देखता है वही वस्तुतः देखता है ॥ ७३ ॥ मोक्षधर्म में:—एक ही सत्यात्मा समस्तभूतों में स्थित है वह जलचन्द्र के समान एकधा तथा बहुधा दिखाई देता है ॥ ७४ ॥

अत्र शुद्धो विशिष्टश्चेत्यात्मद्वैतं न भण्यते ।
किन्त्वात्मा शुद्ध एवास्तीत्येतच्छ्रुत्या निरूप्यते ॥७५॥
कर्तृत्वादिविशिष्टश्च विभ्रमज्ञानगोचरः ।
निरस्य विभ्रमं ह्यात्मयाथात्म्यमनुभाष्यते ॥७६॥

विशिष्टे नास्ति तात्पर्यं (श्लो० ७०) इत्यादि जो हम ने बताया उसका अर्थ ऐसा नहीं समझें कि आत्मा दो है एक विशिष्ट और दूसरा शुद्ध उन में ईशावास्यादि मन्त्र विशिष्ट का प्रतिपादन नहीं करते किन्तु शुद्ध का ही करते हैं। किन्तु उस श्लोक का अभिप्राय यही कि श्रुति विशिष्ट का अस्तित्व ही नहीं मानती। वस्तुतः आत्मा शुद्ध ही है। कर्तृत्वादिविशिष्ट आत्मा की प्रतीति केवल भ्रान्ति मात्र है। श्रुति उस भ्रान्ति का निराकरण करती हुई अद्वैत आत्म-तत्त्व का निरूपण करती है ॥ ७५-७६ ॥

प्रत्यक्षतः सिद्धमपि नानात्वाशुद्धतादिकम् ।
बाध्यते बलशालिन्या श्रुत्यातात्पर्यगर्भया ॥७७॥

निरस्य विभ्रम (श्लो० ७६) अर्थात् प्रत्यक्ष से सिद्ध जो आत्मा का नानात्व अशुद्धत्वादि है उस का बाध करती है। बाध इस लिये कर सकती है कि प्रत्यक्ष की अपेक्षा श्रुति बलवती है। यदि कहो कि फिर आदित्यो यूपः यह श्रुति भी प्रत्यक्ष को बाध कर खंभे को आदित्य सिद्ध करने लगेगी तो उसका उत्तर यही कि वहाँ यज्ञ यज्ञस्तम्भ पशुबन्धनादि की प्रशंसा करने में तात्पर्य है यूप को आदित्य बताने का अन्य कोई प्रयोजन नहीं है अतएव वहाँ श्रुति प्रत्यक्ष का बाध नहीं करती। यहाँ उस से विलक्षणता है। यहाँ आत्मा को अकर्ता अभोक्ता बताने में तात्पर्य है। अतएव यही सिद्धान्त माना गया है कि तात्पर्ययुक्त श्रुति

प्रत्यक्ष से प्रबल है और स्वार्थतात्पर्यरहित श्रुति प्रबल नहीं होती वहाँ प्रत्यक्ष ही प्रबल होता है।

ननु कर्त्तृत्वभोक्तृत्वनानात्वादिप्रबाधने।
अप्रामाण्यं प्रसज्येत कर्मकाण्डस्य सर्वशः ॥७८॥
यजेत स्वर्गकामोऽत्र कर्त्तृता भोक्तृतापि च।
आत्मनः प्रोच्यते श्रुत्या स्वार्थतात्पर्ययुक्तया ॥७९॥
न च कर्मणि तात्पर्यं न कर्त्तृत्वादिके गिरः।
इति वाच्यमकर्तृत्वे कर्म संपद्यतां कथम् ॥८०॥
वाक्यभेदप्रसक्तिश्च विशिष्टविधिसंश्रयात्।
वार्यतां श्रीयतां वापि विध्यर्थापत्तिरत्र हि ॥८१॥
श्रुतिद्वयविरोधे च विकल्पासंभवस्थले।
तात्पर्याधिक्यसाधारा बलाबलविचारणा ॥८२॥
तत्र साध्यार्थवक्तृत्वात्कर्मकाण्डे बलाधिकम्।
सिद्धार्थवेदकत्वाच्च ज्ञानकाण्डं न तत्तथा ॥८३॥
आम्नायस्य क्रियार्थत्वादनर्थकमतद्विधम्।
इत्याह जैमिनिरपि पूर्वकाण्डप्रमाणताम् ॥८४॥
अर्थवादास्ततः सर्वे वेदान्ता आत्मभाषिणः।
को वेदामुत्र भवति न वेति वचनं यथा ॥८५॥

पूर्वपक्षः—वेदान्त वाक्यों से कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादि प्रत्यक्ष का बाघ हो सकता है परन्तु कर्त्तृत्वभोक्तृत्वादि प्रतिपादक श्रुति का बाध नहीं किया जा सकता। यदि वेदान्त वाक्य कर्त्तृत्वादि का बाध करते हैं तो 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादि श्रुति अप्रामाणिक हो जायगी 'यजेत' से कर्त्तृत्व और 'स्वर्गकामः' से भोक्तृत्व प्राप्त होता है। यदि यह कहे कि यहाँ श्रुति केवल कर्म का विधान करती है कर्त्तृत्व भोक्तृत्व का नहीं अतः अप्रमाणिकता की आपत्ति कैसे? इसका उत्तर यही कि कर्त्तृत्वादि न हो तो कर्म ही कैसे होगा? अतः कर्त्तृत्वादि का भी प्रतिपादन मानना होगा। यद्यपि कर्म का भी विधान मानेंगे और कर्त्तृत्वादि का भी तो अनेक विधान होने से 'वाक्यभेद' नाम का मीमांसक स्वीकृत दोष आ सकता है तथापि विशिष्ट विधान मानकर उसका परिहार का भी मीमांसकों ने रास्ता निकाला है। और विध्यर्थापत्ति से भी कर्त्तृत्वादि की सिद्धि हो सकती है। इस प्रकार यहां श्रुतिद्वय का परस्पर विरोध उपस्थित हो गया। दो श्रुतियों का विरोध होता है वहां एक को अप्रामाणिक और दूसरी को प्रामाणिक मानना

संभव नहीं है। क्योंकि श्रुति सभी प्रामाणिक होती है। ऐसे स्थलों में प्रायः विकल्प ही होता है। परन्तु विकल्प क्रियास्थल में ही होता है, वस्तु में विकल्प नहीं होता। वहां फिर बलाबल विचार कर एक श्रुति का यथाश्रुत अर्थ में तात्पर्य और दूसरी श्रुति का लक्षणया अन्यार्थ माना जाता है। तात्पर्य अधिक जिसमें हो वही स्वार्थपरक होगा। यहां साध्य अपूर्व अर्थ का प्रतिपादन होने से कर्मकाण्ड प्रवल पड़ता है। और सिद्धार्थकथन होने से ज्ञानकाण्ड ही दुर्बल पड़ता है। महर्षि जैमिनि ने भी वेद को क्रियार्थक कहकर ही उसकी प्रामाणिकता बतायी। अतः वेदान्तवाक्य ही लक्षणया अर्थवादपरक होगा। अर्थवादवाक्यों में कहीं विपरीतकथन भी होता है। जैसे 'को वेदामुत्र' इस वाक्य में कहा कि कौन जाने स्वर्ग मिलता है या नहीं। इत्यादि। वैसे यहां पर भी कर्त्ता होने पर भी अकर्त्ता कह दिया ॥७८-८५॥

अत्राभिदध्महे शब्दो विधत्ते यागमत्र तु।
न कर्त्तृत्वादिकमपि वाक्यभेदप्रसङ्गतः ॥८६॥
न विशिष्टविधिर्ह्यत्र भवेत् संभवदुक्तिकः।
नोद्देश्यमेव तर्हि स्याद् विधेयः कस्य तर्हि ते ॥८७॥
न ह्यकर्त्तारमुद्दिश्य कर्त्तृत्वं हि विधीयते।
कर्त्तृत्वस्यापि साध्यत्वेऽनवस्था केन वार्यताम् ॥८८॥
अर्थापत्त्यापि कर्त्तृत्वभोक्तृत्वे एव सिद्ध्यतः।
न तत्सत्यत्वमपि च नेष्टसिद्धिस्ततस्तव ॥८९॥
किमर्थमर्थापत्त्यन्तं धावसे च मुधा श्रमात्।
प्रत्यक्षसिद्धे कर्त्तृत्वभोक्तृत्वे किं न वीक्षसे ॥९०॥
तस्मात्कर्त्तृत्वभोक्तृत्वे अनूद्येते स्वशब्दतः।
लोकबुद्धिप्रसिद्धे हि न त्वन्ये शास्त्रगोचरे ॥९१॥

समाधान :—"यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि वाक्य केवल याग का ही विधान करते हैं, कर्त्तृत्वादि का नहीं। दोनों का विधान मानने पर वाक्यभेद दोष होगा। कर्त्तृत्वादिविशिष्ट याग का विधान मान कर वाक्यभेददोषपरिहार नहीं हो सकता। कारण जहां विधि होती है वहां उद्देश्य भी होता है। यहां तो कर्त्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्ट याग तो विधेय हो गया। अर्थात् उद्देश्य कर्त्ता भोक्ता को भी विधेय कोटि में डाल दिया। अब उद्देश्य कौन होगा? यदि कहें कि अकर्त्ता देवदत्त को उद्देश्य कर कर्त्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्ट याग का विधान हो रहा है तो यह वदतोव्याघात होगा। दूसरी बात यह कि मीमांसकों के मत में साध्य ही

विधेय होता है। कर्तृत्व भी यदि साध्य हो तो उस के लिये एक दूसरा कर्तृत्व मानना पड़ेगा। उस का भी विधान मानेंगे तो अनवस्था होगी। विधि के विना द्वितीय कर्तृत्व सिद्ध हो सकता है तो प्रथम कर्तृत्व भी उसी प्रकार विना विधि ही सिद्ध हो सकेगा ॥८८॥ विध्यर्थापत्ति से कर्तृत्व की सिद्धि होती है यह कहना भी निरर्थक है। कारण उससे कर्तृत्वभोक्तृत्वमात्र की सिद्धि होगी, न कि कर्तृत्वभोक्तृत्वसत्यता की भी। यदि कर्तृत्वभोक्तृत्वमात्र की ही सिद्धि करनी थी तो अर्थापत्ति तक दौड़ लगाने की क्या आवश्यकता थी? उतना तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है ॥९०॥ इसलिये अन्त में यही कहना होगा कि यजेत स्वर्गकामः इत्यादि वाक्य प्रत्यक्षसिद्ध कर्तृत्वभोक्तृत्व का अनुवाद मात्र करता है ॥९१॥

अनूद्यमानसत्यत्वं न प्रामाण्यप्रयोजकम्।
अज्ञातार्थज्ञापकत्वमात्रस्यैव तथात्वतः ॥९२॥

अनुवादित अर्थ की सत्यता प्रामाण्य का कारण नहीं है। अज्ञात अर्थ को बतलाना ही प्रामाण्य में कारण है ॥९२॥

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।
इत्यादेरप्रमाणत्वमन्यथा ते प्रसज्यते ॥९३॥

श्रुति में लिखा है कि काम्यकर्मों में यदि सपने में स्त्री दिखाई पड़े तो समझना चाहिये कि समृद्धि होगी। यहां स्वप्नस्त्रीदर्शन का अनुवाद है। परन्तु अनुवादित स्वप्नस्त्री मिथ्या है। अनुवादित अर्थ की सत्यता आवश्यक हो तो "यदा कर्मसु काम्येषु" यह वाक्य अप्रमाण हो जायेगा ॥९३॥

अज्ञातत्ववदर्थस्याबाध्यत्वं चाप्यपेक्षितम्।
प्रामाण्यं प्रति बोधस्येत्येतच्चैतेन खण्डितम् ॥९४॥

'स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति' इस उदाहरण से यह पूर्वपक्ष भी खण्डित हो जाता है कि प्रामाणिकता के लिये जैसे अर्थ की अज्ञातता अपेक्षित है वैसे अबाधितता भी अपेक्षित है ॥ ९४ ॥

नन्वास्तामनुवाद्यस्य सत्यत्वादावनाग्रहः।
तथापि स्याद्विधेयस्य सत्यत्वं समपेक्षितम् ॥९५॥

अन्यथोदखिदत् पूर्वं वपां स्वीयां प्रजापतिः।
इति श्रुतिः प्रमाणं स्याद्विधिकल्पनसंभवात् ॥९६॥
निषेधशास्त्रं चेतव्यो नान्तरिक्षेऽग्निरित्यपि।
गोचरौ कल्पितार्थौ हि स्यातां विधिनिषेधयोः ॥९७॥

विधेयकर्मसत्यत्वेऽप्यस्त्यद्वैतवचोहतिः ।
इत्यर्थवादमात्रत्वं वेदान्तानां पुनर्ध्रुवम् ॥९८॥

पूर्वपक्षः—अनुवादित कर्तृत्वभोक्तृत्व स्वाप्निक स्त्री आदिके सत्यत्व मिथ्यात्व में आग्रह भले न हो, तथापि विधेय अर्थ की सत्यता तो माननी ही पड़ेगी। अन्यथा "प्रजापतिर्वपामुदखिदत्" इत्यादि वाक्य भी स्वीयवपानिर्वापण की विधि या विधिकल्पक मानना होगा। एवं 'नान्तरिक्षे अग्निश्चेतव्यः' यह भी अन्तरिक्ष में अग्निचयननिषेधशास्त्र मानना होगा। यदि कहें कि अपनी वपा निकालने पर यजमान ही मर जाएगा, याग कौन करेगा? तथा अन्तरिक्ष में अग्निचयन प्राप्त ही नहीं है निषेध किसका होगा? तो इसका उत्तर यही दिया जाएगा कि काल्पनिकस्वीयवपानिर्वापणविधि और काल्पनिकान्तरिक्ष-अग्निचयन का निषेध यहां पर संभव है। परन्तु किसी भी मीमांसक ने उक्त दोनों वाक्यों में न विधि मानी और न निषेध माना। इन दोनों को अर्थवादवाक्य ही माना है। यदि यह कहा जाय कि ईशावास्यादि मन्त्रों में केवल आत्मयाथात्म्य ही बताया है अर्थात् कर्तृत्व भोक्तृत्वादि काल्पनिक है आत्मा नित्यशुद्ध है यही बताया, कर्म सत्य है या मिथ्या इससे यहां क्या मतलब? तो उसका भी उत्तर है, वह यह कि आत्मा को केवल अकर्त्ता अभोक्ता ही यहां नहीं बताया, किन्तु एक अद्वैत भी कहा गया है। कर्म सत्य हो तो आत्मा की अद्वैतता संभव नहीं हो सकेगी ॥९८॥

अत्रोच्यते समादाय व्यावहारिकसत्यताम् ।
सर्वा विधिनिषेधानां प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥९९॥
प्रवर्त्तकत्वतो वेदप्रामाण्यमुररीकृताम् ।
आम्नायस्य क्रियार्थत्वादित्येवंवादिनर्षिणा ॥१००॥
व्यावहारिकसत्यत्वमात्रादेवोपपद्यते ।
प्रवर्त्तकत्वं वेदानामिति काचिन्न हि क्षतिः ॥१०१॥

सिद्धान्त :—कर्मादि की व्यावहारिक सत्यता को लेकर समस्त विधिनिषेध प्रवृत्ति संभव है। असल में वेदों की प्रामाणिकता प्रवर्त्तक होने से ही जैमिनि ने मानी है। "क्रियार्थत्वात्" कहने का तात्पर्य यही है। और व्यावहारिक सत्यता मात्र से प्रवर्त्तकता वेदों में संभव है ॥१०१॥

नन्वेवं तत्त्ववेत्तारं प्रत्यप्रामाण्यमापतेत् ।
अननुष्ठापकत्वं हि वेदानामस्ति तं प्रति ॥१०२॥

पूर्वपक्ष :—यदि प्रवर्त्तकत्व ही प्रामाण्य का प्रयोजक है तो तत्त्ववेत्ता को कर्मकाण्ड प्रवर्त्तित नहीं करता। कारण, कर्तृत्वादिमिथ्यात्वदर्शी कर्म में प्रवृत्त

नहीं हो सकता । तब तत्त्ववेत्ता के प्रति कर्मवाक्य अप्रामणिक होगा ॥१०२॥

सत्यं तत्त्वार्थविज्ञं प्रत्यङ्गीकुर्मोऽप्रमाणताम् ।
अननुष्ठापकत्वेन श्येनयागगिरो यथा ॥१०३॥
शत्रौ क्रोधादिरहितः श्येनं नैवानुतिष्ठति ।
अप्रामाण्यं ततस्तं प्रत्यननुष्ठापकत्वतः ॥१०४॥

समाधानः—तत्त्वज्ञानी के प्रति अप्रवर्त्तक होने से कर्मकाण्ड की अप्रमाणता को हम अंगीकार करते हैं, जैसे श्येनयागवाक्य की ॥१०३॥ "श्येनेनाभिचरन् यजेत" यह शत्रु को मारने के लिये श्येनयागविधायक वाक्य है। परंतु जिसका शत्रु के प्रति क्रोध ही नहीं है वह इस वाक्य को सुनने पर भी श्येनयाग नहीं करता । अतः अप्रवर्तक होने से अप्रमाणता क्रोधरहित के प्रति श्येनवाक्य की सिद्ध होती है ॥१०४॥

किं चोक्तं पूर्वतन्त्रेऽपि जैमिन्यादिमहर्षिभिः ।
फलकामोऽधिकारी स्याद् द्विजत्वाद्यभिमानवान् ॥१०५॥

अब थोड़ा पूर्वमीमांसा में भी देखिये वे क्या कहते हैं। स्वर्गादिफलेच्छा वाला और अपने को द्विज आदि माननेवाला कर्म में अधिकारी होता है ॥१०५॥

न ह्यात्मवित् फलार्थी स्यादानन्दं स्वं परं विदन् ।
द्विजत्वादिश्च शारीरो धर्मो नैवात्मनो मतः ॥१०६॥
द्विजोऽस्म्यहमिति ज्ञानं सकलैः शास्त्रवेदिभिः ।
आभिमानिकमेवोक्तं मिथ्याज्ञाननिबन्धनम् ॥१०७॥

अपना स्वरूपानन्द जिसको प्राप्त हो गया उसको स्वर्गादि फलकामना संभव नहीं है । अतएव उसके प्रति अप्रवर्त्तक होने से वाक्य प्रमाण नहीं होता । तथा द्विजत्वादि धर्म शरीरगत है आत्मगत नहीं। मैं द्विज हूँ ऐसे ज्ञान को सब ने ही आभिमानिक माना है । यह अभिमान जिसमें न हो वह याग में अधिकारी न होने से उसके प्रति भी शास्त्र अननुष्ठापक होने से अप्रमाण होगा ॥१०७॥

ननु द्विजशरीरं म इतिज्ञो यजतां नरः ।
किमर्थमभिमानोऽत्रावश्यंभाव्यभ्युपेयते ॥१०८॥

पूर्वपक्षः—मैं द्विज हूँ यह ज्ञान आभिमानिक है। क्योंकि द्विजत्व आत्मा में नहीं शरीर में है। परंतु मेरा द्विज शरीर है यह ज्ञान तो आभिमानिक नहीं है, और उसी ज्ञान को यज्ञकारण मान लिया जा सकता है, अतः तत्त्ववेत्ता को भी अधिकार संभव है ॥१०८॥

न, ब्राह्मणो यजेतेति श्रुतावध्यास ईरितः ।
न हि कायस्य कर्त्तृत्वं ब्राह्मणत्वं न चात्मनः ॥१०६॥

उत्तरः—उक्त पूर्वपक्ष ठीक नहीं ! "ब्राह्मणो यजेत" "राजा राजसूयेन यजेत" इत्यादि श्रुति में स्पष्ट अध्यास बताया है । ब्राह्मणपद का यदि शरीर अर्थ है तो शरीर कर्त्ता नहीं है और आत्मा अर्थ है तो आत्मा में ब्राह्मणत्व नहीं है ।

यदि कायस्य कर्त्तृत्वमुररीक्रियते तदा ।
भोक्ता भिन्नो भवेत्कर्तुः स्वर्गे देहः क खल्वयम् ॥११०॥

यदि आप बलपूर्वक यह कहें कि शरीर ही ब्राह्मण है और शरीर ही कर्त्ता भी है अतः ब्राह्मणो यजेत इत्यादि वाक्यार्थ में कोई अनुपपत्ति नहीं, तो उसका जवाब यह कि तब कर्त्ता अन्य होगा और भोक्ता अन्य होगा । स्वर्ग में यह शरीर तो जाता नहीं है ॥

ननु कर्त्तृत्वभावोऽन्तःकरणे नात्मनीति चेत् ।
सत्यं ब्राह्मण्यमप्यन्तःकरणेऽपि न विद्यते ॥१११॥
कथं च जडभूतान्तःकरणं कर्त्तृतां व्रजेत् ।
आत्मान्तःकरणैकात्म्यभ्रमजन्यैव सा ततः ॥११२॥
कर्त्तारं देहमात्मानं भोक्तारं चैकमेव यः ।
वेत्ति तं प्रत्ययं तस्माद्विधिरित्येव निश्चयः ॥११३॥

पूर्वपक्ष—कर्त्तृत्व आत्मा में भी कहाँ है, वह तो अन्तःकरण का धर्म है । उत्तरः—बात सही है । परंतु ब्राह्मणत्वादि धर्म अन्तःकरण में भी तो नहीं है । दूसरी बात जड अन्तःकरण कर्त्ता कैसे बन सकता है ? कर्त्तृत्व तो आत्मा और अंतःकरण के ऐक्याध्यास से उत्पन्न होता है । सारांश यह कि जो कर्त्ता, शरीर, आत्मा और भोक्ता इन चार को एक समझता है उसी के प्रति ब्राह्मणो यजेत इत्यादि विधि है ॥११३॥

आत्मयाथात्म्यविज्ञानकरा मन्त्रास्ततस्त्विमे ।
अकर्मशेषाः सिद्ध्यन्ति संसारार्णवतारणाः ॥११४॥

फलतः आत्मयाथात्म्यज्ञान को उत्पन्न करने वाले ये (ईशावास्यादि) मन्त्र अकर्मशेष सिद्ध होते हैं और ये संसारसागर को पार करानेवाले भी हैं ॥११४॥

संसारदुःखविच्छेदस्तथा स्वानन्दसंस्थितिः ।
प्रयोजनमतः सिद्धं विदुषां मोक्षलक्षणम् ॥११६॥

इससे संसारदुःखनिवृत्ति और स्वानन्दप्राप्ति रूपीप्रयोजन जिसको मोक्ष भी कहते हैं, विद्वानों के लिये सिद्ध होता है ॥११५॥

आत्मयाथात्म्यमेवात्र विषयः शास्त्रगोचरः।
यज्ज्ञानादेव पूर्वोक्तप्रयोजनसमन्वयः ॥११६॥

आत्मयाथात्म्य ही प्रकृतशास्त्र का विषय है, उसी के ज्ञान से पूर्वोक्त मोक्षफल प्राप्ति होती है ॥११६॥

सम्बन्धोऽपि ततो हेतुहेतुमत्त्वादिलक्षणः।
विषयज्ञानमोक्षादेः प्रसिद्ध्यति परस्परम् ॥११७॥

चूंकि आत्मयाथात्म्यज्ञान से मोक्ष होता है अतः ज्ञान और मोक्ष का हेतु-हेतुमद्भाव, तथा ग्रन्थ का और विषय का प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावादि सम्बन्ध भी सिद्ध होता है ॥११७॥

सुखं वैषयिकं नाम कर्मभ्योऽपि प्रसिद्ध्यति।
तद्विरक्तो मुमुक्षुश्चाकर्मशेषेऽधिकारभाक् ॥११८॥

वैषयिक सुख तो कर्मों से प्राप्त होता है। कर्मप्रकरण को छोड़कर ज्ञान प्रकरण में आने का अर्थ ही यह होता है कि वैषयिक सुखों से विरक्त मुमुक्षु ही यहाँ अधिकारी है ॥११८॥

इत्थं विविच्य संस्पृष्टस्वानुबन्धचतुष्टयान्।
मन्त्रान् भाष्यविभक्तार्थान् व्याख्यास्यामो यथामति ॥११९॥

इस प्रकार सविवेक अनुबन्धचतुष्टययुक्त मन्त्रों को जिनको भाष्य में विभाग कर बताया, विशेष रूप से स्वमति अनुसार हम विवरण करेंगे ॥११९॥

इति सम्बन्धभाष्यवार्त्तिकम्

ॐ

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

ईश्वर से जागतिक समस्त वस्तुओं का आच्छादन करना चाहिये। अर्थात् अद्वैत आत्मदृष्टि से जगत् का बाध करना चाहिये। इस प्रकार जो जगत् का बाधात्मक त्याग है उस त्याग से आत्मा की रक्षा करो। किसी भी वस्तु में राग तृष्णा न करो। भला दार सुतादि संसार रूपी धन किसका है ? वह किसी का नहीं है जिसके लिये राग किया जाए। मिथ्या वस्तु किसी की नहीं होती ॥१॥

ईशावास्यमिदं सर्वम्

ईष्टे योऽसौ प्रभवति जगज्जन्मावनादिषु ।
निरुपाधिकसामर्थ्यं तत्र तस्याविशेषणात् ॥१॥

'ईशा' यहाँ ईश ऐश्वर्ये धातु है । जगत् के जन्म, स्थिति तथा संहार करने में समर्थ यही धात्वर्थ है । क्योंकि ईशा से पहले कोई विशेषण नहीं है अतः निरुपाधिक सामर्थ्य यहाँ लिया जाना चाहिये ॥१॥

उपादानं निमित्तं चाभिन्नं विश्वस्य यद्भवेत् ।
निरुपाधिकसामर्थ्यं तदीयमुपपद्यते ॥२॥

विश्व का जो अभिन्ननिमित्तोपादान होगा उसी में निरुपाधिक सामर्थ्य माना जा सकता है ॥२॥

परमाणुरुपादानमिति वैशेषिका जगुः ।
परमाणूनजनयंस्तन्मते ह्यप्रभुः प्रभुः ॥३॥

परमाणु उपादन कारण हैं उनसे कार्य जगत् उत्पन्न होता है ऐसा वैशेषिक मत है । परंतु उनके मत में परमाणुओं को उत्पन्न करने में परमेश्वर असमर्थ है ॥३॥

एतेन सांख्यः प्रत्युक्तोऽव्यक्तोपादानदर्शनः ।
न ह्यव्यक्तं जनयितुं प्रभुरीशोऽपि तन्मते ॥४॥

वैशेषिकनिराकरण से सांख्य का भी निराकरण हो जाता है। उनके मत में अव्यक्त-प्रकृति जगत् का उपादान है । उस अव्यक्त को पैदा करने में परमेश्वर असमर्थ ही हैं । तब निरुपाधिक सामर्थ्य उस मत में भी ईश्वर में सिद्ध नहीं होता । (यह सेश्वरसांख्यमतानुसारेण कहा गया है ॥४॥

ननु स्वं जनयेन्नो वा प्रभुरेष भवन्मते ।
आद्येऽनित्यो भवेदेष तथान्त्येऽप्रभुरेव सः ॥५॥

पूर्वपक्ष—ईश्वर अपने आपको उत्पन्न कर सकते है या नहीं, यदि उत्पन्न कर सकते और करते हैं तो ईश्वर अनित्य होगा । यदि नहीं, तो अपने को उत्पन्न करने में असमर्थ होने में सर्वसमर्थ तो नहीं हो सकेगा । तब वेदान्त मत में भी निरुपाधिक सामर्थ्य सिद्ध नहीं हुआ ॥५॥

मैवं स्वं जनयन् स्वस्मात् पूर्वं स्यात्कारणत्वतः ।
व्याहतिस्तु तदायाति स्वयं पूर्वं कथं स्वतः ॥६॥

उत्तर—यदि स्वयं को स्वयं बनाए तो उसका अर्थ है कि स्वयं उत्पन्न होने से पहले स्वयं का रहना । क्योंकि कारण हमेशा कार्य से पूर्व रहता है । तब यह

व्याहतवचन होगा। 'कार्य होने से पूर्व में नहीं', 'कार्य होने से पूर्व में है' यह व्याघात है। ६॥

व्याहतार्थानिदानस्याऽप्रभुत्वापादकः खलु।
उन्मत्तवदुपेक्ष्यः स्यादाहार्यार्थोपदेशकः ॥७॥

व्याहत अर्थ की अप्रयोजकतामात्र से प्रभु को अप्रभु कहनेवाला उन्मत्त के समान उपेक्षणीय होता है। क्योंकि वह अहार्य अर्थ (व्याहत अर्थ) का उपदेश कर रहा है।।७।।

अलीकं शशशृङ्गाद्यमनुत्पादयितुः प्रभोः।
अप्रभुत्वं न युक्तं स्यादुत्पत्तौ सत्त्वयोगतः ॥८॥

असत् शशशृङ्गादि उत्पन्न न करने से प्रभु को अप्रभु कहना अयुक्त है। क्योंकि उत्पन्न होने पर वह असत् ही नहीं रहेगा, सत् हो जायेगा ॥८॥

तथा च परमेशोऽसौ परमात्मापि निश्चितः।
उपादानं हि नामात्मा घटस्यात्मा हि मृद्यथा ॥९॥

फलतः परमेश्वर परमात्मा भी निश्चित होता है। जो उपादान होता है वह आत्मा होता है। जैसे घट की आत्मा मृत्तिका होती है ॥९॥

सर्वान्तरात्मा यः सोऽयं परमात्मा निगद्यते।
स एव प्रत्यगात्मा च प्रत्यक् सर्वान्तरो हि यत् ॥१०॥

जो सर्वान्तरात्मा हो वही परमात्मा शब्द का अर्थ है। इसी को प्रत्यगात्मा भी कहते हैं। क्योंकि प्रत्यक् का अर्थ है सर्वान्तर ॥१०॥

घटस्यात्मा कपालः स्यात्तस्य मृच्चूर्ण आन्तरः।
तस्याणुस्तस्य तन्मात्रेत्यन्ते सर्वान्तरः प्रभुः ॥११॥

घट की आत्मा कपाल है कपाल की मृत्तिकाचूर्ण अन्तरात्मा है उसकी अन्तरात्मा अणु और उसकी तन्मात्रा इस प्रकार अन्तिम अन्तरात्मा ही परमात्मा प्रभु है ॥११॥

उपादाननिमित्तैक्ये तज्जन्यं कल्पितं भवेत्।
निरंशत्वादात्मनो हि संस्थानासंभवित्वतः ॥१२॥

उपादान और निमित्त जहां एक होता है वहाँ कार्य कल्पित ही हो सकता है। क्योंकि आत्मा निरवयव होने से अवयवों के संस्थान (संनिवेशविशेष) से कार्य नहीं बन सकता (मृतिका के अवयवों को ऊपर नीचे क्रमविशेष से लगाने पर घट तैयार होता है। आत्मा निरवयव है। अतः अवयवों को ऊपर नीचे कर के कार्य तैयार करना असंभव है) ॥१२॥

ईक्षणाज्जगतः सर्गं श्रुतिरप्याह शाश्वती।
दृष्टिसृष्टं च मिथ्यैव भवेद्रज्जुभुजङ्गवत् ॥१३॥

"तदैक्षत" इत्यादि श्रुति ने ईक्षण से जगत् की सृष्टि बतायी है, और जो दृष्टि से सृष्ट होता है वह रज्जुसर्प के समान मिथ्या ही हो सकता है ॥१३॥

रज्ज्वाद्यज्ञानसंभूतः सर्पादिरवलोक्यते।
आत्माऽज्ञानसमुद्भूतं जगच्चैव तथा भवेत् ॥१४॥

रज्जु आदि के अज्ञान से सर्पादि उत्पन्न होते हैं वैसे आत्मा के अज्ञान से ही जगत् भी उत्पन्न हो सकता है ॥१४॥

स्फुरितायां पुना रज्जौ न सर्प उपलभ्यते।
स्फुरिते चात्मनि तथा द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥१५॥

रज्जु स्फुरित होने पर सर्प की उपलब्धि नहीं होती है। वैसे आत्मा स्फुरित होने पर द्वैत जगत् भी उपलब्ध नहीं होता ॥१५॥

स्फुरिता पुरतो रज्जुराच्छादयति पन्नगम्।
स्फुरितश्चैवमात्मा च जगदाच्छादयेत्परः ॥१६॥

रज्जु स्फुरित होने पर सर्प का आच्छादन करती है। वैसे आत्मा भी स्फुरित होने पर जगत् का आच्छादन करता है ॥१६॥

आच्छादनं पन्नगस्यादर्शनापादनं मतम्।
आच्छादनं च जगतोऽदर्शनापादनं स्थितम् ॥१७॥

सर्प का आच्छादन सर्प का अदर्शन ही है। वैसे जगत् का भी आच्छादन जगत् का अदर्शन है ॥१७॥

आच्छन्ने पन्नगे नैव पन्नगो वस्तुतः स्थितः।
आच्छन्नायां संसृतौ च संसृतिर्नैव तिष्ठति ॥१८॥

सर्प के आच्छादित होने पर वस्तुतः सर्प रहता ही नहीं और संसार के भी आच्छन्न होने पर संसार भी नहीं ही रहता ॥१८॥

असर्पा रज्जुरेकैव निर्भया शिष्यते तदा।
अद्वैतः केवलश्चेशः सदानन्दोऽवशिष्यते ॥१९॥

सर्पाच्छादन होने पर सर्परहित एक रज्जुमात्र अवशिष्ट रहती है। भय कारण सर्प के न होने से अभय हो जाता है। और द्वैत जगत् का आच्छादन होने पर केवल अद्वैत ईश ही रह जाता है वह सत् आनन्द रूप ही परिशिष्ट होता है ॥१९॥

संसारदुःखनिर्मग्नैर्मुमुक्षुभिरतो बुधैः।

ईशा वास्यमिदं सर्वमाच्छाद्यं सकलं जगत् ॥२०॥

जो संसार दुःख में मग्न हैं, इससे मुक्त होना चाहते हैं परम आनंद प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिये अतः यही कर्त्तव्य है कि ईश से जगत् का आच्छादन करें। २०॥

यत्किं च जगत्यां जगत्

जगत्यां जगदित्येतदौपलक्षणिकं वचः।
नामरूपात्मकं सर्वं जगदत्र विवक्षितम् ॥२१॥

'जगत्यां जगत्' यह नामरूपात्मक समस्त जगत् का उपलक्षण है ॥२१॥

न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति न विकल्पोऽस्ति तत्त्वतः।
नित्यप्रकाश एवास्ति विश्वाकारो महेश्वरः ॥२२॥

अतएव बन्ध मोक्ष विकल्पादि सबका निषेध कर एकमात्र परमेश्वर को "न बन्धोऽस्ति" इत्यादि वचन कहता है ॥२२॥

नन्वीशज्ञानतो वास्यं नेशा वास्यमिदं जगत्।
मैवं ज्ञानस्वरूपत्वादीशस्येति न हि क्षतिः ॥२३॥

पूर्वपक्षः—ईश से नहीं, ईशाज्ञान से जगत् आच्छाद्य है। उत्तरः—ईश्वर स्वयं ज्ञानस्वरूप है। अतः ईश कहने ही से ज्ञान अर्थात् सिद्ध होता है ॥२३॥

अनावृता भवेद्या चित् सैव ज्ञानमितीरिता।
अनावृतं हि चैतन्यं व्यज्यतेऽत्रेशशब्दतः ॥२४॥

अनावृत चित् ही ज्ञान है। और यहाँ ईश शब्द से अनावृत चैतन्य की ही अभिव्यञ्जना है ॥२४॥

अत एव विधिश्चात्र न ज्ञाने वासनेऽपि वा।
तत्त्वोपदेश एवायमित्यानन्दगिरिर्जगौ ॥२५॥

अतएव न ज्ञान में विधि है और न आच्छादन में ही। यह तत्त्वोपदेशमात्र है ऐसा आनन्दगिरि ने कहा ॥२५॥

अत्रानावरणे बीजं ज्ञानं वृत्त्यात्मकं हि यत्।
तत्कारणे विचारादौ विधिर्मध्याधिकारिणाम् ॥२६॥

अनावृत चैतन्य रूपी ज्ञान में अनावरणकारण वृत्तिरूपी ज्ञान है, उसका कारण विचारादि है। मध्यमाधिकारियों के प्रति उसी का यहाँ विधान है ॥२६॥

चिराज्जलादिपतितं चन्दनं क्लेदनादितः।
दुर्गन्धि तत् स्वरूपस्थं घर्षणादिवशाद्भवेत् ॥२७॥
स्वरूपगन्धे संभूते दुर्गन्धस्तु पिधीयते।
एवमात्मस्वरूपेण जगदेतत् पिधीयते ॥२८॥

बहुत समय से मैले जल में पड़ा हुआ चन्दन गीला हो जाने से दुर्गन्धवाला हो जाता है वह स्वरूपस्थ तभी होता है जब घिसा जाता है। स्वरूपगन्ध के प्रकट होते ही दुर्गन्ध आच्छादित हो जाती है वैसे आत्मस्वरूप प्रकट होने से जगत् भी आच्छादित होता है ॥२७–२८॥

वास्यः स्वरूपगन्धेन दुर्गन्ध इति बोधिते।
विधेयस्तेन वाक्येन न गन्धो नापि वासनम् ॥२९॥
किन्तु घर्षणमेव स्यात्स्वगन्धव्यञ्जकं हि यत्।
गन्धस्य पूर्वसिद्धत्वात् स्वतो दुर्गन्धवासनात् ॥३०॥
एवमीशा जगद् वास्यमित्येवमिह बोधिते।
विधेयस्तेन वाक्येन न ज्ञानं नापि वासनम् ॥३१॥
किन्तु तत्र विचारादिरात्माभिव्यञ्जकस्तथा।
तमेतमर्थसिद्धार्थं निगदन्ति मनीषिणः ॥३२॥

चन्दन की अपनी सुगन्धि से दुर्गन्ध दूर करो कहने पर उस वाक्य से न तो सुगन्ध का विधान होता है और न दुर्गन्ध दूर करने का। क्योंकि सुगन्ध स्वतः सिद्ध है। और सुगन्धि प्रकट होने पर विना मेहनत अपने आप ही दुर्गन्धि दूर होगी अतः वहाँ सुगन्ध को प्रकट करने वाला घर्षणादि ही विधेय होता है। इसी प्रकार ईश्वर से जगत् का आच्छादन करो कहने पर न तो ज्ञान (अभिव्यक्त चेतन) विधेय होता है और न आच्छादन ही। किन्तु ईश्वराभिव्यञ्जनकारण विचारादि ही विधेय होता है। इसी को विद्वान लोग अर्थसिद्धार्थ कहते हैं ॥२९–३२॥

ब्रह्मात्मभावनाद्यात्मविचारेण युतस्य च।
एषणात्रयसंन्यासे ह्यधिकारो न कर्मसु ॥३३॥

'ईशावास्यं' से अर्थतः विधेयरूपेण प्राप्त ब्रह्मात्मैक्यभावनादिरूप विचार करने वाले के लिये एषणात्रयसंन्यास (पुत्रैषणा वित्तैषणा और लोकैषणा के संन्यास) में ही अधिकार है कर्म में नहीं ॥३३॥

अधिकारो हि तज्जन्यफलसम्बन्ध उच्यते।
न तु तत्स्वामितामात्रं तदपहृत्यसंभवात् ॥३४॥

यहाँ अधिकार का अर्थ है—तज्जन्यफलसम्बन्ध। न कि 'हक'। कर्म करने का 'हक' नहीं यह बात नहीं कही जाती। अगर वह कर्म करे तो कोई रोक नहीं सकता। परंतु ब्रह्मात्मभावना से शरीरात्मभाव कर्तृत्वभोक्तृत्वादिभाव न होने से किया गया कर्म भी फलदायी नहीं होता। कर्मसंन्यास में अधिकार इसलिये है कि तज्जन्य आत्मरक्षादि फल त्यागी को प्राप्त होता है ॥३४॥

देहात्मभावना कर्म कुर्वाणस्य बलाद्भवेत् ।
ब्रह्मात्मभावना तेन द्राढमानं न संभजेत् ॥३५॥

कर्मजन्य फल का सम्बन्ध न हो, फिर भी कर्म करते रहने में क्या हानि ? जनकादि तो कर्म करते रहे, इस पूर्व पक्ष का समाधान है कि ब्रह्मात्मभावना करने वाला साधक यदि कर्म में प्रवृत्त हो जाय तो कर्तृत्वभावना को भी लाना होगा, तब देहात्मभावना भी रखनी पड़ेगी । फलतः ब्रह्मात्मभावना दृढ़ नहीं होगी । जनकादि तो सिद्ध हो चुके थे । दृढ़ ज्ञान हो जाने के बाद कर्म करो या न करो कोई फरक नहीं पड़ता । "नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेन" यह गीतावचन प्रसिद्ध है ॥३५॥

भावनादार्ढ्यहीनस्य न ज्ञानमुपजायते ।
तस्मात् संन्यास एवात्र प्रकर्त्तव्यो मुमुक्षुभिः ॥३६॥

भावना दृढ नहीं होगी तो ज्ञान होना कठिन है । इसलिये मुमुक्षुओं के लिये तो संन्यास ही कर्तव्य है ॥३६॥

ननु संन्यासविषयविधिश्च कथमाञ्जसः ।
विधौ विधेयकर्त्तृत्वं बलादापतीति चेत् ॥३७॥

पूर्वपक्षः—ब्रह्मात्मभावना करने वालों के प्रति संन्यासविधि भी कैसे संभव है ? विधि मानने पर विधेय के प्रति कर्तृत्व भी उपस्थित होगा ॥३७॥

कण्टकेनैव निःसार्यः कण्टको हीति नीतितः ।
संन्यासकर्त्तृता सर्वकर्त्तृत्वं विनिवर्त्तयेत् ॥३८॥

उत्तरः—कांटे से कांटे को निकालना चाहिए यह न्याय है । द्वितीय कांटा इसलिये नहीं गड़ा जाता है कि उसको पाँव में फँसाकर रखो । किन्तु प्रथम कांटे को भी निकालना है और दूसरे को तो फेंकना है ही । इसी प्रकार संन्यास-कर्तृत्व लाकर अन्य समस्त कर्मकर्तृत्व निकाल दिया जाता है और अन्त में संन्यासकर्तृत्व भाव भी निकाला जाता है ॥३८॥

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥३९॥
संन्यासकर्त्तृभावेन येन त्यजसि कर्म तम् ।
संन्यासकर्त्तृभावं च त्यजेति हि तदाशयः ॥४०॥

यही बात महाभारतादि में भी कहा—धर्म अधर्म सत्य एवं अनृतादि को छोड़ो और जिससे इनको छोड़ते हो उसको भी छोड़ो । इस वचन में अन्य सबको छोड़ने में कारणीभूत संन्यास या संन्यासकर्तृभाव को भी छोड़ने का निर्देश स्पष्ट है ॥३९-४०॥

ब्रह्मात्मभावनायां हि कर्तृत्वादिविमर्दनात् ।
संन्यासोऽप्यर्थतः प्राप्तः प्रकृते विधिगोचरः ॥४१॥

जहां ब्रह्मात्मभावना होती है वहां कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविमर्दन होना आवश्यक है । अतएव संन्यास भी अर्थतः प्राप्त होने से प्रकृत विधिविषय है ॥४१॥

तेन त्यक्तेन

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा इत्येषा त्यागसंस्तुतिः ।
पृथक् फलं हि नाङ्गस्य स्तुत्या च विधिकल्पनम् ॥४२॥
इत्याचार्यवरो व्याख्यदानन्दगिरिरत्र तु ।
एषणात्रयसंन्यासपरं त्यक्तपदं विदन् ॥४३॥

आचार्यप्रवर आनन्दगिरि ने 'ईशावास्य' से आर्थिक संन्यासविधि नहीं मानी । उन्होंने बताया कि 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' यह संन्यास की स्तुति है । क्योंकि संन्यास अङ्ग है । अङ्ग का पृथक् फल नहीं होता । और यहां 'भुञ्जीथाः' ऐसा फल बताया है । अतः यह स्तुति है । यः स्तूयते स विधीयते' इस न्याय से स्तूयमान संन्यास की विधि की कल्पना की जाती है । श्री आनन्दगिरि का आशय है कि यहां त्यक्तपद का एषणात्रय संन्यास अर्थ है ॥४२-४३॥

परे तु वास्यमाच्छाद्यं त्याज्यं बाध्यं जगत् समम् ।
तेन त्यागेन बाधेन स्वात्मरक्षां श्रुतिर्जगौ ॥४४॥

अन्य आचार्य कहते हैं :—वास्य-आच्छाद्य त्याज्य और बाध्य ये सब यहां एकार्थक है । उस त्याग से आत्मरक्षा करो का अर्थ है जगत् के बाध से आत्मरक्षा करो । इन आचार्यों के मत में त्यक्त का एषणात्रय संन्यास अर्थ न होने से यह संन्यासस्तुति नहीं हो सकती । अतः ईशावास्यं से ही अर्थाक्षिप्त संन्यासविधि मानना चाहिये ॥४४॥

अवास्यापास्यशब्दौ द्वाववमानापमानवत् ।
अपास्यं त्याज्यमित्यर्थो बाध्यमित्यपि केचन ॥४५॥

ईशा अवास्यं ऐसा पदच्छेद करो । अवास्य का अपास्य अर्थ है । जैसे अवमान अपमान समानार्थक है । अपास्य का त्याज्य अर्थ स्पष्ट है । उसका भी बाध्य अर्थ में पर्यवसान है (इस मत में भी 'त्यक्तेन' यह पूर्वोक्त बाध का परामर्शक है) ॥४५॥

णिजन्तावासयतितो जन्मस्थितिलया इह ।
आर्थिका ईश्वराधीना इति वाक्चतुरा जगुः ॥४६॥

आङ्पूर्वक णिजन्त वस धातु का 'आवासयितुं योग्यं' इस अर्थ में आवास्यं रूप है । ईश्वर जगत् को बसाता है इस कथन से जैसे गृह को बसाने वाला

गृह को बनाता है, रक्षा भी करता है, जरूरत पड़ने पर तोड़ भी लेता है वैसे ईश्वर भी जगत् को उत्पन्न करता है, रक्षा करता है, संहार करता है ऐसा आर्थिक अर्थ प्राप्त होता है इस प्रकार भी यहां वाक्चतुरों की व्याख्या है। (वस्तुतः निरुपाधिक सर्वसामर्थ्य में ही ये सब अन्तर्गत होने से ईशपद से ही इतना अर्थ प्राप्य है। अतएव आवास्य से ऐसा खींचातानी कर अर्थ निकालना केवल वाक्-चतुरता ही है) ॥४६॥

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथास्त्यागेन, क्तोऽत्र भाववाक्।
न हि त्यक्तो मृतः पुत्रो भृत्यो वा स्वात्मरक्षकः ॥४७॥

'तेन त्यक्तेन' यहां 'नपुंसके भावे क्तः' इस सूत्र से भाव में क्तप्रत्यय है। त्याग यहां त्यक्तपद का अर्थ है। त्यक्त पुत्र या मृत भृत्य भला हमारी रक्षा क्या करेगा। अतः त्याग ही यहां वेदार्थ है ॥४७॥

त्यक्तेन लक्षित इति केचिद् व्याचक्षते बुधाः।
तदसत्तद्सम्बन्धान्नोपलक्षणतापि यत् ॥४८॥

त्यक्तेन जगता लक्षितः ऐसा कुछ लोग अर्थ करते हैं। परंतु लक्षित की बात दूर, त्यक्त से उपलक्षित भी नहीं होता। त्यक्त के साथ संबन्ध ही संभव नहीं। जब संबन्ध था तब त्यक्त नहीं था। और त्यक्त हुआ तो सम्बन्ध नहीं रहा। त्यक्त का अर्थ ही संबन्धध्वंस है। अतः त्यक्त के साथ संबन्ध कभी भी संभव न होने से उपलक्षण भी असंभव है ॥४८॥

तेनेश्वरेण सहित इत्यप्यर्थो न युज्यते।
अध्याहारान्निष्फलत्वाल्लक्षणापत्तितस्तथा ॥४९॥

'तेन' का ईश्वर के साथ रहते हुए ऐसा अर्थ कुछ लोग करते हैं, वह उचित नहीं। सहार्थ में तृतीया मानने पर भी रहते हुए इतना अध्याहार करना ही पड़ेगा। अध्याहार करके अर्थ लगाने पर अपनी मर्जी से कहीं भी कुछ भी अर्थ किया जा सकता है। और ईश्वर के साथ सभी रहते हैं, ईश्वर के विना कौन रहेगा। फलतः व्यर्थविशेषण भी होगा। उसके वारण के लिये फिर लक्षणा करनी पड़ेगी—ईश्वर का स्मरण करते हुए इत्यादि। परंतु यह सब वेदार्थ लगाने की पद्धति नहीं है ॥४९॥

भुञ्जीथाः

भुञ्जीथाः पालयेथाः स्वमात्मानं न तु घातय।
असुर्यलोकगमनं वक्ष्यामो ह्यात्मघातिनः ॥५०॥

'भुञ्जीथा' का अर्थ है आत्मरक्षा करो। ऐसा अर्थ कैसे निकल आया? इसका समाधान यह कि तृतीय मन्त्र में आत्मघाती असुर्यलोक में जायेंगे ऐसा

बताया जाएगा। उस का प्रतियोगी आत्मरक्षण प्रथम मन्त्र में अर्थप्राप्त है ॥५०॥

प्रयुञ्जाना भगवती मध्यमं पुरुषं श्रुतिः।
आचार्यवचसाऽऽहाऽर्थमाचार्यावश्यकत्वतः ॥५१॥
आचार्यवान् पुमान् वेदेत्यन्यत्र च जगौ श्रुतिः।
न ह्यन्यथा भवेज्ज्ञानमित्येकेऽत्र बभाषिरे ॥५२॥

'भुञ्जीथाः' यह मध्यम पुरुष प्रयोग का तात्पर्य है कि यहां श्रुति आचार्यवाणी से बोल रही है। अर्थात् आचार्य से ही श्रवण करना चाहिये यह सूचित करती है। उसके बिना ज्ञान नहीं हो सकता ॥५१-५२॥

त्यागेन भोगं कुर्वीथा इति केचिदिहावदन्।
तन्न, भोगस्य हेतुर्न त्यागः किन्त्वर्थसंग्रहः ॥५३॥

त्याग से भोग करो ऐसे कुछ लोग अर्थ करते हैं। सोचने की बात है कि त्याग से भोग संपन्न होता है? कि अर्थसंग्रह से? ॥५-॥

रागतः प्राप्तभोगश्च न विधेयः कथंचन।
तथा चानर्थकं वाक्यमिदं हन्त प्रसज्यते ॥५४॥

दूसरी बात—भोग करो ऐसी विधि व्यर्थ है। राग से ही भोग में सब की प्रवृत्ति होती है। अतः वेदवाक्य ही निरर्थक हो जाएगा ॥५४॥

नन्वत्र करणार्थे न तृतीया भण्यते मया।
सहार्थे किन्तु सा, भोगं कुर्वीथास्त्यागपूर्वकम् ॥५५॥
तत्र भोगस्य संप्राप्तेस्त्याग एव विधीयते।
अनूद्य होमं दध्यादिविधानमिव कर्मिणाम् ॥५६॥

पूर्वपक्षः—'त्यक्तेन' यह करणतृतीया नहीं, किन्तु सहार्थ में तृतीया है। त्यागपूर्वक भोग करो ऐसा अर्थ है। इस में भी भोग रागतः प्राप्त होने से त्याग मात्र का विधान है। जैसे "दध्नाजुहोति" यहाँ होम का अनुवाद मात्र है विधान दधि का है ॥ ५५-५६ ॥

मैवं सर्वपरित्यागे भोगो नैव प्रकल्पते।
वाच्योऽतः संविभागोऽत्र स नित्यः काम्य एव वा ॥५७॥
आद्ये तस्याननुष्ठाने प्रत्यवायः प्रसज्यते।
सर्वदा त्यागपूर्वत्वं भोगानां खल्वसंभवि ॥५८॥
अन्नमात्रविभागस्तु ये पचन्त्यात्मकारणात्।
इत्यत्रोक्तो न सर्वेषां भोगानामिति हि स्थितिः ॥५९॥

उत्तरः—निरुपाधिक त्याग से यदि सर्वत्याग विवक्षित है तो भोग संभव ही नहीं। अतः यहाँ संविभाग ही कहना होगा। वह संविभाग नित्य है या

काम्य ? ऐसा प्रश्न उठेगा। यदि नित्य है तो संविभाग में कहीं चूक गये तो प्रत्यवाय लगेगा। और यह संभव नहीं कि सभी भोग संविभाग कर के ही भोगा जाय। यद्यपि गीता में "ये पचन्त्यात्मकारणात्" इत्यादि में प्रत्यवाय बतलाया है। परंतु वह 'पचन्ति' शब्द केवल अन्नविषयक है। सर्वभोग-विषयक नहीं ॥ ५६ ॥

अध्याह्रियेत चेदन्नं गौरवं ते प्रसज्यते।
न हि प्रकरणात् प्राप्यमन्नं नाप्यर्थतोऽत्र हि ॥६०॥

यदि अन्नं भुञ्जीथाः ऐसा अध्याहार करे तो गौरव होगा। न तो यहाँ प्रकरण से अन्न प्राप्य है और न अर्थतः ही ॥ ६० ॥

किं च नित्यानि कर्माणि कुर्वन्नेवेति वक्ष्यते।
किमर्थमिह वक्तव्यमन्नत्यागादि तादृशम् ॥६१॥

यदि "भुज पालनाभ्यवहारयोः" इस स्मृतिशासन से अन्नभक्षण भी अर्थ मान लिया जाय और "तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते' के अनुसार देवताद्यर्पण यहाँ त्याग पद का अर्थ स्वीकार किया जाय तो भी द्वितीय मन्त्र में नित्यनैमित्तिकादि कर्मों का प्रतिपादन कुर्वन्नेव से करना है उस में से केवल देवतार्थ अन्नदानमात्र को यहाँ कहना अनुपयुक्त है ॥ ६१ ॥

संनिवेशज्ञानफलकं काम्यं कर्मेति चेन्मतम्।
तथापि साधनहतेर्ज्ञानं स्यात्खसुमायितम् ॥६२॥
कादाचित्कविभागस्तु प्रायः सर्वैर्विधीयते।
न संविभज्यतेऽन्नं किं सुतादौ कुक्कुटादिभिः ॥६३॥

यदि कहा जाय कि यह काम्य कर्म है। इस का फल संनिहितोक्त ज्ञान ही है तो उस पर यह प्रश्न होगा कि सर्वदा संविभाग विवक्षित है या कदाचित् ?। सर्वदा संविभाग तो असंभव है। कदाचित् विभाग तो सभी करते हैं। क्या मुर्गी अपने बच्चों को अन्न खाते समय नहीं बाँटती ? ॥ ६२-६३ ॥

ईशावास्यमिदं सर्वमित्येकं वाक्यमिष्यते।
यत्किं चेत्यादि भुञ्जीथा इत्यन्तमपरं तथा ॥६४॥
इति केचिदिहाचख्युः कर्माध्याहारभीरवः।
तन्न युक्तं, जगत् सर्वं केन भोक्तुं हि शक्यते ॥६५॥
त्यक्तेनेति तृतीयान्तं कथं जगति चान्वियात्।
प्रकारार्थे तृतीया च नैवाभेदस्थले क्वचित् ॥६६॥

ईशावास्यमिदं सर्वं यह एक वाक्य है। यत्किंच जगत्यां जगत् तेन त्यक्तेन

भुञ्जीथाः यह दूसरा वाक्य है। इस प्रकार जगत् कर्म होने से कर्माध्याहार नहीं करना पड़ेगा। ऐसी व्याख्या में सारे जगत् को भला भोगेगा कौन ? त्यक्तेन यह तृतीयान्त का द्वितीयान्त जगत् के साथ कैसे अन्वय ? ॥६६॥

तत्त्यक्तेनेशदत्तेन प्रसादविधया हरेः।
इत्यप्यसद् यतो नेशादत्तं किंचन विद्यते ॥६७॥
प्रसादाद्यर्थलाभश्च लक्षणादिसमाश्रयः।
तस्माद्यथोक्त एवार्थो ज्ञेयो ज्ञानप्रसङ्गतः ॥६८॥

तेन त्यक्तेन का ईश्वर के द्वारा दत्त ऐसा अर्थ है। प्रसाद के रूप में भोग करो यह तात्पर्य है। यह भी असंगतार्थ है। कौन सी ऐसी वस्तु है जो ईश्वरदत्त नहीं है ? जिसकी व्यावृत्ति ईश्वरदत्तेन से की जा रही है। प्रसाद इत्यादि अर्थ तो लक्षणा से ही प्राप्य है। कर्मकाण्ड के बाद यह ज्ञानकाण्ड शुरू हुआ है। अतः तदनुकूल अर्थ ही यहाँ करना उचित है। अतः बच्चों को जैसे बूढ़े लोग बोलते हैं कि 'बाँट के खाना' इत्यादि वैसा अर्थ कोई अपूर्वार्थ न होने से श्रुत्यभिप्रेत नहीं है। पूर्वोक्त आत्मरक्षार्थ ही सम्यक् है ॥६५-६६॥

नन्वात्मनेपदं नैव घटतेऽवनतत्परे।
भुजोऽनवन इत्याह भगवान् पाणिनिर्मुनिः ॥६९॥

पूर्वपक्ष—भुञ्जीथाः का रक्षा करो अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि "भुजोऽनवने" इस सूत्र से रक्षाभिन्न अर्थ में ही आत्मनेपद होता है ॥६९॥

मैवं ध्वंसादितो रक्षाविवक्षायां हि शासनम्।
यत्रौपमिकरक्षार्थस्तत्र स्यादात्मनेपदम् ॥७०॥

उत्तरः—ध्वंसादि से जहाँ रक्षा की विवक्षा है वहीं आत्मनेपदनिषेध होता है। औपमिक रक्षा स्थल में आत्मनेपद हो ही जायेगा ॥७०॥

मा नाशयान्नं भुङ्क्ष्व त्वं पुत्रकेत्यवनार्थतः।
प्रयुक्तेऽप्यात्मनेभाषा दृश्यते लौकिके पदे ॥७१॥

अन्न को नष्ट न करो, खाकर उसकी रक्षा करो इस अर्थविवक्षा में आत्मनेपद देखा जाता है ॥७१॥

अनानन्दात्मना स्वात्मदर्शनं स्वात्मनाशनम्।
आनन्दसाक्षात्करणं भोगो रक्षणलक्षणः ॥७२॥

वस्तुतः दुःखी के रूप में आत्मा को देखना ही आत्मनाशन है। क्योंकि स्वतः आत्मा दुःखी नहीं आनन्दरूप है। और आनन्दरूप से देखना ही भोग और रक्षा है। 'सुखसाक्षात्कारो भोगः' यह भोगलक्षण भी इस में सम्पन्न है और

रक्षण भी शामिल है ॥७२॥

मोक्षस्य पुरुषार्थत्वं परिसूचयितुं श्रुतिः ।
भोगार्थेनाब्रवीद्रक्षामनुपेक्ष्यां शिशासिषुः ॥७३॥

मोक्ष को पुरुषार्थ सूचित करने के लिये भुजधातु का प्रयोग किया । रक्षा अर्थ इस लिये कहा कि वह अनुपेक्ष्य है । नाश से बचना सबके लिये अभीष्ट है ॥७३॥

मा गृधः कस्यस्विद्धनम्

त्यक्तैषणो भविष्यंश्च मा गृधः कस्यचिद्धनम् ।
न स्वस्य न परस्यापि मिथ्याभूतं धनं खलु ॥७४॥

एषणात्रयसंन्यास करते हुए प्रथम किसी के धन की अभिलाषा न करो, चाहे वह अपना हो चाहे पराया, आखिर वह मिथ्या ही तो है । शुक्तिरजत की भला कौन अभिलाषा करता है ॥७४॥

अथ वा मा गृधः किंचित्कस्य तावद्धनं खलु ।
सर्वमात्मैव तस्मान्न कस्यचित्किंचिदेव हि ॥७५॥

अथवा मा गृधः यह एक वाक्य है । अभिलाषा मत करो । कस्यस्विद्धनम् यह दूसरा वाक्य है । धन किस का है ? किसी का नहीं । सभी आत्मा ही है इस लिये न कोई किसी का है ॥७५॥

त्यक्तैषणस्त्वं मा देहधारणौपयिकात् परम् ।
वस्तु रागेण गृह्णीया इति नैयमिको विधिः ॥७६॥
अयं रागनिरोधार्थ इत्येवमपरे जगुः ।
रागान्मा भूत्प्रवृत्तिर्हि परित्यक्तपरिग्रहे ॥७७॥

मागृधः इत्यादि को श्री आनन्दगिरी स्वामी ने नियमविधि माना है । संन्यासी देहधारणोपयोगी कौपीनाच्छादनादि से अतिरिक्त किसी भी वस्तु को रागपूर्वक ग्रहण न करे । राग से त्यक्त का पुनः परिग्रह न हो एतदर्थ रागनिरोध करना चाहिये यही श्रुतितात्पर्यार्थ है ॥७६-७६॥

॥ इति प्रथममन्त्रभाष्यवार्त्तिकम् ॥

यथा निघर्षणाद् गन्धश्चान्दनः पारमार्थिकः ।
प्रकटीभूय दौर्गन्ध्यमौपाधिकमपास्यति ॥१॥
प्रादुर्भूतं तथा स्वीयं स्वरूपं पारमार्थिकम् ।
औपाधिकं जगदिदमपास्येदित्युदीरितम् ॥२॥

जिस प्रकार घिसने से चन्दन की पारमार्थिक सुगन्ध प्रकट होकर औपाधिक दुर्गन्ध को मिटा देती है उसी प्रकार अपना पारमार्थिक स्वरूप प्रकट होने पर औपाधिक जगत् को मिटा देगा, यह पूर्वमन्त्र में कहा ॥१-२॥

दृष्टान्ते घर्षणं प्रोक्तं दार्ष्टान्तिकविधा पुनः।
एषणात्रयसंन्यासपूर्वाऽऽत्मज्ञाननिष्ठता ॥३॥
तया निजस्वरूपस्य स्फुरणे स्वात्मरक्षणम्।
अयं चाशेषवेदार्थो महातात्पर्यगोचरः ॥४॥

दृष्टान्त में घर्षण है। दार्ष्टान्तिक में एषणात्रयसंन्यासपूर्वक आत्मज्ञान-निष्ठता है। उससे आत्मस्वरूप का स्फुरण होने पर आत्मरक्षा-मोक्ष होता है यही समस्त वेदों का परमतात्पर्य विषय है ॥३-४॥

तत्रापि कारणं बोध्यं परोक्षो दृढनिश्चयः।
अन्यथा स्वात्मनिष्ठापि कथंचिन्नोपजायते ॥५॥

उस आत्मनिष्ठा में भी परोक्ष दृढ निश्चय कारण है ॥५॥

येषां पुनर्दृढं ज्ञानं परोक्षं च न विद्यते।
नैव संभाव्यते तेषामात्मनिष्ठा प्रबोधभूः ॥६॥

जिनको दृढ परोक्षज्ञान भी नहीं है उनको साक्षात्कारकारण आत्मनिष्ठा की कोई संभावना नहीं रहती ॥६॥

तैरज्ञैः किं प्रकर्त्तव्यं न पतेयुर्यतो हि ते।
इत्येदद्र्थं मन्त्रोऽयं द्वितीयः संप्रवर्त्तते ॥७॥

उन अज्ञानियों के लिये क्या करना चाहिये जिस से कि उन का पतन न हो एतदर्थ यह द्वितीय मन्त्र है ॥७॥

केचित्तु कर्मसंन्यासे कर्मकाण्डं वृथा भवेत्।
इत्याशङ्कामपाकर्त्तुमज्ञानां तदुदीर्यते ॥८॥

दूसरे लोगों की व्याख्याः—कर्मसंन्यास ही करना है तो उनतालीस अध्यायों में प्रतिपादित कर्मकाण्ड वृथा होगा। इस शंका को दूर करने के लिये अज्ञों के लिये कर्मविधान यहां बताया जा रहा है ॥८॥

जिजीविषेदिति वचो ह्यज्ञस्य परिसूचकम्।
न जीविते मृतौ वापि गृधिं कुर्वन्ति पण्डिताः ॥९॥

'जिजीविषेत्' से अज्ञानी का सूचन है। क्योंकि ज्ञानी जीवन या मरण में अभिलाषा नहीं करते। 'न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्यादरण्यमियात्' इत्यादि वचन है ॥९॥

—०:※:०—

ॐ

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

कर्मों को करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करें। इस प्रकार के जीवनेच्छुक तुम मनुष्य में कर्म का लेप नहीं होता। और इसके लिये कोई दूसरा प्रकार (मार्ग) नहीं है ॥२॥

कुर्वन्ने०

नित्यनैमित्तिकादीनि कर्माणि विविधानि च।
अकामं वा सकामं वा कुर्वन्नेव जिजीविषेत् ॥१०॥

मन्त्र में कर्माणि बहुवचन से नित्यनैमित्तिकादि अनेक कर्म एवं सन्ध्यावदन तर्पणादि विविध कर्म ये दोनों अर्थ विवक्षित हैं। उन्हें अकाम या सकाम भाव से करते हुए ही जीने की इच्छा करें ॥१०॥

अत्र निष्कामकर्माणि न सकामानि केचन।
तत्र तु प्रतिवक्ष्यामो भाष्यावष्टम्भनाद्वयम् ॥११॥

यहां निष्काम कर्म हीं विवक्षित है, सकाम नहीं, इस विषय में हम आगे भाष्य के आधार पर कुछ कहेंगे ॥११॥

कुर्वन् परस्मैभाषेयमस्वार्थफलबोधिनी।
समर्प्य फलमीशायेत्याशयेत्यपरे जगुः ॥१२॥

कुर्वन् यह परस्मैपद परगामिक्रियाफल में है। मतलब फल ईश्वर को समर्पण करना चाहिये यह उसका आशय है ऐसे कुछ लोग यहां व्याख्या करते हैं ॥१२॥

अत्र व्याचक्षते केचिच्छब्दव्याख्यानकोविदाः।
जिजीविषेच्छतं वर्षान् न जिघांसेत् कदाचन ॥१३॥

यहाँ कतिपय शब्दव्याख्यानपण्डित कहते हैं कि सौ वर्ष जीने की इच्छा अवश्य रखें मरने की इच्छा न करें ॥ १३ ॥

जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे।
ततः सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः ॥१४॥
तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः।
तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः ॥१५॥
रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतोदतः।
तेषां बहुपदाः श्रेष्ठाश्चतुष्पादस्ततो द्विपात् ॥१६॥

ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः ।
ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः ॥१७॥
अर्थज्ञात्संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान् स्वकर्मकृत् ।
इत्युक्तत्वाद्भागवते कुर्वन्नेव जिजीविषेत् ॥१८॥

निर्जीव से सजीव श्रेष्ठ हैं, उन से प्राणधारी, उनसे चित्तवाले उनसे इन्द्रिय वाले, उनमें भी स्पर्शज्ञानवाले, उन से रसज्ञानवाले उन से गन्धज्ञानवाले, उन से शब्दज्ञानवाले, उन से रूपज्ञानवाले, उन से दोनों तरफ दांतवाले, उन में अनेक पादवाले उन से चौपाये और उन से दो पांववाले मनुष्य श्रेष्ठ हैं । उनमें भी वर्णाश्रमी, उनमें ब्राह्मण, ब्राह्मणों में वेदज्ञ, उनमें अर्थज्ञ उनमें संशय दूर करनेवाले श्रेष्ठ हैं । उनमें भी स्वकर्म करने वाला श्रेष्ठ है । ऐसा भागवत में कहा है । सारांश यह कि मनुष्यजीवन श्रेष्ठ होने से जीने की इच्छा करो और कर्मठ अतिश्रेष्ठ होने से कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करो यही वेदार्थ है ॥ १८ ॥

अपि चाहुः पर्वतादेः केवलान्नमयो भवेत् ।
अन्नप्राणौ तु वृक्षादौ पश्वादौ तौ मनोऽपि च ॥१९॥
विज्ञानं च मनुष्येषु विशेषेणोपलभ्यते ।
आनन्दस्तु विशेषेण देवादावेव वीक्ष्यते ॥२०॥
विज्ञानवत्त्वादन्येभ्यः पर्वतादिभ्य उत्तमम् ।
न जिघांसेन्नरतनुं दुर्लभत्वाज्जिजीविषेत् ॥२१॥

और भी बातः—पर्वतादि में केवल अन्नमय की प्रधानता है । वृक्षादि में अन्न प्राण दो की, पशु आदि में अन्न, प्राण और मन तीन की, मनुष्य शरीर में अन्न, प्राण, मन और विज्ञान की और देवताओं में अन्न प्राण मन विज्ञान और आनन्द की प्रधानता है । विज्ञान विशेषरूपेण मनुष्यों में है । अतएव यह पर्वतादि शरीर से उत्तम है । उसकी हत्या करने की इच्छा मत करो दुर्लभ होने से जीने की ही इच्छा करो इस प्रकार जिजीविषेत् यह विधिवाक्य है ॥१९-२१॥

किन्तु भाष्यकृतो नात्र विधिं मन्त्रेऽनुमेनिरे ।
प्राप्तत्वाज्जीवनेच्छाया अपूर्वत्वोक्त्ययोगतः ॥२२॥
मा न भूवं हि भूयासमिति कीटोऽपि वाञ्छति ।
अतोऽपूर्वविधिर्नात्र कथंचिदुपपद्यते ॥२३॥

किन्तु भाष्यकार ने जीवनेच्छा में विधि नहीं मानी । क्योंकि जीवनेच्छा प्राप्त होने से अपूर्व नहीं हो सकती । एक कीड़ा भी मैं न मरूँ ऐसी इच्छा करता है ॥२२-२३॥

इच्छायामेव सन्नत्र न तु संभावनादिषु ।
मुख्यत्वात्तेन च प्राप्ता जीवनेच्छा ह्यनूद्यते ॥२४॥

जिजीविषेत् में सन्प्रत्यय का इच्छा ही अर्थ है संभवनादि नहीं । क्योंकि इच्छा उसका मुख्यार्थ है । जीवनेच्छा प्राप्त है अतः उसका यहां अनुवाद मात्र है ॥२४॥

ननु केचिज्जिघांसन्ति दुःखित्वादिवशान्निजम् ।
पक्षेऽप्राप्तां नियमयेद्विधिस्तस्माज्जिजीविषाम् ॥२५॥

पूर्वपक्षः—कुछ लोग दुःखी होकर आत्महत्या करना चाहते हैं । अतः पक्ष में अप्राप्त होने से यह नियमविधि है ॥२५॥

मैवं न नियमादृष्टं किंचिदत्रोपलभ्यते ।
यथा तद् वीक्ष्यते व्रीहीनवहन्तीतिवाक्यतः ॥२६॥

उत्तरः—नियमविधि स्थल में नियमादृष्ट होता है । जैसे 'व्रीहीनवहन्ति' यहां कूटकर ही तुस निकालना चाहिये तभी पुरोडाशादि से हवन करने पर अदृष्ट होगा । इस प्रकार जीवनेच्छा रखने से क्या नियमादृष्ट होता है यह स्पष्ट नहीं है ॥२६॥

न वात्र परिसंख्या स्यात्तदाधिकजिजीविषा ।
भवेद् व्याकुपिता श्रौती भूयश्च शरदः शतात् ॥२७॥

यदि परिसंख्या विधि मानें अर्थात् सौ ही वर्ष जीने की इच्छा करो अधिक नहीं, तो श्रुतिविरोध होगा । 'जीवे मशर दः शतं' के बाद 'भूयश्च शरदः शतात्' कहा है । अर्थात् सौ वर्ष से भी हम अधिक जीयें ॥२७॥

शतशब्दोऽत्र संख्यार्थो न त्वनन्तार्थवाचकः ।
प्रायस्तावद्धि परममायुः श्रुत्यादिषूदितम् ॥२८॥

मन्त्र में शतशब्द संख्यावाचक है अनन्तार्थवाचक नहीं । प्रायः श्रुतियों में मनुष्य की परमायु उतनी ही वतायी है ॥२८॥

इत्थं च शतवर्षीयां जीवनेच्छामनूद्य हि ।
कुर्वन्नेवेति कर्माणि विधत्तेऽज्ञानिनां श्रुतिः ॥२९॥

फलतः शतवर्षीय प्राप्त जीवनेच्छा का अनुवाद कर श्रुति यहां कुर्वन्नेव से अज्ञानियों के लिये कर्मविधान कर रही है ॥२९॥

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रायश्चित्तं तथैव च ।
चतुर्विधानि कर्माणि कुर्वन्नेव जिजीविषेत् ॥३०॥

नित्य, नैमित्तिक, काम्य तथा प्रायश्चित्त ये चार प्रकार के कर्म करते हुए ही जीना चाहिये ॥३०॥

नित्यैर्नैमित्तिकैश्चैव न किंचित्फलमुद्भवेत् ।
प्रत्यवायोऽकरणाद् इति मैमांसकं मतम् ॥३१॥

इ नमें नित्य और नैमित्तिक के करने से कुछ फल नहीं मिलता । फिर भी करना चाहिये । क्योंकि न करने से प्रत्यवाय (पाप) होता है ऐसा मीमांसक मत है ॥३१॥

नन्वभावात् कथं भावोऽकरणात् पापलक्षणः ।
नासतो विद्यते भाव इत्युक्तेरिति चेन्न तत् ॥३२॥

न करना यह अभाव है उससे भावात्मक पाप कैसे होगा ? असत् से सत् नहीं होता इस पूर्वपक्ष का उत्तर सुनिये ॥३२॥

जायमानो ह वै विप्र ऋणवान् स्यात्त्रिभिर्ऋणैः ।
यज्ञवेदप्रजारूपैर्देवर्षिपितृणामिति ॥३३॥
अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथात्मजान् ।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥३४॥
ऋणोऽयं भावरूपत्वात्प्रत्यवायोद्भवक्षमः ।
प्रत्यवैति ह्यमुक्तर्ण इति केचित्प्रचक्षते ॥३५॥

श्रुतियों में बताया है कि पैदा होते ही विप्र देव ऋषि और पितरों के तीन ऋणों से ऋणी होता है । यज्ञ, वेद और प्रजा ये तीन ऋण हैं । मनुस्मृति में कहा—वेदों को न पढकर, पुत्रोत्पादन न कर एवं देवयजन न कर मोक्षेच्छा करने वाला पतित होता है । ऋण तो भावरूप है । वह प्रत्यवाय उत्पन्न करने में समर्थ है । तात्पर्य यह है कि मनुष्य शरीर हमें किसी ने दिया अतः हम उनके अर्थात् पितरों के ऋणी हुए । वेदाध्ययन न करते तो मानव होने पर भी पशु समान ही रहते । अतः हम विद्या से ऋणी हुए अर्थात् ऋषियों के ऋणी हुए । शरीर भी है वेद भी हैं परंतु अन्न न मिला तो सभी व्यर्थ है । वृष्टि द्वारा अन्न देने वाले देवता हैं अतः हम उनके भी ऋणी हैं । पितरों का ऋण तभी चुकता है जब हम भी दूसरे को शरीर दें । अर्थात् पुत्रोत्पादन करें । ऋषियों का ऋण तभी चुकाया होता है, जब हम वेदों को पढें और पढायें । देवताओं के ऋण से तभी मुक्त होंगे यदि बदले में हम यज्ञ करें । यह एक मत हुआ ॥३३–३५॥

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्त्तते ।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि स दण्डभाक् ॥३६॥
उल्लङ्घ्यवर्त्तनं तावद्भावरूपं भवेदिदम् ।

यद्द्वेशितुः कोपवृत्तिर्मायायां भावरूपिणी ॥३७॥
आज्ञाच्छेदी दण्डनीय इति या वृत्तिरैश्वरी।
स एव प्रत्यवायोऽयं जावानां दुःखकारणम् ॥३८॥
पितुराज्ञापरित्यागे पित्रा पुत्रो हि दण्ड्यते।
तद्वदित्येवमन्ये च प्रमिण्वन्ति मनीषिणः ॥३९॥

श्रुति और स्मृति मेरी ही आज्ञा है उसका उल्लंघन कर रहने वाला आज्ञा छेदी मेरा द्वेषी है यह शास्त्रवचन है। उल्लंवन कर रहना यह भावरूप है। अथवा आज्ञा भंग करने से परमेश्वर की कोपात्मिका मायावृत्ति होती है। यही प्रत्यवाय है। पिता की आज्ञा का उल्लंघन करने से पिता पुत्र को दण्ड देता है। वही न्याय यहां भी है। यह दूसरा मत है ॥ ३६—३९ ॥

परे तु सच्चिदानन्दः परमात्मैव केवलः।
जगत्त्वसदचिच्चैव ह्यनानन्दं च कल्पितम् ॥४०॥
मनोमयेन सच्चैव विज्ञानमयतश्च चित्।
कल्प्यते सुखमानन्दमयेनैव च संसृतौ ॥४१।
नित्यनैमित्तिकादीनि नित्यसंपादितानि चेत्।
आनन्दमयवृत्तिं तु प्रापयेत् परजन्मनि ॥४२॥
तदभावे दुःखरूपा संसृतिः प्रकटा भवेत्।
अयमेव प्रत्यवाय उच्यते दुःखलक्षणः ॥४३॥
मन्दतीव्रादिसौख्यानि वृत्तिभेदकृतान्यतः।
पुण्यैरधिकसौख्यं चेत्यन्ये संप्रतिपेदिरे ॥४४॥

परमात्मा ही सत्-चित्-आनन्द है। जगत् तो असत्, अचित् अनानन्द अर्थात् दुःखरूप है। मनोमय से जगत् में सत् की विज्ञानमय से चित् की और आनन्दमय से आनन्द की कल्पना होती है। नित्य और नैमित्तिक यदि नियमतः संपादित हों तो आनन्दमय वृत्ति को जन्मान्तर में उद्भूत करेंगे। न होने पर दुःखरूप जगत् प्रकट दीखता रहेगा। बस यही प्रत्यवाय है। हां, मन्द तीव्रादि सुख वृत्तिभेद से होता है। तदर्थं अन्य पुण्यकर्मों की सार्थकता है यह तीसरा मत है ॥ ४०—५४ ॥

मीमांसकानुरोधेन तदेतदुपपादितम्।
वस्तुतः पापनाशश्च पुण्यं चास्त्येव तत्फलम् ॥४५॥

ये तीन मत मीमांसकानुरोध से दिखाये। अर्थात् नित्यादि करने से कुछ फल नहीं और न करने से प्रत्यवाय होता है, इस में न करने से क्यों प्रत्यवाय इसका उपपादन किया। वस्तुतः नित्यनैमित्तिक से भी पुण्य भी होता है और

पापनाश भी होता है।

नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्।
ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नित्येवं स्मृतिदर्शनात् ॥४६॥

स्मृति में लिखा है—नित्यनैमित्तिक कर्मों से पापक्षय करो ज्ञान निर्मल करो इत्यादि ॥ ४६ ॥

कर्मणा पितृलोकः स्यादित्युक्तं च श्रुतौ स्फुटम्।
व्याख्यास्यामश्च तदिदमग्रे भाष्यानुरोधतः ॥४७॥

कर्म से पितृलोक होता है ऐसा श्रुति में भी बताया है। इस की व्याख्या हम भाष्य के यथा स्थान पर करेंगे ॥४७॥

व्रतरूपेण कार्याणि कर्माणीत्येतदब्रवीत्।
कुर्वन्नेवेत्येवकारो नैरन्तर्यार्थसूचकः ॥४८॥

कुर्वन्नेव में एवकार का अर्थ है करते हुए ही अर्थात् व्रतरूप से नियनतः करो ॥४८॥

अग्ने व्रतपते नित्यं चरिष्यामि व्रतं दृढम्।
शकेयं राध्यतां तन्मेऽनृतात्सत्यमुपैम्यहम् ॥४९॥
व्रतं धृत्वा पूरणीयं शकेयंप्रार्थनात्र हि।
सफलं स्यादितिप्रोक्तं राध्यतां सिद्धिवाचकम् ॥५०॥
तत एवानृतादस्मात्संसारात् सत्यलक्षणम्।
आप्यते परमं तत्त्वं तच्च मन्त्रान्तरे स्थितम् ॥५१॥

'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्, इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि' इस मन्त्र में कर्म को व्रतरूप में करना बताया है। व्रत पूरा हो इसके लिये 'शकेयं' यह प्रार्थना है। सफल होने के लिये 'राध्यतां' यह प्रार्थना है। 'राध साध संसिद्धौ' से राध सिद्धिवाचक है। सिद्ध होने का मतलब ही है कि अनृत संसार से सत्यपरमात्मा की ओर पहुंचना। व्रत से किस प्रकार अनृत से सत्यप्राप्ति यह अन्य मन्त्र में स्पष्ट है ॥५०-५१॥

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
श्रद्धां दक्षिणयाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ॥५२॥

व्रत से दीक्षा प्राप्त होती है। दीक्षा से दक्षिणा। दक्षिणा से श्रद्धा (दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति ऐसा मन्त्र में पाठ है) श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है ॥५२॥

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुभावना।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षात्र च विवक्षिता ॥५३॥

दक्षिणेति च दाक्षिण्यं कुशलत्वं तदुच्यते।
प्रमाद्यं कुशलान्नैवेत्येवं श्रुत्याप्युदीरितम् ॥५४॥

ज्ञान प्रदान और पशुभावक्षपण यही 'दीक्षा' का अर्थ है। दक्षिणा का अर्थ है दाक्षिण्य कुशलता ॥५३-५४॥

तथा च नैरन्तर्येण कार्यं कर्म व्रतात्मना।
येनाशुभाद्विमुक्तिः स्यात्तच्च मन्त्रेऽपि कीर्त्तितम् ॥५५॥

अभिप्राय यह हुआ कि कर्त्तव्य कर्म निरन्तर करना चाहिये व्रत रूप से करना चाहिये इसके लिये 'कुर्वन्नेव' यह एवकार है। इसी से वक्ष्यमाण अशुभविमुक्ति है। इसी बात को अन्य मन्त्र ने भी बताया है ॥५५॥

यन्मे छिद्रं चक्षुषोः स्यात्तृण्णं हृन्मनसोरपि।
बृहस्पतिस्तद्दधातु भुवनस्य पतिर्हि शम् ॥५६॥
आम्नायाध्ययनाद्यैश्चाऽव्यर्थः कालो विधीयताम्।
बृहस्पतिस्तद्दधात्वित्यत्येतदत्र विवक्षितम् ॥५७॥

"यन्मे छिद्रं चक्षुषोर्हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शं नो-भुवनस्य यस्पतिः" इस मन्त्र में चक्षु हृदय और मन के छिद्र को छोड़ने के लिये बृहस्पति से प्रार्थना की गयी है। बीच बीच में पाप प्रसक्ति ही छिद्र है। बृहस्पति से वेदाध्ययनादि विवक्षित है। उससे बीच में पापप्रसक्ति नहीं होगी। निरन्तर सत्कर्म होता रहे यही सारांश है ॥५६–५७॥

प्रतिष्ठिता वाङ् मनसि मनो वाचि प्रतिष्ठितम्।
अहोरात्रान् संदधेऽहमनेनेत्यपरा श्रुतिः ॥५८॥
अत्राहोरात्रसंधानं नैरन्तर्यं विवक्षितम्।
कुर्वन्नेवेत्येवकारस्तमेवार्थं प्रभाषते ॥५९॥

वाङ् में मनसि प्रतिष्ठिता इत्यादि शान्ति मन्त्र में जो "अहोरात्रान् संदधामि" बताया उसका भी सत्कर्म नैरन्तर्य ही अर्थ है। उसी अर्थ को कुर्वन्नेव यह एव कार कहता है ॥५८–५९॥

कलिः शयानो भवति जिहानो द्वापरो भवेत्।
त्रेता तिष्ठंश्चरन् सत्यं चरैवेति तथा श्रुतिः ॥६०॥

सोने वाला कलि है। निद्रात्यागी द्वापर है। उठने वाला त्रेता है। चलने वाला सत्ययुग है। इसलिये बढ़े चलो (गूढार्थं स्वयं ऊहनीय है) इस श्रुति में चरैव कहकर निरन्तर कर्म करने का ही उपदेश किया है ॥६०॥

एवं त्वयि०

एवं सुकर्म कुर्वाणेऽशुभं कर्म न लिप्यते ।
नारकी यतना नास्य संभवोऽस्ति समुद्धृतेः ॥६१॥

इस प्रकार निरन्तर सुकर्म करने पर नरकयातना तो नहीं ही होगी । उद्धार की भी काफी संभावना रहती है । (यही श्रद्धया सत्यमाप्यते इत्यादि का भी अभिप्राय है) ॥६१॥

इतः प्रकारान्नान्योऽस्ति प्रकारः कोऽपि येन हि ।
नाशुभं कर्म लिप्येत नरमात्राभिमानिनि ॥६२॥

कर्म करते रहना यही एक प्रकार है । इससे अन्य कोई प्रकार नहीं है जिससे नाराभिमानी तुम में अशुभकर्म का लेप न हो ॥६२॥

अन्यः प्रकार इत्यर्थे थालत्र प्रथमान्ततः ।
प्रकारवचने थालं सामान्येनाब्रवीन्मुनिः ॥६३॥

अन्यः प्रकारः अन्यथा । यहां प्रथमान्त अन्यशब्द से थाल् प्रत्यय है । सामान्यतः पाणिनि मुनि ने प्रकारार्थ में थाल् कहा ॥६३॥

यत्तु वृत्तिकृता तेन प्रकारेण तथान्यथा ।
न थालनभिधानात्स्यात्प्रथमान्तादितीरितम् ॥६४॥
प्रायोवादः स मन्तव्यस्तेन काचिन्न हि क्षतिः ।
लौकिकानभिधानं वाऽवगन्तव्यस्तदाशयः ॥६५॥

यद्यपि वृत्तिकार ने प्रथमान्त से थाल् प्रत्यय अनभिधानात् (प्रयोग न होने से) नहीं होता है । अन्य प्रकार से इस प्रकार तृतीयान्तार्थ में ही प्रत्यय होता है ऐसा बताया है । किन्तु वह प्रायोवाद है (प्रायः ऐसा ही होता है) अथवा लोक में प्रयोग नहीं होता यही वृत्तिकाराशय है । वेद में तो यहीं पर प्रथमान्त से थाल् प्रत्यय हुआ है ॥६४-६५॥

संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठा पूर्वमन्त्रेण दर्शिता ।
परेण तदशक्तस्य कर्मनिष्ठाभ्युदीरिता ॥६६॥

प्रथम मन्त्र में संन्यासियों के लिये ज्ञाननिष्ठा तथा द्वितीय मन्त्र में ज्ञाननिष्ठा में असमर्थ पुरुष के लिये कर्मनिष्ठा बतायी ॥६६॥

समुच्चयं पुनः केचिद्वाञ्छन्ति ज्ञानकर्मणोः ।
तन्न युक्तं विरोधित्वादुभयोर्भिन्नरूपयोः ॥६७॥

कुछ लोग ज्ञान और कर्म का समुच्चय मानते हैं । परन्तु दोनों परस्पर विरोधी होने से वह युक्त नहीं है ॥६७॥

इयादरण्यं नो कुर्याज्जीविते मरणे गृधिम् ।

इति संन्यासशिष्ट्युक्ता जीवनेच्छाविहीनता ॥६८॥
जिजीविषेदिति प्रोक्ता जीवनेच्छा तु कर्मिणाम् ।
कथमेकाधिकारित्वं तयोः संभवदुक्तिकम् ॥६६॥

अरण्य जाय, जीवन और मरण में आकाङ्क्षा न रखें, ऐसा संन्यासशासन में बताया। और यहां जिजीविशेत् ऐसा कर्मियों को कहा। भला ये विरुद्ध अर्थ एकाधिकार में कैसे हो ? ॥६८-६६॥

द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तश्च विभावितः ॥७०॥
इति व्यासोऽपि भगवान् द्वयोराह पृथक् स्थितिम् ।
प्रवृत्तो न निवृत्तः स्यान्निवृत्तो न प्रवृत्तिमान् ॥७१॥

भगवान् वेदव्यासजी ने भी प्रवृत्तिधर्म और निवृत्ति धर्म ये दो पृथक् बताये। प्रवृत्त निवृत्त नहीं होता और निवृत्त प्रवृत्त नहीं होता ॥७०-७१॥

ननु भिक्षाटनादीनि कर्माणि ज्ञानिनामपि ।
भवन्तीति कथं ज्ञानकर्मणोः स्याद्विरोधिता ॥७२॥
इच्छाभासो भवत्येव जीवने ज्ञानिनामपि ।
अभिधत्तां तमेवात्र श्रुतिरेषा जिजीविषेत् ॥७३॥

पूर्वपक्ष :—भिक्षाटनादि कर्म ज्ञानी के भी होते हैं, तब ज्ञान और कर्म में कैसा विरोध ? जीवनेच्छा का आभास ज्ञानियों को भी होता है। वही इच्छाभास जिजीविषेत् का अर्थ माना जाय ॥७२-७३॥

मैवं भिक्षाटनादीनीत्यल्पमुक्तं मनीषिणा ।
उपदेशादिकर्माणि यतयः कुर्वते भृशम् ॥७४॥

उत्तरः—भिक्षाटनादि यह अल्प कहा। केवल देहनिर्वाहार्थ कर्म ही नहीं उपदेशादि भी यति करते हैं ॥७४॥

अधिकारविशिष्टानि यागादीनि किलात्र तु ।
कर्मशब्दाभिधेयानि न क्रियामात्रमेव तत् ॥७५॥

यहाँ कर्म शब्द का अर्थ है—अधिकारविशिष्ट यागादि कर्म, न कि केवल क्रियामात्र ॥७५॥

द्विजोऽस्मि काणकुब्जादिदोषहीनोऽस्मि सद्गृही।
एवं विधाभिमानी स्यादधिकारीह कर्मसु ॥७६॥

मैं द्विज हूँ। काना नहीं, बहरा नहीं, सद्गृहस्थ हूँ इत्यादि देहाभिमानवाला यागादि कर्म में अधिकारी होता है ॥७६॥

द्विजत्वाद्यभिमानोऽयं ज्ञानिनां नैव संभवेत् ।
इति प्रागेव कथितं पुनः स्मर महामते ॥७७॥

द्विजत्वादि अभिमान ज्ञाननिष्ठ को नहीं हो सकता यह पहले ही कहा गया है। हे महामते उसे पुनः स्मरण करो ॥७७॥

ननु चाश्रमकर्मास्ति कर्त्तव्यं यमिनामपि ।
नैवं समाधिनिष्ठस्य प्रत्यवायो भवेत्तदा ॥७८॥

पूर्वपक्षः—आखिर संन्यास भी तुरीयाश्रम है। उसमें भी आश्रम कर्म कर्त्तव्य है। उत्तरः—तब तो कभी संन्यासी समाधि में कुछ दिन बैठ जाय तो नित्यकर्म लुप्त होने से आप के मत में उसको प्रत्यवाय लगेगा ॥७८॥

ज्ञाननिष्ठां परिप्रेप्सोः साधोर्विविदिषोर्यतेः ।
उक्तान्याश्रमकर्माणि न तां प्राप्तस्य किंचन ॥७९॥

सिद्धान्त यह है कि जो साधक है विविदिषु होने से संन्यासी हुआ, ज्ञाननिष्ठा प्राप्त करना चाहता है उसके लिये आश्रमकर्म है, न कि ज्ञाननिष्ठा को प्राप्त यति के लिए भी ॥७९॥

न कर्मणा न प्रजया त्यागेनैकेऽमृतं ययुः ।
तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥८०॥
तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुर्द्रविणेहिनः ॥८१॥
इत्यादिवचनव्रातसहस्रेषु स्थितेष्वपि ।
अवैदिकमिति ह्यूचुः कर्मत्यागं कुदृष्टयः ॥८२॥

कर्म, प्रजा आदि से नहीं, त्याग से ही अमृतत्व प्राप्त किया, इसलिये पारदर्शी यति कर्म नहीं करते। तब तक कर्म करें जब तक वैराग्य न हो इत्यादि वचन सहस्र श्रुति स्मृति पुराणों में भरे पड़े हैं। फिर भी कुछ लोगों को कर्मत्याग अवेदसम्मत प्रतीत हुआ। दोष उनका नहीं किन्तु उनकी दृष्टि का है कि इतने वचनों को वह देख न सकी ॥८२॥

इति द्वितीयमन्त्रभाष्यवार्तिकम्

उक्तं त्यक्तेन भुञ्जीथा आत्मानमिति पूर्वतः ।
अपालयन्निजात्मानमात्मघाती भवेदसौ ॥१॥

त्याग से आत्मरक्षा करो यह पहले बताया। आत्मरक्षा न करनेवाला ही आत्मघाती है ॥ १ ॥

क्रियते तस्य निन्दात्र पुरुषस्यात्मघातिनः ।

प्रपञ्चयितुमाद्यस्य मन्त्रस्यार्थमिह श्रुतिः ॥२॥

उस आत्मघाती पुरुष की तृतीय मन्त्र में निन्दा है। यह प्रथम मन्त्रार्थं का स्पष्टीकरण करने ही के लिये है ॥ २ ॥

भोगार्थपक्षे नैतस्य मन्त्रस्योत्थानिकाऽऽञ्जसी ।
अप्रासङ्गिकनिन्देयं तन्मतेनात्मघातिनाम् ॥३॥

भुञ्जीथाः का आत्मरक्षा अर्थ न कर जो लोग भोगार्थ मानते हैं उनके मत से आत्मघातियों की यह निन्दा अप्रासङ्गिक होगी और अस्मन्मत में प्रथम आत्मरक्षा करो कहा। यदि आत्मरक्षा न करें तो क्या हानि यह प्रश्न उठना तब स्वाभाविक है। अवसरतः उसका समाधान तृतीय मन्त्र से दिया जाता है अतः सगति पूरी बैठती है ॥ ३ ॥

न निन्दा निन्दितुं निन्द्यं विधेयस्तवनाय सा ।
आत्मरक्षैव तेनात्र स्तूयते परनिन्दया ॥४॥

निन्दा निन्दार्थं नहीं किन्तु विधेयस्तुत्यर्थ होती है। अतः यहां आत्मघात-निन्दा से आत्मरक्षा की ही स्तुति है ॥ ४ ॥

फलस्तुत्या च सर्वत्र गम्यते साधनस्तुतिः ।
ततश्चज्ञाननिष्ठायाः स्तुतौ पर्यवसायिता ॥५॥

फलस्तुति से सर्वत्र साधनस्तुति गम्य होती है। अतएव यहाँ ज्ञाननिष्ठा की स्तुति में ही पर्यवसान है ॥ ५ ॥

जिजीविषाविधिर्नास्तीत्येतस्तत्प्रतियोगिनी ।
नात्महत्या विनिन्द्याऽत्र विधेयस्तुत्यभावतः ॥६॥

यद्यपि जिजीविषेत् की प्रतियोगी आत्महत्या है ऐसा भी माना जा सकता है और आत्महत्या की निन्दा कर जीवनेच्छा की स्तुति की जा रही है ऐसा भी हो सकता है तथापि जिजीविषा विधेय नहीं है। विधेय की स्तुति होती है और उसके प्रतियोगी की निन्दा की जाती है। जिजीविषा स्वतः प्राप्त होने से विधेय नहीं है यह पहले ही कहा जा चुका है ॥ ६ ॥

जिजीविषेदितिप्राणधारणेच्छैव गम्यते ।
न त्वगौणात्मनो रक्षाऽगौणात्माग्रे च वर्ण्यते ॥७॥

दूसरी बात जिजीविषेत् का प्राणधारणेच्छा ही अर्थ है, न कि अगौण आत्मा की रक्षा। और यहां उपनिषत् में आगे पीछे स पर्यगात् इत्यादि अगौण आत्मा का ही वर्णन है। अतः तत्स्तुति ही युक्त है ॥७॥

—०※०—

ॐ

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचात्महनो जनाः ॥३॥

असुरों के वे लोक है जो अन्धकारमय हैं—अज्ञानावृत हैं । उन लोकों को वे प्राप्त होते हैं जो आत्मघाती जन हैं ॥ ३ ॥

असुर्या नाम ते

प्राङ्मन्त्रयुग्मविषया नेदीयांसो जनाः श्रुतेः ।
असुरास्तु दवीयांसस्तस्मात्ते इतिगीः श्रुतौ ॥८॥

ज्ञानी और कर्मी दोनों ही श्रुति के समीपवर्ती हैं । परंतु असुर श्रुतियों से दूर रहते हैं । अतएव श्रुति ने भी विप्रकृष्ट परोक्षवाचक 'ते' पदका प्रयोग किया ॥८॥

यदर्थेऽत्र तदित्येके येऽन्धेनेत्यपरं पदम् ।
इतरं वर्ण्यमानार्थो नामेत्येतत्तु नार्थवत् ॥९॥

तांस्ते इस तदर्थप्रतिनिर्देश से ते लोका यह ये लोका इस प्रकार यदर्थ में है ऐसे कुछ मानते हैं । अन्धेन से पहले 'ये' का अध्याहार है ऐसा मतान्तर है । प्रकृत वर्ण्यमान ते शब्द का अर्थ है ऐसा भी माना गया है । नाम यह अर्थ-विशेष रहित निपात है ॥९॥

आत्मारामा भवन्त्येके धूतसंसृतिबन्धनाः ।
आत्मक्रीड आत्मरतिरित्यादिश्रुतिसंस्तुताः ॥१०॥
अन्ये स्युरिन्द्रियारामाः संसारपरिवर्त्तिनः ।
अघायुरिन्द्रियाराम इत्यादिस्मृतिनिन्दिताः ॥११॥
त एव चेन्द्रियारामा इहासुरपदेरिताः ।
परात्मभावमद्वैतमपेक्ष्य हि सुरा अपि ॥१२॥

कुछ लोग संसारबन्धनरहित आत्माराम होते हैं । आत्मक्रीड आत्मरति इत्यादि श्रुतियों के द्वारा उन्हीं की स्तुति की गयी है । और कुछ लोग संसार-परिभ्रमणमात्र करने वाले इन्द्रियाराम होते हैं उन्हीं की अघायुरिन्द्रियाराम इत्यादि से निन्दा की गयी है । वे इन्द्रियाराम ही यहाँ असुर हैं । परमात्मभाव अद्वैत की अपेक्षा से देवता भी यहाँ असुर ही हैं ॥१०–१२॥

रमन्तेऽसुषु ये नाम प्राणदेहेन्द्रियादिषु ।
कामं देवादयस्ते स्युरसुरा एव ते मताः ॥१३॥

असुषु रमन्ते इत्यसुराः । असु प्राणों में अर्थात् शरीर इन्द्रिय प्राणादि में जो रमण करते हैं वे भले ही देवता आदि कोई हो फिर भी असुर ही हैं ॥१३॥

नन्वेवं यौगिकार्थश्चेन्निन्दा नैव प्रतीयते।
सत्यं शब्दस्वभावेन निन्दा शब्देन गम्यते ॥१४॥

यदि यौगिक 'प्राणों में रत' अर्थ है तो निन्दा की प्रतीति नहीं होगी। प्राणरत तो प्रायः सारा जगत् है। उसमें निन्दा की क्या बात है। ऐसे पूर्वपक्ष में उत्तर यह है कि असुर शब्द ही ऐसा है कि निन्दा उससे अभिव्यक्त होती है। जैसे राक्षस शब्द का रक्षा करने वाला अर्थ भले ही कर लो फिर भी उस शब्द को कोई पसंद नहीं करेगा। जैसे भाषा में अपनी पत्नी के भाई को यदि साला करके पुकारें तो गाली न होने पर भी गाली हो जाती है ॥१४॥

मा भूदसुरशब्देन निन्दावगतिरत्र हि।
अन्धेन तमसेत्युक्त्याऽविद्वन्निन्दावगम्यताम् ॥१५॥

अथवा असुर शब्द से अविद्वन्निन्दा गम्यमान न हो फिर भी अन्धेन तमसा- ऽता इससे तो निन्दा स्पष्ट होती ही है ॥१५॥

अत्रेदं चोद्यते चोद्यमब्रह्मज्ञानिनोऽखिलाः।
देवा वा मानवा वपि भवेयुरसुरा न वा ॥१६॥
आद्येऽसुर्या इति व्यर्थमसुरत्वात्सजन्मनाम्।
न किल ब्रह्मवेत्तारो लभन्ते जन्म संसृतिम् ॥१७॥
भविष्यज्ज्ञानवत्त्वेन मानवा नासुरा यदि।
कथं भवितुमर्हन्ति देवा असुरशब्दिताः ॥१८॥

यहाँ एक प्रश्न यह उठाया जाता है कि अब्रह्मज्ञानी सभी चाहे देवता हो चाहे मनुष्य असुर है या नहीं। यदि सभी असुर है तो 'असुर्या' यह विशेषण व्यर्थ है। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी को जन्म होता नहीं। जन्म जिस किसी का भी हो असुर्यलोक जन्म ही होगा। यदि कहें कि मनुष्य को ज्ञान कभी न कभी हो सकता है अतः मनुष्यजन्म असुर्य जन्म नहीं माना जायगा तो देवता भी असुर कैसे ? उन को भी तो कभी न कभी ज्ञान हो सकता है ॥१६-१८॥

तदर्थमादितेयानां ज्ञानं भवति वा न वा।
इत्येतच्चिन्त्यते पूर्वमसुर्यार्थनिरुक्तये ॥१९॥

इस प्रश्न के परिहारार्थ तथा असुर्यशब्दार्थ निरुक्ति के लिये प्रथम देवताओं को ज्ञान होता है या नहीं इसी पर कुछ विचार प्रस्तुत करेंगे ॥१९॥

अत्र केचित्समाचख्युर्ज्ञानं न स्याद्दिवौकसाम्।
तदेतद्भगवद्गीताश्लोकाकूतेन गम्यते ॥२०॥

इस विषय में कुछ लोगों का कहना है कि देवताओं को ज्ञान नहीं होता। यह बात गीता के कुछ श्लोकों की पर्यालोचना से स्पष्ट होती है ॥२०॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥२१॥
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
इत्यभ्यधायि गीतायां तत्पर्यालोच्यते मया ॥२२॥
ये भोगवासनायुक्ता योगभ्रष्टा भवन्ति ते।
शुचीनां श्रीमतां गेहे जायन्ते वासनानुगाः ॥२३॥
ये योगवासनायुक्ता योगभ्रष्टा भवन्ति ते।
जायन्ते योगिनामेव कुले तद्वासनानुगाः ॥२४॥
अत्र द्वितीयकक्षीयैः पुण्यकृल्लोकमुत्तमम्।
स्वर्गं प्राप्य ततो ज्ञानं कथं नैवाप्यते बुधैः ॥२५॥
देवादिभावं प्राप्यापि योगसंस्कारिणोऽपि ते।
जायन्ते योगिनां गेहे ज्ञानाऽलाभस्ततः स्फुटः ॥२६॥
इत्थं च नैव देवानां ज्ञानप्राप्तिर्भवेदिति।
भगवत्संमतं सिद्धमन्यथानुपपत्तितः ॥२७॥

गीता में कहा है—योग भ्रष्ट पुण्यवानों के स्वर्गादिलोकों को प्राप्त होकर वहां बहुत दिनों तक रहकर फिर पवित्र श्रीमन्तों के घरों में अथवा ज्ञानी योगियों के कुल में जन्म लेते हैं। अब इस पर हम विचार करें। यहाँ भगवान ने दो पक्ष बताये। श्रीमन्तों के घर में जन्म और योगियों के कुल में जन्म। यहाँ व्यवस्था यह है कि योग भ्रष्ट (योगाभ्यास करते करते सिद्धि प्राप्त होने से पूर्व जो मर गया वही योग भ्रष्ट है) मरते समय यदि भोगवासना किंचित् रही तो श्रीमन्तों के घर में जन्म लेगा। और मरते समय योगवासना ही जाग्रत रही तो वह योगियों के कुल में जन्म लेगा। इस पर विचारणीय बात यह है कि योगसंस्कार के साथ जो मरा और स्वर्ग में गया, देवादि शरीर पाया तो वहाँ उसको तत्त्वज्ञान क्यों नहीं प्राप्त हुआ? क्यों उनको जन्म लेना पड़ रहा है? इससे यह निश्चित होता है कि भगवान देवशरीर में ज्ञानप्राप्ति नहीं मानते अन्यथा एक तृतीय पक्ष भी बोलते कि कुछ योगी देव शरीर में ज्ञान प्राप्त कर मुक्त भी हो जाते हैं। "कां गतिं कृष्ण गच्छति" इस प्रश्न के उत्तर में वह भी कहना आवश्यक था ॥२१-२७॥

परे पुनरिदं प्रादुर्भवेज्ज्ञानं दिवौकसाम्।
तदुपर्यपि तत्प्राह संभवाद् बादरायणः ॥२८॥

ब्रह्मसूत्रे निगदितं श्रुतिष्वपि विलोक्यते ।
इन्द्रः प्रजापतिं गत्वा ज्ञानं प्राप कृतव्रतः ॥२६॥

दूसरे लोगों का कहना है कि देवताओं को भी ज्ञान होता है । "तदुपर्यपि बादरायणः संभवात्" इस प्रकार ब्रह्मसूत्र में देवताओं को भी ज्ञान संभव बताया है । श्रुतियों में भी यह बात प्रसिद्ध है कि इन्द्र ने प्रजापति के पास जाकर व्रत रखकर ज्ञान प्राप्त किया ॥२८-२६॥

नन्वेवं केवलं प्राप्तो विरोधः श्रुतिगीतयोः ।
नाभून्निर्णीतिरिति चेदत्र ब्रूमो विनिर्णयम् ॥३०॥

पूर्व पक्ष—इस प्रकार तो आपने केवल श्रुति और गीता विरोध दिखाया । कोई निर्णय तो बताया नहीं । ठीक है । अब आप निर्णय सुनिये ॥३०॥

देवा हि द्विविधाः प्रोक्ताः कर्मजाजानजाख्यया ।
आजानजानां स्याज्ज्ञानं कर्मजानां पुनर्न हि ॥३१॥

देवता दो प्रकार के होते हैं । एक कर्मज और दूसरे आजानज । उनमें आजानज देवों को ज्ञान होता है कर्मजों को नहीं ॥३१॥

प्रेत्याभिगमनप्रोक्तेः प्राप्ता इह तु कर्मजाः ।
असुरत्वं भवेत्तेषां भोगमात्रात्तवर्ष्मणाम् ॥३२॥

यहाँ 'प्रेत्याभिगच्छन्ति' वचन से स्पष्ट है कि आजानज यहाँ उपस्थित नहीं है । उपस्थित होते हैं तो कर्मज देव ही । उनका देवादि शरीर भी भोगमात्र प्रयोजन है । अतएव उनको असुर मानने में कोई हानि नहीं है ।

प्रायोऽसुरत्वमाजानजानामपि दिवौकसाम् ।
क्व नाके गुरुसंप्राप्तिः सुलभा मननादि च ॥३३॥

और यदि सोचा जाय तो आजानज देव भी प्रायः असुर ही होते हैं । भला स्वर्गलोक में कहां गुरु की प्राप्ति सुलभ होती है और मननानिदिध्यासनादि भी कौन वहां करता है ।

अत एव च सूत्रेऽपि संभवादित्युदीरितम् ।
अस्ति संभावनामात्रं न तु तत्रास्ति निश्चयः ॥३४॥

इसी लिये सूत्र में भी 'संभवात्' इतना ही कहा । संभावना मात्र है । कोई निश्चय नहीं है ॥३४॥

लोकाः

ये लोक्यन्तेऽनुभूयन्ते लोकास्ते जन्मलक्षणाः ।
असुराणां स्वभूतास्ते ह्यसुर्याः परिकीर्त्तिताः ॥३५॥

मन्त्र में लोकपद का जन्म अर्थ है । असुरों का स्वस्वरूपी जन्म ही असुर्य

है ('असुरस्य स्वं' सूत्र से य प्रत्यय) ॥३५॥

सप्तलोका भवन्त्यूर्ध्वमधः सप्त प्रकीर्त्तिताः ।
प्रकर्षादूर्ध्वलोकाः स्युरपकर्षादधोभवाः ॥३६॥

सात लोक ऊपर और सात लोक नीचे माने गये हैं । प्रकृष्ट होने से ऊर्ध्व और अपकृष्ट होने से अधः होते हैं ॥३६॥

अस्ति ब्रह्मेति विज्ञानाच्छुभेच्छा जायते सताम् ।
तदीयविषयो भूःस्यादस्तित्वेन निरूपितः ॥३७॥

'अस्ति ब्रह्म' ब्रह्म है ऐसा निश्चयज्ञान होने से ब्रह्म प्राप्ति की शुभेच्छा होती है । शुभेच्छा वाला जन्म या शुभेच्छा विषयीकृत ब्रह्म भूलोक है । भू= अस्ति ॥३७॥

विचारणा भावना स्याद्भावनाविषयो भुवः ।
निदिध्यासनतः सुष्ठु वरणात्स्वरितीर्यते ॥३८॥

भावना विचारणा मनन उसका विषय भुवः है । सुष्ठुवरण—निदिध्यासन तनुमानसा उसका विषय 'स्वः' है ॥३८॥

महः साक्षात्कृतः प्रोक्तः संपन्नो हि महीयते ।
अभिनिष्पद्यमानोऽयमुत्तमः पुरुषो जनः ॥३९॥

साक्षात्कार से सत्त्वम्पत्ति होती है । यही सत्त्वापत्ति है । संपन्न महित होता है ऐसा श्रुति में कहा गया है । फिर स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यमान ही जन उत्तम पुरुष हैं यही असंसक्ति है ।

ज्ञानैकताननतारूपं पदार्थाभावनात्तपः ।
सत्यस्तुरीयगानिष्ठः सत्यमात्रावशेषणात् ॥४०॥

'यस्य ज्ञानमयं तपः' श्रुति से ज्ञानैकतानता ही तप है । वहाँ अज्ञानजन्य पदार्थों का भास नहीं रहता । तुरीयगा स्थिति सत्य है, सत्त्वमात्र वहाँ अवशिष्ट रहता है ॥४०॥

तद्विष्णोः परमं स्थानं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
सत्यस्य सत्यं परमं सर्वाधिष्ठानलक्षणम् ॥४१॥

वही सत्य सर्वाधिष्ठान विष्णु का परम स्थान है ॥४१॥

शुभेच्छादिसमाभासाः सङ्गकामादयस्त्वधः ।
सङ्गात् सञ्जायते काम इति गीतासु दर्शिताः ॥४२॥

शुभेच्छा विचारणा आदि के समाभास गीतोक्त संग, काम, क्रोध, संमोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश और प्रणाश ही सात अधोलोक हैं । तत्तत्प्रधानता से तत्तल्लोक माना जाता है । शुभेच्छा ब्रह्मसंग है, संग विषयसंग है । विचार

ब्रह्ममनन है, काम भोगमनन है। तनुमानसा संकल्प की न्यूनता से, क्रोध विवेक की न्यूनता से। सत्त्वापत्ति सम्यग् ज्ञान, ठीक विपरीत संमोह। असंसक्ति दोनों में बराबर है। एक ओर ज्ञान से दूसरी ओर स्मृतिभ्रंश से। पदार्थाभावनी भी तुल्य है। एक ओर ब्रह्म मात्र दर्शन से दूसरी ओर बुद्धिनाश से। तुरीयगा और प्रणाश भी तुल्य है। दोनों में पुरुषार्थ नहीं रहता। तुरीयगा में कृतकृत्य होने से और प्रणाश में सर्वस्वनाश होने से। इसीलिये नष्ट पुरुष को पाताल में गिर गया ऐसा कहा जाता है ॥४२॥

भवतीति ततो भूः सदसत्त्वावरणक्षयात्।
भावयेज्ज्ञापयेच्चित्तद्भानावरणक्षयात् ॥४३॥
आनन्दसुष्ठुवरणात्स्वरित्येवं निरूपितः।
महत्त्वाद् व्यापकत्वाच्च महोऽखण्डात्मना स्थितिः ॥४४॥
सर्वोपादानरूपत्वाज्जनोऽधिष्ठानलक्षणः।
सर्वप्रकाशकश्चैव तपो ज्ञानैकलक्षणः ॥४५॥
पारमार्थिकरूपेण स्थितिः सत्य उदीरितः।
एतेषां विपरीताश्च क्रमेणैवातलादयः ॥४६॥
मर्त्यत्वं च जडत्वं च दुःखं चैव परिच्छिदा।
जन्यत्वं विभ्रमश्चैवानृतं चेति यथाक्रमम् ॥४७॥

असत्त्वापादकावरणनिवृत्ति से सत्-भूलोक है। अभानापादकावरणनिवृत्ति से भुवः —चित् है। आनन्दाभिव्यक्ति से सुष्ठ वरणीय स्वः है। व्यापक अखण्ड मह है। सर्वोपादान जन है। सर्वप्रकाशक तप है। परमार्थ सत्य ही सत्य है। इस से विपरीत मर्त्यत्व, जडत्व, दुःख, परिच्छिन्नता, जन्यत्व, भ्रान्ति और मिथ्या अतलादि लोक हैं ॥४७॥

सङ्गकामादिपविताः मर्त्यत्वादिनिवेशिनः।
अतलाद्या अधोलोका असुर्या नाम ते मताः ॥४८॥

संगकामादिदोष से व्याप्त तथा मर्त्यत्वजडत्वादिअभिनिवेशयुक्त जो अतलादि जन्म है वे ही यहां असुर्य लोक हैं ॥४८॥

नन्वयुक्तमिदं सर्वं प्रसिद्धार्थप्रहाणतः।
असुराणां प्रसिद्धा हि लोका ध्वान्तसमावृताः ॥४९॥

पूर्वपक्ष :—ये सब व्याख्या अयुक्त है। क्यों कि इस में प्रसिद्ध अर्थ का परित्याग होता है। असुरों के लोक अतल वितलादि काले अन्धकार से आवृत पुराणादि में प्रसिद्ध हैं। उन्हीं का यहां ग्रहण करना चाहिये ॥४९॥

नैवमात्महनो नामानात्मज्ञा इति वक्ष्यते ।
आत्मानमव्ययं हन्तुं कः प्रभुर्जगतीतले ॥५०॥
अनात्मज्ञा आत्महनो ज्योतिष्टोमादिकर्मिणः ।
कथं रसातलमियुः प्रेत्य ते स्वर्गगामिनः ॥५१॥

उत्तर :—अनात्मज्ञ ही आत्मघाती हैं यह आगे बतायेंगे। क्यों कि अव्यय आत्मा को कौन मार सकता है। ज्योतिष्टोमादि कर्म करने वाले भी आत्मघाती हो सकते हैं। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' वाले भी आत्मघाती ही हैं। परंतु ज्योतिष्टोमादिकर्मकारी रसातल क्यों जाने लगे। वे तो स्वर्गगामी होते हैं ॥५१॥

तस्माल्लोकं प्रयान्त्येते यथाकर्म यथाश्रुतम् ।
असुर्यादिपदार्थोऽतो यथाव्याख्यात आञ्जसः ॥५२॥

इस लिये यथाकर्म यथावेद वे लोक को प्राप्त होते हैं। इस लिये यहाँ असुर्यादिपदार्थ यथा व्याख्यात ही ग्राह्य है ॥५२॥

अन्धेन तमसावृताः ।

पश्वाद्याः स्थावरान्ताश्च सर्वेऽसुर्या भवन्ति ते ।
आवृतास्तमसा सर्वे ह्यन्धेनादर्शनात्मना ॥५३॥

पशु से लेकर स्थावर पर्यन्त सभी असुर्य लोक हैं। अदर्शनात्मक तम से वे आवृत हैं ॥५३॥

आत्महनो जनाः

विद्यमानात्मनः कार्यममरत्वादिवेदनम् ।
हतस्येव तिरोभूतं येषामात्महनस्तु ते ॥५४॥

विद्यमान आत्मा का कार्य है अजर अमररूप से अपने को जानना ! अजरत्वामरत्वादि न प्रतीत होता है इसका अर्थ है आत्मा मृत सा हो गया। अत एव जिन्होंने आत्मा के अजरत्वामरत्वादि को तिरोहित किया वे आत्मघाती हैं ॥५४॥

कर्णधारं गुरुं प्राप्य नृदेहं दुर्लभं प्लवम् ।
भवाब्धिं न तरेत् सोऽयमात्महेति स्मृतेर्वचः ॥५५॥

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ॥

इस प्रकार भागवत में आत्मघाती का लक्षण कहा है। अर्थात् दुर्लभ मानव शरीररूपी जहाज और कर्णधार गुरु को प्राप्त किया। फिर भी भवसागर को जो पार न होता हो वह आत्मघाती है।

नृजन्म दुर्लभं लब्ध्वा श्रुतिपारावलोकनम् ।
मुक्तावयतोऽसद्ग्राहाद् हन्त्यात्मानं किलात्महा ॥५६॥

'लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं' इत्यादि विवेक चूड़ामणि का श्लोक यहां संक्षिप्त किया है ॥५६॥

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति

अवेदीदिह चेत् सत्यं महती नंष्टिरन्यथा ।
असन्नेव भवेदेष ह्यसद् ब्रह्मेति वेद चेत् ॥५७॥

'इह चेद वेदीदथ सत्यमस्ति' 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' इत्यादि श्रुतियों में आत्मघाती का स्वरूप सामने आता है ॥५७॥

अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा ॥५८॥

और तरह के आत्मा को और तरह से समझने वाला आत्मापहारी चोर है, उसने क्या ही पाप नहीं किया, ऐसा महाभारत में आया है ॥५८॥

गरीयान् सर्वपापेभ्य आत्मघातः प्रकीर्त्तितः ।
प्रायश्चित्तं हि नास्त्यस्य फलं संसरणं ध्रुवम् ॥५९॥

समस्त पापों से बड़ा पाप आत्मघात है । उसके लिये प्रायश्चित्त भी नहीं है । जन्ममरणरूपी संसार फल उस का निश्चयेन होता है ॥५९॥

इति तृतीयमन्त्रभाष्यवार्त्तिकम्

यदज्ञानात्संसरन्ति मूढा आत्महनो जनाः ।
वर्णयत्यात्मतत्त्वं तद् यज्ज्ञानान्मुच्यते बुधः ॥ १ ॥

जिसके अज्ञान से मूढ आत्मघाती जन जन्ममृत्युसंसार में पड़ जाते हैं उस आत्मतत्त्व का वर्णन करते हैं जिसके ज्ञान से विद्वान् मुक्त होता है ॥ १ ॥

नन्वीशावास्यमित्येवमीश्वरः प्रस्तुतः पुरा ।
आत्मतत्त्वं कथंकारं वर्ण्यत्वेनोपतिष्ठते ॥ २ ॥
न चात्मघातिनो मूढा पूर्वमन्त्रे विनिन्दिताः ।
आत्मतत्त्वं ततः प्राप्तं वर्ण्यत्वेनेति सांप्रतम् ॥ ३ ॥
आत्मानमन्यथा ज्ञात्वा संसरन्नात्महा भवेत् ।
इत्येषा भवतां व्याख्या, व्याख्यास्यामोऽन्यथा वयम् ॥ ४ ॥
ईशावास्यं ततो रच्चेदात्मानमिति शासनात् ।
ईश्वरज्ञानशून्यो हि निपतन्नात्महा भवेत् ॥ ५ ॥

युक्तं चैतद्ध्यन्यथा स्यादप्रस्तुतविनिन्दनात् ।
असुर्या नाम मन्त्रस्याप्यप्रासङ्गिकता ध्रुवा ॥ ६ ॥

पूर्वपक्ष :—ईशावास्यं से ईश्वर प्रस्तुत हुआ था यहां अचानक आत्मतत्त्व की वर्णनीयता कैसे प्राप्त हुई ? यह कहें कि आत्मज्ञानशून्य मूढ आत्मघाती पूर्वमन्त्र में निन्दित हुए हैं अतः आत्मतत्त्व भी वर्णनीय है तो उसका जवाब यही है कि यह आपकी व्याख्या है । आप कहते हैं कि आत्मा को अन्यथा जान कर आत्मघाती होने से जन्ममृत्युसंसार को प्राप्त होता है । परंतु हम उसकी व्याख्या दूसरे ढंग से करेंगे । ईशावास्यं में यह बताया कि ईशतत्त्वज्ञान से जगत् का आच्छादन कर—सर्वत्र ईश्वरदर्शन कर आत्म की रक्षा करो । यदि ईश्वरदर्शन नहीं करोगे तो पतित होकर आत्मघाती बन जाओगे । ऐसी उसकी व्याख्या है । और यही व्याख्या ठीक भी है । अन्यथा प्रथम मन्त्र में ईश्वरदर्शन की प्राप्तव्यता सूचित कर फिर आत्म के अदर्शन की अप्रस्तुत निन्दा हो जाने से असुर्या नाम यह मन्त्र ही अप्रासङ्गिक होगा । अतः ईश्वरदर्शनहीन ही आत्मघाती तृतीय मन्त्र में उक्त है ॥२-६॥

न चेशतत्त्वमेवात्र निरूप्यमिति सांप्रतम् ।
यतो मनोजवीयस्त्वं सांनिध्यादात्मसंश्रयि ॥ ७ ॥
आत्मन्येवानुपश्येच्च आत्मैवाभूद्विजानतः ।
इत्यग्रिमं च वचनमात्मतत्त्वानुयोगिकम् ॥ ८ ॥

तो बाबा क्यों बखेडा करना, ईशतत्त्व का ही स पर्यगात् इत्यादि में निरूपण है ऐसा ही मान लीजिये क्या इसमें नुकशान ? नुकशान क्यों नहीं, मनसोजवीय यहां मन के सांनिध्य से आत्मतत्त्व ही उपस्थित होता है । अगले मन्त्रों में भी 'आत्मन्येवानुपश्यति' 'आत्मैवभूद्विजानतः' इस प्रकार आत्मा शब्द लेकर वर्णन हुआ है । ऐसी स्थिति में यहां ईशतत्त्व का वर्णन हम कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? ॥७ ८॥

सत्यमीशात्मनोर्भेदं श्रुतिर्नैवावलोकते ।
तत ईशपदेनोक्तमात्मत्वेनानुभाषते ॥ ९ ॥

सिद्धान्त :—आप का कथन सत्य है कि पहले ईश्वर से प्रारंभ किया, फिर यहां आत्मा का वर्णन करने लगे और यह असंगत जैसा लगता है । वस्तुस्थिति यह है कि श्रुति ईश में और आत्मा में भेद ही नहीं देखती । अत एव ईश से प्रारंभ कर आत्मपद से वर्णन करने लगी ॥९॥

नन्वात्मावास्यमित्येव कुतो नाह पुरा श्रुतिः ।
उच्यतेऽहंकृतेर्मा भूदास्पदं वासकं त्विति ॥१०॥

यदि ईश में और आत्मा में श्रुति भेद नहीं देखती तो शब्द बदल कर बोलने की क्या जरूरत थी। 'आत्मावास्यमिदं सर्वं' ऐसा ही प्रारंभ क्यों नहीं किया ? इस का उत्तर सुनिये। कहीं अहंकारास्पद आच्छादक के रूप में उपस्थित न हो जाय इस के लिये अपरिच्छिन्न परमात्मलाभार्थं 'ईश' पद का प्रयोग किया। शुद्ध आत्मा से उपक्रम होने के बाद फिर विपरीतार्थं उपस्थित नहीं होगा। अतः बाद में आत्मपद प्रयोग किया ॥१०॥

आत्मावास्यमिदं सर्वमिति भागवते पुनः।
प्रारम्भोऽप्यात्मशब्देन संशयोच्छित्तये कृतः ॥११॥

श्रुति में ईश शब्द का अर्थ आत्मा से भिन्न कहीं कोई न कर ले इसके लिये भागवत में प्रारंभ में भी आत्मावास्यं ही शब्द रखा ॥११॥

श्रुतिस्तु निजरीत्यैव प्रबुबोधयिषुः सती।
ईशावास्यमिति प्राहाऽखण्डार्थोपस्थितिप्रसूः ॥१२॥
तथा हि तत्पदार्थस्य प्राधान्येनादिमश्रुतिः।
अनेजदेकमित्यादि त्वंपदार्थप्रधानतः ॥१३॥
स पर्यगादिति पुनरुभयैक्यप्रधानतः।
समाभ्योऽस्नाविरोऽर्थान् हि व्यधादित्युभयेक्षणात् ॥१४॥
व्यर्थमस्नाविरत्वादि हीशेऽप्राप्तनिषेधनम्।
समाभ्योऽर्थान् व्यधादेतज्जीवस्यासंभवार्थकम् ॥१५॥
तस्मादेकत्वमेवात्र सामानाधिकरण्यतः।
जीवेशयोः श्रुतेरिष्टमसिशब्दार्थ एव सः ॥१६॥

यद्यपि भागवत में आत्मावास्य से उपक्रम किया तथापि श्रुति अपनी ही विशिष्ट रीति से प्रबोध कराने के लिये अखण्डार्थोपस्थित्यर्थं ईशावास्यं से प्रारंभ किया। अर्थात् ईशावास्य यहाँ तत्पदार्थ का प्रधानतया निर्देश है। अनेजदेकं इत्यादि में त्वंपदार्थ का प्रधानतया निर्देश है। और स पर्यगात् में असि पदार्थ का निर्देश है। क्योंकि वहाँ ईश्वर और जीव दोनों का सामनाधिकरण्य है। अकायमस्नाविरं यह सब ईश्वर में अप्राप्त का निषेध हो जाएगा, अतः जीव में प्राप्त सशरीरत्व का वह निषेध है। प्रजापतियों को अर्थ विभाजन करना यह जीव का काम नहीं अतः वह ईश्वरनिर्देश है। इस प्रकार प्रथम ईश्वरवर्णन, फिर जीव वर्णन फिर उन दोनों की एकता का वर्णन किया। यही तो श्रौतरीति है ॥१६॥

तस्मिन्नपो मातरिश्वेत्येतच्चैक्यप्रबोधकम्।
तथापि तत्प्रसङ्गोक्तमुपपत्त्युपपत्तये ॥१७॥

यद्यपि अनेजदेकं इस मन्त्र में भी तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति से जीवेश्वरैक्य बोध होता है। तथापि वह षड्लिङ्गान्तर्गत उपपत्ति संपादनार्थ प्रसङ्गोक्त है ॥१७॥

यत्त्वत्रात्मेति सर्वत्र परमात्मार्थकं वचः।
इति तत्प्रतिवक्ष्यामो यथास्थानं यथाश्रुति ॥१८॥

द्वैती लोगों का कहना है कि आत्मन्येव इत्यादि सर्वत्र आत्मपद का परमात्मा परमेश्वर ही अर्थ है। इस का समाधान श्रुति के अनुसार यथास्थान ही बतायेंगे ॥१८॥

—:o:—

ॐ

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

वह आत्मतत्त्व निष्क्रिय तथा एक है, फिर भी मन से भी अधिक तेजगति है। पहले ही पहुँच जाने वाले इसको देवता पहुँच न सके। वह दौड़नेवाले अन्य सबको पछाड़ता है, अथ च स्थिर है। सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ उस आत्मतत्त्व की सत्ता में प्राणियों को कर्मफल विभाग करता है ॥४॥

अनेजत्

न कम्पते नैजतीदमनेजदचलं स्वतः।
आत्मतत्त्वं क्रियाशून्यं व्यापके तदयोगतः ॥१९॥

"एजृ कम्पने" कम्पन-चलन जिसमें न हो वह अनेजत् कहलाता है। स्वतः आत्मतत्त्व क्रियाशून्य है। व्यापक में क्रिया संभव नहीं है ॥१९॥

संयोगे च विभागे चाऽसमवायि हि कारणम्।
क्रियामप्राप्तयोः प्राप्तिं संयोगं च बुधा जगुः ॥२०॥
व्यापकत्वान्न चाप्राप्तमात्मनः किंचिदेव हि।
स्वशून्यदेशे स्वप्राप्तिर्व्यापकस्य कथं भवेत् ॥२१॥

'संयोगविभागासमवायिकारणं कर्म' यह क्रियालक्षण है। "अप्राप्तयोस्तु या प्राप्तिः सैव संयोग ईरितः" यह संयोग का लक्षण है। अणु में क्रिया हुई इसका अर्थ है कि उसका पूर्वस्थान से वियोग हुआ और उत्तर स्थल से संयोग हुआ। भले ही अल्पमात्रा में हो, फिर भी प्राप्त देश का परित्याग और अप्राप्त देश की प्राप्ति क्रिया में होती ही है। व्यापक आत्मा में यह संभव नहीं है। वह खसकेगा तो कहाँ खसकेगा ? जहाँ वह नहीं वहाँ खसकना होगा, परंतु वैसा कोई स्थान नहीं है ॥२०-२१॥

ननु भो वम्भ्रमच्चक्रं स्वीयधुर्यां निरन्तरम् ।
अप्राप्तदेशसंप्राप्तिं विनैव भ्रमतीति चेत् ॥२२॥

पूर्वपक्षः--चक्र अपनी धुरी में ही जब निरन्तर घूमता है तब अप्राप्त देश प्राप्ति के बिना भी क्रियावान् देखने में आता है। वैसे आत्मतत्त्व भी अप्राप्त देश प्राप्ति के बिना घूमता है ऐसा मानने में व्यापकत्व बाधक नहीं हो सकता ।२२॥

मास्तु तस्य. तदंशानां विस्पष्टं दृष्टिगोचरा ।
भवत्यप्राप्तसंप्राप्तिश्चक्रचङ्क्रमणस्थले ॥२३॥
न चात्मावयवाः सन्ति यैरप्राप्ताप्तिसंभवः ।
व्यापकत्वान्निरंशत्वादात्मा सिद्ध्यति निष्क्रियः ॥२४॥

उत्तर :—यद्यपि चक्रभ्रमणस्थल में चक्र की अप्राप्तदेशप्राप्ति नहीं है तथापि चक्रावयवों की अप्राप्त देशप्राप्ति दृष्टिगोचर होती है। चक्रनेमि ऊपर नीचे होती दिखाई पड़ते है। इस प्रकार यदि आत्मा के अवयव होते तो संभव था। पर, आत्मा निरवयव है। अतएव व्यापक और निरवयव होने से आत्मा-निष्क्रिय सिद्ध होता है ॥२४॥

भीषास्मात्पवते वात इति श्रुत्यनुरोधतः ।
एजयन्नपि सर्वान् स नैजत्यत्यद्भुतः पुमान् ॥२५॥

उस आत्मा के भय से ही पवनादि क्रियावान होते हैं इस श्रुति से वह सब को कंपाता है, फिर स्वयं हिलता नहीं, यही तो उसमें आश्चर्य की बात है ॥२५॥

एकम्

एकं च सर्वभूतेषु प्रतिदेहं न भिद्यते ।
श्रुत्यन्तरं च तमिममर्थं स्पष्टमवोचत ॥२६॥
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥२७॥

वह समस्तभूतों में एक है प्रतिदेह भिन्न नहीं। जलचन्द्र के समान केवल नाना प्रतीत होता है ॥२६–२७॥

स्वसमानद्वितीयेन हीनमित्यपरे जगुः ।
तदसन्मुख्यशब्दार्थपरित्यागप्रसक्तितः ॥२८॥
समानोक्त्या गतार्थत्वाद् द्वितीयपदयोजनम् ।
मुख्यार्थभासमानेतुं बलाद्यत्नो वृथा कृतः ॥२९॥

द्वैतवादी 'एकं' का अर्थ करते हैं—स्वसमानद्वितीयरहित। किन्तु यह एकशब्द का मुख्यार्थ नहीं है। लाक्षणिक अर्थ तो कुछ भी किया जा सकता है। दूसरी बात स्वसमान द्वितीय यहाँ द्वितीय शब्द किस लिये है? यह एक

धोखामात्र है कि ये सुनने वालों को ऐसा लगे कि 'एक' का ही यह शब्दार्थ है। क्योंकि 'एकं' का एक भी अर्थ है द्वितीयरहित भी अर्थ है। परं तु स्वसमान रहितं' इतना ही पर्याप्त है। परमेश्वर के समान कोई संसार में नहीं है। उसमें द्वितीय तृतीय बोलने का क्या काम है? ॥२८-२९॥

ननु स्वसदृशं स्वं स्यात् स्वशून्यं हि स्वयं कथम्।
तस्माद् द्वितीयशून्यं हि वक्तव्यमिति चेन्न तत् ॥३०॥
तदसाधारणं धर्मं तद्भेदं च बिभर्त्ति यः।
स एव तत्समः प्रोक्तः स्वयं न स्वसमो मतः ॥३१॥
गगनं गगनाकारमित्यादिवचनेषु तु।
औपम्यशून्यकथनमालङ्कारिकभाषया ॥३२॥

पूर्वपक्षः—स्वसमान द्वितीय रहितं ऐसे द्वितीयपद नहीं जोड़ेंगे तो स्वसमान तो स्वयं भी है, स्वशून्य स्वयं कैसे होगा? उत्तरः—स्वसमान स्वयं नहीं होता। तद्भिन्न तद्गतासाधारणधर्मवान् ही तत्सम होता है। गगनं गगनाकारं इत्यादि में उपमा नहीं यही अर्थ है। न कि स्वसमान। देवदत्त तो देवदत्त जैसा ही है इस भाषाप्रयोग में भी उपमाशून्य ही अर्थ है॥ ३०-३२॥

स्वभिन्नं नेति मुख्यार्थ एव तत्रापि भण्यताम्।
असाधारणधर्मोऽयं नैकार्थघटको यतः ॥३३॥

अस्तु, एक शब्द का 'स्वसमानं' न यही अर्थ है। ऐसे पूर्व पक्ष का उत्तर है कि एकं का 'स्वसमानं न' अर्थ नहीं, 'स्वभिन्नं न' यही अर्थ है। असाधारण धर्म भी एक पदार्थ घटक नहीं है॥३३॥

नन्वेकत्वाख्यसंख्यैव मुख्यार्थः शब्दरीतितः।
स त्वयापि परित्यक्तः स्वभिन्नाभाववादिना ॥३४॥

पूर्वपक्षः—एक शब्द का एकत्व संख्या मुख्यार्थ है, वह तो आप को भी छोड़ना पड़ा, क्योंकि आप भी स्वभिन्नाभाव अर्थ कर रहे हैं॥३४॥

नैवमेकत्वसंख्याया अव्यावर्त्तकता यतः।
समभिव्याहृतान्यस्याभावोऽर्थस्तेन निश्चितः ॥३५॥

उत्तरः—एकत्वसंख्या अव्यावर्त्तक है। क्योंकि एकत्व सर्वत्र रहता है। अतः एक शब्द के प्रयोगस्थल में समभिव्याहृत से अन्य का अभाव ही व्युत्पत्ति-सिद्धार्थ है। जैसे यहाँ एक घट है कहने पर यदि चार घट हो तो भी प्रत्येक घट एक-एक ही है। अतः द्वितीयाभाव ही अर्थ है॥३५॥

नन्वेको घट इत्येवं पटसत्त्वेऽपि भण्यते।
सजातीयान्यशून्यत्वं तस्माद्वक्तव्यमेव चेत् ॥३६॥

साजात्यघटितार्थोऽयं भवेल्लक्षणया क्वचित् ।
एक एव घटोऽत्रेति पटादेश्च निषेधनात् ।३७॥

पूर्वपक्षः—अजातीयद्वितीयाभाव अर्थं ही करना चाहिये, नहीं तो पट के होने पर यह घट एक है यह व्यवहार नहीं होगा। क्योंकि द्वितीय पट वहाँ है। उत्तरः—लक्षणा से कहीं सजातीयता जुड़ जाती है। यहाँ घटपटादि है? इस प्रश्न के उत्तर में यहाँ एक घट है कहा जाता है उससे पटादि का भी निषेध देखने में आता है ॥ ३६–३७॥

इदं सदासीदेकं चेत्येवं सामश्रुतिर्जगौ ।
परमात्मान्यशून्यत्वं स्पष्टार्थस्तत्र दृश्यते ॥३८॥
तद्विनिर्दिष्टमेकत्वमत्रापि प्रत्यभिज्ञायते ।
तस्माद् द्वितीयशून्यत्वमेवात्राप्येकशब्दितम् ॥३९॥
सजातीयविजातीयस्वीयभेदविवर्जितम् ।
एकमेवाद्वितीयं सदिह वाक्ये विवक्षितम् ॥४०॥

छान्दोग्य में बताया है कि यह जगत् प्रथम सत् ही था और वह सत् एक ही था। वहाँ सत् से अन्य द्वितीय नहीं था का अर्थ क्या है?. द्वितीय सत् नहीं था यह अर्थ है तो द्वैतमत में द्वितीय सत् जीवात्मा प्रकृति आदि है। द्वितीय परमेश्वर नहीं था अर्थ है तो पूर्व क्या, अभी कौन से द्वितीय परमेश्वर हैं?। और द्वितीय सत् नहीं था कहने पर भी सत्पद से किसकी व्यावृत्ति है? जैसे द्वितीय घट नहीं यहां पटकी व्यावृत्ति है। वहां असत् की व्यावृत्ति आप कहें तो क्या असत् को लेकर द्वितीय की भी प्राप्ति होती है? अतः वहां परमात्मा से अन्य कोई भी द्वितीय नहीं था ऐसा अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है। वही 'एक' यहां भी प्रत्यभिज्ञात हो रहा है। अतः यहां भी द्वितीयवस्तु शून्य ही अर्थ है। वस्तुतः सजातीय विजातीयस्वीयभेदत्रयशून्य जो वहाँ अर्थ है वही यहाँ भी एकदेशोक्त्या विवक्षित है।

मनसो जवीय०

मनसश्च जवीयस्तन्नैनद्देवा अवाप्नुवन् ।
पूर्वमेव यतः प्राप्तं नभोवद् व्यापकत्वतः ॥४१॥

वह आत्मतत्व मन से भी अधिक वेगवान् है। और देवता भी उसे पहुँच न सके। क्योंकि वह पहले ही पहुंच जाता है। आकाश के समान व्यापक जो ठहरा ॥४१॥

अनेजत्त्वे जवीयस्त्वं विरुद्धमिति चेन्न तत् ।
अनेजदनुपाधि स्याज्जवीयः स्यादुपाधिमत् ॥४२॥

पहले अनेजत् अर्थात् अचल कहा। फिर जवीयः—वेगवान्। यह तो परस्पर विरुद्ध है। इस आक्षेप का समाधान यह कि निरुपाधिक स्वरूप निष्क्रिय है और उपाधि से सक्रिय है ॥४२॥

ननु सर्वजविष्ठं हि मन एव भुवस्तले।
ततो जवीयो ब्रह्मेदं केन तावदुपाधिना ॥४३॥

पूर्वपक्षः—मन संसार में सबसे अधिक तेजवाला है। उससे भी अधिक तेज कौन है? जिसको उपाधि बनाकर ब्रह्म मन से भी अधिक तेज हो गया? क्योंकि ब्रह्म स्वतः तेज नहीं है। उपाधि से ही तेज मानना होगा। और वह उपाधि मन से भी ज्यादा तेज होना चाहिये ॥४३॥

न, जवीय इवेत्याह पूर्वमर्षदितीरणात्।
व्यापकं प्रागिव प्राप्तं जवीय इव तत् खलु ॥४४॥

उत्तरः—ऐसा दोष यहां नहीं है। क्योंकि यहां जवीयः का अर्थ है जवीय सा। न तो स्वयं जवीय है और न उपाधि से ही जवीय है। किन्तु उपाधि से जवीय जैसा प्रतीत होता है। व्यापक होने से चलने वालों को लगेगा कि यह पहले ही आ गया, अतः जवीय है। जैसे गाडी आदि में दौड़ने वालों को ऐसा लगेगा कि मेरे से भी सूर्य आगे आगे दौड रहा है। आकाश पहले ही दौड़कर आ गया, मेरे से पूर्व पहुँच गया ॥४४॥

अत्र भाष्यमनेजत्तत्स्वावस्थाच्युतिवर्जितम्।
निरुपाधिकरूपेण सर्वदैकरसं परम् ॥४५॥

यहाँ भाष्य में दूसरे ढंग से जो व्याख्या की है उसका विवरण इस प्रकार है—अनेजत् का अर्थ है स्वावस्थाप्रच्युतिरहित निरुपाधिक रुप से जो सर्वदा एकरस रहता है ॥४५॥

कम्पितं चलितं वस्तु स्वावस्थातः क्रमात् खलु।
च्यवते यदनेजत्तन्न हि प्रच्यवते ततः ॥४६॥

प्रथम विचलित होता है तब स्वावस्था से क्रमशः प्रच्युत होता है। जो विचलित नहीं होता वह च्युत भी नहीं होता ॥४६॥

एकमेवाद्वितीयं सन्नेह नानास्ति किंचन।
सजातीयविजातीयस्वीयभेदविवर्जितम् ॥४७॥

सजातीय विजातीय स्वगत भेद शून्य ही एक का अर्थ है ॥४७॥

ननु चास्त्यात्मनानात्वं प्रतिकर्मव्यवस्थितेः।
तन्नोपाधिभिदामात्रादुपपत्तिर्यतो भवेत् ॥४८॥

प्रतिकर्मव्यवस्था के लिये (देवदत्त के कर्म से देवदत्त को फल, यज्ञदत्त के कर्म से यज्ञदत्त को फल इस व्यवस्था को प्रति कर्म व्यवस्था कहते हैं) जीवनानात्व मानना चाहिये इस शंका का उत्तर यही है कि उपाधि भेद से ही प्रतिकर्म व्यवस्था संभव है। तदर्थ आत्मभेद की आवश्यकता नहीं ॥४८॥

ननूपाधय एवेमे नानात्वाद् द्वैतरूपिणः।
तच्च नोपाधिमिथ्यात्वान्नानत्वस्याप्रसक्तितः ॥४९॥

यदि कहे कि उपाधि अनेक होने से अद्वैत कहाँ रहा? उसका उत्तर है— उपाधि मिथ्या है उनको लेकर द्वैत नहीं हो सकता ॥४९॥

नन्वात्मधर्मा भिद्यन्ते सुखदुःखादयः खलु।
मैवं सुखादयो धर्मा चित्तस्था न तु चित्स्थिताः ॥५०॥

प्रतिकर्म से जो सुखदुःखादि है वे आत्मधर्म नाना होने से द्वैत प्रसक्त है। इस का समाधान है कि सुखदुःखादि चित्त के धर्म हैं आत्मा के नहीं। अत एव चित्त मिथ्या होने से सुख दुःखादि भी मिथ्या ही हैं। द्रष्टव्यः—इन तीन श्लोकों में प्रथम श्लोक सजातीय भेद निराकरणार्थ, द्वितीय विजातीय भेद निराकरणार्थ और तृतीय स्वगत भेद निराकरणार्थ है ॥५०॥

मिथ्यामायायुतात्तस्मादेतस्मादात्मनः पुनः।
वियत्पवनतेजोऽम्बुभुवनानि विजज्ञिरे ॥५१॥
अनन्तान्यत्र चाण्डानि प्राणिदेहास्तथैव च।
आत्मन्युद्भवंस्तत्र चानुप्राविशदीश्वरः ॥५२॥
इत्थं सकलसंसारधर्मवर्जित एव सः।
मायया सर्वसंसारधर्माननुभवत्यसौ ॥५३॥
अशेषविक्रियाशून्यं मायया सर्वविक्रियम्।
अनेजच्च जवीयश्चेत्येताभ्यामभ्युदीरितम् ॥५४॥

माया भी वास्तविक नहीं है अतः उस को लेकर भी द्वैतापत्ति नहीं। उस माया से युक्त परमात्मा से आकाश-वायु-तेज-जल, तथा पृथिवी तथा उनसे अनन्त ब्रह्माण्ड तथा प्राणिशरीर हुए। फिर उनमें परमेश्वर ने अनुप्रवेश किया और उन संसारधर्मों को आप में आरोपित किया। इस प्रकार सर्वसंसारवर्जित होता हुआ भी माया से सर्वसंसारधर्मयुक्त हुआ। सर्वविक्रियाशून्य भी सर्व विक्रिया वाला बना, यही अनेजत् और मनसो जवीय इन दो विशेषणों से दिखाया है ॥५१-५४॥

मनोऽविषयतां चाह जवीयःश्रुतिरात्मनः।

इन्द्रियाऽविषयत्वं च नैनद्देवा इति श्रुतिः ॥५५॥

मनसो जवीयः से आत्मा मन का अविषय है यह भी बताया। और नैनद्देवा से इन्द्रिय अविषयत्व भी कहा ॥५५॥

कथमर्थद्वयं युक्तं सकृदुच्चरिते पदे।
नैष दोषोऽस्त्यार्थिकोऽयं द्वितीयार्थोऽनुदर्शितः ॥५६॥

द्वितीय आर्थिक होने से एक बार उच्चारित शब्द से ही दो अर्थ कैसे ऐसी शंका के लिये स्थान नहीं है ॥५६॥

उत्तरार्धेऽथवा ज्ञेयो द्वितीयार्थोऽयमीरितः।
तद्धावतोन्यानत्येतीत्येतमर्थं हि भाषते ॥५७॥

अथवा 'तद्धावतोऽन्यान्' इत्यादि से यह अर्थ समझना चाहिये ।५७।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्

इतश्चेतश्च धावन्ति ये वा विषयलोलुपाः।
तेषु तिष्ठदपि ब्रह्म तानत्येति तिरोभवत् ॥५८॥
इति वाक्यमुपन्यस्य तमेवार्थं जगुः परे।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठदित्यस्य यत्नतः ॥५९॥

जो विषयलोलुप होकर इधर उधर भटकते हैं उनमें रहता हुआ भी ब्रह्म तिरोभूत होने से उनका अतिक्रमण करता है, इस वाक्य का उपन्यास कर तद्धावतः इत्यादि श्रुति का वही अर्थ कई लोग परीश्रम से उपपादन करते हैं ॥५९॥

तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति

मातरिश्वा च सूत्रात्मा तस्मिन् सति परात्मनि।
दधात्यपो विभजते यद्वासौ धारयत्यपः ॥६०॥
सोमादीनामबात्मत्वात्कर्मात्राप्शब्दितं श्रुतौ।
पर्जन्यार्कानलादीनां वृष्ट्याभादहनादि तत् ॥६१॥

सोमयोगादि जलप्रधान होने से अपः का अर्थ कर्म है। सूत्रात्मा परमात्मा की सत्ता में रहकर ही मेघ, सूर्य एवं अग्नि आदि के वृष्टि, प्रकाशन एवं दहन आदि कार्यों का विभाग करते हैं या धारण कराते हैं ॥६०-६१॥

ननु सोमादियागानां फलं स्वर्गादि चेतितुः।
न त्वचेतनपर्जन्यप्रभृतेः कर्म तत्फलम् ॥६२॥

पूर्वपक्षः—यदि अप् पद का सोमादियाग अर्थ करते हैं तो भी उसका फल स्वर्गादि होता है, सो भी चेतन कर्त्ता को मिलता है, न कि वृष्टि आदि, तत्रापि अचेतन मेघादि को ॥६२॥

मैवं सर्वमिदं कार्यं कर्मजं वेदसम्मतम् ।
तस्माद्वृष्ट्यादिकं सर्वं कार्यं कर्मफलं स्थितम् ॥६३॥

उत्तरः—समस्त कार्य कर्मजन्य है ऐसा वैदिक सिद्धान्त है । अतः वृष्टि आदि भी कर्म का ही फल है ॥६३॥

ननु कर्त्तुर्भोगकरं कर्म संकीर्त्त्यते बुधैः ।
वृष्ट्यादि भोगहेतुत्वात् कामं कर्मफलं भवेत् ॥६४॥
तथापि तद्विभजनं सफलं नैव चक्ष्महे ।
अन्तरेण विभागं तत् किं न सम्पत्तुमर्हति ॥६५॥
पर्जन्याद्वाऽस्तु सूर्याद्वा वृष्टिः किं तेन देहिनाम् ।
वृष्ट्या भोगो न तु पुनर्विभागादिति चेन्न तत् ॥६६॥

पूर्वपक्षः—कर्म कर्त्ता का भोगप्रद है यही सिद्धान्त है । वृष्टि प्रकाशन आदि भोगकारी होने से भले कर्मफल हो, लेकिन उसके विभाग का कोई प्रयोजन नहीं है । क्या बिना विभाग भोग नहीं बनेगा ? वृष्टि मेघ से हो चाहे सूर्य से उससे क्या मतलब ? वृष्टि से भोग होता है विभाग से नहीं । अतः कर्मविभाग में कोई मूल नहीं है ॥६४-७५॥

मैवं नियमराहित्ये न भोगनियतिर्भवेत् ।
नियमार्थो विभागोऽयमेष्टव्य इति निश्चितम् ॥६७॥

उत्तरः—पर्जन्य से ही वृष्टि होती है सूर्य से ही प्रकाशन होता है ऐसा नियम न होने पर भोग का भी नियम नहीं बनेगा । नियतकर्म का नियतभोग फल है । अतः विभाग भी मान्य करना पड़ेगा ॥६७॥

मेघेक्षणविशिष्टैतद्वृष्टिभोगश्च नाञ्जसः ।
मेघादेव भवेद्वृष्टिरित्येष नियमो न चेत् ॥६८॥

दूसरी बात मेघ से धारा सम्पात हो रहा है यह दर्शन और मान लीजिये सूर्य से धारा सम्पात हो रहा है उसका दर्शन ये दोनों समान नहीं है । मेघासारदर्शनविशिष्टवृष्टिभोग यह एक विलक्षण भोग है । वह मेघ से वृष्टि होने पर ही सम्पन्न हो सकता है सूर्य से वृष्टि होने पर नहीं । अतः कर्मविभाग आवश्यक है ॥६८॥

किं च जीवा इमे विद्याकर्मभ्यां पौर्वकल्पिकाः ।
अग्न्यादिभावमापन्ना इति काचन न क्षतिः ॥६९॥

दूसरी बात यह भी है कि अग्नि पर्जन्यादि पूर्वकल्प में कर्म एवं उपासना करने वाले जीव ही थे । वे ही इस कल्प में अग्नि आदि बने । अतः कर्मानुसार

उनके कार्यों का विभाजन भी अवश्यंभावी है। अतः कोई अनुपपत्ति नहीं है ॥६९॥

भीषास्मात्पवते वातो भीषोदेति दिवाकरः।
भीषाग्निश्च तथेन्दुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥७०॥
इत्यादयश्च श्रुतयः प्रोक्तमथ वदन्त्यमूः।
परमात्मभयादेव सर्वकार्याभिधापराः ॥७१॥

उपरोक्त अर्थ 'भीषास्मात्' इत्यादि श्रुति भी कहती है। श्रुति का अर्थ है कि परमात्मा के भय से ही वायु सूर्य अग्नि इन्द्र मृत्यु आदि अपना-अपना कार्य करते हैं। इस श्रुति से एक यह अर्थ स्पष्ट होता है कि परमात्मा की सत्ता से ही सभी कार्य होते हैं। दूसरा अर्थ यह कि सूर्यादि पूर्वकल्पीय जीव शेष ही इस कल्प में सूर्यादि बनकर स्वकर्मानुसार परमेश्वर नियन्त्रित होकर कार्य करते हैं। जड़ को भला भय किस से कैसे हो ॥७०-७१॥

ननु च ब्रह्मणो भीषा प्रवर्त्तन्तेऽनिलादयः।
तत्र मध्ये कथंकारं मातरिश्वा समागतः ॥७२॥
उच्यतेऽत्रोपसंहारन्यायाद् भीषेति च श्रुतौ।
मातरिश्वा निबोद्धव्यो मध्येकारणभावतः ॥७३॥

पूर्वपक्षः—भीषास्माद्वातः पवते इत्यादि श्रुति में साक्षात् परमात्मा से प्रयुक्त होकर वातादि स्वकार्य करते हैं यह बताया। वहां बीच में सूत्रात्मा कैसे आ गया। अर्थात् उस श्रुति में और प्रकृतमन्त्र में विषयभेद है। अतः वह श्रुति प्रकृतार्थ में प्रमाण नहीं है। सिद्धान्तः—उपसंहार न्याय से भीषास्मात् इस श्रुति में भी मध्य में सूत्रात्मा को जोड़ना चाहिये। अन्यथा श्रुतिद्वय का सामञ्जस्य न होगा। परमात्मा की सत्ता में सभी कार्य होते हैं इतने अंश में दोनों समान ही है ॥७२-७३॥

विना नाध्यात्मिकप्राणांश्चक्षुरादिप्रवृत्तयः।
विनाधिदैविकप्राणं न सूर्यादिप्रवृत्तयः ॥७४॥

आध्यात्मिक प्राण के विना चक्षुरादि देवों (इन्द्रियों) की प्रवृत्ति नहीं होती यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। उसी प्रकार आधिदैविक प्राण (सूत्रात्मा) के बिना सूर्यादि देवों की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती ॥७४॥

प्रवर्त्तयन्ति न प्राणा अन्तरात्मनमन्तरा।
आध्यात्मिकांश्चक्षुरादीनित्येतत्सार्वलौकिकम् ॥७५॥
प्रवर्त्तयति न प्राणः सूत्राख्यश्चाधिदैविकः।

पर्जन्यवह्निसूर्यादीन् परमात्मानमन्तरा ॥७६॥

अव आगे देखिये अन्तरात्मा के विना प्राण चक्षुरादि को प्रवर्त्तित नहीं करते यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। मरा हुआ आदमी चलता फिरता नहीं है। वैसे ही सूत्रात्मारूपी मुख्यप्राण भी परमात्मा के विना सूर्यादि को प्रवर्त्तित नहीं कर सकता। फलतः आत्मा और प्राण दोनों ही से प्रवृत्ति होती है। अतएव 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' यह सम्यक बताया ॥७५-७६॥

मातरिश्वा क्रियाशक्तिप्रधानः सूक्ष्मविग्रहः।
उपपत्तिरितः श्रुत्या परमात्मनि दर्शिता ॥७७॥

यहां मातरिश्वा सूत्रात्मा क्रियाशक्तिप्रधान है सूक्ष्मसमष्टि रूप है। तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति यह उपपत्ति कथन है ॥७७॥

प्रत्यक्ष एवात्र वायुरप इत्युपलक्षणम्।
मेघचन्द्रग्रहर्क्षादीन् दधातीत्यपरे जगुः ॥७८॥

यहां द्वैतियों की व्याख्या का एक नमूना :—मातरिश्वा का प्रत्यक्ष वायु ही अर्थ है। अतः यह उपलक्षण है। मेघ, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्रादि सब को प्रत्यक्ष वायु ही धारण करता है ॥७८॥

तदसद् दृश्यमानेऽस्मिन्न वायुश्चन्द्रमण्डले।
इति वैज्ञानिकास्तत्र गत्वा दृष्ट्वा निरब्रुवन् ॥७९॥

द्वैतियों की यह केवल अन्धपरम्परा है। वैज्ञानिक लोग राकेट से चन्द्रमण्डल में जाकर आ गये। उन्होंने स्पष्ट देखा कि चन्द्रमंडल में वायु है ही नहीं। इतने से स्पष्ट है कि दुराग्रह में आकर द्वैतियों ने ऐसा ही अनर्थ सब जगह किया है ॥७९॥

अस्माकं तु न तात्पर्यं मिथ्यासंसारवर्णने।
प्रत्यगात्मप्रबोधार्थं प्रक्रिया काचनाश्रिता ॥८०॥

यदि कहें कि अद्वैतमत में भी कहीं कहीं विज्ञानविरुद्ध बात लिखी मिलेगी तो ? तो कुछ नहीं, हमारा मिथ्या संसारवर्णन में तात्पर्य ही नहीं है। प्रत्यगात्म बोध के लिये किसी प्रक्रिया का आश्रयण किया है। विज्ञानविरुद्ध बात आ जाय तो दूसरी प्रक्रिया पकड लेना चाहिये ॥८०॥

यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रिया ज्ञेया साध्वी सा चानवस्थिता ॥८१॥

इसमें प्रमाण यही सुरेश्वराचार्यवचन है—यया यया इत्यादि ॥८१॥

सर्वाश्च कार्यकरणक्रियास्तस्मिन् परात्मनि।
सम्पद्यन्ते हि सत्येवेत्यत्र पिण्डीकृताशयः ॥८२॥

यहां सारांश इतना ही है कि आध्यात्मिक आधिदैविकादि समस्त कार्यकरण क्रिया उस परमात्मा के संनिधान में ही होती है ॥८२॥

इति चतुर्थमन्त्रभाष्यवार्त्तिकम्

—:००:—

पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं प्रब्रवीति पुनः श्रुतिः ।
मन्त्राणां जामिता नास्ति निजार्थप्रतिपादने ॥ १ ॥

पूर्व मन्त्र में कहे हुए भी अर्थ को श्रुति फिर से कह रही है । क्योंकि मन्त्रों में आलस्य पुनरुक्ति आदि दोष नहीं होते ॥ १ ॥

ॐ

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

वह (आत्मा) चलता और नहीं चलता है । वह दूर और नजदीक है । वह सब के अंदर है और बाहर है ॥

तदेजति तन्नैजति

चलतीव विकारीव ह्यचलं तदविक्रियम् ।
उपाधिसदसद्भावप्रयुक्तास्योभयात्मता ॥ २ ॥

श्रुति में एजति का अर्थ है कि वह चलनस्वभाववाला जैसा है, अर्थात् विकारी जैसा है । वस्तुतः वह अचल अर्थात् अविक्रिय है, यह नैजति का अर्थ है । उपाधि के होने पर विकारी जैसा और निरुपाधिकरूप से निर्विकार है ॥२॥

विरुद्धार्थसमावेशं केचिदिच्छन्ति सूरयः ।
श्रुतेरेव प्रमाणत्वादचिन्त्यार्थनिरूपणे ॥ ३ ॥

कुछ लोगों का कहना है कि चलन तथा स्थिरता दोनों ही ब्रह्म में संभव है । यही ब्रह्म का विचित्र शक्तियोग है । इस में प्रमाण श्रुति ही है । अचिन्त्य के विषय में तर्क को जोडना ठीक नहीं है । श्रुति ने एजति नैजति दोनों कहा, अतः दोनों वहाँ मान्य करना चाहिये ॥ ३ ॥

मीमांसा प्रायशस्तेषामफला जायतेसताम् ।
श्रुतिद्वैते विरुद्धार्थसमावेशस्य संभवात् ॥ ४ ॥

उन के मत में प्रायः मीमांसा ही निष्फल होगी । मीमांसा का अर्थ है वाक्यार्थ विचार । यथाश्रुत वाक्यार्थ ही सर्वत्र करना है तो विचार व्यर्थ है । जहाँ अर्थविरोध हो वहां विरुद्धार्थ समावेश कह कर समाधान किया जा सकता है ॥ ४ ॥

आदित्यो यूप इत्यादावादित्यत्वं श्रुतीरितम् ।
अतीन्द्रियमुपादेयं श्रुतेः सार्थकतापि च ॥ ५ ॥

पूर्व मीमांसा में आदित्यो यूपः (खंभा आदित्य है) यहाँ यथाश्रुत अर्थ ही लेकर खंभे में अतीन्द्रिय श्रुत्येकगम्य आदित्यत्व मानना पड़ेगा । और उस ज्ञान को यागादृष्टजनन में उपयोगी मानना होगा ॥५॥

असद्वा इदमग्रेऽभूदिति श्रुत्यासदप्यदः ।
मन्तव्यं स्यान्न चान्यार्थकृतिरत्रापि युज्यते ॥ ६ ॥

'असद्वा इदमग्र आसीत्' इस श्रुति से ब्रह्म को असत् भी मानना पड़ेगा । जगत् अव्याकृत था ऐसा अर्थ किया जाय यह नहीं कह सकते । असत् का असत् ही प्रसिद्धार्थ है और श्रुति ने कहा तो आप को उस पर ऊहापोह करने का क्या हक ? ॥६॥

विवक्षखण्डनं चैव यन्नैकस्मिन्नसंभवात् ।
इत्युक्तं नोपपद्येत विरुद्धार्थप्रवेशतः ॥ ७ ॥

स्याद्वाद का निराकरण 'नैकस्मिन्नसंभवात्' इस अधिकरण में जो किया वह भी नहीं बनेगा । अस्तित्व और नास्तित्व एक ही में संभव है । 'सच्चासच्च' 'विश्वं सदसदात्मकं' इत्यादि प्रमाण उस में भी प्राप्त होगा । और स्याद्वादवादी कहेंगे जैसे आप श्रुति प्रमाण से ब्रह्म में विरुद्ध धर्म मानते हैं, वैसे हम भी अपने आचार्यवाक्य प्रमाण से जगत् में विरुद्धधर्म मानेंगे । जैनाचार्यवाक्य अप्रमाण हैं कहें तो उतना ही कहना पर्याप्त होगा । नैकस्मिन्नसंभवात् इत्यादि अधिकरण-रचना तो व्यर्थ ही पड़ेगी ॥ ७ ॥

तद्दूरे तद्वन्तिके

दूरे तिष्ठति केषांचिदात्मतत्त्वमिदं परम् ।
केषांचिदन्तिके चैव तद्धि भावविशेषतः ॥ ८ ॥

वह आत्मतत्त्व किसी के तो दूर रहता है और किसी के समीप । भाव भेद से दोनों उपपन्न है ॥ ८ ॥

पराङ्मुखानां गोविन्दे विषयासक्तचेतसाम् ।
तेषां तत्परमं ब्रह्म दूराद् दूरतरे स्थितम् ॥ ९ ॥
तन्मयत्वेन गोविन्दे ये नरा न्यस्तचेतसः ।
विषयत्यागिनस्तेषां विज्ञेयं च तदन्तिके ॥१०॥
इति शौनकवाक्येन ब्रह्म दूरेऽन्तिकेऽपि च ।

ब्रह्मात्मकं चात्मतत्त्वं ततो दूरेऽन्तिकेऽपि तत् ॥११॥

शौनक का वचन है—जो भगवान से विमुख हैं विषयासक्त हैं उनके लिये ब्रह्म दूर है और विषयत्यागी तन्मयता से भगवान में अर्पितचित्तवालों के लिये नजदीक है। ब्रह्मरूप ही आत्मतत्त्व होने से वह भी दूर और अन्तिक में सिद्ध होता है ॥६-११॥

विषयत्यागिनो ये च वासुदेवोन्मुखा अपि।
अविद्वांसो यदि तदा दूरे तेषां च तन्मतम् ॥१२॥

विषयत्यागी हैं वासुदेवोन्मुख हैं फिर भी यदि अविद्वान् हो तो भी ब्रह्म दूर ही में रहता है ॥१२॥

व्योम नीलात्मकं मत्वा तदारोढुमनाः पुमान्।
वर्षकोटिशतायस्तोऽप्यप्राप्यैव निवर्त्तते ॥१३॥
यावद्यावत्प्रयात्यग्रे नीलं दूरादपैति खम्।
तथैवाविदुषामात्मा दूरं तिष्ठति सर्वदा ॥१४॥

आकाश को नीला समझ कर वहां चढ़ने की इच्छा से करोड़ वर्ष तक राकेट में ऊपर जाता रहे तो भी वह उसे अप्राप्त होकर ही लौटेगा। ज्यों ज्यों आगे बढ़ेगा त्यों त्यों नीलवर्णात्मक आकाश भी आगे बढता दिखाई पड़ेगा। उसी प्रकार अविद्वान् से ब्रह्म भी दूर रहता है। भले उसे पकड़ने उसके पीछे लगा हो ॥१३-१४॥

नीलं खमिति मे भ्रान्तिर्व्यापकं हि नभस्तलम्।
इत्येवंविदुषो व्योम लब्धमेव हि सर्वदा ॥१५॥
नैवात्मा पर्वताग्रादौ किन्तु व्यापकविग्रहः।
इत्येवंविदुषो नित्यप्राप्तेरत्यन्तमन्तिके ॥१६॥

दूर दिखाई देनेवाला नीलवर्ण ही आकाश है यह तो मेरी भ्रान्ति है आकाश व्यापक है इतना जो जानता है उस को तो आकाश मिला ही मिला है। वैसे—आत्मा ब्रह्म पर्वत की चोटी आदि में नहीं, वह व्यापक है, ऐसा जानने वालों को वह अत्यन्त अन्तिक नित्य प्राप्त है ॥१५-१६॥

तथा च व्यापकत्वात्तद् ब्रह्म दूरेऽन्तिकेऽपि च।
अत एवान्तरप्येव सर्वस्य बहिरप्यदः ॥१७॥

व्यापक होने से ही दूर में भी नजदीक में भी वह ब्रह्म स्थित है। अतएव सबके अन्दर भी और बाहर भी है ॥१७॥

तदन्तरस्य सर्वस्य

तदन्तरस्य सर्वस्य नामरूपक्रियात्मनः।

अन्तरात्मस्वरूपेण सर्वान्तर इत्ति श्रुतेः ॥१८॥

'तदन्तरस्य सर्वस्य' इस श्रुत्यंश का अर्थ हैं कि नामरूपक्रियात्मक जगत् का वह अन्तरात्मा है। 'य आत्मा सर्वान्तरः' ऐसे अन्य श्रुति में भी कहा है॥

कपालो हि घटस्यात्मा कपालस्य कपालिका।
तस्या मृच्चूर्णमेवात्मा चूर्णस्य परमाणवः ॥१९॥
तन्मात्रा परमाण्वात्मा रसादिक्रमतः पुनः।
तदात्मा शब्दतन्मात्रा तदात्मा सकलान्तरः ॥२०॥
एवं पटादौ विज्ञेय आत्मा सर्वान्तरः परः।

घट की आत्मा (वास्तविकस्वरूप) कपाल है कपाल की कपालिका आत्मा है। कपालिका की मृच्चूर्ण, मृच्चूर्ण की परमाणु आत्मा है। परमाणु की तन्मात्रा (पृथिवी-तन्मात्रा) उसकी जलतन्मात्रा, उसकी तेजतन्मात्रा, उसकी वायुतन्मात्रा और वायुतन्मात्रा की आकाशतन्मात्रा आत्मा है और आकाशतन्मात्राकी भी जो आत्मा है वही सर्वान्तर ब्रह्म है। इसी को प्रत्यगात्मा परमात्मा आदि भी कहते हैं। यह घट की परम आत्मा का विवेचन हुआ। इसी प्रकार पटादि में भी समझना चाहिये ॥१९-२०॥

तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः

घटादेः किं च विज्ञेयस्तदु सर्वस्य बाह्यतः ॥२१॥
घटाद्यभाव एवात्र बाह्यशब्देन बोध्यते।
घटं च तदभावं च प्रकाशयति तद्यतः ॥२२॥

'तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' का अर्थ है :—घटादि सभी वस्तुओं के बाहर भी ब्रह्म है। घटादि से बाहर का अर्थ है घटाद्यभाव। घट एवं घटाभाव को भी वही प्रकाशित करने वाला है। (यह यहां रहस्यार्थ बताया गया) ॥२१-२२॥

यत्र नैतज्जगत्सर्वमात्मा तत्रापि वर्त्तते।
इति केचिदिहाचख्युः किन्तु कुत्रेति नाब्रुवन् ॥२३॥
गगनाभावदेशो हि न तेषां संभवेत्क्वचित्।
कालदिग्गगनादीनां व्यापकत्वाभ्युपायनात् ॥२४॥
यत्राप्यप्राकृतं व्योम शब्दस्पर्शाद्युपेयते।
तत्राप्येतत्खमास्थेयं न स्याद्व्यापकमन्यथा ॥२५॥

कुछ लोगों ने व्याख्या की है कि इस जगत् के बाहर भी आत्मा है। जगत् जहां नहीं वही जगत् का बाह्यस्थान है। परंतु उन्होंने यह नहीं बताया कि कहां यह जगत् नहीं है। जगत् के अन्तर्गत आकाश काल दिशा आदि भी आते हैं

उनका यदि अभाव कहीं मानेंगे तो वे अव्यापक होंगे। जहां दिव्य शब्दादि मानते हैं वहां भी इस आकाश को मानना पड़ेगा। या फिर यह कहना होगा कि इस व्यापक आकाश का एक टुकड़ा प्राकृत है दूसरा टुकड़ा दिव्य है। परंतु ऐसा मानना केवल मखौल नहीं तो क्या होगा ॥२३-२५

रूपादौ गगनाभावमुपगच्छन्ति तार्किकाः।
तस्मान्न गगनाभावाऽप्रसिद्धिर्मामके मते ॥२६॥
नन्वेवंरूपमेवास्तु व्योमबाह्यं ममेति चेत्।
आत्मा रूपेऽस्ति तदिदं तदन्तरिति सिद्ध्यति ॥२७॥

यदि सिद्धान्त में घटवाह्य का घटाभाव अर्थ करते हैं तो भी गगनाभाव अप्रसिद्ध है इसका समाधान यह है कि गगनाभाव अप्रसिद्ध नहीं है। रूपादि में नैयायिकों ने गगनाभाव को प्रसिद्ध माना है। यदि कहो कि तब मेरे मत में भी गगनाभाववान् रूपादि हो जायेंगे। ठीक है। तो गगनादि से बाहर आत्मा है इसका अर्थ होगा कि रूपादि में आत्मा है। परंतु इतना अर्थ तो तदन्तरस्य से चरितार्थ है। अस्य अन्तर से रूपका अन्दर भी तो अर्थ आ सकता है ॥२६-२७॥

इदंपदार्थो नाभावो नाभावेऽस्ति पदार्थता।
अभावेऽपि च बाह्यः स्यात्सत्यबाह्यं यथानृतम् ॥२८॥

'तदन्तरस्य' यहां अस्य का यदि रूप अर्थ होता है तो अभाव अर्थ भी तो हो सकता है। अतः अभाव में आत्मा उक्तवाक्य से क्यों नहीं सिद्ध है ? इसका उत्तर यह है कि अभाव कोई पदार्थ नहीं है। कोई दरिद्र यह कहें कि मेरे पास बहुत पदार्थ हैं। क्या पदार्थ हैं ? घटाभाव पटाभाव धनाभाव ये सब पदार्थ मेरे पास हैं, भला सुनने वाला कोई बच्चा भी हो तो वह भी हँसेगा। अयं घटाभाव इत्यादि शास्त्रकारों का पारिभाषिक व्यवहारमात्र है। वस्तुतः भूतल में घट बुद्धि न हो एतदर्थं घटो नास्ति कहा जाता है। केवल भूतल वहां अर्थ है। न कि घटाभाव नाम का एक पदार्थ भूतल पर बैठा है। अभाव असद्रूप होता है। उसका भी प्रकाशन घटो नास्ति यहां होता है। अत एव बाह्य में है यह उक्ति भी संगत है। असत् अभाव भी भावबाह्य है जैसे अनृत सत्यबाह्य है ॥२८॥

अस्तु वेदंपदार्थो हि बुद्धिस्थोऽग्रिमभूतसत्।
भवन्तीति च भूतानि भावा एव न चेतरः ॥२९॥

यदि अभाव भी पदार्थ है ऐसा आग्रह आप का है तो भी यहां इदंपदार्थ बुद्धिस्थ भाव पदार्थ ही हैं। क्यों कि अग्रिम मन्त्र में भूतानि कहेंगे। भवन्तीति भूतानि यह व्याख्या हम आगे करेंगे। भवन्ति इस विग्रह से भाव पदार्थ सिद्ध होता है। अभावपदार्थ नहीं ॥२९॥

अयंशब्दो न चाभावे लोके कपि प्रयुज्यते ।
उपादानं च दुर्ज्ञानं येनात्मा स्यात्तदान्तरः ॥३०॥

पूर्वपक्ष:—अभाव यद्यपि पदार्थ है फिर भी इदं पद से अभावेतर पदार्थ को बताया फिर अभाव को बाह्यपद से ग्रहण किया इस पूर्वपक्ष में यही वक्तव्य है कि इस की अपेक्षा इदंशब्द से भाव अभाव सभी को लेकर तदन्तरस्य इस प्रकार लाघवात् एकोक्ति से काम क्यों नहीं लिया ? इस पूर्वपक्ष का उत्तर यही कि लोक में कहीं भी अभाव के लिये इदंपदका प्रयोग नहीं होता है। असल में 'अभाव' यह शब्द पारिभाषिक है। लोक में 'न' शब्द से ही अभाव का व्यवहार होता है (यह न्यायग्रन्थों में भी स्पष्ट बताया है) मेरे पास धनका अभाव है इत्यादि लौकिक प्रयोग भी शास्त्रीयपारिभाषिक शब्द संस्कार मात्र से प्रयोग है। वस्तुतः मेरे पास धन नहीं है यही व्यवहार होता है। तिस पर भी अभाव के साथ 'यह' शब्द का प्रयोग नहीं होता। मेरे पास जो धनाभाव है वह यह है ऐसा कोई भी नहीं बोलता। दूसरी बात–अभाव की अन्तरात्मा माने उपादानभूतात्मा। अभाव असत् होने से उसका उपादान संभव नहीं है। अतः सर्वस्य बह्यतः यह कहना आवश्यक है ॥३०॥

विरुद्धधर्माक्रान्तानां विभज्य कथनं तथा ।
व्युत्पित्सूनां कृते शास्त्रे यथासंभवमीक्ष्यते ॥३१॥

और विरुद्धधर्माक्रान्त मूर्त्तामूर्त्त भावाभावादि का यथासंभव विभाग के साथ कथन करना शास्त्रों में बहुधा देखने में आता है ॥ ३१ ॥

नन्वन्तरात्मेत्येतेन घटकारणमुच्यते ।
बाह्यशब्दो घटाभावो घटः कस्तर्ह्युदीरय ॥३२॥
अत्रोच्यते घटोऽप्यात्मा प्रज्ञानघनशासनात् ।
प्रज्ञानं कारणं कार्यं तद्भावश्च सर्वशः ॥३३॥

घट का कारण आत्मा है (तदन्तर) घटाभाव भी आत्मा है (तदु बाह्यतः) लेकिन घट क्या है ? उत्तरः—घट भी आत्मा है। "प्रज्ञानघनः" ऐसे श्रुति में बताया है। सारांश यह कि कारण कार्य एवं तदभाव सभी आत्मा ही है॥३२-३३।

प्रज्ञानैकरसे तत्त्वे परमात्मनि मायया ।
कार्यं च तद्भावश्च स्रजि दण्डोरगादिवत् ॥३४॥

प्रज्ञानैकरस परमात्मतत्त्व में कार्य एवं तदभाव माला में दण्ड सर्पादिवत् कल्पित है ॥ ३४ ॥

अन्तर्यामिश्रुतेः केचिदन्तस्तिष्ठन्वमब्रुवन् ।

तन्नान्तर्देशविरहादणूनां तदयोगतः ॥३५॥

'अन्तर' का अर्थ है अंदर रहनेवाला। अन्तर्यामी श्रुति इसमें प्रमाण है ऐसा कुछ लोग मानते हैं। वह संगत नहीं, कारण अणुओं का अन्तर्भाग ही कहाँ है? ॥ ३५ ॥

ननु चात्मनि तिष्ठन्य इति श्रुत्यात्मनो ह्यणोः।
यथान्तस्तद्वदेवास्तामन्यत्राप्यणुषु स्थितः ॥३६॥

पूर्वपक्षः—य आत्मनि तिष्ठन् इस प्रकार अन्तर्यामी श्रुति में कहा है। आत्मा अणु है। जिस प्रकार उसके अन्दर आत्मा है वैसे अन्य अणुओं में भी आत्मा हो सकता है ॥३६॥

उच्यते पक्षसमता, तत्रापि कथमान्तरः।
तद्देशवत्तितामात्रमाकाशादौ च विद्यते ॥३७॥

उत्तर:—यदि आत्मा अणु है तो वहाँ भी पक्षसमता है। अर्थात् अणु आत्मा के अन्दर दूसरा आत्मा कैसे? अणुदेशावच्छेदेन परमात्मा है इसलिये आन्तर कहें तो आकाशादि भी सर्वान्तर माने जा सकते हैं तब परमात्मा में विशेषता ही क्या रही? ॥३७॥

अणुत्वमात्मनोऽसिद्धं प्रतिबिम्बे च बिम्बवत्।
सत्तया वर्त्तमानत्वादान्तरश्रुतिसंगतिः ॥३८॥

और आत्मा अणु है इसका निराकरण अन्यत्र किया जा चुका है। और जिस प्रकार एक सत्ता होने से प्रतिबिम्ब में बिंब जिस प्रकार सत्ता मात्र से वर्त्तमान है वैसे जीवात्मा में परमात्मा भी माना जा सकता है। "प्रतिबिम्बे-स्फुरन्नेषः" इस प्रकार वार्त्तिककार ने भी यह माना है ॥३८॥

अन्तस्तिष्ठति सर्वेषामस्तिभातिप्रियात्मना।
इति नास्त्यर्थवैरूप्यं पृथिव्यादावणावपि ॥३९॥

वस्तुतः पृथिव्यां तिष्ठन् अणौ तिष्ठन् तदन्तरस्य इन सबका अर्थ यही है कि अस्ति भाति प्रिय रूप से समस्त वस्तुओं के अन्दर रहता है। अतएव कहीं भी अर्थ वैरूप्य नहीं है। भवन्मत में शरीरशरीरिभाव दृष्टान्त में तो जीवात्मा शरीर के अन्दर है। दार्ष्टान्तिक में पृथिवी आदि के अन्दर और बाहर है। अणुओं में अणुदेशावच्छेदेन है। इस प्रकार अर्थवैरूप्य स्पष्ट है ॥३९॥

इति पञ्चममन्त्रभाष्यवार्त्तिकम्

—:०※०:—

निरुपाधिकरूपेण केवलो निर्गुणः परः ।
मायोपाधिवशात्सर्वंजगद्रूप इतीरितम् ॥ १ ॥

अनेजदेकं" इत्यादि मन्त्रों में साररूप से यही बताया कि निरुपाधिक रूप से आत्मा केवल है निर्गुण सर्वविकाररहित है । और मायोपाधि के कारण वही आत्मा दृश्यमान समस्त जगत्रूप हो गया ॥१॥

व्याख्यायेशपदं सम्यगेवं वास्यपदेङ्गितम् ।
दर्शनं कीदृशं कार्यं किंफलं चेत्युदीर्यते ॥ २ ॥

यह ईशावास्यं में ईशपद की व्याख्या हुई । अब वास्य पद से इंगित आत्मदशन (ईशदर्शन से जगत् का आच्छादन करने के लिए बतलाया उसमें ईश दर्शन सूचित हुआ है) कैसे होना चाहिये और उसका फल क्या है यह सब दो मन्त्रों में बतलाने जा रहे हैं ॥२॥

आच्छादनोपायभूतं दर्शनं प्रथमे मनौ ।
आत्मैवाभूदिति स्पष्टाच्छादनं चापरे मनौ ॥ ३ ॥

इन दो मन्त्रों में प्रथम मन्त्र में जगदाच्छादनोपायरूप दर्शन का वर्णन है । और द्वितीय मन्त्र में अनुपश्यति का प्रयोग न कर 'आत्मैवाभूत्' से स्पष्ट आच्छादन ही बताया ॥३॥

ॐ

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

जो समस्त भूतों (कार्य जगत्) को आत्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में आत्मा को, वह उस आत्मदर्शन के कारण किसी से भी घृणा नहीं करता ॥६॥

मुमुक्षुः सन् परिव्राड् य आत्मन्मेवानुपश्यति ।
अव्यक्तादीनि भूतानि स्थावरान्तानि कृत्स्नशः ॥ ४ ॥
न चात्मव्यतिरिक्तानि भूतान्येतानि पश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वात्मास्मीति सर्वदा ॥ ५ ॥
आत्मानुदर्शनात्तस्मान्न कुतश्चिज्जुगुप्सते ।
यतोऽन्यदात्मनो दुष्टं पश्यन्नेव जुगुप्सते ॥ ६ ॥

मुमुक्षु होकर जो एषणात्रय को छोड़ देता है और अव्यक्त से स्थावरान्त समस्त भूतों को आत्मव्यत्तिरक्त नहीं देखता और समस्त भूतों में आत्मभाव को देखता है वह उस आत्मदर्शन के कारण किसी से घृणा नहीं करता क्योंकि अपने से भिन्न दूषित को देखकर सभी घृणा किया करते हैं ॥४-६॥

गलितं पलित स्वीयं दृष्ट्वा दुष्टमपि स्वयम् ।
घृणां न कुरुते स्वस्मिन्ननात्मातो घृणास्पदम् ॥ ७ ॥

अपने गलित पलित को देख कर कोई अपने से घृणा नहीं करता ॥७॥

युक्तेरनुभवाच्चैवं प्राप्तमेतदनूद्यते ।
न जुगुप्सत इत्येतच्छ्रुत्या नैषास्त्यपूर्वगीः ॥ ८ ॥

यह बात युक्ति एवं अनुभवसिद्ध होने से अपूर्व वचन नहीं है ॥८॥

किन्तु तात्पर्यनिर्णायि षड्लिङ्गान्तर्गतं श्रुतिः ।
फलवत्त्वं प्रबोध्यैव समर्थेत्यवधीयताम् ॥ ९ ॥

किन्तु तात्पर्य निर्णायक षड्लिङ्ग के अन्तर्गत फलवत्त्व को बतलाने से श्रुति की सार्थकता है ॥९॥

अत्र भूतपदं केचित्प्राणिमात्रपरं जगुः ।
मा हिंस्यात्सर्वभूतानीत्यादौ तत्र प्रयोगतः ॥१०॥
तदसत् पञ्चभूतानीत्येवमन्यत्र दर्शनात् ।
पञ्चभूतात्मकं सर्वं जगत् संकोच्यतां कुतः ॥११॥

बहुत से लोग 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' में भूतपद का प्राणी अर्थं प्रसिद्ध होने से यहाँ पर भी प्राणी अर्थं करते हैं । परन्तु पञ्चभूत भी तो प्रसिद्ध है और सारा जगत् उपनिषदनुसार पंचभूतात्मक है । इसमें संकोच अर्थ करना अयुक्त है॥

उत्पद्यन्ते भवन्तीति कार्यमात्रपरं वचः ।
तदनन्यत्वमित्युक्तेर्हेतोरव्यतिरेकि तत् ॥१२॥

भवन्तीति भूतानि इस व्युत्पत्ति से कार्यमात्र यहाँ भूतशब्दार्थ है । "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इस अधिकरण में कार्य को कारण से अनन्य बताया । अतएव आत्माऽव्यतिरिक्तता भी सिद्ध है ॥१२॥

ननु नार्थोऽस्ति सप्तम्या अभेद इति चेन्न तत् ।
प्रयुज्यते मृदि घट इत्यभेदेऽपि सप्तमी ॥१३॥

अभेद अर्थं में सप्तमी नहीं होती यह भी बात नहीं है ! मृदि घटः यह अभेद सप्तमी मानी है । कार्यकारण भाव से अभेद ही वहाँ अर्थं है ॥१३॥

केचित्तु परमात्मार्थ आत्मशब्दोऽत्र मन्त्रगः ।
प्रस्तुतत्वात्प्रसिद्धत्वाद् व्युत्पत्तेश्चेति मन्वते ॥१४॥

कुछ पूर्वपक्षी कहते हैं—यहाँ आत्मा पद का परमात्मा अर्थ है । क्योंकि उपक्रम परमात्मा का है आत्मशब्द का रूढार्थं भी परमात्मा है आप्नोति व्याप्नोति सर्वं जगत् यह व्युत्पत्ति भी अणुरूप जीवात्मा में संभव नहीं है ॥१४॥

तदसत् परमात्मानं कः पश्येच्चर्मचक्षुषा ।
भूतानि चाखिलान्यत्र तदसंभवदुक्तिकम् ॥१५॥

यह व्याख्या अयुक्त है। कारण परमात्मा में समस्त प्राणियों को कौन देख सकता है। क्योंकि परमात्मा अतीन्द्रिय है और प्राणिवर्ग अनन्त है।

दर्शनं कृपयेशस्य प्रोक्तं संभवतीति चेत्।
कृपयैवाजुगुप्सा स्यादन्तर्गड्डु हि दर्शनम् ॥१६॥

भगवान् की कृपा से परमात्मा का और उसमें विश्व का दर्शन हो सकता है यदि कहो, तो भी आखिर उसका फल यहां अजुगुप्सा बताया है। वह फल साक्षात् भगवत्कृपा से ही संभव है बीच में अन्तर्गड्डु दर्शन की क्या जरूरत पड़ी?

प्रस्तुतात्महने शब्दे जीवात्मैव निगद्यते।
परमात्मेति शब्दश्च प्रसिद्धः परमात्मनि ॥१७॥

ये के चात्महनः यहाँ प्रस्तुत आत्मशब्द जीवात्मपरक ही है। और परमात्मा में परमात्मा शब्द ही प्रसिद्ध है आत्माशब्द नहीं। आत्मा परमात्मा कहते समय बल्कि आत्माशब्द का अर्थ जीवात्मा में ही प्रसिद्ध है ॥१७॥

योगेन व्यापकं ब्रूत इत्यप्युक्तिरसंगता।
योगाद्रूढेर्बलीयस्त्वाद्रूढ्यर्थस्य परिग्रहात् ॥१८॥
किंच योगार्थमास्थातुरणुत्वं खण्डितं भवेत्।
न हि शब्दव्यवहृतिः परिभाषामपेक्षते ॥१९॥

आप्नोति इस योग से व्यापक अर्थ निकलता है इत्यादि उक्ति भी असंगत है। क्योंकि योग से रूढि बलवती होती है। और यदि योगार्थ लेंगे तो आपके अणुत्ववाद का ही खण्डन होगा। क्योंकि शब्दव्यवहार किसी की मान्यता पर आधारित नहीं होता है ॥१८-१९॥

इदं तु बोध्यमीशेति वाच्यार्थः परमेश्वरः।
लक्ष्यार्थः शुद्धचैतन्यं तेनैवाच्छादनं यतः ॥२०॥
अत्रात्मनीति वाच्यार्थो जीवात्मैव न संशयः।
लक्ष्यार्थः शुद्धचैतन्यं भागत्यागवशाद्भवेत् ॥२१॥

यह बात ध्यान देने योग्य है कि ईशावास्यं यहाँ ईश पद का वाच्यार्थ ईश्वर है और लक्ष्यार्थ शुद्ध चैतन्य है। क्योंकि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमत्त्वादिगुणविशिष्ट से जगदाच्छादन संभव नहीं है। तथा यहाँ पर भी आत्मपद का जीवात्मा वाच्यार्थ है और शुद्ध चैतन्य लक्ष्यार्थ है। क्योंकि अन्तःकरण परिच्छिन्न आत्मा से अव्यतिरिक्तता समस्त भूतों में संभव नहीं है ॥२०-२१॥

आत्मा द्रष्टव्य इत्यादावप्येवं हि व्यवस्थितिः ।
असंगतार्थभाषित्वमन्यथापद्यते श्रुतेः ॥२२॥

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः इत्यादि श्रुतियों में भी यही व्यवस्था है। अर्थात् वाच्यार्थ जीवात्मा है और भागत्यागस्य से लभ्य लक्ष्यार्थ शुद्ध चैतन्य है। यही वाक्यान्वयाधिकरण का भी रहस्य है। अन्यथा आत्मा का सीधा अर्थ परमेश्वर करेंगे तो "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति यह पूर्वग्रन्थ असंगत होगा। वहाँ स्पष्टतया जीवात्मा ही प्रतिपादित है ॥२२॥

अथाणुरात्मा बालाग्रशतभागमितिश्रुतेः ।
न चानुभूयतेऽन्यत्र शरीरादौ यतः स हि ॥२३॥

पूर्वपक्ष :—बालाग्रशतभागस्य इत्यादि श्रुति में अणुपरिमाण जीव का बताया है। व्यापक होता तो अन्य शरीर शिला काष्ठादि में भी अनुभव होता ॥२३॥

न च वाच्यं मनो नास्ति देहान्तरशिलादिषु ।
करणं हि यतोऽन्यस्यानुभवे नात्मनो मनः ॥२४॥

यदि कहो कि शरीरान्तर शिलादि में अपना मन नहीं है। तो ठीक नहीं, कारण, मन तो अन्यके अनुभव में करणमात्र है, न कि वह अनुभविता के और स्वात्मानुभव में उसकी जरूरत भी नहीं है, जैसे सुषुप्ति आदि में ॥२४॥

तदसत् परदेहस्थबोधस्तद्देहबोधतः ।
स्वयं प्रकाशरूपेण स्वात्मा बुध्यत एव हि ॥२५॥

समाधानः—परदेहस्थत्वेन आत्मज्ञान का आपादन तब हो सकता है यदि मन से परदेहसाक्षात्कार हो। आत्मत्वेन आत्मज्ञान स्वयंप्रकाशतया होता ही है। अतः पूर्वपक्ष निराधार है ॥२५॥

अणुरस्मीति नो कश्चित्तं वेत्त्यणुमितं तथा ।
अणुत्वे स्वप्रकाशोऽयं कथं तन्नावगच्छति ॥२६॥

यदि वह अणुपरिमाण है तो स्वयंप्रकाश होने से मैं अणु हूँ ऐसा बोध होना चाहिये। अस्मन्मत में देहाध्यास के कारण परिच्छिन्न प्रतीत हो सकता है। किन्तु अणु के महत्त्वभ्रान्ति में कोई बीज नहीं है ॥२६॥

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितेति हि ।
दशसाहस्रभागोक्तिर्नाणुपर्यवसायिनी ॥२७॥

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः" इस श्रुति में बाल के अग्र का दस हजारवां भाग बताया। अणु उससे भी छोटा है ॥२७॥

उपलक्षणमाश्रित्य यदि वाणुपरा भवेत् ।

उपलक्षणतः　कस्मात्सूक्ष्ममात्रपरा न सा ॥२८॥

दसहजारवां भाग यह अणुका उपलक्षण कहो तो वह सूक्ष्मता का उपलक्षण है ऐसा मानने में क्या हानि हुई? ॥२८॥

प्रेतस्य विचिकित्सायां नायं हन्ति न हन्यते ।
इत्युक्त्वा महतोऽप्याह महीयांसं यमो हि तम् ॥२९॥

अणूपलक्षण में भी क्या हानि? इसका उत्तर है नचिकेता को यमराज ने आत्मा महान से भी महत्तर बताया। वह कोई परमात्माका प्रकरण नहीं है। येयं प्रेते विचिकित्सा इस प्रकार वह जीवात्मा का ही प्रकरण है ॥२९॥

आत्मनस्तत्त्वमाख्यातुं प्रसङ्गं तमिमं हरिः ।
वदन् सर्वगतः स्थाणुरित्युवाच धनञ्जयम् ॥३०॥

इसी प्रसङ्ग को गीता में आत्मतत्त्व कहने के लिये भगवान ने उठाया और नित्यः सर्वगतः स्थाणुः कहा। सर्वगत यह व्यापकार्थक है। भीष्माद्यात्मा की मृत्यु की शंका में यह वचन है ॥ ३० ॥

अशरीरं शरीरेषु ह्यनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानमित्यादावपि तत्स्फुटम् ॥३१॥

अशरीरं इत्यादि मन्त्रों में भी आत्मा को महान् विभु बताया ॥३१॥

गृहैकदेशगो दीपो व्याप्नोति सकलं गृहम् ।
तद्वदात्मा　जगज्ज्ञातुर्व्याप्नोतीत्यप्यसंगतम् ॥३२॥

आत्मा यद्यपि अणु है तथापि प्रकाश के द्वारा वह व्यापक है। जैसे घर के एक देश स्थित दीपक पूरे घर में व्यापक होता है ऐसा अणुवादियों का कहना है। परंतु वह असंगत है ॥३२॥

यदि स्याद् व्यापिका दीपप्रभा तैलव्ययः कुतः ।
प्रकाशाणुप्रसारोऽतो　दीपकस्यांशिनः　स्फुटः ॥३३॥

असंगत इसलिये कि यदि दीपक की प्रभा व्यापक है तो तेल क्यों खर्च हो रहा है? स्पष्ट है कि वहाँ तेल जल रहा है और प्रकाश के अणु चारों ओर फैल रहे हैं। दीपक सावयव होने से उसमें से प्रकाशाणुओं का फैलना संभव है ॥३३॥

पुञ्जीभूता हि मण्यादावपि सौरादिदीधितिः ।
ततस्तत्राप्यवयवप्रसारो　विज्ञसंमतः ॥३४॥

तेल के विना ही मणि से प्रकाश कैसे फैलता है इसका उत्तर यह है कि वहाँ सूर्यादि की प्रभा पुञ्जीभूत होती है वही निकलती भी रहती है। यह आधुनिक विज्ञान संमत है ॥३४॥

मुक्तात्मनो हि किं तैलं प्रकाशव्याप्तिर्यतः ।
निर्वाणाद्दीपवच्चैव सांशो हीन्धापवर्गतः ॥३५॥

मुक्तात्मा में कौन सा तेल है जिससे प्रकाश फैलता है (जीवित में कथंचित् भोजनाच्चादि इधन हो सकता है) और इधन समाप्त होने पर कदाचित् बत्ती के समान जीवात्मा बुझ भी न जाय यह ख्याल रखना पड़ेगा ॥३५॥

अणोरनन्तचक्षविरित्यद्धार्थरहितं वचः ।
अणुतां चानन्ततां चाऽपरिचिन्वन् विकत्थसे ॥३६॥

अणु का अनन्त प्रकाश यह कथन तो अणुत्व और अनन्तत्व को न पहचान कर अर्थशून्य वचन बोल रहे हो ॥३६॥

अत्र वक्तव्यमखिलमभिधास्यामहे स्फुटम् ।
सोऽहमस्मीति वाक्यार्थव्याख्यानसमये वयम् ॥३७॥

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि की व्याख्या में हम सारी बात फिर से स्पष्टतया आगे बतायेंगे ॥३७॥

यथेह तन्तुषु पटः पटे तन्तव इत्यपि ।
सर्वभूतेषु चात्मानं तथैव ज्ञः प्रपश्यति ॥३८॥

अभेद स्थल में इह तन्तुषु पटः (तन्तुओं में पट) इस प्रकार और पटे तन्तवः (पट में तन्तु) ऐसी भी प्रतीति होती है । वैसे आत्मा में सर्वभूत तथा सर्वभूत में आत्मा का दर्शन होता है ॥३८॥

स्वप्ने यथा प्रत्यगात्मा दृश्यमानेषु वस्तुषु ।
अन्तर्बहिश्च संव्याप्य स्थितोऽपि न हि बुध्यते ॥३९॥
जाग्रत्यपि तथैवात्मा दृश्यमानेषु वस्तुषु ।
अन्तर्बहिश्च संव्याप्य तिष्ठन्नपि न बुध्यते ॥४०॥
गुरुशास्त्रेशकृपया नित्यमभ्यासतत्परः ।
सर्वभूतेषु चात्मानमनुपश्यत्यसंशयम् ॥४१॥

स्वप्न में जितने पदार्थ दीखते हैं सबमें प्रत्यगात्मा व्याप्त हो कर रहता है । फिर भी नहीं समझ पाते । यही समझते हैं कि स्वाप्निक जगदन्तर्गत शरीर विशेष में ही मैं हूं । यही हालत जाग्रत् में भी है । सर्ववस्तु में आत्मा होने पर भी देवदत्त अपने शरीरविशेष में ही अपने को जानता है । गुरु शास्त्र और ईश्वर की कृपा से स्वयं अभ्यासतत्पर कोई समस्त भूतों में आत्मा का दर्शन निश्चित करता है ॥३९-४१॥

अथाजुगुप्सा सिद्धा स्याज्जुगुप्सितमपश्यतः ।
सर्वात्मदर्शनं तस्माद् व्यर्थमेवेति चेन्न तत् ॥४२॥

पूर्वपक्षः—श्रुति में सर्वात्मदर्शन का फल बताया जुगुप्सा (घृणा) का अभाव । वह तो जुगुप्सित वस्तु को देखना बन्द कर दो तो भी हो जायगा उसके लिये सर्वात्मदर्शन की क्या जरूरत ? ।।४२।।

जुगुप्साऽभावशब्देन जीवन्मुक्तिसुखं श्रुतिः ।
ब्रवीत्यसुखवस्तूनां व्यावृत्त्याऽखण्डमद्वयम् ।।४३।।

उत्तरः—यहां जुगुप्साऽभाव से जीवन्मुक्ति सुख की विवक्षा है । जुगुप्सा से असुख वस्तुओं को कहकर उसकी व्यावृत्ति की गयी है ।।४३।।

प्राप्तानुवादकथनं कथं भाष्यकृतस्तदा ।
जीवन्मुक्तिसुखं नैव प्राप्तं युक्त्यादिभिर्ननु ।।४४।।
सत्यं यथाश्रुतार्थस्तु प्राप्त एव ह्यनूद्यते ।
जीवन्मुक्तिसुखं द्योत्यं तेनेत्येवाभिदध्महे ।।४५।।

यदि जुगुप्साऽभाव से जीवन्मुक्ति सुख विवक्षित है तो सर्वात्मदर्शन से जुगुप्साऽभाव का कथन प्राप्तानुवाद मात्र है यह भाष्यकारोक्ति असंगत होगी । क्योंकि सर्वात्मभाव से जीवन्मुक्ति सुख होता है यह प्राप्त नहीं है । इसका उत्तर यह कि यथाश्रुत जुगुप्साऽभाव कथन प्राप्तानुवाद है यही भाष्यतात्पर्य है । जुगुप्साऽभावोक्ति से जीवन्मुक्तिसुख द्योत्य हैं इतना ही हमारा कथन है । अतएव कोई अनुपपत्ति नहीं ।।४४-४५।।

कथं तद्द्योत्यमिति चेदुच्यते पुरुषार्थनात् ।
आत्मदर्शनसाध्यत्वकथनाच्चाजुगुप्सने ।।४६।।

द्योत्य कैसे ? इसका उत्तर है कि सुख पुरुषार्थ विषय है पुरुषार्थसिद्धि के लिये ही उपनिषत् के पास आये हैं । इसलिये यहाँ सुख ही फलविधया बोधनीय है । दूसरी बात जुगुप्साऽभाव आत्मदर्शनसाध्य कहा, इसलिये भी उक्तार्थ द्योत्य है । केवल जुगुप्साऽभाव तो अन्यथा भी सिद्ध है ।।४६।।

इति षष्ठमन्त्रभाष्यवार्त्तिकम्

—:o&o:—

यस्त्वित्याद्युक्तमन्त्रेण प्रोक्तमर्थं पुनः श्रुतिः ।
स्पष्टीकरोति तात्पर्यविभ्रमोच्छददहेतवे ।।१।।

'यस्तु सर्वाणि' इस पूर्वमन्त्र में बताये हुए अर्थ का ही अब स्पष्टीकरण होगा, इसलिए कि तात्पर्य भ्रम न हो ।।१।।

केचित्त्वात्मनि भूतानीत्याधाराधेयभावतः ।
द्वैतप्रतीतिकालीनमात्मज्ञानमुदीरितम् ।।२।।

आत्मैवाभूदिति श्रुत्या सामानाधिकरण्यतः ।
निर्धूतद्वैतविज्ञाना परावस्थेति संजगुः ॥३॥

अन्य व्याख्या :—भूतानि आत्मनि इस प्रकार आधाराधेय भाव से प्रथम-कथन हुआ । उससे द्वैतप्रतीतिकालीन आत्मज्ञान का वर्णन है । इस मन्त्र में भूतानि आत्मैव ऐसे सामानाधिकरण्य से कथन है । उससे द्वैतप्रतीतिरहित परमावस्था का वर्णन है ॥२-३॥

विवक्षाभेदतोऽवस्थाभेदाभ्युपगतावपि ।
दिदर्शयिषितं तत्त्वमेकमेव न संशयः ॥४॥

विवक्षा भेद से ज्ञान की अवस्थाओं का भेद माने जाने पर भी यहाँ प्रतिपाद्य तत्त्व तो एक ही है इसमें संशय नहीं । अतएव भाष्य में पूर्वमन्त्रार्थ ही इस मन्त्र का विषय बताया । सप्तमी का अभेद अर्थ हम दिखा भी चुके हैं ॥४॥

ॐ

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

जिस समय या जिसको आत्मसाक्षात्कार होने से सभी वस्तु आत्मस्वरूप ही हो जाते हैं उस समय उसको क्या मोह और क्या शोक रह जायेगा । अर्थात् कोई शोक मोह नहीं रहेगा क्योंकि वह एकत्व का जो दर्शन कर रहा है ॥७॥

यस्मिन् काले यथोक्ते वात्मनि सर्वाणि तानि हि ।
भूतान्यात्मैव संवृत्तो वस्तुतत्त्वं विजानतः ॥५॥
कः शोकस्तत्र को मोहो न तौ संभवतः पुनः ।
अविद्याकार्ययोर्नाम विद्यायां संभवः कथम् ॥६॥

मन्त्र में व्याख्यात अर्थ ॥५-६॥

अविद्यया भवेन्मोहो ममाहमितिलक्षणः ।
हतोऽहं हतपुत्रोऽहमिति शोकस्ततः परम् ॥७॥

अविद्या से मैं मेरा यह मोह होता है फिर हाय मर गया मेरा पुत्र मरा इत्यादि शोक होता है ॥७॥

पुनः शोकनिवृत्त्यादेः कामना जायते हृदि ।
कर्माणि कुरुते पुण्यपापरूपाणि तत्परम् ॥८॥
ततस्तत्फलसत्युग्रं पुनः संसारलक्षणम् ।
चक्रभ्रमणवन्नित्यमेवं स परिवर्त्तते ॥९॥

फिर शोकनिवृत्ति आदि के लिये कामना होती है, फिर पुण्य-पापरूपी कर्म,

फिर उसका उग्रफल पुनःसंसार इस प्रकार चक्र घूमता ही रहता है ।।९।।

अत्र मूलमविद्यैव विद्यया सा निवर्त्तते ।
तन्निवृत्तौ समूलोऽयं भव उच्छिद्यते विदः ।।१०।।

इसमें मूल अविद्या है। विद्या से अविद्या की निवृत्ति होती है तो समूल संसार का उच्छेद होता है ।।१०।।

आत्मैवाभूदिति प्रोक्तमेकत्वमनुपश्यतः ।
इति स्पष्टीकृतं ज्ञानं विद्यात्मैकत्वदर्शनम् ।।११।।

सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत् से जो बताया, एकत्वमनुपश्यतः से जिसका स्पष्टीकरण किया वह ज्ञान ही विद्या है, अर्थात् आत्मैकत्वदर्शन हि विद्या है ।।११।।

यत्तु सर्वाणि भूतानीत्युद्देश्यकथनं यदि ।
अभूवन्निति वक्तव्यमुद्देश्यगतसंख्यया ।।१२।।
भवन्ति पञ्च तरवो नौकेत्येव प्रयुज्यते ।
आत्मा तस्मादिहोद्देश्यो भूतानीति विधेयगीः ।।१३।।

पूर्वपक्षः—'सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत्' यहाँ सभी भूत आत्मा हो जाते हैं ऐसा यदि अर्थ है तब 'अभवन्' होते हैं ऐसा बहुवचन होना चाहिये परंतु यहाँ अभूत् ऐसा एकवचन है। अतः आत्मा समस्तभूत हो गया इस प्रकार आत्मा को उद्देश्य (मुख्य) रखना चाहिये।

नन्वात्मा सर्वभूतानि यदि सम्पद्यते तदा ।
भूतान्यात्मेत्यर्थसिद्धं तत्र का परिदेवना ।।१४।।
मैवं प्रपञ्चरूपेण परमात्मावलोकनम् ।
अपुमर्थमतोऽन्यार्थः कल्पनीयो भविष्यति ।।१५।।
तत्र भूतविशिष्टार्थे भूतानीति पदं भवेत् ।
सर्वभूततनुर्ह्यात्मा यस्याभूद्येन दृश्यते ।।१६।।

अवान्तर उत्तरः—आत्मा यदि सर्वभूत हुआ तो सर्वभूत तो अर्थात् आत्मा भी हो गये। इस में रोने की क्या बात ? खण्डनः—आत्मा प्रपञ्चरूप तो अभी भी है। वह पुरुषार्थ नहीं हो सकता। अतः अर्थ बदलना होगा। आत्मा प्रपञ्चविशिष्ट—प्रपञ्चशरीरक हो गया, अर्थात् सर्वभूत शरीर है उस में शरीरी के रूप में जो देखता है ऐसा अर्थ होगा ।। १४-१६ ।।

तदसद् भूतशब्दस्य विशिष्टे लक्षणा तथा ।
अभूदित्यस्य वेत्त्यर्थे क्लेशस्तत्र स्फुटस्तव ।।१७।।

उत्तरः—पूर्वपक्षी का उक्तकथन अयुक्त है। कारण उनकी व्याख्या में भूतशब्द का भूतविशिष्ट फिर भूतशरीरक अर्थ करना पड़ेगा। लक्षणा से ही

वह संभव है। और अभूत् का दर्शन अर्थ करना पड़ेगा। इस प्रकार लाक्षणिक अर्थ में महान् क्लेश होने से गौरव है ॥ १७ ॥

वचनव्यत्ययस्तस्माल्लाघवादुपगम्यते ।
एको रुद्रो द्वितीयाय न तस्थुरिति वाग्यथा ॥१८॥

अतः लाघवात् यहाँ वचनव्यत्यय-अर्थात् छान्दस एकवचन बहुवचन के स्थान में मानना चाहिये। जैसे एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः यहाँ एक वचन के बदले बहुवचन प्रयोग किया ॥१८॥

नन्वर्थगौरवं नास्ति दोषः फलमुखत्वतः ।
प्रथमं शब्दसाधुत्वमिति चेत्तन्न युज्यते ॥१९॥
उद्देश्यक्रमभङ्गोऽयं ततोऽपि प्रथमं कृतः ।
यथोद्देश्ये फलमुखं व्यत्यये गौरवं खलु ॥२०॥

पूर्वपक्षीः—प्रथम शब्द साधुत्व देखा जाता है पश्चात् अर्थ। शब्दसाधुत्व प्रथम होने पर अर्थ में लक्षणा आदि फलमुख गौरव है। और आप के मत में शब्द साधुत्वकाल में ही व्यत्यय मानना पड़ेगा अतः पूर्वगौरव है। वह दोष है।

सिद्धान्ती :—केवल शब्दसाधुत्व ही प्रथम नहीं होता किन्तु सामान्यार्थ सहित शब्दसाधुत्व ही प्रथम होता है। अन्यथा सर्वम् आनयतीति सर्वाणि, भूत-मानयतीति भूतानि इत्यादि एकवचन भी माना जा सकेगा। सामान्य अर्थ बोध प्रथम होता है उसमें फिर तात्पर्यानुपपत्ति होने से लक्षणा की जाती है। सामान्य अर्थ बोधकाल में सर्वाणि भूतानि यह प्रथम सुनते ही उद्देश्यविधया उपस्थित होगा और आत्मा यह विधेयविधया। विधेय भावप्रतीत्युत्तर अभूत् एकवचन कैसा ? इस शंका में वचन व्यत्यय होगा। परंतु आपके मत में उद्देश्य-विधेय भाव में ही क्रम भंग करने से गौरव होगा। अतः व्यत्यय फलमुख गौरव होने से अदोष है ॥१९-२०॥

ननु सामान्यबोधश्चेत्प्रथमं समुपेयते ।
विरम्यवृत्तिः शब्दानां तात्पर्याल्लक्षणा ततः ॥२१॥

शब्द से यदि सामान्य बोध पहले मानेंगे तो शब्दों की विरम्यवृत्ति होगी। अतः तात्पर्य से ही लक्षणा होती है। (तात्पर्य प्रकरणादि से अवसेय है) पूर्वपक्षी ॥

मैवं वेदे हि तात्पर्यं सामान्यार्थावबोधतः ।
उपक्रमोपसंहारप्रभृतेरित्युदीरितम् ॥२२॥

लोक में भोजनादि प्रकरण से सैन्धवमानय इत्यादि में तात्पर्यार्थ निश्चय युक्त है। परंतु वेद में उपक्रमोपसंहारादिशब्दार्थसामान्यज्ञान से ही तात्पर्य निर्णय और तदनुसार लक्षणा आदि होते हैं ॥२२॥

सामान्यार्थं परिज्ञाय मीमांसा क्रियते ततः ।
अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यन्यथा नोपपद्यते ॥२३॥

सामान्यार्थाधिगम के बाद ही मीमांसा होती है । अथातो धर्मजिज्ञासा यहां अथ का वेदाध्ययनानन्तर अर्थ है । वेदाध्ययन केवल अक्षरग्रहण नहीं किन्तु अर्थ ज्ञान भी अपेक्षित है । सामान्यार्थ ज्ञान के बाद मीमांसा से विशेषार्थ ज्ञान होता है । यदि वाक्यों की विरम्यवृत्ति न हो तो मीमांसारम्भ ही नहीं होगा ॥२३॥

विशयो हि न कुत्रापि सामान्यज्ञानमन्तरा ।
अत्र सामान्यबोधश्च श्रुत्यैवेति, विनिश्चितम् ॥२४॥

मीमांसाधिकरणों में विषय विशयादि होते हैं । विशय का अर्थ है संशय । सामान्यज्ञान के विना संशय नहीं हो सकता । अतएव न्यायवार्तिक में 'समान-धर्मादिविशिष्टधर्मिदर्शनादविशेषवति धर्मिण्येव संशयः' 'सामान्यतोऽधिगते धर्मिणि विशेषानवधारणात्मकः प्रत्ययः संशय' इत्यादि संशयपरीक्षावसर में कहा । वेदार्थ-मीमांसा में समानधर्मादिविशिष्टधर्मिज्ञान श्रुति से ही कहना होगा ॥२४॥

विरम्यवृत्त्या वाक्यानां पुनः सन्धानतोऽपि वा ।
वाक्यार्थधीः स्यात्सामान्यज्ञानं पूर्वं पुनर्ध्रुवम् ॥२५॥

वाक्यार्थनिश्चय भले विरम्य वृत्ति से मानो, भले वाक्यों के पुनरनुसन्धान से । सर्वथापि प्रथम सामान्यज्ञान होता ही है ॥२५॥

तस्मात् प्राथमिकोद्देश्यविधेयक्रमरक्षणात् ।
व्यत्ययो वचनस्यैव क्रमभङ्गो हि दुःसहः ॥२६॥

इसलिये प्रथमागत उद्देश्य विधेय क्रम रक्षा करते हुए अन्त में आये वचन का ही व्यत्यय कर लेना चाहिये । क्रम भंग अन्याय्य है । और वेद में तो व्यत्ययो बहुलं यह प्रसिद्ध होने से लौकिक वाक्य से सर्वथा तुलना नहीं होती ॥२६॥

यत्र वा सर्वमात्मैवास्याभूत्तत्केन कं श्रुतौ ।
अस्य चार्थस्य संवादो विस्पष्टमुपलक्ष्यते ॥२७॥

यत्र तु द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् इस श्रुति में इसी अर्थ का संवाद भी मिलता है । वहां द्वैत-निषेध से अर्थान्तर नहीं किया जा सकता ॥२७॥

आत्मैवेत्येवकारश्च व्यर्थ आपद्यते तव ।
न सर्वदेहवानन्यो यं तद्व्यावर्त्तयेत्पदम् ॥२८॥

परमात्मा ही सर्व शरीर विशिष्ट दीख पड़ा यहां 'ही' यह किसलिये ? क्या और भी कोई सर्वभूतशरीर दीख पड़ता है जिसकी व्यावृत्ति एवकार करेगा ?

अतः आप के मत में एवकार की व्यर्थता भी है ॥२८॥

एतदभ्युपगम्योक्तं व्यत्ययो नास्ति वस्तुतः ।
उद्देश्यवचनं बाधसमानाधिकृतौ न यत् ॥२९॥
स्थाणुः पुरुष इत्यत्र न स्थाणुः किन्त्वयं पुमान् ।
इत्यर्थे पुरुषो मुख्यस्तत्संख्याख्यातगामिनी ॥३०॥
मालासर्पादयो यस्य रज्जुरेवाभवत्ततः ।
इति प्रयोगो भवति न तु तत्राभवन्निति ॥३१॥
द्वौ चन्द्रावेक एवास्ति एकं भं द्वे स्त इत्यपि ।
वस्तुगत्यभिधानेन विधेयवचनं भवेत् ॥३२॥

वचन व्यत्यय की बात अभ्युपगमवाद है । वस्तुतः बाधसामानाधिकरण्यस्थल में विधेय गत संख्या ही आख्यात की होती है । कारण वहाँ विधेय ही मुख्य होता है । 'यह स्थाणु पुरुष ही हैं' यहां स्थाणु नहीं पुरुष है ऐसी व्याख्या है वहां पुरुष की मुख्यता स्पष्ट है । माला सर्प आदि सब रस्सी हो गयी ऐसा ही प्रयोग है न कि माला सर्पादि रस्सी हो गये । ये दो चन्द्र एक ही हैं यह एक तारा दो हैं इत्यादि प्रयोग होता है । क्योंकि वस्तुगति का यहाँ अभिधान है अतः विधेय संख्या ही होती है ॥२९-३२॥

भूतान्येकं भवन्तीति बाधस्तत्र न शाब्दिकः ।
भवन्तीति ततो युक्तं पार्ष्ठिकी बाधधीर्भवेत् ॥३३॥

सर्वाणि भूतान्येकं भवन्ति यहाँ बाध शाब्दिक न होने से बहुवचन है । वहाँ पृष्ठतः बाध बुद्धि होती है ॥३३॥

अयं स्थाणुः पुमानेवेत्येवं सर्वैः प्रयुज्यते ।
बाधिताऽपि ततो भाति संसर्गविधयाऽभिदा ॥३४॥

यह स्थाणु पुरुष ही है ऐसा सभी प्रयोग करते हैं । अतः बाधित अभेद भी विवक्षानुसार संसर्गविधया भासित होता है ॥३४॥

ईशेनाच्छादनं यद्वद्वेदीशात्मना स्थितिः ।
भूतानामात्मतापत्तिरात्ममात्रात्मना स्थितिः ॥३५॥

ईश से जगदाच्छादन ईशरूपेण स्थिति मात्र है । वैसे भूतों की आत्मता आपादन भी आत्मरूपेण अवस्थान मात्र है ॥३५॥

ब्रह्मसाक्षात्कृतावेतत् तदाह स्म विजानतः ।
अखण्डाकारवृत्तिर्हि विज्ञानं सत्यवस्तुनः ॥३६॥

ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर ही उक्त बात संभव है । अतएव विजानतः कहा ।

अखण्डाकार वृत्ति ही विज्ञान है ॥३६॥

को मोह इति चाक्षेपोऽसंभवार्थप्रदर्शकः ।
सति मूले च मोहादि नैवासंभवि संभवेत् ॥३७॥
समूलमोहशोकादिसमुच्छेदस्ततः श्रुतौ ।
विवक्षितोऽत्र मूलं चाविद्येति प्रागुदीरितम् ॥३८॥

क्या मोह क्या शोक यह आक्षेपार्थक है, असंभव सूचित करता है। परंतु मूल के रहते कार्य असंभव नहीं होता। अतएव मूल सहित शोक मोह निवृत्ति श्रुत्यभिप्रेत है। मूल अविद्या है यह हम कह आये ॥३७-३८॥

एकत्वदर्शिनो नैव शोकमोहादिसंभवः ।
अहं ममेति मोहो हा हतोस्मीत्यादि चापरः ॥३९॥

एकत्वदर्शी को शोकमोहादि नहीं हो सकता। मैं मेरा यह मोह है। हाय मर रहा हूँ इत्यादि शोक है ॥३९॥

ननु चात्मैकतावादे ह्युपदेशः कथं भवेत् ।
गुरोर्ज्ञातार्थतायां हि ज्ञातार्थः शिष्य एव यत् ॥४०॥
अनृतं स्थाणुचौरं ना-पसर्तुं वक्ति कश्चन ।
मिथ्याशिष्यं कथंकारं जानन्नुपदिशेद् गुरुः ॥४१॥

पूर्वपक्ष :—सर्वात्मैकत्व यदि मानेंगे तो गुरु शिष्य को उपदेश ही नहीं करेगा। कारण आत्मा एक होने से गुरु को ज्ञान हुआ तो शिष्य को भी ज्ञान हो ही गया। दूसरी बात, जब यह मालूम पड़ जाता है कि स्थाणु चोर मिथ्या है अर्थात् स्थाणु में दिखाई देने वाला चोर झूठा है तब उस चोर को कौन हटने को कहेगा। इसी प्रकार ब्रह्मेतर शिष्यादि झूठा मालूम पड़ गया तो फिर झूठे शिष्य को कौन उपदेश करेगा ? और गुरु तो हमेशा ज्ञानी ही होता है, उसको मालूम नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता ॥४०-४१॥

अत्रोच्यते मनःसाक्षितदाभासत्रयात्मकाः ।
गुरुशिष्यादयो भिन्नाः शुद्धस्यैकत्वमात्मनः ॥४२॥

सिद्धान्त :—जीव केवल आत्मा को नहीं कहते। किन्तु अन्तःकरण, साक्षी और आभास इन तीन के विशिष्टरूप को कहते हैं। अन्तःकरण और आभास भिन्न होने से विशिष्ट त्रितयात्मक जीवात्मा भिन्न भिन्न ही है। शुद्ध आत्मा की एकता हमने बतायी विशिष्ट आत्माओं की नहीं ॥४२॥

पृथक् पृथक् च भिन्नेषु तेष्वविद्यापि विद्यते ।
न गुर्वविद्यानाशेन शिष्याविद्या विनश्यति ॥४३॥

और उन विशिष्टरूप जीवों में अविद्या भी भिन्न-भिन्न है। अतएव गुरु की अविद्या के नाश से शिष्य की अविद्या का नाशापादन असंगत है ॥४३॥

ननु चाविद्यया जीवोऽविद्या जीवाश्रया च चेत्।
तत्रान्योन्याश्रयो दोषः, तन्नानादित्वतस्तयोः ॥४४॥

जीवों में अविद्या भिन्न-भिन्न है किन्तु अविद्या से जीव होता है, जीव होने से पहले वह अविद्या कहाँ रही? अन्योन्याश्रय दोष इस पक्ष में है। इस पूर्वपक्ष का उत्तर यह है कि जीव एवं अविद्या दोनों अनादि हैं। अविद्या से जीव बना तो क्या पहले जीव नहीं था? यदि नहीं तो विना कर्म जन्म उसका कैसे हुआ? अतः जीव एवं अविद्या दोनों अनादि हैं। जीव में अविद्या रह सकती है ॥४४॥

जीव ईशो विशुद्धा चित्तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः ॥४५॥

जीव, ईश्वर, विशुद्ध चैतन्य, जीवेश्वर भेद, अविद्या एवं अविद्याचैतन्य-सम्बन्ध ये छः अनादि हैं ऐसा पूर्वाचार्य वचन है ॥४५॥

व्यावहारिकसत्यत्वं शिष्ये दुःखे जगत्यपि।
तद्दुःखमार्जनार्थं हि कृपालुर्यतते गुरुः ॥४६॥

व्यावहारिक सत्यता शिष्य में, दुःख में एवं सारे जगत् में है। तो जिस प्रकार व्यावहारिकसत्य अपने दुःख को दूर करने के लिए गुरु ने ज्ञान प्राप्त किया वैसे शिष्य को भी तो व्यावहारिकदुःखनिवारणार्थ इच्छा होगी। तदर्थ कृपालु गुरु प्रयास किया करते हैं ॥४६॥

मिथ्यात्वं ज्ञानबाध्यत्वाज्जगतो न त्वसत्त्वतः।
न प्रातिभासिकत्वाच्च व्यावहारिकसंस्तुतेः ॥४७॥

जगत् मिथ्या इस कथन का यह अर्थ नहीं कि वह शशविषाण के समान है ही नहीं। और यह भी अर्थ नहीं कि स्थाणु पुरुष के समान प्रतिभासिक है। हम तो जगत् को व्यावहारिक सत्य मानते हैं ॥४७॥

सत्यशब्दाभिधेयत्वं जगतो मन्महे वयम्।
वाचामगोचरं ब्रह्म शब्दलक्ष्यं यतः स्थितम् ॥४८॥

हमारे मिथ्या शब्द का अर्थ आपने समझा ही नहीं। वैसे तो सत्यशब्द का एक वाच्यार्थ है और दूसरा लक्ष्यार्थ। ब्रह्म वाणी का अविषय होने से सत्य-शब्द का भी लक्ष्यार्थ ही होगा। तब सत्य शब्द का वाच्यार्थ क्या है? कहना ही पड़ेगा कि व्यावहारिक सत्य ही सत्य शब्द का वाच्यार्थ है। अतः जगत् को हम सत्य कह सकते हैं। फिर भी मिथ्या है। तब मिथ्या शब्द का अर्थ जो आप

समझते हैं वह नहीं यह निर्णीत हुआ। अर्थात् ज्ञानबाध्यत्व ही मिथ्या शब्दार्थ है ॥४८॥

ननु च ज्ञानबाध्यत्वमसिद्धं जगतीति चेत्।
मैवं श्रुतेरनुभवात् सिद्ध्यति ज्ञानबाध्यता ॥४९॥

जगत् में ज्ञानबाध्यत्व असिद्ध है, अतः मिथ्यात्व नहीं हो सकता; इस शंका का उत्तर यह है कि अनुभव से तथा श्रुति से जगत् में ज्ञानबाध्यता सिद्ध है ॥४९॥

समाधौ यमिनो ब्रह्म साक्षात्कुर्वन्ति तत्परम्।
न जगत्तत्र पश्यन्ति ज्ञानबाध्यं ततो जगत् ॥५०॥

ज्ञानी संन्यासी महात्मा समाधि में परब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं ("यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्म" इत्यादि वचन में यह स्पष्ट है) परंतु उस समय जगत् को नहीं देखते। अतएव जगत् ज्ञानबाध्य सिद्ध होता है ॥५०॥

नन्विन्द्रियाद्यभावेन समाधौ नेक्ष्यते जगत्।
न ब्रह्मण्यावृतेर्भङ्गे किमर्थं चक्षुरादिकम् ।५१॥
उपादानं प्रपश्यद्भिः कथं कार्यं न दृश्यताम्।
न मृदं किल पश्यद्भिर्घटस्तत्स्थो न वीक्ष्यते ॥५२॥

समाधि में जगत् नहीं दीखता इसका अर्थ जगत् बाधित हो गया ऐसा कैसे बोल सकते हैं? समाधिकाल में चक्षुरादि इन्द्रिय ही नहीं हैं अतः जगत् नहीं दीखता, न कि बाध होने से। इस पूर्वपक्ष का उत्तर यह है कि चक्षुरादि इन्द्रिय तथा चित्तवृत्ति घटादि के आवरण भंगार्थ हैं। आवरण हमेंशा चैतन्य का ही होता है। घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यावरण भंग होने पर चैतन्यस्फुरण होता है तब अवच्छेदक घटादि भी स्फुरित होते हैं यह सिद्धान्त प्रक्रिया है। समाधिकाल में अखण्डाकार वृत्ति से ब्रह्मचैतन्यावरण भंग हो गया। अब चक्षुरादि की जरूरत कहाँ रह गयी? अब आगे सोचिये। उपादान कारण के दीखने पर कार्य भी दीखना चाहिये। ऐसा कभी नहीं होता कि सामने घड़ा पड़ा है उसका उपादान कारण मृत्तिका दीख पड़ी और घट नहीं दीखा। प्रकृत में जगत् का उपादान कारण ब्रह्म है। समाधि में ब्रह्म दीख पड़ा तो उसी में स्थित जगत् क्यों नहीं दीखेगा? अतः मानना ही पड़ेगा कि ज्ञान से बाधित होने ही के कारण समाधि में जगत् नहीं दीखता ॥५१-५२॥

बाधितस्यानुवृत्त्या च शिष्याननुपदिशेद् गुरुः।
संस्कारादीक्ष्यते सर्वं व्युत्थितेन जगत् किल ॥५३॥

समाधि आदि में सर्वथा बाधित होने पर भी प्रारब्ध प्रयुक्त लेशाविद्या संस्काराद्युद्बोध से बाधितानुवृत्ति होती है। उस समय गुरु शिष्यों को उपदेश

भी करेगा। समाधि से व्युत्थित को जगत् दीखता है यही इसमें दृढ़तर प्रमाण है। जगत् का उपादान ब्रह्म है यह प्रथम मन्त्र व्याख्या में ही कह चुके हैं अतः यहां पुनः शास्त्रार्थ नहीं करते ॥५३॥

यत्राभूत् सर्वमात्मैव तत्पश्येत्केन कं त्विति।
श्रुतिश्च जगतो बाधमस्य सर्वस्य भाषते ॥५४॥

यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत् इत्यादि श्रुति भी जगत् का बाध बताती है ॥५४॥

व्यावहारिकसत्यत्वाद् बाधितस्यानुवर्त्तनात्।
शिष्यं गुरुर्बोधयतीत्यत्र का नाम ते व्यथा ॥५५॥

सारांश यह कि सभी जीव परस्पर भिन्न हैं। जीव, भेद तथा जगत् व्यावहारिक सत्य हैं। सुख दुःखादि यादृशसत्यपदवाच्य अन्य मानते हैं वैसा सत्यपद वाच्य है। अतएव मुमुक्षुता भी सिद्ध है। सत्यपदलक्ष्यार्थ पारमार्थिकसत्ता ब्रह्मसाक्षात्कारसमाधि में बाधित जगत् में न होने से अस्मदीय पारिभाषिक मिथ्या भी है। गुरु जब समाधि से व्युत्थित होता है तब लेशाविद्या या संस्कार से बाधित जगदनुवृत्ति होने से शिष्य एवं तदीयदुःखादि के दीखने से उपदेश भी संभव भी और सफल भी है। ऐसी स्थिति में गुरु शिष्य को प्रबोधित करता है इस अंश को लेकर आप को कौन सी व्यथा हो रही है। पूर्व पक्षियों का आक्षेपादि सभी सिद्धान्तानभिज्ञताप्रयुक्त है यह स्पष्ट है यही 'का व्यथा' से सूचित करते हैं

इति सप्तममन्त्रभाष्यवार्त्तिकम्

उपाधिसदसद्भावमुखेन प्रागुदीरितम्।
अधुना स्वेन रूपेण तत्त्वं व्यक्तमुदीर्यते ॥१॥

"तदेजति तन्नैजति" इत्यादि उपाधि के सद्भाव और असद्भाव को लेकर पहले बताया। अब उसी तत्व का अपने स्वस्वरूप से वर्णन करने जा रहे हैं ॥१॥

विरोधाभासरूपेण ब्रह्म निर्वर्णितं पुरा।
अधुना स्वेन रूपेण दर्श्यतेऽभ्रान्तबुद्धये ॥२॥

पहले चलता है नहीं चलता है इस प्रकार विरोधाभासरूप से ब्रह्म को दिखाया। स्वरूप से नहीं। कहीं इससे किसी को भ्रान्ति न हो जाय इसके लिये संप्रति अपने स्वरूप से ब्रह्म को श्रुति दिखा रही है ॥२॥

तत्त्वंपदार्थरूपाभ्यां पूर्वं यदुपवर्णितम्।
संप्रति स्वेन रूपेण तदभेदेन दर्श्यते ॥३॥

ईशावास्य में तत्पदार्थ के रूप में जिसका वर्णन किया और अनेजदेकं इत्यादि में त्वं पदार्थ के रूप में जिसका वर्णन किया उसका अपना स्वरूप जो अभेद (तत्त्वंपदार्थाभेद-असि पदार्थ) है उस रूप से सप्रति वर्णन करते हैं ॥३॥

ॐ

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू-
र्याथातथ्यतोर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

वह आत्मा व्यापक है स्वयंज्योति, शरीर रहित, व्रणरहित स्नायुशून्य, शुद्ध, पापालिप्त, सर्वदर्शी, सर्वेश्वर, सर्वोपरि स्वयंभू है। उसने संवत्सरनामक नित्य प्रजापतियों को जैसे जहां होता है वैसे नियतरूप से कार्य पदार्थों का विभाग करके दिया। अर्थात् अमुक समय के अमुक साधन से अमुक समय में अमुक फल होता है इत्यादि नियत कर दिया। जैसे इस वर्ष में बीज लगाया तो दूसरे तीसरे वर्ष में पेड तैयार होता है चौथे वर्ष में फल लगता इत्यादि तथा इस जन्म में यागादि करने से मरणोत्तर स्वर्गादि प्राप्त होता है इत्यादि ॥८॥

स पर्यगात्

पर्यगात् सर्वगः सोऽयमात्मा पूर्वोपदर्शितः।
न ह्यर्थानुभवस्तस्याऽव्यापकत्वे समञ्जसः ॥४॥

मन्त्र में 'स' का अर्थ हुआ पूर्वदर्शित स्वात्मा, 'पर्यगात्' का अर्थ है—सर्वगामी—व्यापक, आत्मा अव्यापक हो तो अर्थानुभव उपपन्न नहीं होता ॥४।

चक्षुराद्यर्थसंयोगे घटाद्याकारवृत्तितः।
चैतन्यावृतिभङ्गेन घटादिस्फुरणं भवेत् ॥५॥
नो चेत्तत्रात्मचैतन्यं कथंकारं घटः स्फुरेत्।
अहं घटं प्रपश्यामीत्येतदात्मघटान्वयात् ॥६॥

चक्षु आदि इन्द्रियों का विषयों के साथ संनिकर्ष होने पर घटाद्याकार चित्त-वृत्ति होती है। उस चित्तवृत्ति से घटावच्छिन्न चैतन्य का आवरण भङ्ग होता है तब उस अनावृत चैतन्य से घटस्फुरण होता है (अर्थात् आत्मचैतन्य सारे जगत् में व्यापक है परन्तु आवरण उस पर पड़ा हुआ है। जहां चित्तवृत्ति आ जाती है उतने अंश में आवरण दूर हो जाता है तो उतने स्थान पर आत्मा प्रकाशित होता है तो उसी चैतन्यप्रकाश से उतने स्थान की वस्तु प्रकाशित होती है) यदि

घटादि स्थान में आत्मचैतन्य न हो तो घट का स्फुरण किस प्रकार हो। "मैं घट को देख रहा हूँ" यहाँ मेरा और घट का सम्बन्ध तो होना आवश्यक है।

तन्नैजतीति नात्मायं घटादिं प्रति गच्छति।
पूर्वमर्षदिति प्राप्तिं वक्ति व्यापकता ततः ॥७॥

यह माना जाय कि हमारे शरीर से निकल कर अन्तःकरण के साथ आत्मा भी घट तक जाता है तो 'तन्नैजति' इस श्रुति से विरोध होगा। 'पूर्वमर्षत्' से प्राप्ति बतायी भी गयी। अतः अन्ततः व्यापक ही मानना पड़ेगा ॥७॥

ननु चेदात्मचैतन्यं घटादौ स्फुरणान्मतम्।
अहं घटो मयि घटो घटेऽहमिति वा भवेत् ॥८॥

पूर्वपक्षः—यदि घट के स्फुरण की अन्यथानुपपत्ति से घटादि में भी आत्म चैतन्य मानेंगे तो मैं घट हूँ या मुझमें घट है या घट में मैं हूँ इन तीन में से एक प्रतीति अवश्य होगी ॥८॥

तत्राहंकारचैतन्यमहंशब्देन भण्यते।
यथासंस्कारमेवातः प्रत्ययः संप्रजायते ॥९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
वासुदेवः सर्वमिति वस्तुतोऽस्ति त्रयं मतम् ॥१०॥

उत्तरः—'अहं' से अहंकारावच्छिन्न चैतन्य कहा जाता है। शुद्ध चैतन्य में घटादि है। शुद्ध चैतन्य से घटस्फुरण होने पर व्यवहार जैसा संस्कार है वैसा ही होगा। अर्थात् चैतन्य का अहंकार के साथ तादात्म्य से और घटादि के साथ विषयविषयिभाव से अन्वित प्रत्यय तथा व्यवहार होगा। जो पूर्व में तीन आपत्ति— "मैं घट हूँ" इत्यादि दी वे तीनों ही शुद्ध चैतन्य को लेकर इष्ट हैं। अतएव गीता आदि में—सर्वत्र मुझे, और मुझ में सर्व, सर्व मैं वासुदेव ही, इस प्रकार तीनों को स्वीकार किया ॥९-१०॥

शुक्रं

शुक्रमित्यादिकं क्लीबं लिङ्गव्यत्ययतः स्थितम्।
पुंसोपक्रमणात् पुंसा कविरित्युपसंहृतेः ॥११॥

शुक्रम् अकायम् इत्यादि लिङ्गव्यत्यय है। अर्थात् शुक्रः अकायः ऐसा पुलिंग समझना चाहिये। क्यों कि 'सः' ऐसा पुलिंग से उपक्रमण किया फिर कविः इत्यादि अन्त में भी पुंलिग प्रयोग किया ॥११॥

शुक्रः शुद्धप्रभोऽज्ञानाऽमिश्रो नित्यस्वयंप्रभः।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादौ नित्यस्फुरणलक्षणः ॥१२॥

शुचि धातुनिष्पन्न होने से पवित्र ज्योति अर्थ निकलता है। पवित्रता—शुद्धता यही कि वह अज्ञानव्यवहित नहीं, प्रकाशैकरस है। फलतः नित्यस्वयंप्रकाश है। जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति आदि स्थान तथा सर्वत्र वह नित्यस्फुरणरूपेण स्थित है

अज्ञानावरणेऽप्येव बहिरर्थेऽस्फुरन्नपि।
अन्तः स्फुरत्यसौ सर्वानज्ञातत्वेन भासयन् ॥१३॥

अज्ञानावरण से क्वचिद् बहिःस्फुरण न होने से अंदर वह स्वयंप्रकाश है और अज्ञातत्वेन सबको प्रकाशित भी करता है ॥१३॥

सुप्तोत्थितो ह्यतो ब्रूते नाहं किञ्चिदवेदिषम्।
बाह्यास्फूर्त्तेः स्वप्रभत्वादज्ञातत्वेन भासनात् ॥१४॥

अत एव सोकर उठा हुआ व्यक्ति बोलता है—मैं ने कुछ नहीं जाना। किंतु मैंने कुछ नहीं जाना इतना तो जाना, इस में 'मैं' का स्वयंप्रकाशस्फुरण है। कुछ नहीं जाना से बाह्याऽस्फूर्त्ति। किन्तु सभी अज्ञात रहा यही कुछ नहीं जाना का अर्थ है। अर्थात् अज्ञातत्वेन सबको जाना ॥१४॥

अकायम्०

अकायो देहभिन्नः स इति केचित्प्रचक्षते।
स्वप्ने स्थूलप्रतीतिर्न स्वप्रतीतिस्तु विद्यते ॥१५॥
स्वाप्नं जाग्रति नावैति स्वं त्ववैति च जाग्रति।
स्वज्ञाने सत्यपि स्थूलसूक्ष्माद्यप्रत्ययादिति ॥१६॥

अकाय शब्द का देहभिन्न अर्थ कुछ लोग करते हैं। स्वप्न में जाग्रत् शरीर की प्रतीति नहीं किन्तु अपनी प्रतीति होती है। यदि जाग्रत् शरीर और स्व एक होता तो स्वकी प्रतीति होने से जाग्रत शरीर की भी प्रतीति होती। एवं जाग्रत् में स्वप्नादिशरीर की प्रतीति नहीं होती, किन्तु स्वकी प्रतीति होती है। इससे निश्चित है कि 'स्व' भिन्न है और स्थूलादि शरीर भिन्न है। यह शरीर भिन्न होने में हेतु है ॥१५-१६॥

अव्रणास्नाविरौ स्थूलं शुद्धशब्दश्च कारणम्।
अपापेत्यादि सूक्ष्मं च विशेषेण निषिध्यति ॥१७॥

अव्रणम् अस्नाविरं इन दो विशेषणों से स्थूल शरीर का शुद्ध से कारण शरीर का अपापविद्धं से सूक्ष्म शरीर का विशेष रूप से निषेध है। अर्थात् अकायं यह शरीर सामान्य निषेध कर उसी का विशेषेण निषेध अव्रणं इत्यादि से किया।

यद्वा कायनिषेधः स्यादकायमिति शब्दतः।
कायवत्त्वनिषेधः स्यादव्रणेत्यादिशब्दतः ॥१८॥

अथवा अकायं से शरीरात्मक नहीं ऐसा निषेध किया और अव्रणं इत्यादि से शरीरवाला नहीं ऐसा निषेध किया ॥१८॥

भाष्ये त्वकायशब्देन सूक्ष्मवर्जितमीरितम् ।
स्थूलकारणयोस्तूक्तो निषेधः पूर्ववच्छ्रुतौ ॥१९॥
धर्माधर्मावात्मनीति परभ्रान्तिनिवृत्तये ।
अपापविद्धमित्युक्तमिति व्याख्योपलभ्यते ॥२०॥

भाष्य में व्याख्या दूसरे ढंग से है । अकाय पद का सूक्ष्मशरीररहित अर्थ बताया । अव्रणं अस्नाविरं से स्थूलशरीर रहित, शुद्धं से कारणशरीररहित । अपापविद्धं से सूक्ष्मशरीर रहित अर्थ इसलिये नहीं कहा क्योंकि मीमांसक वैशेषिकादि आत्मा में पुण्यपाप मानते हैं । अतः आपपविद्धं से सूक्ष्मशरीर की व्यावृत्ति नहीं हो सकती । बल्कि आपपविद्धं से आत्मा में पुण्यपाप है इस परकीय भ्रान्ति का ही निरास करना अभीष्ट है ॥१९-२०॥

ननु चात्र बहुव्रीहेः कायवर्जितमुच्यते ।
कस्य तर्हि भवन्तीमे कायाः स्थूलादिलक्षणाः ॥२१॥
यदि कायमृषात्वेनाकायत्वमभिधीयते ।
अजगत्तर्हि वक्तव्यं सर्वस्यैव मृषात्वतः ॥२२॥

पूर्वपक्ष:—यदि बहुव्रीहि करके शरीररहित अर्थ करते हैं तो आखिर ये स्थूलादि शरीर हैं किस के ? यदि स्थूलादि शरीर मिथ्या होने से शरीर रहित कहते हैं तो 'जगद्रहित' ऐसा कहना चाहिये । सारा जगत् ही मिथ्या है ॥२१-२२॥

अत्रोच्यते प्राप्तमात्रनिषेधोऽत्र विधीयते ।
शरीरवत्त्वं प्रत्यक्षात् प्राप्तं देहीति वर्णनात् ॥२३॥

उत्तर :—यहाँ आत्मस्वरूप वर्णन के लिये प्राप्तमात्र का निषेध किया जा रहा है । शरीर सम्बन्ध प्रत्यक्षतः प्राप्त है । मैं शरीरधारी हूँ चक्षुष्मान् हूँ अज्ञानी हूँ इत्यादि सबको अनुभव होता है । वैसे जगत्धारी हूँ इस प्रकार किसी को अनुभव नहीं होता । शास्त्रों में भी "शरीरस्थस्य देहिनः" "शरीरत्वाय देहिनः" "देही नित्यमवध्यः" इत्यादि वर्णन से देहवत्त्व प्राप्त है ॥२३॥

ईशवर्णनमात्रेऽत्राकायमित्याद्यसंगतम् ।
अप्राप्तत्वात्प्राप्तिसत्त्वे निषेधासंभवादिति ॥२४॥

कुछ लोग यहाँ अकायं इत्यादि ईश्वरमात्र का वर्णन मानते हैं । उनके मत में अकायं इत्यादि अप्राप्त निषेध होने से असंगत होगा । क्योंकि ईश्वर का शरीर है या नहीं यह शास्त्र से ही अवगत करना होगा । शास्त्र ने ईश्वरशरीरवर्णन

नहीं किया तो अप्राप्त निषेध यहाँ होगा। यस्य पृथिवी शरीरं इत्यादि से जो लोग पृथिवी आदि को ईश्वरशरीर मानते हैं उनके मत में निषेध संभव ही नहीं है।

न च प्राकृतकायेन रहितोऽस्तीति सांप्रतम्।
प्राकृतत्वात्पृथिव्यादेर्लक्षणायाः प्रसक्तितः ॥२५॥

प्राकृत शरीर रहित ऐसा अर्थ करना भी युक्त नहीं है। कारण शरीररूपी पृथिवी आदि प्राकृत है। और कायशब्द का प्राकृतकाय अर्थ लक्षणा से ही होगा। लक्षणा से तो कुछ भी अर्थ किया जा सकता है। परन्तु वह गत्यन्तर होने पर मान्य नहीं होता ॥२५॥

अकायम्

लिङ्गदेहविहीनत्वात्सुखदुःखादयः कुतः।
आभासोऽपि च मिथ्यैवेत्यकायमिति सूचितम् ॥२६॥

लिङ्गदेह न होने से सुखदुःखादि भी आत्मा में नहीं यह सिद्ध होता है। और अत एव आभास लिङ्गशरीर युक्त होने से मिथ्या सूचित होता है ॥२६॥

नन्वाभासमते बिम्बं प्रतिबिम्बं च भिद्यते।
भागत्यागेन तत्त्यागादकायत्वं च युज्यते ॥२७॥
प्रतिबिम्बमते बिम्बात् प्रतिबिम्बं न भिद्यते।
अकायत्वं कथं तत्र कायसंश्लेषदर्शनात् ॥२८॥

पूर्वपक्षः—आभासवाद में 'अकायं' यह विशेषण उपयुक्त है। क्योंकि उस मत में बिम्ब और प्रतिबिम्ब भिन्न होता है। प्रतिबिम्ब लिङ्गशरीर में पड़ता है अतः प्रतिबिम्ब लिङ्गशरीरसम्बन्धित होने पर भी मिथ्या होने से भाग त्याग से उसका त्याग हो जाता है इसलिये अलिंगता संभव है। परन्तु प्रतिबिम्बवादमत में बिम्ब से प्रतिबिम्ब भिन्न नहीं होता और मिथ्या भी नहीं होता उस मत में लिङ्ग शरीर सम्बन्ध स्पष्टतया होने से 'अकायं' यह विशेषण कैसे संगत होगा ॥२७-२८॥

न, द्वित्वं प्रतिबिम्बत्वं लिङ्गोपाधिवशाद्यथा।
शुद्धे प्रकल्प्यते तद्वल्लिङ्गवत्त्वं च कल्पितम् ॥२९॥

उत्तर :—प्रतिबिम्बवाद में लिङ्गशरीरोपाधि के कारण ब्रह्म में द्वित्व एवं बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव की कल्पना है। वैसे लिङ्गशरीर सम्बन्ध की भी कल्पनामात्र है।

अव्रणम्

व्रणस्नावादिमत्स्थूलमतत्त्वान्न द्विजादयः।
न तेन कर्मसम्बन्धोऽप्यधिकाराभिधोऽस्य हि ॥३०॥

व्रण स्नायु आदि स्थूल शरीर में होता है। उससे रहित होने से स्थूल शरीर वर्जित अतएव द्विजत्वादि धर्मशून्य है। अधिकाराख्य कर्मसम्बन्ध भी अतएव

नहीं है यह बात उपक्रम में बताया गया ॥३०॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयं नायं हन्ति न हन्यते ।
अव्रणत्वोक्तितः सर्वमेतादृगिह सूचितम् ॥३१॥

अव्रण कहकर अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयं इत्यादि नायं हन्ति न हन्यते इत्यादि सभी सूचित होता है ॥३१॥

अस्नाविरम्

प्राणेन्द्रियादिसहिते जीवेऽपेते यथा तरोः ।
स्नावाशोषेण शुष्यन्ति शाखा नात्मा तथाविधः ॥३२॥

प्राणेन्द्रियादिसहित जीव जब निकलता है तब स्नायु शोष होकर शाखा वृक्षादि सूख जाते हैं । परंतु आत्मा अस्नाविर होने से नहीं सूखता ॥३२॥

शुद्धम्

शुद्धमज्ञानरूपेण मलेन रहितं यतः ।
अज्ञानमपि सन्नैव कल्पितत्वान्निजात्मनि ॥३३॥

शुद्ध का अर्थ है—अज्ञानरूपी मल से रहित । अज्ञान भी सत् नहीं है, वह भी आत्मा में कल्पित है ॥३३॥

नन्वज्ञानं यदि भवेदज्ञानान्तरकल्पितम् ।
अनवस्थादयो दोषाः प्रसज्येरंस्तवेति चेत् ॥३४॥

पूर्वपक्ष :—यदि अज्ञान कल्पित है तो किस से ? दूसरे अज्ञान से ? वह दूसरा अज्ञान किस से कल्पित है । यदि तीसरे से तो इस प्रकार अनवस्था होगी ।

तन्नानादीदमज्ञानं स्वयं कल्पितमिष्यते ।
ज्ञानबाध्यत्वतः सिद्धा स्वयंकल्पितताऽस्य हि ॥३५॥

उत्तर :—यह अज्ञान अनादि है कल्पितरूप से ही सिद्ध है । अतएव स्वयं कल्पित माना जाता है । अनादित्वात् आत्माश्रय दोष नहीं है । अज्ञान बाध्य होने से कल्पितता माननी ही होगी ॥३५॥

स्वयं श्वमांसं मलिनमात्मसूर्यौ स्वयंप्रभौ ।
स्वयं पवित्रं गङ्गाम्भः स्वयंकल्पितकं तमः ॥३६॥

पात्रादि शुनमांसस्पर्श से अपवित्र होते हैं परंतु श्वमांस स्वयं अपवित्र है । सूर्य तथा आत्मा से वस्तु प्रकाशित होती है, परंतु सूर्य और आत्मा स्वयं प्रकाश है । गङ्गाजल से अन्य वस्तु पवित्र होती है । गङ्गाजल स्वय पवित्र है । वैसे अज्ञान से प्रपञ्च कल्पित होता है परंतु अज्ञान स्वयं कल्पित है ॥३६॥

विज्ञानेन निवृत्तिर्हि कल्पितस्योपपद्यते ।
सिद्धं ज्ञाननिवर्त्यत्वमज्ञानस्य प्रमाणतः ॥३७॥

ज्ञाननिवर्त्यत्व कल्पित में ही होता है। और ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितं इत्यादि वचनों से तथा युक्ति अनुभव से भी अज्ञान ज्ञाननिवर्त्य सिद्ध है। अतः कल्पित मानना पड़ेगा, अन्ततः स्वयं कल्पित ही सिद्ध होगा ॥३७॥

अपापविद्धम्

अपापेत्यत्र पापेति धर्माधर्मौ विवक्षितौ।
धर्मस्यापि च पापत्वं पापहेतुतया स्थितम् ॥३८॥
धर्मेणापि भवेज्जन्म जन्मन्यस्त्येव कर्म च।
सर्वारम्भा हि दोषेणेत्युक्तेः कर्म च दोषवत् ॥३९॥

अपापविद्धं यहां पाप पद से धर्म अधर्म दोनों विवक्षित हैं। धर्म भी पाप हेतु होने से पाप है। क्यों कि धर्म से भी जन्म होता है। जन्म होने पर कर्म भी होगा। और 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः' इस गीतावचन से कर्म मात्र में पाप दोष रहता ही है ॥३८-३९॥

तेनैव वचसा धर्मः स्वयमेव च दोषभृत्।
तथा च पापरूपत्वं धर्मस्यापि ध्रुवं स्थितम् ॥४०॥

धर्म जन्मान्तरीय पाप हेतु होने से पापशब्दलक्ष्य है इतना ही नहीं, 'सर्वारम्भा ही दोषेण" इत्यादि उक्त गीतावचन से स्वयं धर्म भी आरम्भात्मक होने से दोषयुक्त एवं पापरूप है ॥४०॥

उपक्रान्तं न सुकृतं न दुष्कृतमिति श्रुतिः।
परामृश्याह पाप्मानो निवर्त्तन्तेऽत इत्यपि ॥४१॥
अहोरात्रजरामृत्युशोकास्तत्रोदिता अपि।
पाप्मान इति भाष्योक्तेर्न विच्छिद्यान्वयो मतः ॥४२॥

छान्दोग्य में "न सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्त्तन्ते" इस प्रकार सुकृत दुष्कृत दोनों को पाप्मा पद से अनुवाद इसमें प्रमाण है। यद्यपि वहाँ पूरा मन्त्रांश इस प्रकार है—अथ य आत्मा स सेतुः ··· नैनं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते" इसमें ऐसा भी अन्वय संभव है—अहोरात्र जरामृत्यु और शोक आत्मसेतु को प्राप्त नहीं होते एवं सब पाप उससे निवृत्त होते हैं। इस प्रकार पूर्वानुवाद किये बिना ही विच्छिद्यान्वय है तथापि भाष्य में "अहोरात्राद्या उक्ता अनुक्ताश्चान्ये सर्वे पाप्मान उच्यन्ते" इस प्रकार सर्वे पाप्मानः को उक्तानुक्तानुवाद ही बताया। अहोरात्रादि कैसे पापरूप हैं इसका उत्तर "पाप्मकार्याणां" इस आनन्दगिरि टीका में सूचित हुआ है। विच्छिद्यान्वय मानने पर 'न दुष्कृतं' से गतार्थ होने से सर्वे पाप्मान

इत्यादि अंश की व्यर्थता स्पष्ट है ॥४१-४२॥

पुण्यपापादिकं सर्वं लिङ्ग एव न चात्मनि।
जरामृत्युजनुःशोकप्रभृतिश्च ततो न हि ॥४३॥

पुण्यपापादि सभी लिंगशरीर में ही हैं, आत्मा में नहीं, अतएव उसके कार्य उक्त मन्त्र में उक्त तथा अनुक्त जरा मरण जन्म शोकादि कोई भी आत्मा में नहीं है ॥४३॥

ननु नैव जडः कर्त्ताऽकर्त्तुः पुण्यादिकं कथम्।
कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्स ततः पुण्यादि तस्य हि ॥४४॥

पूर्वपक्ष:—जड कर्त्ता नहीं होता। अकर्त्ता अन्तःकरणादि में तब पुण्य पाप कैसे ? 'कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' इस अधिकरण में आत्मा को कर्त्ता बताया है। अतः पुण्य पाप भी आत्मा में ही होना चाहिये ॥४४॥

नैवं तदीयसांनिध्यादकर्त्तुरपि कर्त्तृता।
आभासस्यैव शास्त्रार्थवत्त्वात्कर्त्तृत्वमुच्यते ॥४५॥

उत्तर :—आत्मा के सांनिध्य से अकर्त्ता भी अन्तःकरणादि में कर्त्तृत्व आता है जैसे, अयस्कान्त मणि के सांनिध्य से लोहे में क्रिया होती है। 'कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' यहाँ आभास को कर्त्ता बताया, साक्षी को नहीं।

तत्राप्युपाधितोऽविद्याप्रत्युपस्थापितं मतम्।
यथा च तक्षोभयथेत्यत्र तच्च प्रदर्शितम् ॥४६॥

आभासरूपी जीवात्मा में भी उपाधि के कारण आविद्यिक कर्त्तृत्व ही है। "यथा च तक्षोभयथा" इस अधिकरण में यह स्पष्ट किया है ॥४६॥

बुद्धेर्ग्रहणशक्ती द्वे स्वच्छास्वच्छात्मिके मते।
आत्माभासाद् भवेत्स्वच्छे ज्ञानमन्यत्र च क्रिया ॥४७॥
विद्युतः किल सम्बन्धाद् व्यजने जायते क्रिया।
वर्त्तिकायां प्रकाशश्च तद्वदत्रापि बुध्यताम् ॥४८॥

बुद्धि में दो ग्रहणशक्तियाँ हैं। एक स्वच्छ और दूसरी अस्वच्छ है। स्वच्छ में चित्प्रतिबिम्ब से ज्ञान होता है। अस्वच्छ में क्रिया होती है। जैसे बिजली के सांनिध्य से पंखे में क्रिया होती है और बल्ब में प्रकाश होता है ॥४७-४८॥

ननु कर्त्तृपदं सः स्यात्पूर्वोक्तैकत्वदर्श्यसौ।
शुक्रमित्यादि कर्म स्यात् पर्यगाद् गच्छतीश्वरम् ॥४९॥

पूर्वपक्ष :—"स पर्यगाच्छुक्रं" यहां सः वह पूर्वोक्त एकत्वदर्शी शुक्रादिरूप ब्रह्म को प्राप्त होता है इस प्रकार अन्वय संभव है। तब नपुंसक का पुलिङ्ग परिणाम क्यों माना ॥४९॥

न प्राप्यप्राप्तृभावो हि द्वैते सत्येव युज्यते।
आत्मैवैक्येक्षिणो यस्य द्वैतं तस्य क विद्यते ॥५०॥

उत्तर :—प्राप्यप्रापकभाव तो द्वैत में होता है। एकत्वमनुपश्यतः आत्मैवाभूत् ऐसा जिसके लिये कहा उसको द्वैत कहां रहता है ॥५०॥

शोकमोहप्रतिक्षेपे पुरुषार्थसमापनात्।
निजानन्दातिरिक्तं किं प्राप्तव्यमवशिष्यते ॥५१॥
स्वानन्दलक्षणं चेत्तत्प्राप्तिः स्यादौपचारिकी।
घट्टकुट्यां प्रभातेन व्यर्था स्यात्कर्मकर्तृता ॥५२॥

'तत्र को मोहः कः शोकः' इस प्रकार शोकमोहनिवृत्ति होने पर पुरुषार्थ समाप्त हो जाता है। फिर स पर्यगात् से स्वात्मानन्दातिरिक्त कौन सी वस्तु प्राप्तव्यतया अवशिष्ट बतायी जा रही है। यदि कहें कि स्वात्मानन्द प्राप्ति ही स पर्यगात् में कहा जा रहा है तो इसका मतलब हुआ शुक्रं इत्यादि प्राप्तव्य आत्मानन्द का स्वरूप हुआ। परंतु आत्मा स्वयं प्राप्त होने से उसकी प्राप्ति औपचारिक ही होगी। शब्दान्तर से कहो तो 'सः' से उक्त आत्मा का ही स्वरूपवर्णन शुक्रं इत्यादि से किया। यह तो घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्त हुआ। तब कर्तृकर्मभावानुसन्धान क्लेश के विना लिङ्ग व्यत्यय से आत्मस्वरूप वर्णन ही क्यों नहीं मानते।

विशेष्यपदराहित्यादध्याहार्यं च ते भवेत्।
कविरित्यादिपार्थक्यमपि चात्रासमञ्जसम् ॥५३॥

स शुक्रादिरूपं पर्यगात् यहां शुक्रादिरूपं पर्यगात् यहाँ शुक्रादि क्या? विशेष्य वाचक पद न होने से इसका अध्याहार करना पड़ेगा। फिर कविर्मनीषी इत्यादि कुछ विशेषण कर्त्ता के साथ जोड़ना विना मतलब होगा। कविः इत्यादि का ईश्वरार्थ पक्ष में विना प्रसंग ही जीव से तुरंत ईश्वर में कूदना होगा ॥५३॥

कविः

क्रान्तदर्शी कविर्द्रष्टा नान्योऽतोऽस्तीति सर्वदृक्।
सर्वदादात्म्यतः सर्वद्रष्टृत्वमुपपद्यते ॥५४॥

कवि का क्रान्तदर्शी—सर्वद्रष्टा अर्थ है। नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा यह श्रुति कहती है कि कोई दूसरा द्रष्टा नहीं है। चैतन्य व्यापक होने से सर्वसंबन्धी है अतः सर्वद्रष्टा हो सकता है ॥५४॥

विषयत्वं हि तादात्म्यमनावृतचितो भवेत्।
नित्यानावृतचिद्रूपः सर्वद्रष्टेश्वरस्ततः ॥५५॥

नैयायिकादि मत में विषयता एक सम्बन्ध विशेष है। परंतु वेदान्तमत में

अनावृतचित्तादात्म्य ही विषयता है। ईश्वरचैतन्य नित्य अनावृतचिद्रूप होने से वह सर्वद्रष्टा है ॥५५॥

वृत्त्यानावृतचैतन्यं शारीरस्य घटादिषु।
स्वतोऽनावृतचैतन्यमीश्वरस्य घटादिषु ॥५६॥

जीवात्मा का घटादि में वृत्त्यनावृतचैतन्यतादात्म्य है और ईश्वर का स्वतः अनावृतचैतन्यतादात्म्य है ॥५६॥

मनीषी

मनीषी मनसोऽपीषी सर्वज्ञः सकलेश्वरः।
सर्वाणि ज्ञानकर्माणि प्रयोजयति यन्मनः ॥५७॥

मन के भी वह प्रेरयिता है। अतएव सर्वज्ञ तथा सर्वेश्वर है। क्योंकि मन ही समस्त ज्ञान एवं कर्मों का प्रयोजक है ॥५७॥

वासनासमुदायं हि मन आहुर्मनीषिणः।
यत्सर्ववासनायुक्तं तां मायां जगदुर्बुधाः ॥५८॥

वासनासमुदाय ही मन है और जो सर्ववासनायुक्त है वही माया है ऐसा विद्वानों ने पंचदशी आदि में कहा है ॥५८॥

मायायां भूतवस्तूनि वर्त्तन्ते वासनात्मना।
भविष्याणि च सर्वाणि तथा सत्कार्यवादिनाम् ॥५९॥

माया में भूतवस्तु सभी संस्कार रूप से रहते हैं तथा भविष्य वस्तु भी संस्कार रूप से रहते हैं। क्यों कि हम सत्कार्यवादी हैं ॥५९॥

असत्कार्यमतं सम्यग् भञ्जयामास भाष्यकृत्।
बृहदारण्यके भाष्ये तस्मात्तदुपपद्यते ॥६०॥

बृहदारण्यक भाष्य में असत्कार्यवाद निराकरण सम्यक् किया है ॥६०॥

न चानिर्वचनीयत्वं सिद्धान्तेऽभ्युपगम्यते।
कथं सत्कार्यवादित्वं भवतामिति सांप्रतम् ॥६१॥
सत्यं विषमसत्तायां सर्वानिर्वचनीयता।
समसत्ताकहेतौ तु मृदि सन् हि घटो मतः ॥६२॥

पूर्वपक्ष :—आप का अनिर्वचनीयतावाद सिद्धान्त है। सत्कार्यवाद कैसा ? समाधान :—विषमता से अनिर्वचनीयतावाद है। जैसे रज्जु में सर्प तथा परमात्मा में जगत्। परन्तु समसत्ता में मिट्टी में घट सत् ही है ॥६१-६२॥

अस्त्वनिर्वचनीयत्वं तथापि न वचःक्षतिः।
वासनात्मतया हेतौ कार्यसत्त्वं न तद्रिपुः ॥६३॥

और मृत्तिका में भिन्नाभिन्नत्वादि रूपेण अनिर्वचनीय मान लेनेपर भी पूर्वोक्त-वचन की क्षति नहीं है। वासनारूप से कारण में कार्य रहे और अनिर्वचनीय भी हो इसमें क्या विरोध है ॥६३॥

इत्थं भूतभविष्याणां मायायां वासनात्मना।
स्वात्मना वर्त्तमानानां सत्त्वात्सर्वज्ञतेषितुः ॥६४॥

इस प्रकार भूत और भविष्य वस्तु माया में वासनारूप से हैं और वर्त्तमान वस्तु स्वरूप से हैं अतएव मनःसमुदाय माया के ईषिता परमेश्वर में सर्वज्ञता स्पष्ट है ॥६४॥

सृजत्यवति हन्त्येतद् विश्वं मायावशात् पुमान्।
सर्वेश्वरत्वमप्येवं तस्य सिद्धं मनीषिणः ॥६५॥

माया से ही परमेश्वर जगत् की सृष्टि स्थिति संहार करते हैं। अतएव मनीषी की सर्वेश्वरता भी स्फुट है ॥६५॥

परिभूः

भवत्युपरि सर्वेषां परिभूः स निगद्यते।
पारमार्थिकसत्तैवोपरिसत्ता परात्मनि ॥६६॥

उपरि भवति इस अर्थ में परिभूशब्द है। सर्वोपरि सत्ता-परमार्थिक सत्ता परमात्मा में है, अतः वह परिभू है ॥६६॥

त्रिकालाबाधिता सत्ता प्रोच्यते पारमार्थिकी।
तदधीना च सर्वस्य सत्ता विश्वस्य संमता ॥६७॥

त्रिकालाबाधित सत्ता ही पारमार्थिक सत्ता है। समस्त विश्व की सत्ता तदधीन है ॥६७॥

घटादिसत्ता सोपाधितत्सत्तैव न चापरा।
उपाध्यनुविधाय्यूर्ध्वाधोभावो भणितो बुधैः ॥६८॥

घटादि की सत्ता घटाद्युपहित परमात्मसत्ता ही है दूसरी नहीं। उपाधि के अनुसार सत्ता में ऊर्ध्व अधः भाव है। जैसे शुक्तिरजत उपाधि हो तो सर्वाधः प्रतिभासिक सत्ता है। घटादिव्यावहारिक उपाधि होने पर ऊर्ध्व व्यावहारिक सत्ता है। और प्रतिभासिकत्वादिप्रयोजक उपाधि के अभाव में सर्वोर्ध्व पारमार्थिक सत्ता है ॥६८॥

विशिष्टशुद्धयोर्भेदाद्भेदेनैषा प्रतीयते।
शुद्धाधीनं विशिष्टं हीत्यधीनत्वं च युज्यते ॥६९॥

विशिष्ट और शुद्ध भिन्न होने से सत्ताभेद की प्रतीति है। और विशिष्ट शुद्धा-

धीन होने से शुद्ध के उपरिभाव और विशिष्ट में अधीनभाव भी युक्तियुक्त है।

परे तु त्रिविधा सत्ता प्रथमा पारमार्थिकी।
व्यावहारिक्यथान्या स्यात्तृतीया प्रातिभासिकी ॥७०॥
श्रेष्ठत्वात्पारमार्थिक्या उपरित्वं च युज्यते।
स्वाम्यर्थवत्प्रयुक्तोऽयं श्रेष्ठार्थेऽप्युपरियंतः ॥७१॥

अन्य विद्वान् तीन सत्ताओं को पृथक् ही मानते हैं। प्रथम पारमार्थिकी द्वितीय व्यावहारिकी तृतीय प्रातिभासिकी। पारमार्थिक सत्ता श्रेष्ठ होने से उपरि है। उपरि शब्द स्वामी अर्थ में जैसे श्रेष्ठार्थ में भी प्रयुक्त होता है। सैनिक मन्त्री आदि सब के ऊपर राजा यहां सर्व स्वामी या सर्वशासक अर्थ है जिसके अधीन अन्य सब है। सौन्दर्य में सर्वोपरि लक्ष्मी है इत्यादि में सर्वश्रेष्ठ अर्थ है ॥७१॥

स्वयंभूः

अन्यानपेक्षसत्ताकः स्वयंभूर्यो भवेत् स्वयम्।
स्वयंप्रकाशवद् ब्रह्म स्वयंसत्ताकमिष्यते ॥७२॥

अन्यनिरपेक्ष जिसकी सत्ता हो उस को स्वयंभू कहते हैं। ब्रह्म जैसे स्वयं-प्रकाश है वैसे स्वयंसत्ताक भी है ॥७२॥

मृदपेक्षा भवेत् कार्यं घटसत्ता न संशयः।
ब्रह्म नाम सदेवेदमसतः सद्भवेत् कथम् ॥७३॥

घट कार्य है अतएव घटसत्ता मृदपेक्ष है। क्यों कि कार्यसत्ता कारणसापेक्ष होती है। ब्रह्म तो सत् को ही कहते हैं। उसका भी कोई कारण होगा तो उस कारण काल में कार्य नहीं रहा ऐसा मानना होगा। 'सत् नहीं रहा' का अर्थ है असत्। असत् से भला सत् कैसे होगा। अतः ब्रह्म निरपेक्षसत्ताक है ॥७३॥

यद्वा येषामुपरि स यश्चोपरि वितिष्ठते।
स्वयमेव भवेत्सर्वं स्वयंभूस्तेन कीर्त्तितः ॥७४॥

अथवा स्वयमेव ऊपर भी और स्वयमेव नीचे भी अर्थात् कार्यकारणाकार से स्वयमेव ब्रह्म ही होता है अतः स्वयंभू है ॥७४॥

अहिकुण्डलवत्सर्वं स्वयमेव भवत्यसौ।
ध्येयो ध्याता च गन्तव्यो गन्तैवं शिष्यशासकौ ॥७५॥

'उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्' इस न्याय से ध्याता तथा ध्येय, गन्तव्य तथा गन्ता, शासनीय तथा शासक आदि सभी रूप में स्वयमेव परमेश्वर ही भेदव्यदेश वाले होते हैं। जैसे सर्प ही कुण्डलाकार होकर कुण्डली होता है ॥७५॥

याथातथ्य

यस्मिन् काले यथा ह्यर्थस्तथा तत्र भवेदिति ।
याथातथ्येन सर्वार्थान् समाभ्यो ऽव्यभजद्विभुः ॥७६॥

यथा तथा भावो यथातथ्यं ऐसा विग्रह है । जिस काल में जैसा अर्थ होता है वैसा उस समय में हो इसके लिये परमेश्वर ने समस्त कार्य पदार्थों को संवत्सरात्मक प्रजापतियों को विभाग कर दिया ॥७६॥

प्रजापतय एवात्र संवत्सरपदाः समाः ।
फलसाधनकर्माणि विभक्तानि समासु हि ॥७७॥

यहां 'समाः' से संवत्सर नामक प्रजापतियों का ग्रहण है । संवत्सरों में ही फल, साधन एवं कर्म रूपी अर्थों का विभजन है ॥७७॥

ये हि दुर्मतिदुन्दुभ्याद्याख्यसंवत्सराः स्मृताः ।
प्रजापतय उच्यन्ते शाश्वता एव ते मताः ॥७८॥

जो आजकल दुर्मति दुन्दुभी आदि नाम वाले संवत्सर चल रहे हैं वे प्रजापति हैं शाश्वत हैं ॥७८॥

स्थित्वा ह्येकैकवर्षं ते निवृत्त्य स्वाधिकारतः ।
कालान्तरे प्रवर्त्तन्ते पुनस्ते तेन शाश्वताः ॥७९॥

दुन्दुभी आदि प्रजापति एक-एक वर्ष रहकर अपने अधिकार से निवृत्त होते हैं । फिर कालान्तर में अपना समय आता है तो अधिकार पर आते हैं (अनेक वर्षों में फिर उन्हीं का टरन आता है) अत एव ये नित्य हैं ।

कर्षणं प्रथमं जातं वपनं च ततः परम् ।
फलं पश्चादिदं लोके काले नियतमीक्ष्यते ॥८०॥

प्रथम कर्षण (हल चलाना) हुआ । श्रावण में वपन हुआ भाद्रपदादि में में फल हुआ यह सब कालनियत प्रत्यक्ष है ॥८०॥

स्वर्गयागादयश्चैवं कालेषु नियतेषु हि ।
प्रवर्त्तन्ते ततोऽर्थानां काले विभजनं मतम् ॥८१॥

इसी प्रकार स्वर्ग यागादि भी नियत काल में ही होता है । (याग इस जन्म समय में, जन्मान्तर में स्वर्ग इत्यादि) अतः अर्थों का काल में विभाग अभिमत है ॥८१॥

नन्वश्विन्यादयो नित्यास्तथा प्रतिपदादयः ।
आवर्त्तन्ते हि ताश्चापि कथं नोक्ता इहेति चेत् ॥८२॥
संवत्सरोऽजायतेति नियन्तृविधया श्रुतिः ।

संवत्सरं निगदति यथाश्रुत्यवबुध्यताम् ॥८३॥

अश्विनी भरणी आदि नक्षत्र प्रतिपत द्वितीया आदि तिथि ये भी आवर्त्तमान होने से नित्य हैं। श्रुति ने उनको क्यों नहीं कहा ? इस प्रश्न का उत्तर यह कि ततः संवत्सरोऽजायत इत्यादि श्रुति में नियन्ता प्रजापति के रूप में संवत्सर का ही जन्म बताया। अतः इस बात को श्रति के आधार पर ही समझना होगा ॥

नन्वजायत रात्रीति रात्रिश्च श्रुतिभाषिता।
सत्यं नियन्तृरूपेण सर्वत्रैव समाः श्रुताः ॥८४॥

यद्यपि 'ततो रात्र्यजायत' इस प्रकार रात्रि आदि को भी श्रुति में बताया है। तथापि अर्थनियन्ता के रूप में बहुत स्थलों में संवत्सर प्रजापति का ही श्रुतियों में उल्लेख है ॥८४॥

ननु नाशवतां नैव दिनानामंशिसंभवः।
कथं संवत्सराख्योऽयमेको नाम प्रजापतिः ॥८५॥
न च वच्यमनित्यानां वर्णानां संहतिर्यथा।
वाक्यमेकं भवेद् बोधजनकं तद्वदत्र हि ॥८६॥
यत्तत्तद्वर्णसंस्कारसहिता यान्त्यवर्णधीः।
बोधिका सैव संप्रोक्ता तार्किकैर्नाक्षरव्रजः ॥८७॥

पूर्वपक्षः—संवत्सर का अर्थ है तीन सौ पैंसठ दिन। उनका एक साथ पैदा होना असंभव है। अत एव उनसे एक अवयवी भी नहीं हो सकता। तब संवत्सर नाम का प्रजापति कैसा ? यदि कहें कि वर्ण क्षण-क्षण नष्ट होता गया फिर भी अनेक वर्ण मिलकर एक वाक्य बनता है। वैसे नाशवान् दिनों से सवत्सर बन सकता है, तो उस पर वक्तव्य यही है कि नैयायिक लोग तत्तद्वर्ण के नष्ट होने से तत्तद्वर्णश्रवणजनितसंस्कारसहकृत अन्तिम वर्णज्ञान ही बोधकारण मानते हैं, न कि वर्णसमुदाय ॥८५-८७॥

किं च वर्षान्तदिवसध्वंसे ध्वंसात् कथं खलु।
संवत्सरस्य नित्यत्वं संभवेदिति चेन्न तत् ॥८८॥

दूसरी बात वर्ष के अन्तिम दिन का ध्वंस हुआ तो वर्ष का भी ध्वंस निश्चित है। तब वह शाश्वत कैसे ? ॥८८॥

संवत्सराभिमानिन्यो देवता एव शाश्वताः।
नियामकतया प्रोक्ता इति नैवास्त्यसंगतिः ॥८९॥

उत्तरः—संवत्सरसमय विनाशी होने पर भी संवत्सराभिमानी देवता यहां प्रजापति पद से विवक्षित है और वे नित्य हैं। ॥८९॥

ननु तद्देहकालस्यानित्यत्वाच्छाश्वताः कथम्।

अन्यथा शाश्वता जीवा अपि किं नु विशेषणात् ॥६०॥

पूर्वपक्षः—संवत्सर प्रजापतियों का शरीर एक वर्ष समय हुआ। शरीर नष्ट होने से प्रजापति शाश्वत कैसे? चैतन्य शाश्वत है कहो तो जीवचैतन्य भी शाश्वत है, शाश्वतीभ्यः यह विशेषण व्यर्थ ही होगा ॥६०॥

अत्रोच्यते देवता सा ममत्वं लभते तु या।
न त्वहंत्वं शरीरादावनुग्राह्येऽधिकारभृत् ॥६१॥

उत्तर :—देवता उसको कहते हैं जो ममत्वाभिमान तो शरीरादि में करता है किन्तु अहंत्वाभिमान नहीं। शरीरादि उनके अनुग्राह्य हैं। वे अधिकारवाले होते हैं। यथा हस्त का देवता इन्द्र इसका अर्थ यह कि हस्त में इन्द्र ममत्व करता है। हस्त अनुग्राह्य है। इन्द्र अधिकारवान् है। परंतु हस्त को 'यह मैं' करके अभिमान नहीं करता ॥६१॥

अहंत्वाध्यासशून्यत्वान्नैव तद्दुःखदुःखिता।

अहंत्वाध्यास नहीं होता इसलिये हस्तादि के दुःख से इन्द्र दुःखी नहीं होता। जैसे पुत्र को चोट लगती है तो उसका दर्द ममत्व करने वाले भी पिता में नहीं आता। कारण उसमें अहंत्वाध्यास नहीं है। निज शरीर में अहंत्वाध्यास है अतः उसके दुःख से स्वयं दुःखी होता है।

देहव्यावर्त्तनायैव शाश्वतीभ्यो विशेषणम् ॥६२॥

शाश्वतीभ्यः यह विशेषण देह की व्यावृत्ति के लिये है। अर्थात् कालात्मक संवत्सर की व्यावृत्ति के लिये है ॥६२॥

अनन्तवत्सरार्थाय चकारार्थान्महेश्वरः।
इत्याद्यर्थस्तु वैयर्थ्यात्समाशब्दस्य नेष्यते ॥६३॥
शाश्वताय चिरार्थायेत्युक्तावुक्तार्थलाभतः।
समाः संवत्सराख्यानप्रजापत्यर्थकं पदम् ॥६४॥
अनन्तकालपर्यन्तस्थायी नार्थश्च कश्चन।
विहितः परमेशित्रा जन्यस्यानित्यता यतः ॥६५॥

कुछ लोगों ने यहां व्याख्या की है—अनन्त वर्षों के लिये—प्राणिभोगार्थ परमेश्वर ने पदार्थों को बनाया। परंतु उस व्याख्या में संवत्सरशब्द व्यर्थ है। शाश्वताय कहने ही से उक्तार्थ लाभ होता है। और अनन्तवर्षपर्यन्तस्थायी पदार्थ अप्रसिद्ध है। क्योंकि जो उत्पन्न होता है वह नष्ट भी होता है। आकाशादि अनुत्पन्न शाश्वत मानेंगे तो व्यदघात् यह विशेषण नहीं लगेगा।

युगपच्चैव नैवार्थान् विधाय स्वपितीश्वरः।

प्रतिक्षणार्थजनुष ईशाधीनस्य दर्शनात् ॥६६॥
यदि प्रकृतिरेवेदं जनुरद्य प्रयोजयेत् ।
अनादिसिद्धा सा नूनमीशमेव विसर्जयेत् ॥६७॥

अनन्तकाल के लिये पदार्थों को अभी से या पूर्व ही बना डाला तो फिर बाद में वह ईश्वर क्या करता है? सो जाता है क्या? प्रतिक्षण पदार्थों का जन्म देखने में आता है। वह ईश्वराधीन ही मानना पड़ेगा तब अनन्त काल के लिये पदार्थों को बना छोड़ा नहीं। यदि यह कहें कि एक वार ईश्वर ने बना डाला। बाद में प्रकृति स्वयं बनाती रहेगी। जैसे एक बार गाड़ी को धक्का दिया तो फिर वहुत दूर तक गाड़ी अपने आप चलती रहेगी तो उस पर वक्तव्य यह है कि तब वह प्रकृति ईश्वर का ही विसर्जन कर डालेगी। यदि संसार और प्रकृति सादि होते तो परमेश्वर के प्राथमिक धक्के की जरूरत रहती। परन्तु प्रकृति तथा संसार अनादि होने से स्वयमेव प्रकृति से सृष्टि होती रहती। आदि सृष्टि में समीक्ष्यकारिता है तो आज की सृष्टि में भी समीक्ष्यकारिता है। अतः अनन्तकाल के लिये भोग्यपदार्थों को बना डाला ऐसी व्याख्या असंगत है ॥६६-६७॥

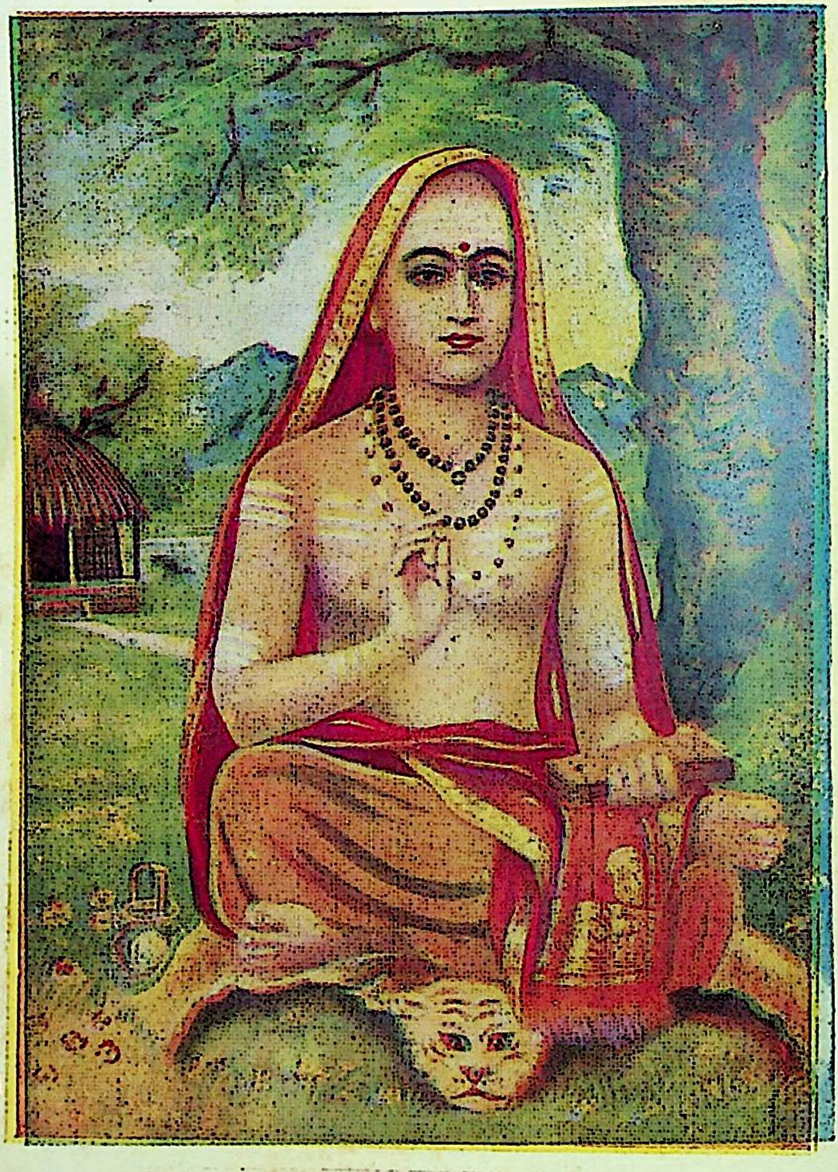
प्रजापतय एवातः समाशब्दविवक्षिताः ।
शतं समा इति प्रोक्तसंवत्सरनियामकाः ॥६८॥

इसलिये यहां समा शब्द से प्रजापति ही विवक्षित हैं। सो भी "जिजीविषेच्छतं समाः" इस प्रकार पहले कहे गये संवत्सर ही के नियामक समझने चाहिये। न कि पूरे कल्प के अधिपति प्रजापति। अतएव 'समाभ्यः' यह बहुवचन भी सुगमतया समझ में आता है। अन्यथा संवत्सर नाम के कितने प्रजापति कहाँ कहाँ रहते हैं इत्यादि बातों को लेकर अज्ञान ही छाया रहेगा ॥६८॥

इत्यष्टममन्त्रभाष्यवार्त्तिकम्

इति श्रीमज्जयमङ्गलाचार्यविरचिते ईशावास्यभाष्यवार्त्तिके प्रथमं ब्रह्मविद्याप्रकरणम् ।

—:o✲o:—



दुर्वारःखर्वगर्वाहितबुधजनतातूलवातूलवेगो,
निर्बाधागाधबोधामृतकिरणसमुन्मेषदुग्धाम्बुराशिः ।
निष्प्रत्यूहं प्रसर्पद्भवदवदहनोद्भूतसंतापमेघो,
जागर्त्ति स्फीतकीर्त्तिर्जगति यतिपतिः शंकराचार्यवर्यः ॥ (माधव)

ईशावास्योपनिषद्भाष्यम्

आनन्दगिरीयटीकया

जयमङ्गलाचार्य (स्वामी काशिकानन्द) कृत

विवरणेन च सहितम्

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

कवलितभुवनः प्रवृद्धतुन्द-व्यवधिनिलीनपदोऽनवेद्यमार्गः ।
विकटपथगतिर्मुहुः स्खलन्नः करिवदनो दिशतात्करावलम्बम् ॥ १ ॥

येनैकेन चराचरात्मकमिदं व्याप्तं जगद्व्यापिना
देवा नैव यमाप्नुवन् यदपहा लोकानसुर्यान् ययुः ।
पश्यन्तोऽखिलशोकमोहकलिलात्तेरुर्यमेव प्रभुं
तं वन्दे परमेश्वरं विभजते प्राणोऽपि यस्मिन्नपः ॥ २ ॥

भुवनमेवाण्डाकारं ब्रह्माण्डमस्य मोदकं तत् कवलितवतो मोदकं भुक्तवतो गणेशस्य तुन्द एवं प्रवृद्धो यत्तुन्दाधः पादौ न दृश्येते मार्गश्च । विकटपथे चायं गच्छतीति मुहुःस्खलत्पादोसौ ममाऽस्खलनाय करावलम्बं दद्यादिति विरोधाभासः । अथ च यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदन इति श्रुतेः कवलितभुवनः तुन्दवत्प्रवर्धमानवासनाशयेन यत्पदं यदीयस्वरूपं व्यवहितं किं च दक्षिणोत्तरमार्गेणागम्योऽसावित्यादिरर्थः ॥१॥

षड्लिङ्गोपादानं येनैकेनेत्यादि । यदित्यभ्यासः व्याप्तंव्यापिनेति च । विभजते प्राणोऽपीति । सूत्रात्मनोऽप्यारम्भो यस्मिन् सति भवति तस्य मदीयग्रन्थारम्भेऽपि प्रयोजकत्वं नितराम् ॥२॥

❀ भाष्यम् ❀

ईशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्ताः,

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

येनात्मना परेणेशा व्याप्तं विश्वमशेषतः ।
सोऽहं देहद्वयीसाक्षी वर्जितो देहतद्गुणैः ॥ १ ॥

ईशावास्यमित्यादिमन्त्रान् व्याचिख्यासुर्भगवान् भाष्यकार-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

भागीरथीव विमला निरुपप्लवा च यद्भारती सकलमोहमलं व्यपोह्य ।
शुद्धं सदाशयमदर्शयत श्रुतीनां तं भाष्यकारमनिशं शिरसा नमामः ॥ ३ ॥

ईशादिभाष्यविवृतिमानन्दगिरिनिर्मिताम्
संक्षिप्तामपि बह्वर्थां व्याचक्षे सुधियां मुदे ॥ ४ ॥
आनन्दगिरिभिस्त्यक्तं व्याख्यासापेक्षमेव च
विवृणोमि क्वचिद्भाष्य-सन्दर्भे संप्रदायतः ॥ ५ ॥
क्व भाष्यमतिगम्भीरं क्व मेऽल्पविषया मतिः
सत्संप्रदायसालम्बो ह्युत्तितीर्षुस्तथाप्यहम् ॥ ६ ॥

गुरुचरणसरोजसंनिधान-प्रशमितघोरभवोषरप्रदाहा ।
मम तु किमपि वाङ्मयव्रतीयं बुधरमणीं मृदु झंकृतिं तनोति ॥ ७ ॥

मन्त्रपदेनैव परमात्मस्मरणप्रयोजकेन मङ्गलमाचरन्नीशावास्यमित्यादिमन्त्रान् व्याख्यातुं तेषां व्याख्येयत्वं प्रथममुपपादयति भगवान् भाष्यकार **ईशावास्यमित्यादय** इति । तदिदं प्रसन्नमपि गम्भीरं दुरवगाहं भाष्यजातं सुखावगाहं संपिपादयिषुष्टीकाकारस्तन्निर्विघ्नतार्थमुपनिषदर्थोपसंहारेण मङ्गलमातनोति—**येनेति** । अत्र मङ्गलश्लोके पूर्वार्धेन तत्पदार्थः, उत्तरार्धे त्वंपदार्थः, सोऽहमित्युभयोरैक्यं च प्रदर्शितमिति शास्त्रार्थसंक्षेपः । तत्रापीशेति तत्पदवाच्यार्थः । परेणात्मनेति लक्ष्यार्थः । किं च वर्जितो देहतद्गुणैरिति निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वात् पूर्वप्राप्तं त्वंपदवाच्यार्थः, देहद्वयीसाक्षीत्यादिस्त्वंपदलक्ष्यार्थ इति विवेकः । स्पष्टोऽयमर्थ उपनिषदि तत्र तत्र ।

नन्वीशा ईशस्वरूपेण परमार्थसत्याकारेण जगद् वास्यमाच्छादनीयमिति मन्त्रे विध्यर्थे कृत्यप्रत्ययः प्रतीयते, भाष्ये च तथैव व्याख्यास्यते, तत्कथमत्र व्याप्तमिति सिद्धार्थकथनमिति चेन्न । पूर्वार्धे तत्त्वोपदेश इति स्वमतेन दोषाभावात् । किं चाऽव्यापकेनाच्छादनायोगाद् व्याप्तेरर्थलभ्यत्वाददोषः । न हि टीकाकारेण

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

एतेषां कर्मशेषत्वशङ्कां तावद्व्युदस्यति—तथा हि कर्मजडाः केचन मन्यन्ते स्म ईशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मशेषाः मन्त्रत्वाविशेषाद् इषेत्वादिमन्त्रवत्, अतः पृथक् प्रयोजनाद्यभावादव्याख्येया इति तान्

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

श्रुत्युदितविधिरनुवदितव्योऽस्ति, किन्तु श्रुत्युक्तार्थस्य जीवब्रह्मैक्यस्य मङ्गलार्थे निर्देशमात्रं कर्त्तव्यमिति। अशेषतः=अशेषाकारेण। शरीरस्य पृथिव्या व्याप्तत्वेऽपि न सर्वाकारेण, शरीरगतजलीयाद्यशानामतथात्वात्, न त्वेवं प्रकृते ईशितुरेकदेशतो व्याप्यत्वं, किं तर्हि अशेषत इति भावः। अशेषत इति स्वार्थे वा तसिः। देहत्रयीति। व्यष्टिसमष्ट्यात्मकेत्यादिः। देहत्रयोपलक्षणं वा। साक्षित्वा-देव च वर्जितो देहतद्गुणैः॥ १॥

कर्मशेषत्वशङ्कामिति। अव्याख्येयत्वापादिकामिति शेषः। तथा च व्याचि-ख्यासोः प्रथमं तद्व्युदासोऽवश्यं कर्त्तव्य इति भावः। इषे त्वादिमन्त्रवदिति। दर्शपूर्णमासयागेऽमावास्यायां प्रातर्दुग्ध्वा वत्सापाकरणं क्रियते। तदर्थं पलाशशाखा संपाद्यते। तत्र पलाशशाखाच्छेदने इषे त्वेति मन्त्रो विनियुक्तः। इषे त्वेति शाखां छिनत्तीति ब्राह्मणे, तद्विधानात्। अव्याख्येया इति। ननु कर्मशेष-त्वेऽपि कर्मोपयोगितयैव व्याख्येयत्वं भवेदिति कथं सामान्यतोऽव्याख्येयत्वमाख्या-यते ? । न च कर्मकाण्डप्रयोजनातिरिक्तप्रयोजनाभावात्, कर्मकाण्डप्रयोजनस्य च कर्मकाण्डव्याख्यानेनैवोपपत्तेरव्याख्येयत्वमुच्यते, तदुक्तं "पृथक् प्रयोजनाद्यभावात्" इतीति वाच्यम्। पृथक्प्रयोजनाभावस्याऽव्याख्येयत्वाऽप्रयोजकत्वात्। तथा सति ब्रह्मसूत्रादीनामपि उपनिषत्प्रयोजनातिरिक्तप्रयोजनाभावादव्याख्येयत्वं स्यात्। यदि च प्रयोजनविशेषवत्त्वेन ब्रह्मसूत्रादीनां व्याख्येयत्वमुच्यते तदा प्रयोजनविशेषवत्त्वेनैवे-शावास्यादिमन्त्राणामपि व्याख्येयत्वं संभविष्यतीति चेद् ? न, साधनचतुष्टयसंपन्न-स्यैव वेदान्तेषु वस्तुतोऽधिकारात् "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवा-मुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयत इति न्यायोपबृंहितश्रुतेरनुमानाच्च कर्मतो जातवैराग्यस्येशावास्यादिमन्त्राणां कर्मपरत्वे तेष्वपि प्रवृत्तिर्न स्यादिति तान् मुमुक्षून् प्रति अव्याख्येयाः स्युर्मन्त्राः। न चैवं मुमुक्षून् प्रत्यव्याख्येया इत्येव वक्तव्ये पृथक् प्रयोजनाद्यभावादव्याख्येया इत्येवं हेत्वन्तरनिर्देशपुरःसरं सामान्यतोऽव्याख्येयत्वं कथमाख्यातमिति वाच्यम्। वस्तुत उपनिषदां मुमुक्षून् प्रत्येव व्याख्येयत्वात्तेषां कृतेऽप्यव्याख्येयत्वे सिद्ध्यति सामान्यतोऽव्याख्येयतायामेव पर्यवसानात्। पृथक् प्रयोजनाद्यभावान्मुमुक्षून् प्रत्यव्याख्येया इत्येव वा टीकायोजनाऽस्त्विति सर्वमुपपन्नम्।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

अन्ये तु ईशावास्यादिमन्त्राणां कर्मशेषत्वे यथाकथंचित् सिद्धे प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वविरहादन्ततो जपार्थतायां पर्यवसानं स्यादिति हुंफडादिवदव्याख्येयत्वमेव स्यादिति टीकाकाराशयः। न चैवं पृथक् प्रयोजनाद्यभावादिति हेतूपन्यासासंगतिः, अर्थराहित्येन व्याख्याया एवासंभवात्प्रयोजनोद्देश्येन व्याख्याया दूरनिरस्तत्वाद् दूरतरनिरस्तत्वाच्चं पृथक् प्रयोजनाद्युद्देश्येनेति वाच्यम्। शरीराद्यतिरिक्तात्मज्ञानपूर्वकजपस्याधिकफलत्वं, "यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवती" ति श्रुतेरधिकफलसंपादनौपयिकत्वादर्थज्ञानस्येति व्याख्येयत्वसंभवादित्याहुः। तच्चिन्त्यम्। अधिकफलसंपादनौपयिकत्वेव तदा व्याख्येयताप्रसक्तौ सामान्यतोऽव्याख्येयत्वोक्तिसांमञ्जस्यायोगात्। "स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्, सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा" इत्येवमनर्थज्ञनिन्दापूर्वकमर्थज्ञानप्रशंसाश्रवणाच्च। अर्थ एवैतेषां मन्त्राणां नास्ति आत्मयाथात्म्यादेः शशविषाणतुल्यत्वादिति कल्पितार्थत्वमेवैतेषाम्। तज्ज्ञानं च वीर्यवत्तरताप्रयोजकमिति पृथक्प्रयोजनाद्यभावादव्याख्येया इति चेदाशयो वर्ण्यते तदा सोऽपि यथाकथंचित्साधुर्भवेदिति द्रष्टव्यम्।

भाष्ये कर्मस्वविनियुक्ता इति। अव्याख्येयत्वप्रयोजककर्मविनियोगशून्या इत्यर्थः। ननु कर्मसु विनियुक्तानामपि व्याख्येयत्वं संभवति मुमुक्षून् प्रति। यथा पुरुषसूक्तमन्त्राणां यथा वा शतरुद्रियमन्त्राणाम्। तथा हि पुरुषं ब्रह्माणं दक्षिणतः पौरुषेण नारायणेनाभिष्टौति सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपादित्यनेन षोडशर्चेने"त्यादिना पुरुषसूक्तमन्त्राणां कर्मणि विनियोगः कृतः। तथा "रुद्रो वा एष यदग्निः स एतर्हि जातो यर्हि सर्वश्चितः स यथा वत्सो जातः स्तनं प्रेप्सत्येवं वा एष एतर्हि भागधेयं प्रेप्सति तस्मै यदाहुतिं न जुहुयादध्वर्युं च यजमानं च ध्यायेच्छतरुद्रियं जुहोति भागधेयेनैवैनं शमयति नार्त्तिमार्च्छेत्यध्वर्युर्वा यजमानः" इति श्रुत्या "शतरुद्रीयं जुहोति जर्त्तिलयवाग्वा वा गवीधुकयवाग्वा वा" इत्यादिकल्पेन च शतरुद्रियमन्त्राणां कर्मणि विनियोगः कृतः। एतेषां मन्त्राणामात्मयाथात्म्यपरत्वं प्रसिद्धम्। अत एव "सुरापः स्वर्णहारी च रुद्रजापी जले स्थितः। सहस्रशीर्षाजापी च मुच्यते सर्वकिल्बिषैरि" त्यादियाज्ञवल्क्यवचनसंगतिः। "चमकं नमकं चैव पौरुषं सूक्तमेव च नित्यं त्रयं प्रयुञ्जानो ब्रह्मलोके महीयत" इति स्मृत्यन्तरम्। किं च कैवल्योपनिषदि "यः शतरुद्रियमधीते सोऽग्निपूतो भवति"—(स्वर्णस्तेयात्पूतोभवतिसुरापानात्पूतोभवतिब्रह्महत्यात्पूतोभवति) इत्यारभ्य

❈ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❈

"अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवनाशनमिति" ज्ञानहेतुत्वमुक्तम्। जाबालोपनिषदि च 'अथ हैनं ब्रह्मचारिण ऊचुः किं जप्येनामृतत्वमश्नुत इति ब्रूहीति स होवाच याज्ञवल्क्यः शतरुद्रीयेणेति एतानि ह वा अमृतस्य नामधेयानि भवन्त्येतैर्ह वा अमृतो भवती" त्यमृताभिधायकत्वमभिहितम्।

'सर्वोपनिषदां सारो रुद्राध्यायः समर्थितः
भोगार्थिनो मुमुक्षोर्वा प्रायश्चित्तार्थिनोऽपि वा
रुद्रोपनिषदं मुक्त्वा गतिरन्या न विद्यते'

इत्येवं शिवपुराणे स्पष्टमुपनिषच्छब्दव्याहारः कृतः, वार्त्तिककृद्भिश्च—रुद्रोपनिषदप्येवं स्तौति सर्वात्मकं शिवमिति। तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायेति च भाष्यकारैरपि तत्र तत्रोदाहृतः पौरुषसूक्तो मन्त्रः। प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायत इति च जीवब्रह्मैक्यं तत्रोक्तम्। तस्मात्कर्मविनियुक्तानामव्याख्येयत्वं नोपपद्येतेति चेद्? न। कर्मविनियुक्तमन्त्राणां सति संभवे कर्मसमवेतार्थस्मारकत्वेनैव सार्थक्यम्। तादृशार्थस्मारकत्वविरहे च जपमात्रार्थतया सार्थक्यमिति कर्मिसिद्धान्तादात्मयाथात्म्यप्रतिपादकत्वं न संभवति। अत एव रुद्राध्यायेऽपि रुद्रशब्दोऽग्निपर एव—'रुद्रो वा एष यदग्निरि'ति श्रुतेरिति कर्मिणः प्रतिपद्यन्ते। ननु कर्मिसिद्धान्तो यथातथा वाऽस्तु, अस्मन्मते जपाद्यर्थकतया कर्मशेषत्वेऽपि देवताधिकरणन्यायेन प्रत्यक्षादिप्रमाणाविरोधे देवताविग्रहस्वीकारवदेवात्मयाथात्म्यस्वीकारोऽपि भवितुमर्हति, किं च 'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मत' इति वदन्तः कर्ममीमांसका अपि भूतार्थवादस्य प्रमाणत्वमुररीचक्रुः। अवधारितेऽनुवादत्वोक्त्या भूतार्थवादस्यानवगतार्थप्रतिपादकत्वोपगमात्। रुद्रो वा एष यदग्निरिति तु अग्निचयनहोमविध्यर्थवादतयोक्तं न रुद्रशब्दस्याग्न्यर्थतां गमयति। रुद्रशब्दस्याग्नौ वृत्तिविरहात्। अन्यथा आदित्यो यूप इत्यत्रापि वृत्तिनिर्वचनपरतया व्याख्या स्यादित्यादित्यशब्दस्यैव यूपार्थकत्वं कल्प्येत। तथा च मन्त्राणां कर्मविनियुक्तानामपि स्वार्थपरत्वं संभवतीति चेन्न। विरोधावधारणयोर्विरहे हि देवताधिकरणन्यायेनार्थविशेषप्रामाण्यं मन्त्राणां स्यात्। आत्मयाथात्म्यस्य चैकत्वशुद्धत्वाद्वितीयत्वादेः प्रत्यक्षविरुद्धतया नात्र देवताधिकरणन्यायप्रसरावसरः। न च चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षविरोधेऽपि ज्योतिःशास्त्रेण बृहद्ग्रहस्वरूपप्रतिपादनवदनेकत्वाशुद्धत्वादिप्रत्यक्षविरोधेऽपि श्रुत्यैकत्वशुद्धत्वाद्यात्मयाथात्म्यप्रतिपादनं संभवतीति वाच्यम्। ज्योतिःशास्त्रप्रामाण्यनिश्चयेन

ॐ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ॐ

चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षविरोधपरिहारेऽपि श्रुतेरेकत्वशुद्धत्वप्रामाण्यस्याद्याप्यनिश्चयेनानेकत्वाशुद्धत्वादिप्रत्यक्षविरोधपरिहारायोगात्। अन्यथाऽऽदित्यो यूप इत्यादावपि श्रुतेः स्वार्थप्रामाण्यराजशासनेन प्रत्यक्षमेव बाध्येतेति गुणवादत्वकथैव विलुप्येत। किं च स्वर्गकामो यजेतेत्यादिश्रुत्यन्तरेणानेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादिविशिष्टात्मप्रतिपादनाच्छ्रुतिविरोधादपि न मन्त्राणामात्मयाथात्म्यप्रामाण्यं स्यात्। न च श्रुतिद्वयविरोधे उभयोः प्रामाण्याविशेषान्नात्मयाथात्म्यबाधसंभव इति वाच्यम्। उभयप्रामाण्योपगमे परस्परविरुद्धार्थतयोभयोरप्यप्रामाण्यमापद्येत। न हि घटत्वाऽघटत्वयोरेकत्र संनिवेशसंभवः। न वा षोडशिग्रहणाऽग्रहणवद्विकल्पसंभवः। क्रियायाः पुरुषतन्त्रत्वेन तत्र विकल्पसंभवेऽपि वस्तुनि विकल्पायोगात्। किं च वस्तुनि श्रुतिद्वयविरोधे प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरानुगृहीता श्रुतिः प्रत्यक्षादिविरुद्धां श्रुतिमेव बाधेत। अत एव लिङ्गप्रकरणादिप्रमाणान्तरोपोद्बलितश्रुत्यादेस्तदनुपोद्बलितश्रुत्यादितः प्राबल्यमिच्छन्ति मीमांसकशिरोमणयः। अत एवाग्नये जुष्टं निर्वपामीत्यादिमन्त्राणां दर्शपूर्णमासप्रकरणपठितत्वेन तत्प्रकरणसहकृतलिङ्गेन दर्शपूर्णमासीयपुरोडाशनिर्वपणाङ्गत्वं न तु लिङ्गसामान्येन प्रकरणान्तरीयकिंचिन्निर्वपणाङ्गत्वमिति। तथा चादित्यो यूप इत्यादौ प्रत्यक्षादिविरोधेन यथा केवल गुणवादत्वमेव न तु भूतार्थवादत्वं तथात्रापि गुणवादत्वं वा जपमात्रोपयोगीत्वेनार्थसामान्यशून्यत्वं वा शुद्धत्वादिपरित्यागेन कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविशिष्टनित्यात्मपरत्वं वा स्यात्। न चैवं शतरुद्रीयादेः कथं सर्वात्मशिवपरत्वादिकं तत्र तत्रोपपादितं संगच्छतां, कर्मविनियुक्तत्वेनोक्तत्रितयविकल्पमध्यपातावश्यकत्वादिति वाच्यम्। ईशावास्यमित्यादिभिः कर्माऽविनियुक्तमन्त्रैरेकत्वशुद्धत्वादिमत्यात्मनि सिद्धे प्रमाणान्तरविरोधविरहेण स्वार्थपरत्वस्वीकारे क्षतिविरहात्। तथा हि ईशावास्यमित्यादिभिरात्मयाथात्म्ये प्रमिते सति तद्विरोधात् प्रत्यक्षमेव चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षवदागमेन बाध्येत। यजेतेत्यादिश्रुतिरपि प्रकारान्तरेण व्यवस्थापनीया स्यात्। तत्रोपनिषदां पारमार्थिकशुद्धत्वादिप्रतिपादकत्वात् कर्मश्रुतिः पारमार्थिककर्तृत्वादितो व्यावृत्य व्यावहारिककर्तृत्वादिविषयतया व्यवतिष्ठेत। कर्मश्रुतीनां कर्मप्रतिपादनमात्रमहातात्पर्यवत्त्वेन कर्तृत्वादेः पारमार्थिकत्वव्यावहारिकत्वादिव्यवस्थापनायामौदासीन्यात्। एवं च प्रमाणान्तरविरोधपरिहाराद्देवताधिकरणन्यायेन शतरुद्रियादिमन्त्राणामप्यात्मयाथात्म्यप्रतिपादनपरत्त्वोपपत्तिः। एतदुक्तं भवति कर्माऽविनियुक्तवचोभिरेव प्रथममात्मयाथात्म्यं व्यवस्थापयितव्यं, व्यवस्थिते चात्मयाथात्म्ये कर्मविनियुक्तमन्त्रैरपि कामात्मयाथात्म्यं प्रतिपाद्यताम्। न चेशावास्यमित्यादिमन्त्राः कर्मविनियुक्ता भवन्तु, उपनिषदन्तरव्यवस्थापितात्मयाथात्म्यप्रतिपादकाश्च स्वीक्रि-

❀ आनन्दगिरिय टीका ❀

प्रत्याह—ईशावास्यमित्याद्य इति। कर्मस्वविनियुक्ता इति। इषेत्वेति शाखां छिनत्तीत्यादिवद्विनियोजकप्रमाणादर्शनात्प्रकरणान्तरत्वाच्चे-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

यन्तां, को दोष, इति वाच्यम्। उपनिषदन्तरेऽपि तृतीयोपनिषत्प्रतिपादितात्मयाथात्म्योपजीवित्वापत्तेरर्थसिद्धयसंभवात्। न च ब्राह्मणोपनिषदुपजीवित्वमस्त्विति वाच्यम्। प्रयोगसमेवतार्थाधमारकत्वस्याऽपि तुल्यत्वात्। एतेनेशावास्यादिमन्त्राणां कर्मसु विनियुक्तत्वे प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरविरोधादेकत्वशुद्धत्वाद्यर्थतः प्रच्याव्य कर्तृत्वादिविशिष्टात्मपरत्वं भवेच्चेत्कर्मस्वविनियोगपक्षेऽपि तत्समानं स्यात्। न हि कर्मस्वविनियोगमात्रेण प्रत्यक्षादिविरोधपरिहारः स्यात्। यदि च पारमार्थिकव्यावहारिकसत्ताभेदेनोभयोर्विषयभेदान्न प्रमाणान्तरविरोध इति विभाव्यते तदा कर्मसु विनियोगपक्षेऽपि उक्तव्यवस्थायाः संभवात्कथमात्मयाथात्म्यप्रतिपादनानुपपत्तिरिति परास्तम्। कर्मविनियोगे कर्मोपयोगिकर्तृत्वादिविशिष्टात्मपरत्वेनाप्युपपत्तौ प्रत्यक्षादिविरोधपरिहाराय पारमर्थिकव्यावहारिकसत्ताभेदस्यैवाभिद्धयापत्तेः।

नन्वीशावास्यादिमन्त्राणामेकत्वशुद्धत्वाद्यात्मयाथात्म्यप्रतिपादकत्वं षड्लिङ्गेनैव निश्चेतव्यम्। लिङ्गानि च कर्मसु विनियोगपक्षेऽविनियोगपक्षे च समानान्येवेति एकत्वादौ सिद्धे प्रत्यक्षादिविरोधपरिहाराय सत्ताभेदकल्पनमपि बलादापततीति कर्मस्वविनियोगसाधनं विफलमिति चेन्न। कर्मविनियोगपक्षे षड्लिङ्गस्यैव प्रत्यक्षादिविरुद्धार्थप्रतिपादकस्याप्रवृत्तेः। तात्पर्यनिर्णयार्थे हि षड्लिङ्गप्रवृत्तिः। तत्र कर्मपरत्वे सिद्धे शिथिलप्रसरं षड्लिङ्गं शीघ्रप्रवृत्तेन कर्मोपयोगिकर्तृत्वादिविशिष्टात्मबोधेन बाध्येतेति दिक्।

भाष्ये मन्त्राणां कर्मस्वविनियोगेऽकर्मशेषात्मयाथात्म्यप्रकाशकत्वं हेतुरुक्तः। स चायुक्तः। इन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यवत्या अपि ऋचः, ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठत इति श्रुत्या गार्हपत्यशेषत्वदर्शनादित्याशङ्क्य विनियोगस्य श्रुत्यैव संपादनीयत्वाच्छ्रुतिर्नास्तीत्यवचनेनैव लभ्यं स्वरसतः सिद्धत्वादित्याशयेनाह टीकाकारः—इषे त्वेति शाखां छिनत्तीत्यादि। वस्तुतस्तु नेन्द्र सश्चसि दाशुष इत्यादावपि ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठत इति श्रुत्या गार्हपत्योपस्थाने स्थितेऽसांगत्यमेवान्यार्थप्रतिपादकस्यान्यत्र विनियोगस्यायुक्तत्वादित्याशङ्क्येन्द्रशब्दस्यैव लक्षणया गार्हपत्यार्थकत्वं भट्टादिभिर्व्यवस्थापितम्। तथा च कर्माविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वमावश्यकमेव। कर्मविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वे निश्चिते तु कर्मशेषत्वशङ्कैव नोदेतुमर्हतीत्याशयमपरे दर्शयन्ति। विनियोजकप्रमाणादर्शनादिति। विनियोजकश्रुतिप्रमाणादर्शनादित्यर्थः। इषे त्वेति शाखां छिनत्तीतिवदिति दृष्टान्तानुरोधात्। तत्र हि द्वितीयाश्रुत्या

❀ भाष्यम् ❀

तेषामकर्मशेषस्यात्मनो याथात्म्यप्रकाशकत्वात् ।

❀ आनन्दगिरीयटीका ❀

त्यर्थः । श्रौतविनियोगाभावेपि बर्हिर्देवसदनं दामीत्यस्य बर्हिर्लवनप्रकाशनसामर्थ्याद्बर्हिर्लवने यथाविनियोगस्तथा कर्मशेषात्मप्रकाशनसामर्थ्येन कर्मस्वेषां विनियोग इत्यपि नाशङ्कनीयमित्याह—तेषामिति । शुद्धत्वादिविशेषणस्यात्मनः; कर्मशेषत्वे प्रमाणाभावात् ।

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

शाखाच्छेदनाङ्गत्वं मन्त्रस्य । ननु श्रुतिप्रमाणविरहस्यार्थलभ्यत्वेऽपि न श्रुतिलिङ्गे एव प्रमाणे किन्तु प्रकरणादिकमपीत्याशङ्क्य कर्मप्रकरणाऽपठितत्वं प्रत्यक्षसिद्धमेवेति तदप्यवचनलभ्यमेवेत्याशयेनाह—प्रकरणान्तरत्वाच्चेति । समिधो यजति हुं फडित्यादीनां यथा तत्तत्प्रकरणपठितत्वात्तत्तदङ्गत्वं, न तथेह, प्रकरणान्तरत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादित्यर्थः । प्रकरणाऽपठितस्य समभिव्याहारलक्षणं वाक्यमसंभावितमिति टीकाकारेणापि तदुपन्यासो न कृतः ।

श्रौतविनियोगाभावेऽपि=विनियोजकश्रुतिप्रमाणाभावेऽपि । दामीत्यस्य=दामीति मन्त्रस्य । सामर्थ्यात्=सामर्थ्यलक्षणाल्लिङ्गप्रमाणात् । यथा विनियोगः—श्रुतिकल्पनाद्वारेति भावः । कर्मशेषेति । कर्मशेषो य आत्मा तत्प्रकाशनसामर्थ्येन । तथा च जैमिनिः—पुरुषश्च कर्मार्थत्वादिति । पुरुषोऽपि शेषः, कुतः? कर्मार्थत्वात् कर्मोपयोगित्वादिति सूत्रार्थः । तथा चानारभ्याधीतं "यस्य पर्णमयी जुहूः" इति पर्णमयीत्वं सर्वत्र जुह्वां यथान्वेति तथेमे मन्त्रा अपि भवितुमर्हन्तीति भावः ।

शुद्धत्वादीति । यद्यपि शरीराद्यतिरिक्तात्मनः कर्मशेषत्वमस्ति तथापि शुद्धत्वादिवक्ष्यमाणविशेषणवत आत्मनः कर्मशेषत्वे न किंचित्प्रमाणम् । कर्तृभोक्त्रोरभावे कर्मानुपपत्तेरेव कर्मशेषत्वमात्मनः । तच्च कर्तृत्वभोक्तृत्वविशिष्टस्यैव, न तु तद्रहितस्येत्यर्थः ।

ननु कर्तृत्वभोक्तृत्वादिविशिष्टात्मतो न शुद्धस्य भेदः । न च विष्णवे शिपिविष्टायेत्यादौ विशिष्टस्य देवतात्वेऽपि शुद्धस्य यथा न देवतात्वं तथा विशिष्टस्यात्मनः कर्मशेषत्वेऽपि शुद्धस्य न तत्त्वं संभवतीति वाच्यम् । यतः शिपिविष्टत्वविशिष्टविष्णुः पृथगेव, तद्विशेषणरहितश्च विष्णुः पृथगेवेति युक्तं तत्र विशिष्टस्य देवतात्वं न तु शुद्धस्येति । न हि तत्र विशेषणप्रयुक्त एव भेदः, किन्तु विशेष्यभेदप्रयुक्तोऽपि भेदः । यथा गौरो मनुष्यः श्यामो मनुष्य इत्यत्र विशेषण-

❀ भाष्यम् ❀

याथात्म्यं चात्मनः शुद्धत्वाऽपापविद्धत्वैकत्वनित्यत्वाशरीरत्व-

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

तद्याथात्म्यं न केवलं कर्मानुपयोगि, किन्तु कर्मणा विरुध्यते चेत्याह—याथात्म्यं चेति। शुद्धोऽहं स्वभावतो, न केनापि पाप्मना विद्धः,

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

स्येव विशेष्यस्यापि भेद एव। प्रकृते च न कर्तृत्वादिविशिष्टतदविशिष्टयोर्विशेष्यभेदप्रयुक्तभेदः। किन्तु विशेषणभेदप्रयुक्त एव। तत्र विशिष्टं शुद्धं विना नोपस्थातुमर्हतीति विशिष्टस्य कर्मशेषत्वे तदन्तर्गतशुद्धस्यापि तत्त्वं दुर्वारमेव। किं च शुद्धात्मनो ज्ञानमपि कर्मोपयोगि भवितुमर्हति। दण्डविशिष्टपुरुषज्ञानं प्रति दण्डपुरुषयोः प्रत्येकज्ञानस्य कारणत्ववत् कर्तृत्वादिविशिष्टात्मज्ञानं प्रति कर्तृत्वादेरात्मनश्च ज्ञानस्य कारणत्वात् फलतः शुद्धात्मज्ञानस्य कारणतासिद्धेरिति चेन्न। विशेषणसद्भावासद्भावोभयविनिर्मुक्तविशेष्यमात्रज्ञानस्य विशिष्टज्ञानहेतुत्वेऽपि विशेषणाभावविशिष्टविशेष्यविषयकज्ञानस्य विशिष्टज्ञानहेतुत्वं नाङ्गीक्रियते। न हि देवदत्तज्ञानस्य दण्डिदेवदत्तज्ञानहेतुत्वेऽपि दण्डाभावविशिष्टदेवदत्तज्ञानं दण्डविशिष्टदेवदत्तज्ञाने हेतुर्भवितुमर्हति। एतेन कर्तृत्वविशिष्टात्मनः कर्मशेषत्वे शुद्धस्यापि तथात्वं दुर्वारमित्यपि समाहितम्। शुद्धत्वं हि कर्तृत्वाद्यभाववत्त्वं, न हि तेन रूपेण कर्मशेषता। एकस्मिन्नेव रूपभेदेन प्रतियोगितदभावयोरुपगमात्। यथा दण्डत्वेन रूपेण घटकारणत्वं द्रव्यत्वेन च घटकारणत्वाभावो दण्डे। एवं कर्तृत्वादिरूपेण कर्मशेषत्वं शुद्धरूपेण च तदभाव उपपद्यते।

किं च दण्डाभावविशिष्टपुरुषज्ञानस्य दण्डविशिष्टपुरुषज्ञाने न कारणत्वाभावमात्रम् किन्तु तद्वत्ताबुद्धिं प्रति तदभाववत्तानिश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वमेव तार्किकादिभिरप्युपगतमिति शुद्धात्मज्ञानं कर्तृत्वादिविशिष्टात्मज्ञानप्रतिबन्धकत्वात् कर्मविरोध्येवेत्याशयेनाह—तद्याथात्म्यमिति। विरुध्यते चेति। कर्मप्रयोजककर्तृत्वादिबाधात्मकत्वादिति भावः। शुद्धः=अविद्यामलरहितः—अविद्याप्रयुक्तकर्तृत्वादिरहित इति यावत्। ननु स्वभावतः कर्तृत्वादिरहितत्वेऽपि सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेनान्तःकरणगतकर्तृत्वादिप्रयोजकत्वमस्त्येव। तथा च स्वयमकर्तुरपि राज्ञः सैनिकप्रयोजकस्य सैनिकजयपराजयाश्रयत्ववदन्तःकरणकर्तृकक्रियाप्रयुक्तधर्माधर्माश्रयत्वं स्यादित्यत आह—नकेनापिपाप्मनाविद्ध इति। पाप्मना=धर्माधर्मात्मकेन। राज्ञो दृष्टान्तस्तु विषमस्तस्य साभिमानत्वात्। यथा प्रकाशयति कृत्स्नं लोकमिमं रविः, प्रवर्त्तयति च सांनिध्यमात्रान्न पुनर्लौकिकैर्दोषैर्लिप्यते तथैवायमात्मा-

❀ भाष्यम् ❀

सर्वगतत्वादि वक्ष्यमाणम्। तच्च कर्मणा विरुद्ध्यतेतियुक्त एवैषां कर्मस्वविनियोगः।

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

सर्वत्रैकोऽशरीर आकाशोपम इति जानन्न कटाक्षेणापि कर्मवीक्षते, किन्त्वापातप्रतिपत्तिरप्येतादृशी निरुणद्ध्येव कर्मप्रवृत्तिमित्यर्थः। कि

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

पीति भावः। नागन्तुकेनापि पाप्मना विद्ध इति पाठेऽन्यदीयक्रियाप्रयुक्तधर्माधर्मावागन्तुकावेवेति व्याख्या समानैव। मा भूत्स्वाभाविको दोषो वस्त्रादिवत्। आगन्तुकं तु मलिनत्वं स्यादेवेतिशङ्कायां ग्रन्थोत्थानं द्रष्टव्यम्। धर्माधर्मविरहे कुतः प्रवृत्तिनिवृत्ती स्यातामिति तात्पर्यार्थः। ननु शरीरादिकमेव प्रवर्त्ततां, भवतां च तत्रैव धर्माधर्मौ, तथापि तत्संसर्गात् प्रतिविम्ब इवोपाधिधर्माः प्रसज्यन्त इति सुखाद्यर्था प्रवृत्तिरुपपद्यते। यथा दर्पणमाजायां चारुतरंदीपशिखाप्रतिविम्बो भवत्विति दीपशिखासमुज्ज्वलीकरणमित्यत आहाशरीर इति। वस्तुतः शरीरसम्बन्धरहित इत्यर्थः। शरीरपदेन स्थूलसूक्ष्मोभयविवक्षणं द्रष्टव्यम्। यदि पुनराध्यासिकसम्बन्धेन सुखादिसम्बन्धं मनुषे तदा सर्वत्रात्मन एकत्वात्कृतेऽपि कर्मणि परकीयाधर्मादिभिर्दुःखलेपः स्यात्। न चैतदङ्गीकर्त्तुं युक्तमित्याशयेनाह—सर्वत्रैक इति। कथमिति दृष्टान्तेनाह—आकाशोपम इति। यद्वा—शुद्धः सुखदुःखादिसर्वदोषवर्जित इति प्रवृत्त्यभावे मुख्यो हेतुः। कुतः शुद्धः? यतो धर्माधर्मलक्षणेन केनापि पाप्मनाऽविद्धः। तदेव कुतः? यत एक= कर्तृकरणादिनानात्वरहितः किं चाशरीरः धर्माधर्मनिदानकर्मप्रयोजकशरीरविरहितः। कथ तर्हि सशरीरत्वादिप्रत्यय इत्यत आह—आकाशोपम इति। एकोऽप्यपरिच्छिन्नोऽपि घटाद्युपाधिभेदेन नानेव भासत इति भावः। इति जानन्= इति स्फुटं जानन्। इत्येवमपरोक्षतया जानन्निति यावत्। ज्ञानिनां कर्माऽप्रवृत्तिमुक्त्वा मुमुक्षूणामपि तामाह—किन्त्वापातेति। निरुणद्ध्येवेति। अयं भावः—यद्यपि प्रात्यक्षिकभ्रमे, परोक्षवाधनिश्चयो नार्थापहारकः सत्यपि गुडमाधुर्यज्ञाने पित्तज्वरवतः कटुकत्वानुभवात्। एवमापातज्ञानात्मकपरोक्षनिश्चयेन मुमुक्षोः कर्त्तृत्वादिसाक्षात्कारो नापहर्त्तुं शक्यते तथापि पित्तदूषणदूषितोऽपि गुडमाधुर्यज्ञानवान् शत्रवे कटुकजलं पाययितुं न गुडमाधत्ते, गुडकटुकत्वप्रत्ययेऽप्रामाण्यज्ञानात्। तथाऽऽत्मकर्त्तृत्वादिप्रत्ययवानपि आपाताऽकर्त्तृत्वादिज्ञानाहिताऽप्रामाण्यज्ञानत्वाच्च कर्त्तृत्वादिविशिष्टं कर्मोपादातुमर्हति। न च कर्मपरित्यागे प्रत्यवायप्रसङ्गेन

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

च यः कर्मशेषः स उत्पाद्यो दृष्टो यथा पुरोडाशादिः, विकार्यः सोमादिः, आप्यो मन्त्रादिः, संस्कार्यो व्रीह्यादिः। तद् उत्पाद्यादिरूपत्वं व्यापकं व्यावर्त्तमानमात्मयाथात्म्यस्य कर्मशेषत्वमपि व्यावर्त्तयति। तथा—

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

चित्ताशुद्धिवृद्धिं मन्यमानः कथं न कर्मोपाददीतापरोक्षभ्रमवानिति वाच्यम्। यतोऽपरोक्षभ्रमवानपि यद्यसौ मुमुक्षुस्तर्हि तथा प्रयतेत येन प्रत्यवायोऽपि न स्यात्कर्मप्रसक्तिश्च न भवेत्। विविदिषासंन्यासमाददीतेति यावत्। विविदिषासंन्यासे ह्याश्रमोचितानि कानिचित्कर्माणि भवन्ति। तेषु संपाद्यमानेषु न प्रत्यवायप्रसक्तिः। तानि च कर्माणि न श्रवणादिविरोधीनि कर्त्तृत्वाद्यध्यासवृद्धिकराणि वा। तत्र चासौ आत्मज्ञानमभ्यस्यति। इयमेव सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकात्मनिष्ठेति ज्ञाननिष्ठेति चाख्यायते। अत एव ज्ञाने विध्यसंभवेऽपि ज्ञाननिष्ठायां विधिः संभवतीति वक्ष्यामः। न च कर्त्तृत्वाद्यपरोक्षभ्रमवतः प्रत्यवायनिरसनतयाश्रमकर्मणि यथा प्रवृत्तिस्तथा तदध्यासप्रयुक्तसुखाद्यर्थमपि प्रवृत्तिर्भवितुमर्हति, यथा मिथ्येयं चित्रपटकन्यकेति विजानन्नपि तदवलोकनजनितमिथ्यासुखहेतवे तां वीक्षितुं प्रवर्त्तते इति वाच्यम्। यतः प्रवर्त्तन्तां नामैवंविधा मिथ्याकाममोहप्रसक्ताः स्वर्गाद्यर्थमपि कर्मसु, परं नैतावता मुमुक्षत्वं श्चालयितुं शक्यन्त इति।

यद्यप्यत्र भाष्ये तच्च कर्मणा विरुद्ध्येतेत्येवोक्तं, न तु मुमुक्षूणां कर्मप्रवृत्तिनिरोधोऽपि। तथाप्यग्रे भाष्ये मुमुक्षूणां कर्मसंन्यासोऽपि वक्ष्यत इति तदनुरोधादिहैव प्रसङ्गतष्टीकाकृता तदुपपत्तिः प्रदर्शिता। अन्यथा अत्र ज्ञानिनामेव कर्माभावस्य प्रतिपादितत्वादग्रे मुमुक्षूणां संन्यासः कथमभिधीयत इति शङ्कोदीयादिति ध्येयम्।

ननु कर्तृभोक्तृत्वाभ्यां कर्मशेषत्वं मा भूदकर्त्रभोक्त्रात्मनः, प्रकारान्तरेण तु कर्मशेषत्वं स्यात्। न हि कर्त्तृत्वभोक्तृत्वाभ्यामेव कर्मशेषत्वमिति नियमोऽस्ति कर्त्तृत्वादिहीनानामपि व्रीहिपुरोडाशादीनां कर्मशेषत्वदर्शनादित्याशङ्कामपि व्यावर्त्तयति भाष्ये न ह्येवमित्यादि। टीकायां—उत्पाद्यादिरूपत्वम् = उत्पाद्याद्यन्यतमत्वम्। कर्मशेषत्वमपीति। व्याप्यमिति शेषः। व्यावर्त्तयतीति। व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यनिवृत्तेरवश्यंभावादिति भावः।

ननु कर्मशेषत्वं नोत्पाद्याद्यन्यतमत्वव्याप्यम्। अतथाविधस्याप्यात्मनः पुरुषश्च कर्मार्थत्वादिति सूत्रेण कर्मशेषत्वाभिधानादित्याशङ्क्य कर्मार्थत्वादिति सौत्रहेतोः कर्त्तृविषया कर्मार्थत्वादित्यर्थत्वात्कर्त्तृत्वस्य चानुपदं निषिद्धत्वान्नैवमिति परिहरति भाष्ये कर्त्तृभोक्तृरूपं वेति टीकायां च समुच्चयेन वदति—तथेति। तथा

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

त्मयाथात्म्यं कर्तृभोक्तृ च न भवति, येन ममेदं समीहितसाधनं ततो मया कर्त्तव्यमित्यधिकारान्वयपुरःसरः कर्त्रन्वयः स्यादित्याह—

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

च कर्तृत्वादिरहितस्य कर्मशेषत्वमुत्पाद्याद्यन्यतमत्वव्याप्यमित्येव व्याप्तिः प्राग् विवक्षितेति न मूलशैथिल्यमिति भावः।

केचित्तु पुरुषस्यापि कर्मशेषत्वं संस्कार्यत्वाद् भविष्यतीति कर्मशेषत्वस्य उत्पाद्याद्यन्यतमत्वव्याप्यत्वमक्षतमेवेति यथाश्रुतटीकोपपत्तिः। न च व्रीह्यादिवत्प्रोक्षणाद्यसंभवात् कथमात्मनः पुरुषस्य संस्कार्यत्वमिति वाच्यम्। देवतास्मरणेन देवतासंस्कारवदात्मनोऽपि स्मरणादिना तदुपपत्तेः। न च प्रकरणादिप्रमाणसिद्धाङ्गभावानां देवतार्थकमन्त्राणां स्वसमवेतार्थस्मारकत्वेनैवार्थवत्त्वात्तादृशमन्त्रप्रयुक्तस्मरणेन देवतासंस्कारो युज्यते। आत्मार्थकमन्त्राणामीशावास्यादीनामङ्गभावस्यासिद्धत्वात्तत्प्रयुक्तस्मरणस्यात्मसंस्कारकत्वं न सम्भवति, मन्त्रान्तरं चात्मस्मारकं कर्मकाण्डे नास्तीति कथं स्मरणेन देवतावदात्मनः संस्कारोपपत्तिः। किं च पुरुषश्च कर्मार्थत्वादिति सूत्रे कर्मप्रयोजकत्वेनैव शेषत्वमुपपादितं न तु स्मरणात्मकसंस्कारविषयत्वेनेति वाच्यम्। यो हि कर्मफलेनार्थी द्विजातिरहं न काणकुब्जत्वाद्यनधिकारप्रयोजकधर्मवानित्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियत इत्येवं स्वयमेव भाष्यकृता यथादर्शितात्ममननस्य कर्मशेषत्वाभिधानादात्मनः संस्कार्यत्वोपपत्तेः। न चैवमुत्पाद्याद्यन्यतमव्याप्यत्वं कर्मशेषत्वस्याभ्युपगतं चेत्कर्तृभोक्तृरूपं वेति भाष्यग्रन्थानर्थक्यापत्तिरिति वाच्यम्। आत्मनः संस्कार्यत्वलाभायैव तदुक्तेः। यो हि कर्मफलेनार्थीत्यत्र भोक्तृत्वस्य न काणेत्यादिना कर्तृत्वस्य च प्रतिपादनदर्शनात्।

येन कर्मशेषता स्यादिति भाष्ये उत्पाद्यत्वादिकं यत्पदार्थः प्रतीयते। तत्रोत्पाद्यत्वादिकमात्मनि दूरतो निरस्तमिति तेन कर्मशेषत्वप्रसञ्जनमतिरथवीय इति कृत्वा टीकाकारः कर्तृभोक्तृरूपं वेत्यंशमात्रं यत्पदार्थत्वेन मुख्यतया गृहीत्वा व्याचष्टे—येन ममेदमित्यादि। येन=कर्तृभोक्तृरूपत्वेन। ममेदं समीहितसाधनमित्यधिकारस्वरूपकथनम्। कर्मजन्यफलस्वाम्यं ह्यधिकारो ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादौ। तदेव भोक्तृत्वं नाम। तज्ज्ञानपूर्वक कर्तृत्वं भवति तदाह—ततो मया कर्त्तव्यमिति। ततः=मदीयसमीहितसाधनत्वात्। इत्यधिकारान्वयपुरःसरः कर्त्रन्वयः कर्मशेषताप्रयोजकः कर्मणि स्यादिति योजना। तथा च कर्तृ भोक्तृ च न भवतीति सामान्योक्तिष्टीकायाम्। ज्योतिष्टोमादिकर्माणि चाधिकारान्वयपुरःसरकर्त्रन्वयाभाव इति विशेषोक्तिः। सामान्याभावे विशेषाभावनैयत्यात्।

❀ भाष्यम् ❀

न ह्येवंलक्षणमात्मनो याथात्म्यमुत्पाद्यं विकार्यमाप्यं संस्कार्यं कर्त्तृभोक्तृरूपं वा येन कर्मशेषता स्यात् ।

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

नह्येवमिति । ननूपनिषदां जपोपयोगित्वादन्यस्य च प्रमाणस्याद-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

ननु यथोक्तमात्मयाथात्म्यं यदि क्वचिदस्तित्वं लभते तदा तत्प्रतिपादकत्वेन कर्मविरोधः प्रसज्यते । परं तस्मिन्नेव प्रमाणं नास्ति । न चोपनिषदेव तत्र प्रमाणमिति वाच्यम् । उपनिषद आत्मयाथात्म्यप्रकाशकत्वेऽकर्मशेषत्वमकर्मशेषत्वे चात्मयाथात्म्यप्रकाशकत्वमित्यन्योन्याश्रयात् । न चाकर्मशेषत्वसिद्धिर्नात्मयाथात्म्यप्रकाशकत्वोपपादिका, तत्प्रकाशकत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति वाच्यम् । कर्मशेषत्वे सति आत्मयाथात्म्यप्रकाशकानां कर्मशेषत्वासंभवेन बलात्तत्तात्पर्यशून्यत्वमुररीकर्त्तव्यम् । तत्तात्पर्यशून्यत्वे च कथं तत्प्रकाशकत्वं प्रत्यक्षसिद्धमित्युपगन्तुं शक्यं स्यादित्याशयेन शङ्कते—नन्विति । ननु कर्मशेषत्वं कर्मसमवेतार्थप्रकाशकत्वेन वक्तव्यम् । कर्मसमवेतार्थश्च कर्त्तृभोक्तृरूप आत्मा भवितुमर्हति, तदुक्तं प्राक् कर्त्तृभोक्तृरूपंवेति । एवं चात्राप्यन्योन्याश्रयः समानः । कर्मसमवेतकर्त्रादिरूपात्मप्रतिपादकत्वे सिद्धे कर्मशेषत्वम् । कर्मशेषत्वे सिद्धे सति शुद्धत्वापापविद्धत्वादिलक्षणात्मयाथात्म्यात् प्रच्याव्य कर्मसमवेतकर्त्रादिरूपात्मप्रतिपादकत्वमिति । तथा चान्योन्याश्रयात्कर्मशेषत्वासिद्धौ स्वार्थप्रच्यवायोगादात्मयाथात्म्यप्रतिपादकत्वं प्रत्यक्षसिद्धमिति पूर्वोपदर्शितमेव बलीयस्तिष्ठतीत्याशङ्कायां न केवलं कर्मसमवेतार्थप्रतिपादकत्वेनैव मन्त्राणां कर्मशेषत्वनियमः । हुं फडादिषु तददर्शनात् । किन्तु जपोपयोगित्वेनापीत्याशयेन पूर्वपक्षी परिहरति—जपोपयोगित्वादिति ।

अथ श्रुतिलिङ्गाद्यन्यतमप्रमाणविरहात् कथं जपोपयोगितया कर्मशेषत्वम् । न चात्र कर्मशेषत्वं नोच्यते, किन्तु जपोपयोगित्वेनात्मयाथात्म्यपरत्वविरहमात्रमभिधीयत इति वाच्यम् । आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानामिति न्यायेन क्रियान्वयविरहिणो जपोपयोगित्वेन सार्थक्यानुपपत्तेरिति चेन्न । उक्तन्यायेनैवात्मयाथात्म्यस्य क्रियानुपयोगितयामन्त्राणां तदर्थतात्पर्यासंभवाद यथाकथंचित्स्थानप्रमाणेन सर्वकर्मान्तपठिततया सर्वकर्मशेषत्वं जपोपयोगितयेति कल्पनीयत्वादिति जरज्जडमीमांसकसिद्धान्तस्यात्रोक्तत्वात् ।

अथ जपोपयोगित्वेन कर्मशेषतां प्रतिपद्यन्तां मन्त्राः, आत्मयाथात्म्यमपि स्वार्थविषया प्रकाशयन्तां, कोऽत्र विरोधः । न हि जपार्थानां मन्त्राणां सर्वथाऽर्थशून्यत्व-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

मिति नियमोऽस्ति । हुं फडादीनां तथात्वेऽपि अहमन्नमहमन्नमित्यादीनामर्थवतामपि जपार्थत्वदर्शनात् । न चात्रात्मयाथात्म्यलक्षणार्थावगमे कर्मैव न स्यादित्युक्तो दोष इति वाच्यम् । अर्थज्ञानशून्यः कर्मी जपार्थतया मन्त्रानुपयुञ्ज्ताम , इतरश्चात्मयाथात्म्यं प्रतिपद्यतामिति व्यवस्थायाः सुवचत्वादिति चेन्न । स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यध्ययनविधेः संभवति दृष्टफलकत्वेऽदृष्टफलकल्पनाऽयोगादर्थज्ञानस्य च दृष्टफलत्वादीशावास्यादिमन्त्रानधीयानस्यात्मयाथात्म्यज्ञानावश्यंभावादर्थज्ञानशून्यो जपार्थतया मन्त्रानुपयुञ्ज्तामिति कल्पस्य स्वीकर्त्तुमशक्यत्वात् । न चैवं पुरुषसूक्तादिमन्त्राणामपि कर्मविनियोगो न स्यात् पुरुष एवेदं विश्वमित्येवं कर्त्तृकर्मभावोपमर्दकसर्वात्मज्ञाने सति कर्मानुपपत्तेरिति वाच्यम् । "पुरुषं ब्राह्मणमभिष्टौति षोडशर्चनेति विधिसामर्थ्यादेवार्थज्ञानं विनापि तस्य जपार्थत्वसिद्धिः । तथा हि सहस्रशीर्षेत्यादिषोडशर्चमध्येतव्यमित्येवं स्वाध्यायविधिना बोधिते किं तस्य फलमितिजिज्ञासायामुपस्थितमपि दृष्टफलं प्रबाध्याभिष्टौतीति श्रुतिरभिष्टवनफलं बोधयिष्यति । श्रुत्युक्तफलस्य दृष्टफलतोऽपि नेदीयस्त्वात् । अन्यथा यजेतेत्यादि विधावपि यजनस्य शीतनिवारणादिकं दृष्टफलं स्वीकर्त्तव्यं स्यान्न तु स्वर्गादिकमदृष्टम् । तस्मात्कर्मशेषतया नारायणाभिष्टवनस्यात्मयाथात्म्यज्ञाने सत्यसंभवात्तत्रार्थज्ञानशून्यस्य अभिष्टवनार्थतयोपयोगित्वं मन्त्राणामवगम्यते । प्रकृते जपविधायिका न काचन प्रत्यक्षश्रुतिरस्ति । यावच्च स्थानादिप्रमाणेन सा कल्प्यते तावदध्ययनविधिर्दृष्टफलेनार्थज्ञानेन संयुक्तो भवतीत्यर्थज्ञानशून्यस्य जपार्थतां व्यावर्त्तयिष्यति । न चापातार्थज्ञाने सत्यपि कर्म संभवितुमर्हति, दृश्यन्ते ह्यापातात्मयाथात्म्यज्ञानिनोऽपि कर्मणि प्रवृत्ता इति वाच्यम् । मीमांसितार्थज्ञानपर्यन्तस्य विधिविषयत्वात् । अन्यथाऽध्ययनविधिबलेन मीमांसाशास्त्रारम्भणीयत्वासिद्धेर्धर्मजिज्ञासाधिकरणविरोधापत्तेः । मीमांसितात्मयाथात्म्यज्ञानसमुद्भवे च कथं कर्म घटताम् ।

ननु मीमांसितात्मयाथात्म्यज्ञानमपि न कर्मविरोधि । अन्यथा अथातो धर्मजिज्ञासेत्यनेन गतार्थत्वाद् ब्रह्मजिज्ञासाधिकरणं न प्रवर्तेत । न च साध्यार्थविषया धर्ममीमांसा सिद्धार्थविषया च ब्रह्ममीमांसेति कथं धर्ममीमांसया ब्रह्ममीमांसाया गतार्थत्वमिति वाच्यम् । अक्रियार्थानामानर्थक्यमतदर्थानामित्यप्रामाण्यापत्तिवारणाय धर्ममीमांसकैरपीशावास्यादिमन्त्राणां मीमांसनीयत्वात्तन्मीमांसायां चात्मयाथात्म्यस्यावश्यमर्थस्योपस्थितेः । तथा चैतत्सिद्धं भवति यद् न्यायमात्रेण मीमांसितार्थविषयकज्ञानं न कर्मविरोधि, साधनचतुष्टयसंपत्तिपूर्वकं मीमांसितार्थविषयकमात्मयाथात्म्यज्ञानं तु तथा । इत्थं चाथातो धर्मजिज्ञासेतिसूत्रविषयमीमांसासंपादितेशावास्यादिमन्त्रार्थनिश्चयस्य कर्माविरोधित्वाज्जपार्थत्वमपि भविष्यति

❀ भाष्यम् ❀

सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैवोपक्षयात् । गीतानां

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

र्शनान्नास्त्येवैतादृशमात्मयाथात्म्यं, तत्राह—सर्वासामिति यत्परः

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

आत्मयाथात्म्यविषयकत्वमपि भविष्यतीति कथं जपार्थत्वे आत्मयाथात्म्यपरत्वाभावः सेत्स्यतीति चेन्न । अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यत्राथशब्दस्याधिकारनिरूपणपरत्वेन व्याख्यानात्साधनचतुष्टयसंपन्नस्यैव ब्रह्ममीमांसायामधिकारनिश्चयात्साधनचतुष्टयसंपन्न-संपादितब्रह्ममीमांसाजन्यात्मयाथात्म्यज्ञानस्य च कर्मविरोधावश्यंभावाज्जपार्थत्वं मन्त्राणामात्मयाथात्म्यविषयकत्वं चेत्यस्यानुपपत्तेः । यत्त्वक्रियार्थानामानर्थक्यापत्ते-रथातोधर्मजिज्ञासेतीशावास्यादिमन्त्राणामपि मीमांसा विहितेति जपार्थत्वात्मयाथा-त्म्यार्थकत्वयोरविरोध इति तन्न । अथातोधर्मजिज्ञासेति साध्यार्थमात्रविषयकमीमां-सोक्तेः । तदुक्तं चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति । न चेशावास्यादिमन्त्राणां सा-ध्यार्थप्रतिपादकत्वमिति धर्मजिज्ञासाविध्यविषयत्वमेव । आनर्थक्यमतदर्थानामिति च संभवत्तदर्थानामतदर्थत्व आनर्थक्यप्रतिपादनपरम् । न तु सर्वेषाम् ।

नन्वेवमपि पुरुषसूक्तादिमन्त्राणामभिष्टवनार्थत्वेन कर्मार्थत्वनिश्चयात्तदर्थ-मीमांसाया अवश्यकर्त्तव्यत्वादात्मयाथात्म्यार्थवत एव जपार्थत्वमागतमिति जपोप-योगिन आत्मयाथात्म्यपरत्वं नास्तीति नोपपद्येतेति चेन्न । यतो न वयं जपार्थताया आत्मयाथात्म्यार्थकतायाश्च परस्परं विरोधं ब्रूमः । किं तर्हि, जपार्थानामात्मयाथात्म्ये प्रामाण्यं व्यामेधामः । कर्मसमवेतार्थपरत्वशङ्कयाऽप्रामाण्यसंशयात् । मीमांसयाऽ-प्रामाण्यसंशयविघटनेनार्थनिश्चयः क्रियतामिति चेन्न । मीमांसया सिद्धार्थविषयक-त्वनिश्चये साध्यशेषत्वासिद्धेः । पुरुषसूक्तादिमन्त्राणां तु विधिबलात्साध्यशेषत्वम् ।

अन्यस्य प्रमाणस्यादर्शनादिति । अत एवोपनिषदाअपूर्वमात्मतत्त्वं व्यपदिशन्ति ।

अन्यस्य प्रमाणस्यादर्शनादेवानधिगतार्थप्रतिपादकत्वेन परमं प्रामाण्यमुपनिष-दामात्मयाथात्म्ये । न ह्यन्यलभ्यात्मयाथात्म्यप्रतिपादकत्वेन वेदानां प्रामाण्यं केनापि साधयितुं शक्यम् । तथा सत्यनुवादकतयैवाप्रामाण्यध्रौव्यापत्तेः । तस्मादन्यालभ्यार्थाप्रतिपादकत्वं न प्रामाण्यविघटकं, हेतोर्विरुद्धत्वात् । न चात्म-याथात्म्यप्रतिपादकत्वमपि कथं निश्चीयतां येन तत्र प्रामाण्यं संभाव्येत, अर्थान्तरपरत्वस्यापि संभवादिति वाच्यम् । उपक्रमोपसंहारादितात्पर्यग्राहकलिङ्गैरेव तत्प्रतिपादकत्वावधारणादित्याशयेनाह—यत्पर इति । यत्र तात्पर्यं शब्दस्य स

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

शब्दः स शब्दार्थ इति मीमांसाप्रसिद्धेः सर्वासामुपनिषदां चैकात्म्ये तात्पर्यान्न जपोपयोगित्वमुपनिषदां शक्यं वक्तुम, तथा हि—ईशावास्यमित्युपक्रम्य स पर्यगाच्छुक्रमित्युपसंहाराद्, अनेजदेकं तदन्तरस्य सर्वस्येत्यभ्यासदर्शनात्, नैनद्देवा आप्नुवन्नित्यपूर्वसंकीर्तनात्, को

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम ❀

एव शब्दार्थः, अत एव वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवतेत्यादौ वायुदेवताक्षेपिष्ठत्वं न शब्दर्थस्तत्र तात्पर्याभात्वात् किन्तु कर्मप्राशस्त्यमेव। ततः किं ? तत्राह—सर्वासामिति। ऐकात्म्ये तात्पर्यदर्शनादिति। वक्ष्यमाणलिङ्गैरिति शेषः। तथा चैकात्म्यमेवोपनिषदर्थ इति भावः। ततोऽपि किं तत्राह—न जपोपयोगित्वमिति। नन्विदमसंगतम्। यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति न्यायेन शब्दार्थविषयकनिर्णय एवोच्यते न तूपयोगोऽपि। न च यः शब्दार्थस्तदुपयोगित्वं शब्दस्येति व्याप्तिरिति वाच्यम्। तदुपयोगित्वं यदि तज्जनकत्वं तदा ईशावास्यादिमन्त्राणामैकात्म्यजनकत्वाभावाद् व्यभिचारः। तन्मात्रसम्बन्धित्वं चेत् यजेतेत्यादीनां यागसम्बन्धित्वमेव स्यान्न तु बोधसम्बन्धित्वमपि। मैवम्। ऐकात्म्यतात्पर्येण तद्बोधे सति कर्मणोऽसंभवाज्जपस्य च कर्मात्मकत्वान्न जपोपयोगित्वमित्याशयात्। "उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये" इति तात्पर्यग्राहकत्वेन स्वीकृतानि लिङ्गानि निदर्शयति—तथा हीत्यादिना। ननूपक्रमोपसंहारैकरूप्यादेस्तात्पर्यग्राहकत्वं भवदीयकल्पनामात्रमिति चेन्न। लोकशास्त्रन्यायसिद्धत्वात्। लोके यस्य प्रतिपाद्यत्वं तदेवोपक्रम्योपसंह्रियते। शास्त्रेऽपि पर्वतो वह्निमानित्युपक्रम्य तस्मात्तथेत्युपसंह्रियते। तेन वह्निमत्त्वे मुख्यं तात्पर्यमवसीयते। अभ्यासे चार्थाधिक्यमर्थदार्ढ्यं वा भवति। यथा सुन्दरोऽयं सुन्दरोऽयमित्यादि। तथा च यास्कः—"अभ्यासे हि भूयांसमर्थं मन्यन्त" इति। ज्ञातार्थप्रतिपादने न लोकानामपि रुचिः, किन्त्वज्ञातार्थप्रतिपादने एवेत्यज्ञातार्थ एव तात्पर्यं भवति वक्तुः। श्रुतिः स्वयमेव यस्यापूर्वत्वं बोधयेत्तत्र स्वतात्पर्यं निश्चितमवगम्यते। तथा फलवदफलवतोर्महीयस्त्वेन फलवस्येव तात्पर्यं युक्तम्। अतात्पर्यविषयस्य प्रशंसादिलक्षणार्थवादो न लौकिकेनापि क्रियते, तथोपपत्तिप्रदर्शनमपि। एवं षण्णामपि लिङ्गानां तात्पर्यनिर्णायकत्वं लोकन्यायसिद्धम्। एतैरेव लोकादिसिद्धैर्न्यायैर्गौरव लाघवादिसहकृतैर्मीमांसया वेदार्थनिश्चयः क्रियते। अन्यथा पूर्वमीमांसोक्तन्यायानामपि स्वमनीषाकल्पितत्वमारोप्यार्थाऽनिर्णायकत्वमापद्येत। इत्थं च न्यायैरुपनिषदामात्मयाथात्म्यप्रतिपादकत्वे निश्चिते निर्दोषत्वादपौरुषेय्याः स्वतः

❀ आनन्दगिरीयटीका ❀

मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति फलवत्तासंकीर्त्तनात्, कुर्वन्नेवेहेति जिजीविषोर्भेददर्शिनः कर्मकरणानुवादेनासुर्या नाम त इति निन्दयैकात्म्यदर्शनस्य स्तुतत्वात्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधातीति युक्त्यभिधानाच्चास्यास्तावदुपनिषद ऐकात्म्यतात्पर्यं दृश्यते। एवमन्यासामप्युपनिषदामुपक्रमोपसंहारैकरूप्याभ्यासापूर्वताफलवत्तार्थवादयुक्त्युपपादनानि षट् तात्पर्यलिङ्गानि विकल्पेन समुच्चयेन चास्माभिस्तत्त्वालोके दर्शितानीति नेह प्रतन्यते। किं च प्रत्ययसंवादोऽपि बलवत्त्वे कारणं प्रसिद्धम्। विद्यते चोपनिषदर्थे गीतादिसंवादः, तस्मादुप-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

प्रमाणभूताया उपनिषद एवात्मयाथात्म्ये प्रामाण्यात्तत्र प्रमाणाभावकथनमकाण्डताण्डवितमेवेति समुदिताभिप्रायः।

कुर्वन्नेवेहेतीति। अनुवादेनेत्यापाततः। अन्येषामप्यसुर्यलोकत्वात्। स्तुतयेऽनुमतिर्वेति सूत्रं तु प्रकरणविभागविरहपक्षानुसारेण। तच्च स्पष्टीकरिष्यामः।

उपनिषदां परमप्रमाणत्वाद् गीतानामित्यादिग्रन्थानुत्थानम्। न ह्यात्मयाथात्म्ये वेदानां प्रथमं प्रामाण्यमसंसाध्य गीताप्रामाण्यं शक्यते संपादयितुमिति कथं गीताप्रामाण्यानुरोधेन वेदप्रमाण्यमित्याशङ्कायां गीतानां वेदप्रमाण्यसंपादकत्वविरहेऽपि तदुपपादकत्वसंभवेन ग्रन्थसंगतेर्मैवमिति परिहरति—किं चेति। प्रत्ययसंवादोऽपीति। ननु कोऽयं प्रत्ययसंवादः? न च समानप्रत्ययः। उपनिषद्भ्यः पूर्वं गीताभिः प्रत्ययोत्पादानुपपत्तेः। तदुत्पादाङ्गीकारेऽपि उपनिषद्भिः स्वार्थप्रतिपादने तदपेक्षायां ज्ञप्तौ सापेक्षत्वेन परतः प्रामाण्यापत्तिः। न च समकालं समानप्रत्ययः। उपनिषद्भिः प्रत्ययोत्पत्तौ गीताजन्यप्रत्ययस्य तत्रानुपयोगादिति चेद्? अत्र ब्रूमः। शब्दजनितप्रत्ययैकरूपत्वमेव प्रत्ययसंवादः। तत्रोपक्रमोपसंहारादिलिङ्गसहकारेणैकात्म्यप्रत्ययोत्पादेऽपि जपोपयोगिन्यो वाऽऽत्मयाथात्म्यप्रतिपादिन्यो वोपनिषद इति मन्दबुद्धीनां संशयसंभवात्तन्निवारणौपयिकतया गीतानामुपयोगसंभवः। गीतादयो हि न वैदिककर्मशेषजपोपयोगिनः इति जपानुपयोगे निश्चिते तज्जन्यप्रत्ययविषयतात्पर्यसंशयो नोत्थातुमर्हति। गीतादीनां च वेदविद्विरचितत्वेन वैदिकार्थप्रतिपादकत्वनिश्चयात्प्रत्ययसंवादः संशयादिविघटको भवितुमर्हतीति। बलवत्त्वे कारणमिति। उपनिषदो जपोपयोगिन्यो वाऽऽत्मयाथात्म्यप्रतिपादनतात्पर्यवत्यो वेति संशये आत्मयाथात्म्यप्रतिपादनतात्पर्यवत्य एवेति पक्षस्य बलवत्त्वे कारणमित्यर्थः। बलवत्कारणमिति पाठे तात्पर्यनिर्णय इत्यादिः। न च

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

निषत्पदसमन्वयेनावगम्यमानमैकात्म्यं न प्रमाणान्तरानुपलम्भविरोधेनापलपनीयम्। यथेन्द्रियान्तरेणानवगम्यमानमपि रूपं चक्षुषाऽव-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

तात्पर्यज्ञानस्य शाब्दबोधं प्रति कारणत्वात्प्रथमं तात्पर्यज्ञाने सति पश्चाच्छाब्द-प्रत्ययः प्रत्ययोत्पत्तौ प्रत्ययसंवाद इति कथं तात्पर्यनिर्णये प्रत्ययसंवादस्य कारणत्व-मिति वाच्यम्। तात्पर्यज्ञानस्य शाब्दबोधहेतुत्वे मानाभावात् विनापि तात्पर्यज्ञान शुकादिपाठाच्छाब्दबोधोत्पत्तेः। न च तत्रापि पाठयितुस्तात्पर्यज्ञानं कारणमिति वाच्यम्। पाठयितुः प्रकरणादेश्चाननुसन्धानकालेऽपि शाब्दबोधोत्पत्तेः। तात्पर्यं च तदर्थप्रतीतीच्छयोच्चरितत्वं, तत्र तदर्थो नाम वाक्यार्थः, स कथं ज्ञायतां शाब्द-बोधात् प्राक्? तथा सति तात्पर्यज्ञानं कथंकारमुत्पद्यताम्। तस्माच्छब्दः स्वयमेव स्वशक्त्या प्रथमं बोधमुत्पादयतीति सर्वैरङ्गीकार्यम्। तत्र नानार्थोपस्थितौ कोऽत्र विवक्षितोऽर्थ इति तात्पर्यग्राहकलिङ्गात्प्रकरणादितो निश्चीयते। यत्र तु न नानार्थः, लिङ्गैश्चान्यार्थव्यावृत्तिस्तत्रापि अयमर्थो विवक्षितो न वा जपाद्यर्थो वाऽयं मन्त्र इति संशयो भवितुमर्हतीति तत्र प्रत्ययसंवादस्तात्पर्यनिर्णायको भवेदिति न किंचिदनुपपन्नम्।

प्रमाणान्तरानुपलम्भविरोधेनेति। ननु उपनिषद्भिरिव गीतादिभिरपि स्वार्थप्रत्ययोत्पादनात् कथं प्रमाणान्तरानुपलम्भः। प्रत्ययानुत्पादे वा कथं प्रत्यय-संवादः। न च प्रमाणान्तरानुपलम्भविरोधेनेति ग्रन्थस्य प्रमाणान्तरं गीतास्तीति न प्रमाणान्तरानुपलम्भलक्षणो विरोध इत्याशय इति वाच्यम्। यथेन्द्रियान्तरेणानव-गम्यमानमित्युत्तरग्रन्थविरोधापत्तेः। तद्दृष्टान्तेनोपनिषन्मात्रस्यात्मयाथात्म्ये प्रामाण्य-सूचनात्। गीताद्यवगतार्थप्रतिपादकत्वे वोपनिषदामपूर्वार्थत्वं न स्यादिति चेद्? अत्र केचिदाहुः—तं त्वौपनिषदमिति श्रुतेरुपनिषच्छ्रवणजनितादृष्टसहकृतमेव श्रवणमात्मयाथात्म्यप्रतिपत्तिजनकं भवति। तेन जाते आत्मयाथात्म्यप्रत्यये गीता-दिभिरपि स भवतीति प्रत्ययसंवाद उपपद्यते संशयादिनिवर्त्तक इति।

वस्तुतस्तु शब्दानां स्वार्थबोधजननेऽदृष्टस्य विशेषकारणत्वं नोपगम्यते। तथा सति परतः प्रामाण्यापत्तेः। सामान्यकारणत्वं तु स्यात्। तथा च गीतादि-भिरपि स्वार्थप्रत्ययो भवत्येव। न चैवं वेदानामपूर्वार्थत्वं न स्यादिति वाच्यम्। वेदोक्तार्थस्यैव गीतादिभिः प्रतिपादनाद् वेदप्रामाण्येनैव तत्प्रामाण्यात्। न हि शब्दभेदमात्रेणातिरिक्तप्रमाणता। गुरुव्याख्यानादेरतिरिक्तप्रमाणतापत्तेः। न चैवं श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्य इति नियमविध्यनुपपत्तिः, स्मृतिवाक्यतोऽपि बोधोत्पत्ते-रिति वाच्यम्। आत्मसाक्षात्कारं प्रति नियमादृष्टस्य हेतुत्वाभ्युपगमेऽपि शाब्द-

❀ भाष्यम् ❀

मोक्षधर्माणां चैवंपरत्वात् ।

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

गम्यमानं नापह्नूयते तथैकात्म्यमपि नापह्नवार्हमित्याह—गीतानामिति। 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति' इत्यादिगीतानाम्, 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवद्' इत्यादिमोक्षशास्त्राणां चैकात्म्यपरत्वादित्यर्थः। यद्येतादृशमात्मतत्त्वं, तर्हि

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

बोधोत्पत्तौ तदनुपगमेन दोषाभावात्। किं बहुना मनननिदिध्यासनतद्दृष्टादेरप्यात्मसाक्षात्कारमपराधशून्यात्मसाक्षात्कारं वा प्रति कारणत्वमस्ति। न ह्येतावता शब्दानां परतः प्रामाण्यमापद्यते।

सममित्यादि। सममनुगतरूपेण घटेषु मृदिव सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। विनश्यत्स्वदर्शनं गच्छत्स्वविनश्यन्तमविलुप्तचैतन्यं स्वयंप्रकाशं य आत्मत्वेन पश्यति स तत्त्ववेत्तेत्यर्थः। एक इति। एक एव न त्वनेकः सजातीयादिपरिच्छेदवान् भूतानामात्मा प्रत्यगात्मा स्वकल्पिते भूते भूते प्रतिभूतं व्यवस्थितो विशेषेणानुगतरूपेणाधिष्ठानविधया सत्तास्फूर्तिप्रदत्वविधयाऽवस्थितो जलचन्द्रेष्विवैकधा विम्बचन्द्रवदुपाधिभेदेन च बहुधा दृश्यते।

ननु वस्तुत आत्मनोऽकर्तृभोक्तृत्वे स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवाक्यानां निर्विषयतापत्तिः स्वर्गफलभोक्तुरधिकारिणो विरहात्तथा चाप्रामाण्यापत्तिरित्याशङ्क्ते—यदीति। इत्यपि नाशङ्कनीयमिति। सर्वे वेदा यत्पदमामनन्तीति श्रुतेरात्मयाथात्म्यप्रतिपादनविधयैव सर्वेषां वेदानां परमं प्रामाण्यं सेत्स्यतीति पक्षान्तराश्रयणेऽपीत्यपिकारेण सूच्यते। किं च परमार्थावस्थायाम् 'अत्र वेदा अवेदा भवन्ति' इति श्रुतेः कर्मकाण्डोच्छेदो नानिष्टापादक इत्यपिकारेण ध्वन्यते।

स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवाक्यं यद्यनधिगतं कर्तृत्वभोक्तृत्वमपि प्रतिपादयेत्तदा वाक्यभेदापत्तिरिति कर्तृत्वभोक्तृत्वानुवादमात्रं तत्रेति सर्वसंमतम्। कर्तृत्वादिकं च लोकबुद्धिसिद्धमेवानूद्यते। न च लोकभ्रान्तिसिद्धार्थानुवादेनाप्रामाणिकता। न हि स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यती ति मिथ्याभूतस्वाप्नस्त्र्यनुवादेन तद्वाक्याप्रामाण्यं भवति। मिथ्याकर्तृत्वाद्यनुवादेन विहितयागादेरज्ञानिभिरनुष्ठानदर्शनाज्ज्ञानानुष्ठापकत्वलक्षणाप्रामाण्यमपि। तत्त्वज्ञानिनामननुष्ठापकत्वेन तान् प्रत्यप्रामाण्यं भवेदिति चेद् भवतु नाम। न हि हिंसां निषिद्धां जानता क्रोधादिरहितेन च श्येनादिर्नानुष्ठीयत इत्येतावता तान् प्रत्यप्रमाणभूतस्यापि श्येनेनाभिचरन् यजेतेत्यादेः सर्वथाऽ-

❀ भाष्यम् ❀

तस्मादात्मनोऽनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादि चाशुद्धत्वापापविद्धत्वादि चोपादाय लोकबुद्धिसिद्धं कर्माणि विहितानि। यो हि कर्मफले-नार्थी दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनाऽदृष्टेन स्वर्गादिना च द्विजातिरहं

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

निरधिकारित्वात्कर्मकाण्डमुच्छिद्येतेत्यपि नाशङ्कनीयमित्याह—तस्मादिति। औपनिषदात्मयाथात्म्यविज्ञानवत इष्यत एव कर्मकाण्डाप्रामाण्यम्। यथा न हिंस्यात् सर्वा भूतानीति निषेधशास्त्रार्थनिश्चयवत इष्यत एव श्येनादिविध्यप्रामाण्यम्। यथा च तीव्रक्रोधाक्रान्तस्वान्तं प्रत्येव श्येनादिविधिप्रामाण्यं तथा मिथ्यादर्शिनं प्रत्येव कर्मविधिप्रामाण्यमित्यर्थः। अत्र जैमिनिप्रभृतीनां संमतिमाह—यो हीत्यादिना। अर्थित्वादियुक्तस्य कर्मण्यधिकारः षष्ठेऽध्याये प्रतिष्ठापितः। अर्थित्वादि च मिथ्याज्ञाननिदानम्। न हि नभोवन्निष्क्रियस्य स्वत

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

प्रामाण्यमित्याशयेन समाधत्ते—औपनिषदेति।

भाष्ये लोकबुद्धीति। भ्रान्त्यात्मकबुद्धीत्यर्थः। याथात्म्यं चात्मनः शुद्धत्वापापविद्धत्वेत्यारभ्य कर्तृभोक्तृरूपं वा न हीत्यन्तेन प्रतिपादितार्थविरुद्धार्थविषयकत्वादनेकत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वादेः। एतदुपपादकतया यो हीत्याद्युत्तरभाष्यम्। यो हि दृष्टेन ब्रह्मवर्चसादिनाऽदृष्टेन स्वर्गादिना च कर्मफलेनार्थीति मिथ्याज्ञानोपपादकः प्रथमोऽशः। द्विजातिरहमित्यादि मन्यत इत्ययं द्वितीयोऽशः। तत्र प्रथमांशे कारणतो मिथ्याज्ञानम्। द्वितीयांशे च स्वरूपतोपि मिथ्याज्ञानम्। तत्स्फुटयति टीकाकारः—अर्थित्वादि चेति। आदिपदेन द्वितीयांशस्य ग्रहणं। मिथ्याज्ञाननिदानमिति। मिथ्याज्ञानं निदानं यस्येति विग्रहः। इत्यर्थित्वमिति। मिथ्याज्ञानं विना संभवतीति योजना। ननु मिथ्याज्ञाने सत्यपि नात्मनोऽर्थित्वं किन्त्वन्तःकरणस्यैव। न चान्तःकरणगतमेवार्थित्वमात्मनि मिथ्याज्ञानेनाध्यस्यत इति वाच्यम्। नभोवन्निष्क्रियस्येत्यादिविशेषणवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। अर्थित्वविरहवत्यर्थित्वं मिथ्याज्ञानं विना न संभवतीत्युक्त्यैव गतार्थत्वात्। न चार्थित्वं कुतो नास्तीति जिज्ञासायां नभोवन्निष्क्रियस्येत्यादि विशेषणमिति वाच्यम्। नभोवन्निष्क्रियत्वेनोपगतेऽपि आत्मनि तार्किकादिभिरर्थित्वोपगमात्। किं च सुखं दुःखाभावश्चान्तःकरणस्यैव भवतीत्यात्मनः सुखदुःखाभाववत्त्वेऽपि अन्तःकरणस्य तदर्थतयाऽर्थित्वं यथार्थज्ञानवतोऽपि कुतो न स्यादिति चेद्? अत्रोच्यते। यद्यप्यर्थित्वमन्तः-

❀ भाष्यम् ❀

न काण(न्त्र)कुब्जत्वाद्यनधिकारप्रयोजकधर्मवानित्यात्मानं मन्यते सोऽधिक्रियते कर्मस्विति ह्यधिकारविदो वदन्ति।

❀ आनन्दगिरिय टीका ❀

एव दुःखासंसर्गिणः परमानन्दस्वभावस्य सुखं मे स्याद् दुःखं मे मा भूदित्यर्थित्वं, शरीरेन्द्रियसामर्थ्येन च समर्थोऽहमित्यभिमानित्वं मिथ्याज्ञानं विना न संभवतीत्यर्थः।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

करणस्यैव तथाप्यात्मानात्मान्यान्याध्यासप्रयुक्तमेव। तत्रात्मन आनन्दस्वरूपाच्छादनपुरःसरमात्मन्येव कल्पिताऽन्तःकरणगतदुःखादिकमात्मन्यज्ञानतोऽध्यस्यचाध्यासप्रयुक्तमर्थित्वमपि लभते। आनन्दस्वरूपावरणतिरस्कारे हि सति अन्धकारतत्परिकल्पितभूतशरीरयोरुभयोरपि सौरप्रकाशेन विलोपवदन्तःकरणतद्गतदुःखयोरुभयोर्विलोपान्नान्तःकरणेऽपि दुःखं वा भवति दुःखाभावार्थित्वं वा। लेशाविद्ययाऽन्तःकरणाभासदुःखाभासयोरवस्थानोपगमेऽपि न तदपगमाय प्रवृत्तिर्भवति। न हि निजच्छायाचिरावलोकनसमनन्तरं गगनतलमवलोकयंस्तत्र श्वेतच्छायामुपलभ्यापि तदवास्तविकतां विचिन्वंस्तदपनयनाय लोचनस्वास्थ्यसंपादनातिरिक्तं किंचिदपि कर्म करोति।

भाष्ये काणेत्यनेन दर्शनाऽसामर्थ्यं कुब्जत्वाद्येत्यनेन गमनाद्यसामर्थ्यं च विवक्षितम्। 'आज्यमवेक्षते' 'परिक्रामञ्जुहोती'त्यादिविध्यनुष्ठानस्य काणादिभिरसंभवात्तेषामनधिकार इत्याशयेनाह टीकायां शरीरेन्द्रियासामर्थ्येनेति। भाष्ये मन्यत इति पदं मिथ्याज्ञानप्रयुक्ताभिमानतात्पर्यकमित्याशयेनाह—इत्यभिमानित्वं मिथ्याज्ञानं विना संभवतीति। अत्र न हीत्यनुषङ्गः। न च पूर्वतन्त्रे स्वर्गाद्यर्थित्वस्य मिथ्याज्ञानप्रयुक्ताभिमानमूलत्वं नोपगतमिति मन्यत इति कथनमसंगतमिति वाच्यम्। द्विजातित्वचक्षुष्मत्त्वादीनां शरीरेन्द्रियधर्मत्वान्मिथ्याज्ञानप्रयुक्ततदध्यासस्यात्मनि कर्मिभिरप्युपेयत्वात्। न हि संघातस्य कर्त्तृत्वादिकं तैरपि शक्यं वक्तुम्। संघातस्यात्रैव विनाशात्कर्त्तृत्वभोक्तृत्वयोर्वैयधिकरण्यापत्तेः। यत्तु तार्किकादयः कर्त्तृत्वभोक्तृत्वोभयमात्मनि समुपगच्छन्ति तैरपि द्विजातित्वं नात्मन्युपगतम्। न च नात्मा द्विजातिः किन्तु शरीरमिति ज्ञानवानपि कर्म कर्त्तुं प्रभवति स्वस्य द्विजातित्वज्ञानं च द्विजातिशरीरावच्छिन्नत्वमेवेति वाच्यम्। दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामित्यादिन्यायसूत्रे प्रवृत्तेर्मिथ्याज्ञानप्रयुक्तत्वोक्तेः। मन्यत इति स्वसिद्धान्तेनोक्तिरिति वाच्यम्।

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

यस्मादात्मयाथात्म्यप्रकाशका मन्त्रा न कर्मविधिशेषभूता न च मानान्त-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

नन्वीशावास्यमित्यादयो मन्त्राः कर्मस्वविनियुक्ता इति प्रतिज्ञातार्थस्यैव शाखा-प्रशाखया विवेचितस्योपसंहरणीयत्वे तस्मादित्यादिनान्यदेव किमिदमसंगतमुच्यतेऽ-ज्ञाननिवृत्तिशोकादिविच्छित्त्यादिकमित्याशङ्क्य कर्माविनियोगोक्तेरपि आत्मयाथात्म्य-प्रतिपादनपरत्वव्यवस्थापनेनाज्ञाननिवृत्तिद्वारा मोक्षफलकत्वप्रतिपादनपरत्वान्मैवमिति परिहरति—यस्मादिति। आत्मयाथात्म्यप्रकाशका इति षड्लिङ्गैरन्यतात्पर्यनिरा-करणपुरःसरं तदर्थसंभावनादिति भावः। कर्मशेषत्वेन स्वार्थतात्पर्यं नास्तीति न वक्तुं शक्यम्। कुतः? यतः न कर्मविधिशेषभूताः। मन्त्रा इति। अपूर्वार्थस्मार-कत्वेनैव मन्त्रत्वं न तु कर्मसमवेतार्थस्मारकत्वेनेति भावः। स्वार्थसंभावनाविघटक-मपास्यति—न च मानान्तरविरुद्धा इति।

ननु मानान्तरविरोधो न पूर्वमाशङ्कितो नापि परिहृत इति कथं तदुपादानं? न चान्यस्य प्रमाणस्यादर्शनादित्यनेन शङ्कादिः कृत इति वाच्यम्। यतस्तत्र मानान्तरादर्शनमात्रमुक्तं न तु मानान्तरविरोधः। न च गीतानां मोक्षधर्माणां च संवाद एव मानान्तराविरोध इति वाच्यम्। गीतादिविरोधे गीतादीनामेवाप्रामाण्या-पत्तेः। विरोधे ह्यनपेक्षं स्यादिति न्यायात् तद्विरोधाप्रसक्तेरिति चेन्न। कर्मकाण्ड-विरोधाभावप्रदर्शनेन प्रमाणान्तराविरोधस्य दर्शितत्वात्। न च तत्र कर्मकाण्डा-प्रामाण्यापत्तिरुक्ता, न तु कर्मकाण्डप्रमाणविरोध इति वाच्यम्। कर्मकाण्डाऽ-प्रामाण्यप्रसक्तौ वस्तुतः कर्मकाण्डाऽप्रामाण्यायोगादात्मयाथात्म्यमेव शुद्धत्वादिल-क्षणमसिद्धं स्यादित्यापादनतात्पर्यात्प्रमाणान्तरविरोधोत्थितेः। न चान्यतराप्रामाण्य-प्रसक्तावेकतरासिद्धयापादनं न संभवति, उभयोः प्रमाणत्वाऽविशेषादिति प्रमाणा-न्तरविरोधमात्रस्य स्वार्थप्रच्यावकत्वाभावात्तदविरोधप्रदर्शनवैफल्यमिति वाच्यम्। मन्त्राणां जपोपयोगितया सार्थक्येन कर्मकाण्डविरोधेन स्वार्थप्रच्यावनेऽपि क्षति-विरहात्। कर्मकाण्डस्य स्वार्थात् प्रच्यावने तस्य कथंचिदपि सार्थक्यं न संभवति, तज्जपस्याप्यात्मयाथात्म्यानुपयोगित्वादिति परस्परविरोधेऽनवकाशस्य कर्मकाण्डस्यैव प्राबल्यप्रसङ्गात्तद्विरोधपरिहारावश्यकत्वात्। न च कर्मकाण्डमन्त्राणामपि आत्म-याथात्म्यपरतया लक्षणादिवृत्त्या योजनसंभवात्सार्थक्योपपत्तिरिति वाच्यम्। लक्षणयाऽऽत्मयाथात्म्यपरत्वनिश्चयस्योपनिषदर्थनिर्धारणपूर्वकत्वादुपनिषदां च साक्षात्तदर्थप्रतिपादकत्वात्प्रथमोपस्थितोपनिषदर्थात्मयाथात्म्यानुवादकत्वप्रसक्त्याऽ-प्रामाण्यध्रौव्यात् सार्थक्यानुपपत्तेश्च। किं चोपनिषदां प्रमाणान्तरविरोधप्रत्ययकाले आत्मयाथात्म्यपरत्वस्य निश्चयायोगादात्मयाथात्म्यस्याऽप्रमितत्वाद् लक्षणया तत्प्रति-

❀ भाष्यम् ❀

तस्मादेते मन्त्रा आत्मनो याथात्म्यप्रकाशनेनात्मविषयं स्वाभाविकमज्ञानं निवर्त्तयन्तः शोकमोहादिसंसारधर्मविच्छित्तिसाधनमात्मैकत्वादिविज्ञानमुत्पादयन्तीति। इत्येवमुक्ताधिकार्यभिधेयसम्बन्धप्रयोजनान् मन्त्रान् संक्षेपतो व्याख्यास्यामः।

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

रविरुद्धास्तस्मात्प्रयोजनादिमत्त्वमपि तेषां सिद्धमित्याह—तस्मादेत इति।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

पादकत्वं कर्मकाण्डनां न संभवति। तत्तात्पर्यग्राहकषड्लिङ्गादेः कर्मकाण्डे विरहात्। तस्मात्प्रत्यक्षतः कर्त्तृत्वाकर्त्तृत्वादिलक्षणविरुद्धार्थप्रतिपादकत्वात् प्रमाणान्तरविरोधः प्राप्नोत्येवेति तत्परिहारविषया तस्मादात्मनोऽनेकत्वेत्यादिभाष्यग्रन्थयोजनं युज्यत एव।

प्रयोजनादिमत्त्वं=पृथक् प्रयोजनादिमत्त्वम्। तेषां सिद्धमिति। तथा च मुमुक्षून् प्रति व्याख्येया मन्त्रा इत्यपि सिद्धमिति भावः। सिद्धे च व्याख्येयत्वे भाष्यकारप्रतिज्ञा—संक्षेपतो व्याख्यास्याम इति।

ॐ

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

—❀❀—

ॐ ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

❀ भाष्यम् ❀

ईशावास्यमित्यादि । ईशा । ईष्ट इतीट् तेनेशा । ईशिता

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

व्याख्येयत्वमुक्त्वा प्रतिपदं व्याचष्टे—ईशेति । ईशऐश्वर्ये । अस्य धातोः क्विपि लुप्ते कृदन्तरूपम् ईट् । तस्य तृतीयैकवचनमीशेति । ननु कर्त्तरि क्विब्विधानात्, परमात्मनश्चाविक्रियत्वात् कथं क्विबन्त-शब्दवाच्यतेति तत्राह—ईशितेति, मायोपाधेरीशनकर्त्तृत्वसंभवात् क्विबन्तशब्दवाच्यता न विरुध्यते, निरुपाधिकस्य च लक्ष्यत्वं भविष्य-तीत्यर्थः । ईशित्रीशितव्यभावेन तर्हि भेदः प्राप्त इत्याशङ्क्याह—

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

ईशावास्यम् । ईडित्यस्य क्विबन्तनिष्पन्नस्येशनकर्त्रार्थं इत्यभिव्यञ्जयितु तृजन्तेन व्याचष्टे भाष्ये ईशितेति । अनुपसर्जनतया संकोचे मानाभावादाह—सर्वस्येति । सर्वस्येशितेत्यस्यार्थद्वयमाह—परमेश्वरः परमात्मेति ।

नन्वीशिता सर्वस्य परमेश्वरः परमात्मेति लिखितव्ये ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्येत्येवं व्यवधाय योजनं कुत इति चेद् ? उच्यते मन्त्रे ईश एवोक्तत्वादीशितेत्यर्थकस्य तस्य तात्पर्यं परमेश्वरे परमात्मनि च कुतः इत्याकाङ्क्षायां निरुपसर्जनत्वात् सर्वस्येशितैव विवक्षित इति तात्पर्यग्राहकतया सर्वस्येति भाष्ये योजनात् । एतदुक्तं भवति सर्वस्येति नाध्याहारो निरुपसर्जनत्वादेव तद्गर्भितार्थ-लब्धेः, किन्तु तादृशार्थतात्पर्यग्राहकतया प्रयुक्तमिति ।

ननु परमेश्वरः परमात्मेति पर्यायौ वाऽर्थद्वयं वा ? नाद्यः । पर्यायलेखनानुपयो-गात् । नान्त्यः । अर्थद्वयाप्रसिद्धेरतस्तदभिप्रायमाविष्करोति टीकायां—ननु कर्त्त-रीत्यादि । परमेश्वर इति मायोपाधिकः परमात्मेति च निरुपाधिको विवक्षितः। वृत्ति-भेदेन चोभयार्थविवक्षा न विरुध्यत इत्याह—मायोपाधेरिति । भेदः प्राप्तः

❀ भाष्यम् ❀

परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य. स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन्,[1]

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

सर्वजन्तूनामात्मा सन्निति । यथाऽऽदर्शादिषु प्रतिविम्बानामात्मा सन् बिम्बभूतो देवदत्त ईशिता भवति तथा कल्पितभेदेनेशित्रीशितव्य-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

इति । ननु भवतु भेदप्राप्तिः । न ह्यभेद प्रतिपादयितुमुपनिषद्ग्रन्थोऽयं प्रवृत्तः, किन्त्वीश्वरम् । भवतु वा क्वचिदभेदप्रतिपादनम् । तथापि प्रकृते तत्परत्वं नावलोक्यत इति चेन्न । भेदे सति वास्यमिति वासनविध्यनुपपत्तेः । न हि रज्जुसर्पयोर्भेदे रज्जुदर्शनेन सर्प आच्छादयितुं शक्यः ।

भाष्ये सर्वजन्तूनामित्यत्र जन्तुपदमीशितव्यसर्वोपलक्षकम् । सर्वस्येशितेत्यत्र जन्तुपदानुपादानादित्यभिप्रेत्य टीकायां जन्तुपदानुपादानेनेशितव्येत्युक्तम् । न चैवं भाष्ये जन्तुपदोपादानं किमर्थमिति वाच्यम् । "भयादस्याग्निस्तपति" इति भयोपादानाज्जन्तूनामेवेशितव्यत्वप्रसिद्धेः । किं च जडवर्गस्य चेतने परमात्मनि कल्पितत्वेन परमात्मनो जडजगदात्मरूपत्वमेव सर्वपदोपादानेऽपि प्राप्नोति, न तु जीवानामात्मस्वरूपः परमात्मेति, अतो विशेषेण जन्तुपदोपादानम् । ननु कल्पितस्य सर्पस्य यथात्मा रज्जुरेव तद्वत्कल्पितस्य जगत आत्मा परमात्मेति युक्तम् । जन्तुपदार्थानां जीवानां तु सर्पवत्कल्पितत्वविरहात्तदात्मा कथं परमात्मा कथं च तदीशितव्यत्वमिति चेन्न । विम्बस्य प्रतिविम्बेशितृत्वदर्शनात्तद्वदुपपत्तेः, तदिदमभिप्रेत्य टीकाकारो व्याचष्टे—यथाऽऽदर्शादिष्विति ।

केचित्तु ईशावास्यमित्यत्रेशशब्दोऽकारान्तः । ईशेनावास्यमिति च तृतीयासमासः । तत्र चेशपदं रुद्रे रूढम् । संभवति च रूढ्यर्थे विलम्बोपस्थितिको यौगिकार्थो न गृह्यते । अतएव वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीतेत्यादौ रथकारपदं न यौगिकार्थेन रथकर्तृत्रैवर्णिकपरं किन्तु जातिविशेषपरमिति पूर्वतन्त्रे स्थितम् । तथा च रुद्रवास्यमित्यर्थप्राप्तिरित्याहुः । अन्ये तदसहमानाः "एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः" "एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः स ब्रह्मा स शिवः" इत्यादिश्रुतेर्विभूतिभूतरुद्रादेः सर्वव्यापकत्वानुपपत्तेरत्रेशपदं यौगिकमेव नारायणपरं मन्तव्यमित्याहुः । अत्रेदं बोध्यम् । "एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाल्लोकानीशते" "यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।

(१) प्रत्यगात्मतयेत्यधिकः पाठः ।

❀ भाष्यम ❀

तेन स्वेनात्मनेशा[1]। वास्यमाच्छादनीयम्। किम्? इदं सर्वं यत्किं

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम ❀

हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्" "उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्" इत्यादिश्रुतीनामपलापो न शक्यते कर्त्तुम्। ऐको ह वै नारायण" इत्याद्युपदर्शितश्रुतयोऽपि नापलापार्हाः। "नमस्ते गणपतये" इत्युपक्रम्य "त्वं ब्रह्म त्वं विष्णुस्त्वं रुद्र ईत्येवं विष्ण्वादीनां गणपतिविभूतिरूपताप्रतिपादनपराश्च नापलपितव्याः। "सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः। कासि त्वं महादेवि साब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी त्युपक्रम्य "अहमखिलं जगदिति" परामृश्य "विष्णुमुरुक्रमं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामी" त्येवंविधा श्रुतयश्च न निह्नोतव्याः। एवमन्या अपि शतशःश्रुतयः स्मृत्यादयश्च। अत्रान्यतमश्रुत्यप्रमाण्याङ्गीकारासंभवात्सर्वत्रैकतत्त्वे एव प्रतिपादयितव्ये शरीरभेदोपाधिप्रयुक्ता एव रुद्रविष्णुगणपत्यादयः परमार्थस्वरूपाभेदेनोपादाय तत्र तत्र परमकारणत्वेनोच्यन्त इत्येव निर्णये परस्परनिन्दाकलहादिकमिदं रागद्वेषादिदोषसमूहकलुषीकृतप्रज्ञानामज्ञानामेव भक्तंमन्यानां शोभते न पण्डितानामित्युपरम्यते।

अत्रैवं भाष्यव्याख्या। अत्रेशेतिपदं न रूढं किन्तु यौगिकं, योगश्चेशधात्वर्थं सामर्थ्यनिरूपित इत्याशयेनाह—ईष्ट इतीडिति। निरुपपदेशशब्देन निरुपाधिकसामर्थ्यलाभात् सर्वसामार्थ्यमत्र लभ्यते। परमसामर्थ्यं चाभिन्ननिमित्तोपादनत्वे एव संभवति। परमाण्वाद्युपादानकं जगदिति वैशेषिकमते प्रकृत्युपादानकमिति सांख्यमते च परमाण्वादिजननसामर्थ्यविरहेण सर्वसामर्थ्यानुपपत्तिः। न चैवं स्वजननसामर्थ्यविरहेण पुनरपि सर्वसामर्थ्यानुपपत्तिरेवेति वाच्यम्। स्वस्य स्वजनकत्वे स्वयं स्वस्मात्पूर्वमवतिष्ठेतेति व्याघातप्रसङ्गात्। न हि व्याहतार्थाऽप्रयोजकत्वेन सर्वसामर्थ्यभङ्गः। न हि गगनकुसुमानुत्पादकत्वादसामर्थ्यव्यपदेशः इत्याशयेनाह परमेश्वरः परमात्मेति। परमेश्वर इति सर्वकर्त्तृत्वसूचनेन निमित्तत्वकथनम्। घटस्य मृदात्मेति परमात्मपदेन सर्वोपादानत्वकथनम्। सर्वस्येति च परमेश्वरः परमात्मेत्युभयान्वयि। ईशितेति तु ईशेत्यस्यशब्दार्थकथनमात्रम्। निरवयवत्वाच्च परमात्मनो मृदादिवच्चक्रभ्रमणकृतोर्द्धाधोऽवयवसंनिवेशसंपादनपुरःसरकार्योपादानत्वं न संभवतीति सर्पादिकं प्रति रज्ज्वादिवदधिष्ठानविधयैवोपादानत्वसिद्धेर्वास्यमाच्छादनीयं बाध्यमित्युत्तरपदसंगतिरपि संभवतीति सर्वं चतुरस्रम्।

भाष्ये वास्यमाच्छादनीयमिति। "वस आच्छादने"। ननु "वस

(१) रूपेणेत्यधिकः पाठः।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

निवासे" इति धातोरपि रूपं वास्यमिति। ईशा वास्यं वासयोग्यं व्याप्तमिति यावत्। स्मर्यते च सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः। ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते" इति। "सर्वभूतनिवासोऽसि वासुदेव नमोस्तु त" इति च। सर्वेषां भूतानां निवासः, सर्वाणि भूतानि निवासो यस्येति च तत्र विग्रहद्वयम् यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यतीति स्मृतेश्चेति चेन्न। वस धातोरकर्मकत्वेय कर्मणि ण्यप्रत्ययानुपपत्तेः। न च वैकुण्ठ मधिवसतीति सकर्मकतया वसधातुः प्रयुज्यत इति वाच्यम्। उपान्वध्याङ्वस इति सूत्रेण तत्र विशेषतो विधानात्। न च आवास्यनित्याङ्प्रश्लेषान्नानुपपत्तिः। "उपान्वध्याङ्वसः" इति सूत्रेणाङ्पूर्वकवसतेः सकर्मकत्वसिद्धेः। वैकुण्ठमावसतीति प्रयोगादिति वाच्यम्। यतस्तत्राधारस्यातिदेशिकी कर्मसंज्ञा। न तु वस्तुतो धातोः सकर्मकत्वम्। "तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः" इति सूत्रे "लः कर्मणि च भावे चे"तिसूत्रनिर्दिष्टभावकर्मणोरेव तयोरित्यनेन ग्रहणात्। तत्र च कर्मपदस्य कर्त्तुरीप्सिततमं कर्मेति लक्षणसूत्रलक्षितकर्मार्थकत्वादातिदेशिककर्मसंज्ञावत आधारस्य कृत्यादिप्रत्ययार्थत्वानुपपत्तेः। यत्तु वास्तविकाच्छादनाऽयोगादौपलक्षणिकाच्छादन स्वीकार्यम्। तत्र प्रकृत्यन्यथाकरणं स्यात्। ततो वरं प्रत्ययस्यान्यथाकरणमिति। तदसत्। प्रथमं शब्दसाधुत्वस्यैवापेक्षितत्वात्। अन्यथाऽर्थप्रत्ययानुपपत्तेः। अर्थप्रत्ययानुसारेण शब्दसाधुत्वोपगमे शब्दानामनुवादमात्रात्मता केन वार्यताम्। न वा वास्यमित्यत्र शब्दप्रयोगे शब्दानुशासनाऽसिद्धकार्यविशेषेण प्रकृतिरन्यथाक्रियते। वस आच्छादन इति धातोर्ण्यति वास्यमितिरूपस्य सर्ववैयाकरणस्वीकृतत्वात्। अर्थान्यथाकरणं च न प्रकृत्यन्यथाकरणम्। अर्थस्य तात्पर्याधीनत्वात्। अन्यथा सोऽरोदीदित्यादावपि प्रत्ययमन्यथाकृत्य रुद्यादिस्थर्थकरणमापद्येत।

किं च ईशा व्याप्तं जगदिति जगतः प्रशंसा वा ईश्वरस्य प्रशंसा वा। द्वितीये क्रमभङ्गः। जगदुद्दिश्येशव्याप्तत्वविधानात्तत्र जगत एव साक्षात्प्रशंसावगमात्। जगद्व्यापक ईश्वर इति ह्यार्थिकं न तु शब्दावगम्यम्। प्रथमपक्षे तु अप्रधानस्य प्रशंसेत्युपगन्तव्यं स्यात्। आत्मन एवात्र प्रधानत्वात्। कथं चेशव्याप्तत्वेन प्रशस्तस्य जगतस्तेन त्यक्तेनेति त्यागविधानमुपपद्यते। परकीयधनेऽपीशवासत्वात्तद्गर्धनं च कुतो निषिध्यते। सुवर्णनिधिके गृहे प्राप्ते सुवर्णमपि प्राप्तं यथा भवति तथा ईश्वरनिवासभूतपरधनप्राप्तावीश्वरप्राप्तिरपि स्यादनायासमिति तद्गर्धनिषेधस्य प्रशंसाप्रतिकूलत्वं कथं नापद्यते। एतेन 'कृत्यल्युटो बहुलमि'ति बाहुलकादधिकारणेऽपि कृत्यप्रत्ययः संभवतीत्युक्तावप्यनिस्तार एव।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

किं च वास्यमित्यत्र कृत्यप्रत्ययस्याभिधेयविध्यर्थकत्वं बाध्येत। न चा 'ऽर्हे कृत्यतृचश्च' इत्यर्हार्थे कृत्यप्रत्यय इति वाच्यम्। तावता व्याप्स्यर्हमिति हि लभ्यते न तु व्याप्तमिति। न हि गमनार्हो गच्छत्येवेत्यस्ति नियमः। यथाकथंचिद् व्याप्तस्वार्थसंपादनं तु जघन्यवृत्तिलभ्यं, व्याप्तमित्येव वक्तव्ये कृत्यप्रत्ययप्रयोगानुपपत्तिश्च, आवश्यकत्वेन विध्यर्थस्यैव मुख्यतयाऽर्हाद्यर्थेऽपि गौणवृत्तेरेवोपगमाच्च।

ननु ब्रह्मज्ञाने सति स्वयमेवाच्छाद्यते जगदिति आच्छादनविध्यनुपपत्तिः। न वा ज्ञानविधिसंभवः। ज्ञानस्यापि वस्तुतन्त्रतयाऽविधेयत्वादिति चेन्न। ज्ञानसाधनस्य साध्यत्वादेव विध्युपपत्तेः। आच्छादनेनेष्टं भावयेदित्यत्र साधनाकाङ्क्षायामीशेत्यस्यान्वयात्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः पालयेथा इति फलस्य वाक्यान्तरेणैव बोधनीयतया प्रकृतवाक्ये वाक्यभेददोषानापत्तेः। न च वास्यमिति ण्यत्प्रत्ययस्य वसधातूत्तरं श्रूयमाणत्वात् कथं ज्ञानकरणविधिसंभव इति वाच्यम्। दध्ना जुहोति दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यादौ विधिप्रत्ययस्य धातूत्तरं श्रूयमाणत्वेऽपि दध्यादिकरणविधायकत्वदर्शनात्। न च यागादौ दध्यादिवदीश्वरस्य कथं करणत्वं संभवति येनेश्वरस्यापि विधेयत्वं स्यादिति वाच्यम्। ईशभावनाया एव विधेयत्वोपपत्तेः। मानसव्यापारविशेषलक्षणाया भावनाया ज्ञानसाधनाभूताया ज्ञाननिष्ठाऽपरपर्यायायाः पुरुषतन्त्रत्वात्संभवति विधेयत्वम्। ज्ञाननिष्ठापरत्वं च प्रकृतमन्त्रस्य तत्र तत्र भाष्यकृद्भिः प्रतिपादयिष्यते।

नन्वाच्छादनीयमित्यर्थपक्षे ईशपदमीशज्ञानपरतया व्याख्येयम्। तथा च वक्ष्यति भाष्यकारः—अहमेवेदं सर्वमिति सर्वमाच्छादनीयमिति। अहमेवेदं सर्वमिति ज्ञानेनेति तदर्थः। तथा च टीका—सर्वमीश्वर एवात्मैवेति ज्ञानेनाच्छादनीयमिति। ततो वरमीश्वरेण व्याप्तमित्यर्थकरणम्। ईशपदे लक्षणानाश्रयणादसञ्जातविरोधिन्यायेन द्वितीयपदे एव लक्षणौचित्यादिति चेन्न। वृत्त्यपाकृतावरणकचैतन्यस्यैव ज्ञानपदार्थत्वाज्ज्ञानस्येश्वरानतिरेकात्। न चैवमपीशपदस्येश्वरमात्रमर्थः। वृत्त्यपाकृतावरणकचैतन्यार्थकत्वं तु लक्षणयैव भवितुमर्हतीति वाच्यम्। ईश्वरादिपदानामावृतचैतन्यार्थकत्वविरहादनावृतचैतन्यस्यैव वस्तुतः प्राप्तेः। न ह्युपनेत्रेण पश्येत्युक्तेऽनावृतोपनेत्रे उपनेत्रपदस्य लक्षणा भवति। आवरणस्य शब्दार्थाऽघटकत्वात्। योग्यतावशादनावृतस्यैवोपस्थितेः।

नन्वेवमपि ज्ञानस्याविधेयताया उक्तत्वाद् भावनापर्यन्तमावश्यकमिति ईशपदस्येशभावनायां लक्षणास्वीकारोऽवश्यमभ्युपगन्तव्यः। अन्यथा भवन्मतेऽपि विधिप्रत्ययानुपपत्तेरिति चेन्न। ज्ञानस्य वस्तुतन्त्रत्वादविधेयत्वेनार्थतस्तत्साधनविधिसिद्धेः। न चार्थसिद्धभावनायाः शाब्देनान्वयो न संभवतीति ईशपदमेव ईशभावना-

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

लाक्षणिकं मन्तव्यमिति वाच्यम्। अर्थवादेन विध्युन्नयवत् साध्यविधिना साधनविध्युन्नयवच्च विधिना विधेयोन्नयस्यापि न्यायसिद्धत्वात्। ओदनं पचेत्युक्ते जलाहरणादिविधिरुन्नीयते। समाश्वसिहि वत्स माता त आगच्छतीत्यादौ समाश्वासनस्य मातृदर्शनात्मकवस्तुतन्त्रतया विधेयत्वविरहेऽपि विधिप्रत्ययेन तत्र मात्रागमनभावनाया एव विधेयत्वं भवति। न्यायः खलुः लोकसिद्ध एव तान्त्रिकैस्तात्पर्यबोधार्थं संगृह्यते न त्वलौकिकः कश्चिद्विरच्यते। इत्थमेव तमेवैकं जानथ आत्मानमित्यादौ विधिप्रत्ययोपपत्तिः। यदि च तत्र तत्र विधिप्रत्ययाद्युपपत्तये विधेयबोधकः शब्दः कल्प्यते तर्हि कल्प्यतामिहापि, प्रसिद्धकल्पनाया दोषानावहत्वात्। ईशावास्यमित्यत्र कर्त्रध्याहारस्यावश्यकत्वाज्ज्ञाननिष्ठावतेति कर्तृपदमध्याहृत्य ज्ञाननिष्ठाया विधेयत्वमुपपाद्यतां, ज्ञाननिष्ठाया ज्ञानसाधनत्वप्रसिद्धेः। अन्यथा सर्वेषां वाक्यानां प्रायो यत्किंचिदध्याहारलक्षणादिदोषवत्त्वं तात्पर्यार्थेऽवलोक्य यथाश्रुतार्थमतात्पर्यविषयमप्यङ्गीकुर्युः। ईशा व्याप्यमिति कथनं च व्यर्थमापद्येत। किमर्थमिदमुच्यते। ईशावास्यमिति ज्ञातव्यमित्येतदर्थं चेज्ज्ञातव्यमित्यस्यानुक्तत्वात्सोऽयमर्थो न ग्राह्यः स्यात्। भवन्मते च विशेषतः ईशावास्यमिति भावयितव्यमिति वक्तव्यम्। शब्दार्थज्ञानमात्रस्यापि व्यर्थत्वादित्यलमतिप्रसङ्गेन।

नन्वेवमपि आच्छादनं लाक्षणिकमेव भवेत्। न हि वस्त्रवदाच्छादनमीश्वरेण घटादीनां संभवतीति चेन्न। दर्शनप्रतिबन्धकव्यापारो ह्याच्छादनं नाम, न तु वेष्टनमेव। चन्दनसुगन्धिर्दुर्गन्धमाच्छादयतीति प्रयोगदर्शनात्। अज्ञानेनावृतं ज्ञानमिति च गीतायाम्। अनृतेनात्मानमन्तर्धाय सत्येनात्मानमन्तर्धायेति च च्छन्दोगाः तथा च जगद्दर्शनप्रतिबन्धकव्यापारोऽत्र विवक्षित इति न मुख्यार्थानुपपत्तिः। वक्ष्यति चैतद्भाष्यकारः स्वयम्।

नन्वाच्छादनमज्ञानानुकूलव्यापार एव, न तु दर्शनप्रतिबन्धकव्यापारः किं चाच्छाद्यवस्तुनः सत एव तददर्शनानुकूलव्यापार आच्छादनम्। न ह्यग्निना भस्मीकृते काष्ठे अग्न्याच्छादनव्यवहारः। प्रकृते तु परमात्मदर्शनेन विद्यमानं जगन्नाच्छाद्यते, किन्तु जगदेव बाध्यत इति कथमाच्छादनव्यवहारः। अज्ञानेनावृतं ज्ञानमित्यादावपि विद्यमानमेव चैतन्यलक्षणमाव्रियत इति चेन्न। प्रारब्धवशेन लेशाज्ञानेऽज्ञानीयविक्षेपशक्तौ वा स्थितायामेव तत्प्रयुक्तजगतः सद्भावकाल एव तदाच्छादनकर्तव्यतोपदेशात्। न हि ब्रह्मैकतानतावस्थानात्मकमोक्षस्य विधेयता संभवति। तथा च जीवन्मुक्त्यवस्थाप्रापकोऽयमुपदेशः। न वा भावात्मकाज्ञानप्रयोजकव्यापार आच्छादयतेरर्थः। तथाविधाज्ञानस्यानादित्वेन किंचित्प्रयोज्यत्वानुपपत्तेः किन्तु दर्शनप्रतिबन्धकव्यापार एव।

❀ भाष्यम् ❀

च=यत्किंचिज्जगत्यां=पृथिव्यां जगत्तत्सर्वं स्वेनात्म[१]नाऽहमेवेदं

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

भावसंभवान्न वास्तवभेदानुमानं संभवतीत्यर्थः। वस आच्छादने। अस्य रूपं वास्यम्। तत्त्वत ईश्वरात्मकमेव सर्वं यदनीश्वररूपेण गृहीतं

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

नन्वेवमपि जीवन्मुक्तिकाले जगद्दर्शनसत्त्वाद् व्यवहारादेरन्यथानुपपत्ते-र्दर्शनप्रतिबन्धकव्यापारात्मकमाच्छादनमपि न घटते। न च समाधिकाले जगद-दर्शनाद्यथोक्तव्यापारसंभव इति वाच्यम्। अज्ञातसत्ताकजगदनभ्युपगन्तृमते आच्छा-दनस्यानुपपत्तेः। किं च व्युत्थानकाले जगदाच्छादनविरहादात्मरक्षणानुपपत्ति-रिति चेन्न। ज्ञानपूर्वं यादृशरूपेण जगद्दर्शनं तस्य ज्ञानोत्तरमसत्त्वेनाच्छादनो-पपत्तेः। कीदृशरूपेण जगद्दर्शनं ज्ञानपूर्वमासीदिति चेत्? अनात्मरूपेणेति ब्रूमः। ननु तदनात्मरूपं ज्ञानोत्तरमस्ति न वा। न द्वितीयः। तद्विरहे आच्छाद्यविरहेणा-च्छादनानुपपत्तेः। तत्सत्त्वे वा कथं ज्ञानं तेनाच्छादनं च। मैवम्। अनात्मताया भावरूपत्वविरहात्। किं च न हि किंचिदपोहमन्तराऽऽच्छादनं कुत्रपि भवति। प्रकाशमानघटस्य वस्त्रेणाच्छादने प्रकाशमानत्वापोहात्। नह्याच्छादनोत्तरमपि प्रकाशमानत्वमवतिष्ठते। तस्मादुपपन्नमाच्छादनम्। एतत्सर्वमभिप्रेत्य टीकाया-मनीश्वररूपेण गृहीतमिति सर्वात्मक ईश्वरोऽस्मीति ज्ञातव्यमिति चेक्तम्। अनीश्वर-रूपेणेत्यस्यानात्मरूपेणेत्यर्थः। सर्वात्मक इति च लेशाविद्याप्रयुक्तसर्वसत्त्वकाल एवोपपद्यते। लेशाविद्याविरहे सर्वात्मकशब्दानुपपत्तेः। अधिकमत्र वक्तव्यमग्रे ( ) निवेदयिष्यामः।

किं च जगदीशावास्यमित्यत्र जगदुद्देश्येनेशावास्यत्वं विधीयत इति तत्र प्रत्ययार्थस्य प्रधानत्वात् कृत्यप्रत्ययार्थस्य मुख्यस्य ग्रहणे सति फलमुखगौरवस्या-दोषत्वादाच्छादनादेर्गौणस्य स्वीकारोऽपि न दोषावहः। वास्यं व्याप्तमित्यादि-व्याख्यापक्षेऽपि वसधातोर्मुख्यार्थपरित्यागप्रौढ्याच्च। न हि देवदत्ताऽऽवासभूतं गृहं देवदत्तेन व्याप्तम्। तस्माद्यथोपदर्शितव्याख्यायां न काप्यनुपपत्तिः।

वयं तु ब्रूमः—अवमानः अपमानः अवगुणः अपगुणः इत्यादाववापयोः समानार्थदर्शनादत्र अपास्यमित्यर्थेऽवास्यमित्यवपूर्वोऽस्यतिः प्रयुक्तः। निपातानामा-द्युदात्तत्वादकारोत्तराकारानुदात्तत्वमविरुद्धम्, शाकारश्चोदात्त एव पठ्यते। इत्थं चेश्वरभावनया जगदपास्यं बाध्यमिति स्पष्टोऽर्थः।

(१) ईशेन प्रत्यगात्मतयेत्यधिकः पाठः।

❀ भाष्यम् ❀

सर्वमिति परमार्थसत्यरूपेणानृतमिदं सर्वं चराचरमाच्छादनीयं

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

तत्सर्वमीश्वर एवात्मैवेति ज्ञानेनाच्छादनीयम्। सर्वात्मक ईश्वरोऽस्मीति ज्ञातव्यम्। एष तत्त्वोपदेशः छान्दोग्ये तत्त्वमसीतिवदित्यर्थः।

ब्रह्मैव सर्वमात्मैव सत्प्रकाशाविशेषतः।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

टीकायां सर्वात्मक ईश्वरोऽस्मीति ज्ञातव्यमिति। नन्वनावृतचिद्रूपेश्वरे सर्वात्मके ईश्वरोऽस्मीति वृत्त्या प्रकटीभूते सति स्वयमेव जगदाच्छादनं भवतीति तदर्थं यत्नान्तरस्य कर्त्तव्यत्वविरहान्न विध्युपपत्तिरिति ज्ञातव्यमित्यर्थः क्रियते। परं ज्ञानस्याप्यनावृतचिद्रूपस्य विधिरनुपपन्न एव तस्यापि स्वतः सिद्धत्वादत आह—एष तत्त्वोपदेश इति। उत्तमाधिकारिणामिति शेषः, मध्यमाधिकारिणां तदुपयोगिविचारप्रयत्नकर्त्तव्यतया "यस्यौपदेशिकज्ञानमात्रेणानृतदृष्टिर्न तिरस्क्रियते" इत्यादिग्रन्थेनानुपदमेव टीकाकृता वक्तव्यत्वेन तादृशविचारप्रयत्ने विध्युपपत्तेः। विशिष्टविधौ विशेष्यबाधे विधेर्विशेषणोपसंक्रान्तेः। न चात्र विशेषणविधया विचारस्य विधिविषयत्वं न संभवति। विचारस्य ज्ञानकारणत्वेऽपि प्रकृते ज्ञानविशेषणत्वविरहादिति वाच्यम्। अर्थापत्तिलभ्यस्यापि विशेषणसमकक्षतया विधिविषयत्वोपपत्तेः अत एव प्रभाकरेण "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत" इति विध्यन्यथानुपपत्त्या सिद्ध्यतोऽध्ययनस्यापि तद्विधिविषयत्वमुररीकृतम्। भाट्टैः स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति विधिविषयत्वमशब्दार्थस्यापि मीमांसापर्यायस्य स्वीकृतम्। विधिविषयत्वमन्तरा तत्त्वोपदेशः कुत्र दृष्ट इत्यतो दृष्टान्तमाह— तत्त्वमसीतिवदिति। न च तत्रापि मा भगवन् विज्ञापयत्विति प्रार्थनानुरोधात् तत्त्वमसीति जानीहीति विधौ तात्पर्यमिति वाच्यम्। ज्ञाने विध्यनुपपत्तेरुक्तत्वात्। विज्ञापयत्विति प्रार्थनाबलादेव च न तत्त्वमसीति विचारयेत्यर्थसंभवो येन विचारविधेरपि संभावना स्यात्। न चात्र सर्वात्मक ईश्वरोऽस्मीति ज्ञातव्यमित्येतावन्मात्रमभिधाय कथं विधिः प्रतिषिध्यते यावन्मूले सर्वात्मक ईश्वरोऽस्मीति ज्ञानेनाच्छादनीयं जगदिति दृश्यते, तथा च ज्ञानविध्यसंभवेऽप्याच्छादनविधिरेवात्र भविष्यतीति वाच्यम्। ज्ञाने सत्याच्छादनस्य स्वतः सिद्धेस्तत्रापि विध्यनुपपत्तेरुक्तत्वात्। अत एव च टीकाकृताऽऽच्छादनं परित्यज्यैव ज्ञातव्यमित्येवं व्याख्या कृता। न चैवं मूले आच्छादनोक्तिवैफल्यमापद्येतेति वाच्यम्। आच्छादनस्य सकलानर्थनिवृत्तिरूपजगन्निवृत्तिस्वरूपत्वेन फलात्मकत्वात्फलविधया मूले तदुक्तिसाफल्यात्।

भावार्थं संगृह्णाति—ब्रह्मैवेति। ब्रह्मैव सर्वमात्मैव सर्वम्। कुतः? सत्प्रकाशा-

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

हेयोपादेयभावोऽयं न सन् स्वप्नवदीर्यते ॥

उक्तं च :—"न बन्धोऽस्ति न मोक्षोऽस्ति न विकल्पोऽस्ति तत्त्वतः ।
नित्यप्रकाश एवास्ति विश्वाकारो महेश्वरः ॥ इति

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

विशेषतः । सत्त्वात्प्रकाशमानत्वाच्चेत्यर्थः । सन् घटः सन् पट इत्येवमविशेषेण सर्वत्र सतो भानाद् व्यावर्त्तमानेभ्यो घटपटादिभ्यो भिन्नेऽनुवर्त्तमाने सति कल्पिता घटादयो न सद्भिन्ना भवितुमर्हन्ति । सर्वंव्यापकं चेदं सत्तदेव ब्रह्म बृहदिति ब्रह्मैव सर्वम् । तथा घटमहं जानामि पटमहं जानामि घटः स्फुरतीत्येवं स्फुरणानुगतं सकलम् । न हि स्फुरणसंसर्गेण स्फुरणस्वभावा भवन्ति घटादयः। न हि पटसंसर्गेण घटः पटभावमापद्यते । स्फुरणं चात्मैव जानाम्यहमित्यनुभवादिति स्फुरणस्वरूपे आत्मनि कल्पितास्ते घटादय एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति । न ह्यनात्मानः स्फुरणस्वभावा दृश्यत्वेन जडत्वादित्यात्मैवेदं सर्वम् । आत्मा च ब्रह्मैव सत्स्फुरणरूपत्वादित्येषोऽर्थस्तु सिद्ध एवेति नोपन्यस्तः । किं चात्मन उपादेयत्वं जगतो हेयत्वं च यच्छ्रुत्या प्रतीयते त्यक्तेन भुञ्जीथा इत्यात्मपालनजगत्त्यागाभ्यां, तन्न हेयोपादेयभावो न सन् = न वास्तविकः । किन्तु स्वप्नवदवास्तविक ईर्यत इत्यर्थः । अथ वा सर्वात्मक ईश्वरोऽहमिति ज्ञातव्यमित्यनेनात्मन उपादेयत्वं यत् प्रतीयते वास्यमाच्छादनीयं सकलमपि जगन्निवर्त्तयितव्यमिति जगतो हेयत्वं च यत्प्रतीयते सोऽयं हेयोपादेयभावो न वास्तविक इत्यर्थः। अथवा ननु सर्वस्य बृहदात्मस्वरूपत्वं न घटते, जगति हेयोपादेयभावदर्शनात् । न ह्यात्मा नाम हीयते वोपादीयते वा, तथा चेशावास्यं सर्वमिति कथमुपपद्यत इत्यत आह—हेयोपादेयेति ।

उक्तार्थे वृद्धसंमतिमाह—उक्तं चेति । बन्धो हेयः । मोक्ष उपादेयः । तदुभयमपि तत्त्वतः=परमार्थतो नास्तीत्यन्वयः । बन्धमोक्षौ तत्त्वतः कुतो न स्त इत्यत आह—न विकल्पोऽस्ति तत्त्वत इति । विकल्पसत्त्वे हि तत्सङ्गेन बन्धस्तादृशसङ्गपाशभेदनेन मोक्ष इति व्यवस्था संभवति । विकल्पश्च सुखदुःखप्रयोजकविविधकल्पलक्षणसंसारो मिथ्यैवेति कथं बन्धादिप्रसक्तिरित्यर्थः । बन्ध-मोक्ष-तत्प्रयोजकसंसाराणां विरहे किं तर्हि वस्तुतोऽस्तीत्यत आह—नित्येति । नित्य-प्रकाशः सत्स्फुरणस्वभावो महेश्वर एवास्तीत्यन्वयः । नन्वेवं सर्वजनीनानुभव-सिद्धस्य विश्वस्योपपत्तिः कथं स्यादित्याशङ्कायां स एव महेश्वरो मायावशाद्विश्वाकारेणाज्ञानिभिरुपलक्ष्यत इति न दोष इत्याशयेनाह—विश्वाकार इति ।

भाष्ये यथा चन्दनेति । ननु यथा रज्जुतत्त्वज्ञानेन सर्प आच्छाद्यते तथाऽऽत्मतत्त्वज्ञानेन जगदाच्छादनीयमिति सुगमे समञ्जसे दृष्टान्ते स्थिते चन्दनादिनि-

❀ भाष्यम् ❀

स्वेन परमात्मना । यथा चन्दनागर्वादेरुदकादिसम्बन्धजक्लेदा-

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

यस्यौपदेशिकज्ञानमात्रेणानृतदृष्टिर्न तिरस्क्रियते तस्य विचारादि-प्रयत्नेन तत्त्वप्रकाशे सति अनृतदृष्टिस्तिरस्क्रियेतेत्यभिप्रेत्य दृष्टान्त-माह—यथेति । चन्दनागर्वादेरुदकादिसम्बन्धादार्द्रीभावादिना जातं

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

घर्षणदृष्टान्तः कर्मघटितः कथं घटतामित्यतो दृष्टान्तविशेषोपादानतात्पर्यमाह टीकायां—यस्येति । औपदेशिकज्ञानमात्रेण = तत्त्वमसीत्यादिवाक्यजनिता-पातज्ञानमात्रेण । प्रकृतेऽपीशावास्यमिति यथाव्याख्यातशब्दजनितज्ञानमात्रेण । अनृतदृष्टिः=अनृतजगद्दृष्टिः । विचारादीति । आदिना वक्ष्यमाणभावना । प्रयत्नेनेति । एतदेव निघर्षणप्रयत्नकथनतात्पर्यमिति भावः ।

अत्रेदं विचार्यते । यस्यौपदेशिकज्ञानमात्रेणेत्यादिटीकाग्रन्थेन मध्यमाधि-कारी उत्तमाधिकारिभ्यो व्यावर्त्य प्रदर्श्यते । तत्रोत्तमाधिकारिणां कृते ईशावास्य-मिति तत्त्वोपदेशमात्रम् । मध्यमाधिकारिणां कृते विचारादिकर्त्तव्यविधानात्मकमिति कथमुपपद्यते । सकृदुच्चरितः शब्दो हि सकृदेवार्थं गमयति । न च प्रजहाति यदा कामानित्यादि सिद्धस्य लक्षणमेव यथा साधकस्य साध्यतयाप्युपदिश्यते तथात्रापि सर्वात्मक ईश्वरोऽहमिति सिद्धस्य ज्ञानमेव साधकस्य तदाकारविचारादि-प्रयत्नसाध्यतयाप्युपदिश्यतां, कात्रानुपपत्तिरिति वाच्यम् । यतः प्रजहातीत्यादि स्थित-प्रज्ञलक्षणकथनमफलम् । विधिनिषेधान्यतरानात्मकत्वात्, ब्रह्मोपदेशवत्सफला-पूर्वार्थज्ञानाजनकत्वाच्चेति युक्तं तत्र सिद्धलक्षणस्य साधकसाध्यतयोपन्यसनम् । यथार्थवादवाक्यानामसति विधिवाक्ये वैयर्थ्यप्रसङ्गेन विध्युन्नायकत्वम् । न ह्येवं प्रकृते । तत्त्वमसिमहावाक्यवदेवेशावास्यमित्यस्यापि सफलापूर्वार्थजनकत्वात् सर्वात्मक ईश्वरोस्मीत्यस्य तत्त्वमसीत्येतत्समानत्वात् । अन्यथा तत्त्वमसीत्यादावपि विचारक-र्त्तव्यविध्युन्नयनं स्यात् । तथा च सर्वत्र वाक्यभेदस्वीकारः स्यात् ।

ननु यथा चन्दनादेरित्यादिभाष्यं न पूर्वार्धोपपादकम् । किं तु तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा इति तृतीयपादविधेयसंन्यासावतरणपरम् । तच्च वक्ष्यति टीकाकार एव विचारादिप्रयत्नवतोऽनृतदृष्टितिरस्कारसंभावनामुक्त्वेत्यारभ्य सर्वकर्मसंन्यास एवाधि-कार इह मन्त्रे विवक्षित इत्यादिनेति चेन्न । यथा चन्दनागर्वादेरित्युपक्रम्य भाष्य-कृता मध्ये जगत्यां पृथिव्यां जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वादित्येवं पूर्वार्धगतशब्दानां

❀ भाष्यम् ❀

दिजमौपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूपनिघर्षणेनाच्छाद्यते स्वेन

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

व्याख्यानदर्शनात्। तृतीयपादोपक्रमरूपत्वे च ग्रन्थबहिर्भूतमेव विचारभावनादिक मवतरणविधया भाष्यकारैः प्रस्तुतमिति तन्मध्ये जगत्यां पृथिव्यामित्यादि व्याख्यान-मसंगतं स्यात्।

[1]"अत्र केचित्कल्पयन्ति यथा चन्दनागर्वादेरित्यादिभाष्यमध्ये जगत्यां पृथिव्यामित्यारभ्य विकारजातमित्यन्तपाठ आनन्दगिरिमते नास्त्येव। आनन्दगिरिभिस्तदस्पर्शात्। जगत्यां पृथिव्यामिति पूर्वं व्याख्यातत्त्वेन पुनरत्र व्याख्यावैफल्यस्य स्पष्टत्वाच्च। तस्माज्जगत्यां पृथिव्यां जगत् तत्सर्वं जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वात्सर्व-मेव नामरूपकर्माख्यं विकारजातम्" इत्येवं पूर्वत्रैव संपूर्णः पाठो भाष्ये। न चैव-मपि स्वरूपनिघर्षणेनाच्छाद्यते इति भाष्ये पूर्वार्धगतवास्यमित्यस्य व्याख्या दृश्यत इत्यसंगतितादवस्थ्यम्। टीकाकारस्याप्युक्तपाठाभ्युपगमे स्वाभाविकेन गन्धेनाच्छाद्यते इति विवरणमसंगतमिति वाच्यम्। पूर्वार्धगततत्त्वोपदेशफलभूताच्छादनस्यैव तृतीय-पादोक्तसंन्यासेनापि परम्परया संपादनीयत्वादाच्छादनपरामर्शमात्रं तत्, न तु पूर्वार्धगतवास्यपदव्याख्या। एतच्च यस्यौपदेशिकज्ञानमात्रेणानृतदृष्टिर्न तिरस्क्रियते तस्य विचारादिप्रयत्नेन तत्त्वप्रकाशे सत्यनृतदृष्टिस्तिरस्क्रियेतेति टीकापङ्क्तावेव स्फुटम् आच्छादनस्यैव तिरस्कारपदेन टीकाकारेणोक्तेः। अत्र च वस्तुस्थितिः सुधीभिरेव परिशोधनीया।

---

१. अत्र टीकोन्नीतो भाष्यपाठः—

'ईशा। ईष्ट इतीट् तेनेशा। ईशिता परमेश्वरः परमात्मा सर्वस्य, स हि सर्वमीष्टे सर्वजन्तूनामात्मा सन्। तेन स्वेनात्मनेशा वास्य-माच्छादनीयम्। किम्? इदं सर्वं यत्किंच यत्किंचिज्जगत्यां पृथिव्यां जगत्तत्सर्वम्। जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वात् सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकारजातम्। स्वेनात्मनाऽहमेवेदं सर्वमिति परमार्थसत्यरूपेणानृत-मिदं सर्वं चराचरमाच्छादनीयं स्वेन परमात्मना। यथा चन्दनागर्वा-देरुदकादिसम्बन्धजक्लेदादिजमौपाधिकं दौर्गन्ध्यं तत्स्वरूपनिघर्षणे-नाच्छाद्यते स्वेन पारमार्थिकेन गन्धेन तद्वदेव हि स्वात्मन्यध्यस्तं स्वाभाविकं कर्तृभोक्तृत्वादिलक्षणं जगद् द्वैतरूपं परमार्थसत्यात्म-भावनया त्यक्तं स्यात्। एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रय-संन्यास एवाधिकारो न कर्मसु। तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः।'

❀ भाष्यम् ❀

पारमार्थिकेन गन्धेन, तद्वदेव हि स्वात्मन्यध्यस्तं स्वाभाविकं

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

यद्दौर्गन्ध्यं मिथ्या तद्यथा तत्स्वरूपनिघर्षणाभिव्यक्तेन स्वाभाविकेन गन्धेनाच्छाद्यते तद्वद् विचारादिप्रयत्नाभिव्यक्तात्मस्वरूपस्य वस्तुस्वभावाद् मिथ्याबुद्धिबाधकत्वं संभवतीत्याह—तद्वदेव हीति । स्वभावोऽ-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

मिथ्येति । चन्दनीयत्वेन रूपेण मिथ्येत्यर्थः ।

भाष्ये तत्स्वरूपनिघर्षणेनेति । अत्र स्वरूपपदं दार्ष्टान्तिके योजनासौगम्याय । निघर्षणेत्यनन्तरमभिव्यक्तेनेति शेषः । तस्य पारमार्थिकेन गन्धेनेत्यग्रेऽन्वयः । निघर्षणपदं वा निघर्षणाभिव्यक्तपरम् । तस्यान्वयः पूर्ववदुत्तरेण । यद्वा स्वरूपनिघर्षणेनेत्यस्य निघर्षणाभिव्यक्तस्वरूपेणेत्यर्थः । अन्वयः पूर्ववत् ।

ननु दृष्टान्ते औपाधिकं दौर्गन्ध्यमित्युक्तम् । दार्ष्टान्तिके किमिदमुच्यते स्वाभाविकमिति विषमम् । किं च कर्तृत्वभोक्तृत्वादेः स्वाभाविकत्वे तत्तिरस्कारो दुर्घटः । न हि वह्नेरौष्ण्यं वियोजयितुं शक्यत इत्यतो व्याचष्टे—स्वभाव इत्यादि । स्वभाव इत्यस्य सहप्रवृत्तार्थकत्वं वह्नेः स्वाभाविकमौष्ण्यमित्यादौ प्रसिद्धम् । आत्मा चानादिरिति तत्सहप्रवृत्ताया अपि अनादित्वं फलितमित्याशयेनाह—अनादिरिति । ननु वह्नेरौष्ण्यं स्वाभाविकमित्यत्र न सहप्रवृत्तत्वमात्रमर्थः किन्तु स्वरूपमित्येतत्पर्यन्तः । यच्च स्वरूपं तन्न निवर्तयितुं शक्यमिति कर्तृत्वभोक्तृत्वादिकमपि स्वाभाविकत्वान्न निवर्त्तेतेत्याशङ्कायां, न तावत्स्वरूपपर्यन्तार्थकत्वं स्वभावपदस्य युक्तम्, गगनस्य स्वाभाविकं रूपं नीलमिति व्यवहारदर्शनात् । न च तत्रापि नीलस्वरूपत्वविभ्रमादेव गगनस्य स्वाभाविकं नीलरूपमिति व्यवहार इति वाच्यम् । इहापि कर्तृत्वभोक्तृत्वादेः स्वरूपत्वविभ्रमादेव स्वाभाविकं कर्तृत्वभोक्तृत्वादिकमिति व्यवहारोऽस्तु । न च भाष्यकारस्य भ्रान्तिविरहात्कथं स्वाभाविकमित्युच्यते, न ह्यभ्रान्तो गगनस्य स्वाभाविकं रूपं नीलमिति ब्रवीतीति वाच्यम् । बालकबुबोधयिषया लौकिकदृष्ट्या चाऽभ्रान्तस्यापि तथाव्यवहारदर्शनादित्याशयेन परिहारं कुर्वन्ननादिपदार्थं विवृणोति—अविद्येति । भाष्येऽप्यध्यस्तमित्यनेनायमर्थ उदीरित इति द्रष्टव्यम् । यद्वा स्वभावशब्दो रूढः प्रकृतौ । स्वभावमेके कवयो वदन्तीत्यादौ तथादर्शनात् । स्वयं भवतीति स्वभावः । न च स्वयं भवनं ब्रह्मण्यप्यस्तीति वाच्यम् । भावपदेनास्तित्वलक्षणविकारस्याभिमतत्वात् । प्रकृतिश्च स्वयं स्वरूपेण परिणमत इति

❀ भाष्यम् ❀

कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं जगद्-द्वैतरूपं, जगत्यां—पृथिव्यां,

❀ आनन्दगिरिय टीका ❀

नादिरविद्या तत्कार्यं स्वाभाविकमित्यादि बाधयोग्यत्वप्रदर्शनार्थं विशेषणम् ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

भवति तत्रास्तित्वपरिणामः इत्याशयेन स्वभावपदार्थमाह—अनादिरविद्येति । इत्यादीति । आदिना स्वात्मन्यध्यस्तमिति भाष्योक्तविशेषणान्तरग्रहणम् । वस्तुतस्तु स्वात्मन्यध्यस्तमिति विशेषणस्यैव बाधयोग्यत्वसमर्पणसमर्थतया स्वाभाविकमित्यस्य सहप्रवृत्तत्वमात्रमर्थो विवक्षितः । आत्मा चानादिरिति सहप्रवृत्तस्याप्यनादिकालीनत्वं सिद्ध्यति । एवदुक्तिश्च स्वतो वोपायान्तरेण वा निवर्त्तयितुमशक्यं कर्तृत्वादीत्येतत्सूचनार्थम् । न ह्यनादिप्रवृत्तं स्वतो निवर्त्तते क्षणिकज्ञानवत् । न वाऽनादिभावो ज्ञानेतरेण केनचिद्भावान्तरेण निवर्त्तमानो दृष्टः । तर्हि नैव निवर्त्तेतेत्याशङ्कापरिहारार्थं भाष्ये स्वात्मन्यध्यस्तमित्युक्तम् । अध्यस्तस्य ज्ञानबाध्यत्वान्निवृत्तिः संभवतीति भावः ।

यद्वाऽऽत्मन्यध्यस्तमिति बाधयोग्यत्वप्रदर्शनार्थमिति पूर्ववत् स्वाभाविकमित्यनाद्यविद्याप्रसूतत्वलाभाय । तत्राविद्याया अनादित्वोक्तिस्त्यक्ताया बाधितायाः पुनरुत्पत्तिर्मा भूदिति प्रतिपादयितुम् । तथा चोपदेशसाहस्र्यां—

"निवृत्ता सा कथं भूयः प्रसूयेत प्रमाणतः
असत्येवाविशेषेऽपि प्रत्यगात्मनि केवले
न चेद्भूयः प्रसूयेत कर्त्ता भोक्तेति धीः कथम्" इति

प्रमाणतः निवृत्ता साऽविद्या भूयः कथं प्रसूयेतोत्पद्येत । अनादेर्निवृत्तौ पुनरुत्पत्त्यप्रसक्तेः, न चान्यामविद्यामात्मा उत्पादयिष्यतीति वक्तुं शक्यम्, तत्र हेतुगर्भं विशेषणम् :—केवले = अद्वैते निमित्तकारणान्तररहिते किंचाऽविशेषे=जनकताप्रयोजकविशेषधर्मरहिते । ननु नष्टायामप्यविद्यायां घटविनाशे मृदुपादानावशेषसंभवादुत्पत्स्यत इत्यत आह—असतीति बाधोत्तरं न बाधितस्य विवर्त्तकारणातिरिक्तमुपादानकारणं किंचिदवतिष्ठते । न हि रज्जौ सर्पस्य बाधे सर्पोपादानभूताः केचन तदवयवा अवतिष्ठन्ते । बाधिता चेयमविद्येति न तदवयवादिसंभावनेति साऽसतीत्यर्थः । न सती असतीति दीर्घान्तच्छेदः । न चाविद्यान्तरमनादिकालीनम् । अविद्यान्तरसत्त्वे मानाभावात् । तत्सत्त्वोपगमे वा प्रथमाविद्यया सह सापि बाधिता भवेद् । बाधकस्य ज्ञानस्याविशिष्टत्वात् । अविद्याविरहाच्च न

❀ भाष्यम् ❀

जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वात् सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकार-जातं परमार्थसत्यात्मभावनया त्यक्तं स्यात् ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसंभव इत्याह—न चेदिति । तथा चात्रेशावास्यमित्यनेन स्वाभाविककर्तृत्वभोक्तृत्वादिद्वैतसंसारनिवृत्त्युक्तेः पुनर्द्वैताप्रसक्तौ परमपुरुषार्थ-सिद्धिर्भवतीति सूचितम् ।

ननु रज्जुज्ञानेन रज्ज्वज्ञाननिवृत्तिपूर्वकं सर्पनिवृत्तावपि पुनः कालान्तरे रज्ज्वज्ञानं ततः सर्पोत्पत्तिश्च दृश्यत इत्यज्ञानस्य स्वाभाविकत्वं निवृत्तस्य पुनर-नुत्पादश्चासिद्ध एवेति नाज्ञानतत्कार्यनिवृत्त्योः परमपुरुषार्थतेति चेन्न । रज्जुज्ञानेना-ज्ञाननिवृत्तौ मोक्षप्रसक्तिः स्यादिति न तत्राज्ञाननिवृत्तिः । किन्तु यत्र प्रकाशाग-मस्तत्र तमोपसरणं प्रकाशापगमे च पुनरागमो यथा तद्वदेव रज्ज्वाकारचित्त-वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यप्रकाशे रज्ज्वज्ञानापसरणं वृत्तिविगमेन तथाविधचैतन्यप्रकाशा-पगमे च पुनरज्ञानागम इति । ब्रह्माकारवृत्तौ च सर्वथाऽज्ञाननिवृत्तेर्न पुनरागम-प्रसक्तिः । इतरे त्ववस्थाज्ञानमुपगम्य द्वितीयादिरज्जुसर्पोपपत्तिं कुर्वन्ति । पराक्रान्तं चात्र सूरिभिर्बहुधेति नात्र विस्तरः क्रियते ।

भाष्ये विकारजातमिति जगत्पदार्थः । गच्छति विकरोतीति जगत् । किं तदित्याह—नामरूपकर्माख्यमिति । तच्च पृथिवीभवमात्रं न विवक्षितं, जगत्या-मित्यस्योपलक्षणार्थत्वादित्याह—जगत्यामित्युपलक्षणार्थत्वादिति । उपलक्षण-विधया स्वर्गादिभवं विकारजातमपि गृह्येत, न पुनराधारभूतपृथिवीस्वर्गादिक-मित्याशङ्कां परिहरन् कियत्परिमाणं विकारजातं ग्राह्यमित्येतत्समाधत्ते—सर्वमिति । एवं जगत्यां जगदित्यस्याभिप्रायं प्रदर्श्य ईशावास्यमित्यनेन लभ्यमर्थमाह—**परमार्थसत्यात्मभावनया त्यक्तं स्यादिति** । तथा च विकारजाते स्थिते एव तदाच्छादनमित्येतावन्मात्रं न विवक्षितं, किन्तु सर्वबाधे एव परमतात्पर्यम् । न च लेशाविद्याप्रयुक्ते जगति स्थित एवाच्छादनं पूर्वं दर्शितमिति वाच्यम् । तस्य प्रथम-सोपानरूपत्वेऽपि तन्मार्गेण सर्वबाधस्यैव परमतात्पर्यविषयत्वादिति ध्येयम् । अत्र त्यक्तं स्यादिति भाष्येण तेन त्यक्तेनेत्युत्तरसर्वनामपरामर्शनीयत्यक्तोपक्षेपः कृतः ।

नन्वत्र परमार्थसत्यात्मभावनया सर्वं त्यक्तं स्यादित्ययुक्तम् । भावनाया मानसव्यापाररूपाया बाधाऽप्रयोजकत्वादिति चेन्न ! त्यक्तं स्यादिति लिङा संभाव-नाया एवोच्यमानत्वात् । त्यक्तं भविष्यतीति तदर्थः । तथा च परमार्थसत्यात्म-भावनया तत्त्वसाक्षात्कारे जाते सति सर्वं विकारजातं त्यक्तं भविष्यतीति भाष्य-

❀ भाष्यम् ❀

एवमीश्वरात्मभावनया युक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मसु । तेन त्यक्तेन त्यागेनेत्यर्थः । न हि त्यक्तो मृतः पुत्रो

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

तात्पर्यमिति न कोऽपि दोषः ।

ननु मा गृध. कस्यस्विद्धनस्य परस्य वा धनमित्यग्रे वक्ष्यते । तदयुक्तम् परमार्थसत्यभावनया सह कर्मणोऽपि करणीयत्वात् । वक्ष्यति च विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सहेति । न च ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो निषेत्स्यत इति वाच्यम् । निषिध्यतां ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो न त्वत्र ज्ञानकर्मसमुच्चयं वदामः । आत्मभावनाया मानसव्यापाररूपाया ज्ञानस्वरूपत्वविरहात् । ज्ञानसाधनीभूतात्मभावनया सह कर्मसमुच्चये दोषासंभवादित्यत आह—भाष्ये एवमीश्वरात्मभावनयेति । न केवलमपरोक्षज्ञानेन सहैव कर्मासमुच्चयः किन्तु परोक्षज्ञानेनापि । यद्यपि सहाऽसंभवलक्षणोऽसमुच्चयस्तु नास्ति । तथापि सहैककार्यकारित्वाभावलक्षणः स भवत्येव । नाहं कर्त्ता भोक्तेति परोक्षज्ञानवांस्तदपरोक्षतार्थमीश्वरात्मभावनामुपाददानः कथं नाम तद्विरुद्धकर्तृत्वभोक्तृत्वादिप्रयुक्ते कर्मणि प्रवर्त्तेत । वचने सति प्रवर्त्तेतापि । न पुनर्वचनं किमप्युपलभामहे । प्रत्युत पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यां चरन्तीत्येषणात्यागमेव शृणुमः तस्मादीश्वरात्मभावनापरपर्यायज्ञाननिष्ठास्तस्य कर्मसंन्यास एवाधिकारान्मा गृधः कस्यस्विद्धनमिति युक्त एवाग्रे नियमविधिरिति भावः । किं चैषणात्रयपूर्वककर्मप्रयोज्यत्वात् सर्वस्य संसारस्य, तत्त्यागायेश्वरात्मभावनायां प्रवृत्तपुरुषसहकार्यपि सर्वैषणात्यागो भवतीति द्रष्टव्यम् ।

एवमेषणात्रयसंन्यासपूर्वकेश्वरात्मभावनालक्षणज्ञाननिष्ठया सकलविकारद्वैतप्रपञ्चबाधलक्षणाच्छादनापरपर्यायत्यागमभिधाय तादृशत्यागप्रयुक्तात्मरक्षणप्रतिपादनपरां तेन त्यक्तेनेतिश्रुतिं व्याख्यातुमपक्रमते—तेन त्यक्तेनेत्यादि । अच्छादनीयमित्यनेन लब्धं त्यक्तं जगदिति, तत्र त्यक्तं जगन्नात्मरक्षाकारणं किन्तु यथोक्तजगत्त्यागो बाधात्मक एव तथेत्याशयेन व्याचष्टे—त्यागेनेत्यर्थ इति । त्यक्त इत्यनेन बाधपर्यन्तस्य विवक्षितत्वाच्छब्दान्तरमाह—मृत इति । सोऽयं यथाश्रुतभाष्यार्थः ।

टीकाकारस्तु आच्छादनीयमित्यनेन लब्धं भाष्योक्तं त्यक्तं स्यादित्येतत्तेन त्यक्तेनेत्यत्र न गृहीतवान् । किन्तु तेन त्यक्तेनेत्येतत्परामर्शनीयमेषणात्रयसन्यासमर्थतः स्वीकृत्य तत्परामर्शनीयोपपादनविधया एवमीश्वरात्मेत्यादि भाष्यं योजयामास । तदनुसारेण संप्रति योजनां कुर्मः ।

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

एवं विचारादिप्रयत्नवतोऽनृतदृष्टितिरस्कारसंभावनामुक्त्वा युक्त्यनभिज्ञस्य सर्वमिदमहं चेश्वर एवेति भावनायामधिकृतस्य युक्तिकुशलस्य च विचारेऽधिकृतस्य सर्वकर्मसंन्यास एवाधिकार इह मन्त्रे विवक्षितः, तेन त्यक्तेनेत्यत्र त्यागपरामर्शात्, "त्यजतैव हि तज्ज्ञेयं

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

स्वरूपनिघर्षणदृष्टान्तेन प्रयत्नसाध्यविचारादिः सामान्येन प्रदर्शितः। विचारो भावना चेति द्वयं प्रयत्नसाध्यम्। तत्र विचारस्य प्रसिद्धत्वाद् भावनां विशिष्योपादाय भाष्ये एवमीश्वरभावनयेति। तदिदं व्याख्यातुं यथा चन्दनागर्वादेरित्यादिभाष्यतात्पर्यार्थं संक्षिप्य विचारभावनयोर्विभागं दर्शयन्नेवाभिप्रायार्थमाह टीकायां एवं विचारादीति। आदिना भावना। उक्त्वेति। स्वरूपनिघर्षणोक्त्या विचारादिं स्वाभाविकादिपदेनानृतदृष्टेस्तिरस्कारयोग्यत्वसंभावनां चोक्त्वेति विवेकः। यद्वा परमार्थसत्यात्मभावनयेति भाष्ये भावनापदस्य विचारभावनोभयपरत्वाद् विकारजातं त्यक्तं स्यादिति लिङः संभावनार्थत्वेनानृतदृष्टितिरस्कारसंभावनापरत्वाद् विचारादिप्रयत्नवतोऽनृतदृष्टितिरस्कारसंभावनामुक्त्वेत्यभिहितम्। अत्र पक्षे एवमीश्वरात्मभावनयेति भाष्यपङ्क्तावपि भावनापदं विचारभावनोभयपरमिति सुव्याख्यमिति द्रष्टव्यम्। विचारः कस्य भावना च कस्येति विविनक्ति युक्त्यनभिज्ञस्येत्यादि। सर्वकर्मसंन्यास एव। उभयोरपि संन्यासोऽविशिष्ट इति भावः इह मन्त्रे विवक्षित इति। नन्वेष तत्त्वोपदेश इति प्रागुक्तम् अधुना किमिदमुच्यते सर्वकर्मसंन्यास इह मन्त्रे विवक्षित इति। न च विधित्सितत्वेन विवक्षितार्थः स एव भवति, अविधित्सितस्यार्थवादत्वादिति वाच्यम्। वेदान्तनये सिद्धपदार्थस्याप्यपूर्वत्वे सफलतदर्थप्रतिपादकवाक्यस्य स्वार्थतात्पर्योपगमेन आत्मयाथात्म्यलक्षणतत्त्वस्यापि विवक्षितत्वावश्यंभावादिति चेद्? सत्यम्, इह मन्त्रे इत्यनेन इह मन्त्रे उत्तरार्धे इत्यर्थत्वात्। पूर्वार्धे तत्त्वोपदेशः। तृतीयपादे संन्यासविधिश्चतुर्थे च तत्र नियम इति। केचित्तु ज्ञानिनामपि कर्मसंन्यास एवाधिकारात्पूर्वार्धे तत्त्वोपदेशेऽपि संन्यासविधानार्थतया तदुपदेशाद्यथाश्रुतं संगतमेवेति वदन्ति। नन्वत्र संन्यासपदस्यैवानुपलम्भात् कथं संन्यासविधिर्विवक्षित इत्युच्यते। न च पूर्वार्धे वास्यमित्यनेन संन्यास उक्तः, त्यक्तं स्यादिति भाष्यादिति वाच्यम्। तस्य तत्त्वोपदेशात्मकत्वात्, तत्रापि संन्यासार्थकस्पष्टशब्दविरहाच्चेत्यत आह—तेन त्यक्तेनेत्यत्र त्यागपरामर्शादिति। ननु त्यक्तेनेत्यत्र सर्वकर्मसंन्यासात्मकत्याग एव विवक्षित इति कुतः? क्तान्तत्यक्तपदस्यार्थान्तरसंभवादतो वाक्यान्तरेण संवादयति—त्यजतेति। ज्ञेयं विकारजातं त्यजतैव यूयं न तु गृह्णीत।

❁ आनन्दगिरीय टीका ❁

त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम्” इत्यन्यत्राप्युक्तत्वात्, पुत्राद्येषणायाश्चित्त-विक्षेपहेतुत्वेन प्रसिद्धत्वाच्चेत्यभिप्रेत्याह—एवमीश्वरात्मेति। विधि-

❁ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❁

कुतः? यतो हि त्यक्तुर्विकारजातपरित्यागकर्त्तुर्बाह्यविषयादपेतस्य प्रत्यगान्तरं परं पदं भवति। अत्र चात्यक्तुः प्रत्यक्पदविरहसूचनाद्विद्यमानस्याविद्यमानत्वापादन-लक्षणप्रत्यगात्मघातः, त्यक्तुश्च प्रत्यगात्मरक्षेति लभ्यत इति प्रकृतसंगतिः। न चात्र ज्ञेयपरित्याग एवोक्तो न तु सर्वकर्मसंन्यास इति वाच्यम्। कर्मणामपि ज्ञेयत्वात्। एषणात्रयसंन्यास इत्यनेन ज्ञेयसंन्यासपर्यवसानात्। वचनेन संवाद्य लोकानुभवमपि तत्राह—पुत्राद्येषणेति। चित्तविक्षेपे सति द्वैतभावनयाऽद्वैतात्म-घातस्तद्विरहेण चात्मरक्षेति पूर्ववत्संगतिः।

भाष्ये पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवेति। ननु सर्वं विकारजातं त्यक्तं स्यादित्युपक्षिप्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासमात्रं किमिति संप्रत्युच्यते। पुत्रादीनां सर्वेषामेव बाधे एषणाया अप्रसक्तेरेव तत्त्यागकथनानुपयोगाच्च। न च कुर्वन्नेवेह कर्माणीति द्वितीयमन्त्रस्य पुत्राद्येषणात्रयासमर्थं प्रति कर्मविधानात्पूर्वमन्त्रे स एवार्थो वक्तव्य इति वाच्यम्। आत्मग्रहणायासमर्थमिति व्याख्यानेनोपपत्तेरिति चेन्न। सर्वं विकारजातं बाधितं स्यादिति संभावनार्थत्वात्तत्र साधनविधया पृथगेव पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासस्याभिहितत्वात् त्यक्तमित्येतत्परामर्शकृत्त्वविरहेण दोषाभावात्।

पुत्रवित्तलोकैषणाभिः कर्मैवोपलक्ष्यते। पुत्रो मे स्यादथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति श्रुतौ कर्मोपकरणतयैव पुत्रवित्तयोः प्रतिपादनात्। लोकस्य च कर्मफलत्वात्। तथा चैषणात्रयसंन्यास इति कर्मसंन्यास इति च समानार्थ-प्रयोग इति द्रष्टव्यम्। एवं चैषणाया विक्षेपहेतुत्वोक्तिरपि टीकाकृतां कर्मप्रसक्त्या-क्षेपपर्यवसिता। न च स्वातन्त्र्येणाप्येषणानां विक्षेपहेतुत्वमनुभवसिद्धमिति वाच्यम्। इच्छामात्रस्यापि चित्तविक्षेपहेतुत्वादेषणात्रयपर्यन्तगमनस्यापि वैयर्थ्या-पातप्रसङ्गात्। न च तर्हि इच्छासामान्योपलक्षणमेवाङ्गीक्रियतामिति वाच्यम्। रागसामान्यपरित्यागनियमविधेर्मा गृध इति वक्ष्यमाणतया तस्यात्रावक्तव्यत्वात्।

परे तु एषणात्रयसंन्यासोक्त्या विहितकर्मपरित्यागवन्निषिद्धकर्मपरित्यागोऽप्युप-लक्षणीयः। त्यज धर्ममधर्मं चेति स्मृतेः। धर्ममधर्ममित्यस्यावृत्त्या मिश्रमपि। अत एव भाष्ये एषणात्रयसंन्यास एवाधिकारो न कर्मसु इत्युक्तम्। संन्यास एवेत्येव-कारस्य व्यावर्त्त्यमाह—न कर्मस्विति। तच्चैषणात्रयपदेन कर्मसामान्यविवक्षायामेव घटते, एवकारादेः स्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदाव-च्छिन्नव्यावृत्त्यर्थत्वनियमात्। न हि भवति ज्वरितस्य भोजनत्याग एव युक्तो न तु

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

जलपानमित्येवंविधः प्रयोगः ।

यत्तु त्यक्तेनेति न भावार्थकम् । किन्तु भूतार्थकमेव । तेन पूर्वोक्तेन त्यक्तेन जगतोपलक्षित इत्यर्थः । इत्थंभूतलक्षणे तृतीया । अवर्त्तमानस्यापि भूतपूर्वसम्बन्धेनोपलक्षणत्वं सुघटम् । यथाऽविद्यमानेनापि काकेन देवदत्तगृहोपलक्षणमिति । तदसत् । अत्यक्तजगत्सम्बन्धस्य पूर्वं संभवेऽपि त्यक्तजगत्सम्बन्धस्य कदाप्यसंभवेन तेनोपलक्षणायोगात् । काकवन्तो देवदत्तस्य गृहा इत्यत्र निर्विशेषणकाकस्य कदाचित्सम्बन्धस्य स्थितत्वेन संभवत्युपलक्षणत्वम् । गृहासंसृष्टकाकादिस्तु नोपलक्षणं भवति । न च त्यक्तत्वावच्छिन्नजगदुपलक्षणाऽसंभवेऽपि त्यक्तत्वोपलक्षितजगदुपलक्षितत्वसंभवान्नानुपपत्तिरिति वाच्यम् । पूर्वं त्यक्त्वा पश्चात्परिगृहीतेऽपि त्यक्तजगदुपलक्षणसंभवेन विवक्षितार्थाऽसिद्धेः । वस्तुतस्तु काकवन्तो देवदत्तस्य गृहा इत्यर्थे काकेन देवदत्तगृहा इति प्रयोगो न भवत्येव । न हि लक्षणमात्रे तृतीया । तथा हि सूत्रम्ः—'इत्थं भूतलक्षणे ।' तत्र वृत्तिः-कञ्चित्प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया । जटाभिस्तापसः । जटाज्ञाप्यतापसत्वविशिष्ट इत्यर्थं इति । अत्र तापसशब्दार्थे प्रकारस्तापसत्वं तस्य ज्ञापकभूता जटाः । तापसानां प्रायो जटादर्शनात् । कमण्डलुना छात्र इत्यत्रापि दण्डकमण्डल्वादेश्छात्रभूषणत्वादुपपत्तिः । यथा पुरुषस्तापसत्वच्छात्रत्वादिलक्षणं प्रकारं प्राप्नोति न तथा गृहाः कञ्चित्प्रकारं प्राप्ताः । यथाकथंचिद् देवदत्तीयत्वस्य प्राप्यमाणप्रकारत्वाभ्युपगमेऽपि न तल्लक्षणं काकः । देवदत्तीयत्वस्य घटपटद्रव्यादिषु सहस्रशो वस्तुषु सत्त्वात् तत्र काकविरहात् । न च "अपि भवान् कमण्डलुपाणिं छात्रमद्राक्षीदिति सकृदसौ कमण्डलुपाणिश्छात्रो दृष्टस्तस्य तदेव लक्षणमि"ति भाष्ये व्याप्तिं विना सकृद्दृष्टस्यापि लक्षणत्वमुक्तमिति वाच्यम् । यतो न कञ्चित्प्रकारं प्राप्तस्य तत्र लक्षणं भाष्यकृता प्रोक्तम् । असौ छात्र इत्यदसः प्रयोगाद् व्यक्तिविशेषलक्षणस्यैवोक्तत्वात् । प्रकारविशिष्टलक्षणस्थले तु प्रकारस्यापि लक्ष्येण भवितव्यम् । तच्च प्रायोदर्शनायत्तमेव । देवदत्तीयत्वविशिष्टगृहत्वं तु न गृहेण प्राप्यमाणो धर्मः । गृहे गृहत्वस्य नित्यसम्बद्धत्वात् । इत्थंभूतेत्यत्र प्राप्त्यर्थको भूधातुः । उक्तं च शेखरे—'इत्थंशब्दः प्रकारमात्रपरः । प्राप्त्यर्थाद् भुवः कर्त्तरि क्तः' इति । सिद्धप्रकारलक्षणेऽपि तृतीयोपगमे इत्थंलक्षणे इत्येव सूत्रितं स्यात् । प्रकारस्य लक्षणे इति तदर्थः स्यात् । किं च तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा इत्यत्र मध्यमपुरुषानुरोधेन लभ्यस्त्वंपदार्थो न केनचित्प्रकारविशेषेणोपतिष्ठते येन तत्प्रकारलक्षणं त्यक्तजगत् स्यात् । न चेशावास्यमित्युपदिष्टो जगदाच्छादकस्त्वंपदार्थ इति जगदाच्छादनं तत्र प्रकारस्तल्लक्षणं त्यक्तजगत् स्यादिति वाच्यम् । ईशा व्याप्यमिति व्याख्यानपक्षे तद-

ॐ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ॐ

संभवात्। जगदाच्छादनपद्मानुसारेण, ईशा व्याप्यमित्यनन्तरम् इति ज्ञातव्यमिति शब्दाध्याहारेणेशव्याप्तिज्ञातृत्वपर्यन्तस्वीकारेण वा जगदाच्छादनेशव्याप्तिज्ञानादि-लक्षणप्रकारसंपादनसंभवेऽपि न स मध्यमपुरुषोपस्थाप्यत्वपदार्थप्रकारः संभवति। सम्बोध्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नमात्रस्य त्वंपदार्थत्वात्। न हि मध्यमपुरुषेणाक्षिप्यमाणस्त्वंपदार्थे एतदधिकः संभवति। ईशा वास्यमिति त्वया ज्ञातव्यं स त्वं तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा इति व्याख्याते 'स' इतिपदेन यथोक्तार्थविशेषलाभसंभवेऽपि न क्लिष्टतराध्याहारं विना तादृशार्थलाभः कथंचिदपि संभवति। किं च त्यक्तजगज्ज्ञाप्यजगदाच्छादनादिमांस्त्वं भुञ्जीथा इत्यत्र ज्ञाप्यान्तमनर्थकं ज्ञाप्यसिद्धौ ज्ञापकस्य स्वयमेव प्राप्तेः। तथा च प्राप्तत्वाद्विधेयत्वं न सभवति। तस्मादित्थंभूतलक्षणेऽत्र तृतीयेति मिथ्यैवाभिमानः। ननु ज्ञायमानत्वेन लिङ्गं करणमित्यत्र ज्ञायमानत्वज्ञाप्यताया लिङ्गत्वे विरहेऽपि तत्र तृतीया भवति। अनुशासनान्तरविरहाच्चानेनैव सूत्रेण तत्र तृतीयेति गदाधरभट्टाचार्यैर्व्युत्पत्तिवादे प्रोक्तम्। तत्र च यथा वैशिष्ट्यमात्रं तृतीयार्थस्तथाऽत्रापि भविष्यतीति चेन्न। तत्रैव भट्टाचार्यैर्लक्षणत्वं च व्यावर्त्तकत्वं तच्च विशेष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वमिति लक्षणलक्षणमभिहितम्। तथा च परिगृहीतजगत्काले विशेष्यतावच्छेदकसम्बोध्यपुरुषत्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वस्य त्यक्तजगति सत्वात्त्यक्तोपलक्षितसम्बोध्यपुरुषसत्वाद्विवक्षितत्यागविध्यनुपपत्तिर्ध्रुवैव। न च विशेष्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वस्य लक्षणत्वे जलत्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगिनो वह्नेर्जललक्षणत्वं स्यादिति वाच्यम्। विशेष्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्यस्याभावे प्रतियोगिनि चोभयत्रान्वयात्। विशेष्यतावच्छेदकविशिष्टत्वमिति यावत्। वैशिष्ट्यं च स्वसामानाधिकरण्यस्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वोभयसम्बन्धेन। गन्धेन पृथिवी जटाभिरतत्तापस इत्यादौ तु हेताविति सूत्रेण तृतीया। ज्ञापककारकोभयसाधारणहेतोरेव तत्र हेतुपदार्थत्वादिति तु गूढार्थतत्त्वालोके स्पष्टीकृतम्।

वस्तुतस्तु वैशिष्ट्ये तृतीयाभ्युपगमे घटवद्भूतलमित्यर्थे घटेन भूतलमित्यपि प्रयोगः स्यात्। न च तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुब् इति सूत्रेऽस्तीत्यर्थे विहितानां मतुबादीनां वर्त्तमानसम्बन्धार्थकत्वाद् वर्त्तमानत्वस्य च लक्षणतृतीयया अलाभाद् घटवद्भूतलमित्यर्थे घटेन भूतलमिति प्रयोगो नापद्यत इति वाच्यम्। यतो मास्तु वर्त्तमानत्वप्रतीतिः। वैशिष्ट्यमात्रबोधनाय तथा प्रयोगो दुर्वार एव। घटविशिष्टं भूतलमित्यर्थे घटेन भूतलमिति प्रयोगापत्तेः सत्त्वात्। तस्माद् ज्ञायमानत्वेन लिङ्गं करणमित्यादौ सहार्थे तृतीया। ज्ञायमानत्वेन सह लिङ्गं करणमिति।

❀ भाष्यम् ❀

वा भृत्यो वाऽऽत्मसंबन्धिताया अभावादात्मानं पालयत्यत-स्त्यागेनेत्ययमेव वेदार्थः ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम ❀

न च समभिव्याहृतपदोपस्थाप्यक्रियासमानकालीनक्रियान्वयित्वलक्षणं साहित्यमत्र न संभवति क्रियापदविरहादिति वाच्यम् । पुत्रेण सह स्थूलः पुत्रेण सह पिङ्गल इत्येवं भाष्ये प्रकृतसूत्रोदाहरणाभिधानात्क्रियान्वयस्यविरहात् । न च समभिव्या-हृतपदोपस्थाप्यस्य समानसम्बन्धेनान्वयित्वमेव साहित्यम । पुत्रेण सहागतः पितेत्यादावागमनक्रियायाः पितृपुत्रयोरुभयोः समवायेनैव स्थितेरुपपत्तिः । ज्ञाय-मानत्वेन लिङ्गं करणमित्यत्र लिङ्गेऽभेदेन, ज्ञायमानत्वे चावच्छेदकतयेति वैषम्यमिति वाच्यम । वस्त्रेण सहागच्छतीत्यादावेकसम्बन्धेन क्रियाया उभयान्वयित्व-विरहात् । अत एवाप्रधानत्वम् । विवक्षाकृतकिंचिद्भेदमादायैव पुत्रेण सहागत इति प्रयोगः । अन्यथा पितृपुत्रावागच्छत इत्येव स्यात् । पुत्रेण पिता स्थूल इत्यादौ पितरि स्थूलस्याभेदेनान्वयः । पुत्रेणेत्यत्र तृतीयासत्त्वात्तदर्थद्वारेति तत्रापि विशेषः । अथ वा ज्ञायमानत्वेन लिङ्गं करणमित्यादावनुशासनान्तरविरहादित्थंभूतलक्षणे तृतीयेति न युक्तम् । किन्तु तत्रावच्छिन्नमिति पदाध्याहार एव । ज्ञायमानत्वेना-वच्छिन्नं लिङ्गं करणमिति वक्तव्ये लाघवाज्ज्ञायमानत्वेन लिङ्गं करणमित्युच्यते । अत एव अपादाने पञ्चमीति सूत्रे 'प्रश्नाख्यानयोश्च'त्यादिवार्त्तिकानि प्रत्याचक्षाणेन भाष्यकृता 'प्रश्नाख्यानयोश्च पञ्चमी वक्तव्येति इदमत्र प्रयोक्तव्यं सन्न प्रयुज्यते कुतो भवानागच्छति पाटलीपुत्रादागच्छामीति' इत्युक्तम् । कुतो भवान् । पाटलीपुत्रादित्येतावन्मात्रं प्रयुज्यत इत्यर्थः । इत्थमत्र वार्त्तिककारभाष्यकारोभयमतेनावच्छिन्नपदाध्याहारादेव बोध इति नानुशासनान्तरं कृतमिति कृतमतिपल्लवितेन । इत्थं चात्र न भूतार्थे निष्ठाप्रत्ययः संभवति । किन्तु नपुंसके भावे क्तः इति भावार्थे एव । त्यागेनेति च तदर्थः । तमिममर्थमवधार्य निर्दिशति भगवान् भाष्यकारः—अतस्त्यागेनेत्ययमेव वेदार्थ इति ।

इतरे तु त्यक्तेनेत्यस्य त्यागेनेत्येवार्थः । किन्तु तेनेति न त्यागविशेषणम् । तद्धि ईशेति प्रागुक्तेश्वरपरामर्शकम् । तेनेति च सहार्थे तृतीया । परमात्मना सह वर्त्तमानो भुञ्जीथा भोगं कुर्वीथा इत्यर्थ इत्याहुः । तत्र भुञ्जीथा इत्यस्यार्थविषये वयमग्रे विचारयिष्यामः । सहार्थे तृतीयेत्यत्रेदं वक्तव्यम् । सहयुक्तेऽप्रधाने इति सूत्रम् । तस्यैकक्रियायामेकार्थे वाऽन्वयिन्यप्रधाने तृतीयेत्येवार्थः । पुत्रेण सहागतः पितेत्यादौ पितृसमभिव्याहृतपदोपस्थाप्यागमनक्रियान्वयित्वस्य पुत्रे सत्त्वादुपपत्तिः ।

❀ भाष्यम् ❀

भुञ्जीथाः=पालयेथा ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

अत्र च तेनेश्वरेण सह त्वं भुञ्जीथा इत्युच्यमाने त्वंपदसमभिव्याहृतभुज्यर्थभोग-क्रियान्वयित्वमीश्वरस्याप्रधानस्येति त्वयोपगन्तव्यं स्यात्। तथा चेश्वरोऽपि त्यागेन भोगं कुर्यात् त्वमपि त्यागेन भोगं कुर्या इत्यर्थः सम्पद्यत इत्यहो वेदव्याख्यान-कौशलम्। न च अग्ना इ पात्नीवन् सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहे-त्यत्र 'अतुल्यत्वात्त नैवं स्याद्' (३-२-३५) इति सजुषा सहावस्थानमात्रं त्वष्टुर्न तु पानमिति सिद्धान्तितत्वान्न सहार्थयुक्तस्य क्रियान्वयनियम इति वाच्यम्। सह जुषत इति सजूरित्यस्य सहित इत्यर्थत्वात्सह वर्त्तमान इत्यत्रैव पर्यवसानेन तत्रादोषात्। अत्र तु न सहितशब्दः। न च दशभिः सह पुत्रैस्तु भारं वहति गर्दभीत्यत्र भारवहनक्रियान्वयित्वं विनापि पुत्रशब्दात्तृतीया दृश्यत इति वाच्यम्। तत्र वर्त्तमान इति पदाध्याहारेणैव बोधस्वीकारात् विद्यमानार्थे तत्र सहशब्द इति तत्त्वबोधिनीकारादिमतस्वीकारेऽपि ईश्वरे विद्यमाने त्वं भुञ्जीथा इत्येवार्थः स्यात्। दशसु पुत्रेषु विद्यमानेष्वपि भारं वहतीतिवत्। ईश्वरश्च सदैव विद्यत इति तत्रा-व्यावर्त्तकमेव विशेषणम्। न च तेनेश्वरेण सहवर्त्तमानस्तमविस्मृत्येति यावत् त्वं भुञ्जीथा इत्यर्थः क्रियत इति वाच्यम्। एवंविधार्थस्य शब्दाऽलभ्यत्वात्। अत्र हि प्रथमं तेनेत्यनन्तरं वर्त्तमान इति पदमध्याहार्य ईश्वरेण सह सर्वेऽपि वर्त्तन्त एवेति विशेषणवैयर्थ्यवारणाय पुनर्लक्षणया तमविस्मृत्येति वा तमनुसंद-धान इति वार्थः वक्तव्यः स्यात्। एतावानर्थस्त्वध्याहारलक्षणादिकं विना कथंचिदपि न संभाव्यत एव।

भाष्ये भुञ्जीथाः पालयेथा इति। यद्यपि भुजोऽनवने" इति शासनात्पा-लनातिरिक्तार्थ एवात्मनेपदम्। तथापि यत्र लौकिकं प्रसिद्धं पालनं हननाऽऽहनना-दिप्रतिबन्धकव्यापारलक्षणं तत्रैव महीं भुनक्ति प्रजां भुनक्तीत्यादौ नात्मनेपदम्। प्रकृते च पालनमतथाविधमिति नात्मनेपदानुपपत्तिः। न हि लाक्षणिकपालनस्थ-लेऽपि आत्मनेपदनिषेधः संभवति। तथा सति ओदनं भुङ्क्ते इति प्रयोगोऽपि न स्यात्। भक्षणस्य लाक्षणिकपालनत्वात्। पत्रे भाजनमुच्छिष्टं कृत्वा मा नाशय कृत्स्नं भुङ्क्ष्वेत्येवं प्रयोगदर्शनात्! भक्षणस्यापि नाशविशेषप्रतिबन्धकत्वेन रक्षणात्मकत्वात्। आत्मनश्च रक्षणं लाक्षणिकमेव। न ह्यात्मनो नाशो वस्तुतो भवति, येन तत्प्रतिबन्धकं प्रधानं रक्षणं स्यात्। यद्यपि "स एनमविदितो न भुनक्ति" इतिलाक्षणिकरक्षणस्थलेऽपि परस्मैपदप्रयोगो भवति। तथापि अस्माल्लो-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

काप्नोतीति मरणप्रसङ्गादलाक्षणिकं मत्वा प्रयोगः। छन्दसि सर्वविधीनां विकल्पितत्वाच्चेति दिक्।

केचित्तु त्यागेन भोगं कुर्वीथा इत्यर्थः। संन्यासस्तुतिपक्षे विधिप्रत्ययानर्थक्यापत्तेः। संभवत्यर्थवत्त्वेऽर्थवादकल्पनाया अन्याय्यत्वादित्याहुः। तन्न। भोगस्य रागतः प्राप्तत्वेन तत्रापि विधिवैयर्थ्यात्। नन्वत्र त्यागविशिष्टभोगविधानाद् विशेष्ये बाध्यमानस्य विधेर्विशेषणोपसंक्रमात्त्यागविधानमेवात्रेति न विधिप्रत्ययानुपपत्तिरिति वाच्यम्। पालयेथा इत्यर्थपक्षेऽपि एवं विध्युपपादनसंभवेनास्मन्मते दोषापादनस्याशक्यत्वात्। किं च त्यागेनेति तृतीयाया कुत्रान्वयः कश्चार्थः। न च साक्षात्प्रत्ययेनान्वयः। भुजिधातोः प्रकृतेर्वैयर्थ्यापत्तेः। नापि धात्वर्थेनान्वयः। भोगस्य त्यागकरणकत्वविरहात्। न च दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यादौ यथा दधिकरणत्वस्य फलभावनायामन्वयो धात्वर्थस्य च तत्राश्रयत्वेनान्वयः होमाश्रयिदधिकरणत्वेनेन्द्रियं भावयेदिति च वाक्यार्थः, तथा अत्रापि धात्वर्थभोगस्याश्रयत्वेनान्वयः त्यागेनेत्य फलभावनायामन्वयः, तथा च भोगाश्रितत्यागकरणत्वेनेष्टं भावयेदित्यर्थ इति वाच्यम्। भोगे त्यागकरणत्वविरहस्यानुपदमुक्तत्वात्। कश्चात्र त्यागपदार्थः। धनादित्यागो वा रागत्यागो वा। नाद्यः। धनादित्यागे भोग्यपदार्थविरहेण भोगानुपपत्तेः। न च यत्किंचिद्धनादिकं त्यक्त्वा शेषेण भोगो विधीयत इति वाच्यम्। यतस्त्यक्तेन भुञ्जीथा इति ह्युच्यते न तु त्यक्तशेषेणेति। यत्किंचिद्वस्तुत्याग इति चाशब्दार्थः। यत्किंचिदित्येकपर्णं वा 'लक्षं वेत्यनिर्णीतम्। नह्यनिर्णीतविषयत्वं वेदार्थस्य युक्तम्। यावता भोगः संपद्यते तदितरत्यागेनेति चेन्न। केषांचिद्धिरण्यं दर्शंदर्शमानन्दो भवतीति भोगपूर्तेर्दुर्वचत्वात्। न च "यावद् भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम् अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति" इति स्मृतेर्जठरभरणेतरत्यागोऽत्र विवक्षित इति वाच्यम्। तत्किं वस्त्रादिकं न परिधातव्यमित्युच्यते। न च यावता जीवनयात्रा भवति तदितरत्याग इत्यर्थ इति वाच्यम्। यतो जीवनयात्रेति प्रतिदिनयात्रोच्यते यावज्जीवनयात्रा वा। आद्ये मध्याह्नकाले भुक्त्वा यत्किंचिदवशिष्यते तदन्येभ्यो देयम्। एकं वस्त्रं परिधाय शेषः सर्वो देयः स्यात्। अन्त्ये महामार्यादिभाविपीडासंभावनयाऽधिकाधिकधनसंग्रह एव प्राप्नोति न तु त्यागः। केचित्तु वैश्यास्त्यागभावनया भोक्तव्यमित्यर्थमाहुः। तेषामयमाशयः। न दातव्यं भवति किंचिद्वस्तु कस्मैचित्। त्यागभावनामात्रेण मोक्षश्च लप्स्यत इति। तदिदमाशामोदकभोजनमात्रम्। त्यक्तेनेत्यस्य त्यागभावनयेत्यर्थविरहात्। लक्षणया तथार्थाश्रयणे लक्षणाश्रयणमेव दोषः। नापि रागत्याग इति द्वितीयः पक्षो युक्तः। मा गृध इत्यनेन गतार्थत्वात्। राग-

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

त्यागं च कुर्वीथा भोगं च कुर्वीथा इति विप्रतिषिद्धम् । भोगस्य रागपूर्वकत्वात् । दुःखसाक्षात्कारात्मकभोगस्यापुरुषार्थतया विधातुमशक्यत्वेन सुखसाक्षात्कारात्मकभोगस्यैवात्र स्वीकर्तव्यत्वाद्भवतामभिमतत्वाच्च सुखसाक्षात्कारप्रवृत्तेश्च रागपूर्वकत्वनियमात् । वीतरागजन्मादर्शनादिति न्यायात् । वीतरागस्य प्रवृत्त्यभावाज्जन्माभाव इति सूत्रार्थः । दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग इति सूत्रानुरोधात् । तथा च रागविरहे प्रवृत्त्यभावत्सुखसाक्षात्कारार्था प्रवृत्तिरित्यलीकं वचः । न च रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्निति भगवतोक्तत्वाद् विनापि रागं विषयचरणं सिद्ध्यतीति वाच्यम् । यतो न तत्र भोगोऽभिहितः । किन्तु प्रारब्धाधीनं विषयचरणमात्रम् । विषयचरणं विषयसेवनम् । न च भुञ्जीथा इत्यस्य सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कार एवार्थोऽस्तु, प्रारब्धं भुज्यत इत्यादौ तथार्थेऽपि धातुप्रयोगादिति वाच्यम् । प्रारब्धभोगस्य स्वतएव प्राप्तत्वेन तदुपदेशवैयर्थ्यात् । विषयोपभोगस्य श्रुत्यनुमतत्वं सिषाधयिषुणा हि भवता भोगलिप्सुना एतावान् प्रयासः क्रियते सोऽप्युक्तार्थकरणे वितथ एव भवेत् ।

ननु भो किमर्थमेतत्सर्वमुच्यते । सकललोकहितैषिणी भगवती श्रुतिः श्रेयसे संविभज्य भोक्तव्यमित्युपदिशति । तत्रेदमखिलमकाण्डताण्डवितमेवेति चेन्न । संविभज्यभोगस्य कीदृशं श्रेयः फलं भवतोत्प्रेक्ष्यते ? । मोक्ष इति चेत् । कुक्कुटादेर्मोक्षापत्तिः । कुक्कुटादिभिरपि संविभज्यभोगकरणात् । कुक्कुटादिभिः क्रियमाणं न मोक्षसाधनं किन्तु मनुष्यैरिति चेन्न । नाहं कुक्कुटः किन्तु मनुष्योऽत एवाधिकारीत्येवमधिकाराध्यासवतामनधिकार एवात्र शास्त्रे । ज्ञानानधिकारवतां पूर्वकाण्डोक्तसकलकर्माण्यनूद्य कुर्वन्नेवेह कर्माणीति कर्मणां विधास्यमानतयाऽत्र तदेकदेशसंविभागादिकथनवैफल्याच्च । तस्मादेषणात्रयस्यागेन वा जगद्बाधात्मकत्यागेन वा करणेनात्मानं पालयेथा इति यथाभाष्योक्तार्थ एव समीचीनः ।

नन्वेवमपि भुञ्जीथा इत्यत्रात्मानमित्यध्याहर्तव्यमित्यध्याहारक्लेशो दुर्वार एवेति चेन्न । आत्महनो जना इत्यग्रे वक्ष्यमाणतया तत्प्रतियोग्यात्मरक्षणस्य प्रथममन्त्रे लाभादत्राध्याहारस्य क्लेशाऽप्रयोजकत्वात् । प्रत्युत भवन्मत एव भोगान् भुञ्जीथा इति वा प्रारब्धं भुञ्जीथा इति वा ओदनं भुञ्जीथा इति वाऽत्र विवक्षितमित्यनिर्णयेनार्थसिद्धार्थविरहेण क्लेशलाध्याहारस्य प्राप्तत्वात् ।

नन्वेषणात्यागविरहे द्वैतविक्षेपेणाद्वैतात्मघातः प्रात्यक्षिकः । अर्थाच्चैषणात्यागे सत्यात्मरक्षणं प्राप्तमिति तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा इति विध्यनुपपत्तिरतोऽनर्थकं वचन-

❀ आनन्दगिरीयटीका ❀

त्सितं संन्यासं स्तौति तेन त्यक्तेनेति । त्यागेनात्मा रक्षितः स्यान्नि-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

मित्यत आह टीकायां—विधित्सितं संन्यासं स्तौतीति ।

नन्वत्र संन्यासो विधित्सित इति तत्स्तुतिस्तेन त्यक्तेनेति क्रियते चेद् किमत्र विधिवाक्यम् ? नात्र किमपि वाक्यमुपलभामहे । कल्पनीयं विधिवाक्यमिति चेत् ? कल्पितविधिवाक्यस्वरूपं कीदृशमिति वक्तव्यम् । संन्यसेदिति वा प्रव्रजेदिति वा कल्प्यत इति चेदुत्पत्तिविधिरयम् । अधिकारविधिरपि वक्तव्यः । आत्मरक्षाकामः संन्यसेदिति चेद् ? तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा इति वाक्येन किमपराद्धम् । येनास्य स्तावकत्वमङ्गीकरोति भवान् । संन्यसेदित्युत्पत्तिविधावपि संन्यासेनेष्टं भावयोदित्यर्थे किं तदिष्टमित्याकाङ्क्षायामात्मरक्षणस्यैवान्वयौचित्यात् । तत्फलं प्रत्यक्षमिति न तदुद्देश्येन विधिसंभव इति चेत्तर्हि विधित्सितं सन्यासं स्तौतीत्यप्यनर्थकं वचः । अत्र ब्रूमः विचारभावनयोरङ्गविधया संन्यासोऽत्र विधित्सितो न तु पुरुषार्थतया । तथा च दध्नाजुहोतीत्यादिवत् संन्यासेन विचारं कुर्यादिति वाक्यम् । संन्यस्य श्रवणं कुर्यादिति स्मृतेः । तत्र श्रवणपदस्यात्मज्ञानोपयोगिनो विचारभावनादयोऽप्युपलक्ष्यन्ते । न चैवं संन्यासस्य विचारभावनाद्यङ्गत्वे गृहस्थकृतविचारादेरङ्गहीनत्वेन नैष्फल्यं स्याद् । न चैतद्युक्तम्, जनकयाज्ञवल्क्यादीनां गार्हस्थ्य एव तत्त्वज्ञानोत्पत्तेस्तत्कारणविचारादेरपि तेषां सिद्धेरिति वाच्यम् । तेषां पूर्वजन्मकृतसंन्यासपूर्वकविचारादिनैव प्रारब्धविशेषप्रतिबद्धतदानींतनफलेन प्रतिबन्धविगमेऽस्मिन् जन्मनि तत्त्वज्ञानोत्पत्तेः कल्पनीयत्वात् । न च फलोक्तिमात्रस्यार्थवादत्वं भवितुमर्हति त्यागस्य तु विधानमेव स्यात्, यथा यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोतीत्यादौ फलोक्तिरर्थवादः पर्णमयीत्वस्य च विधानमिति वाच्यम् । पालने कारणतयान्वितस्य त्यागस्य श्रवणाद्यङ्गविधया विधानासंभवात् । पर्णतायास्तु न कारणतया पापश्लोकाऽश्रवणेऽन्वय इति विशेषात् तथा च सूत्रं—द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यादिति । परार्थत्वात् क्रत्वर्थत्वात् । अत्र च त्यागस्य नान्यार्थत्वं गम्यत इति फलमात्रोक्तेरर्थवादत्वं दुर्वचम् । तस्मात्प्राप्तफलसाधनत्वकथनादर्थवादः सार्वांश्येन श्रुतिरिति भावः ।

अत्रेदं विचार्यते । त्यागेन भोगं कुर्वीथा इत्येवं व्याचक्षाणास्त्यागसहितभोगस्यैव मोक्षहेतुत्वं मन्यन्त इति व्यक्तम् । ऋतौ भार्यामुपेयादित्यादिकं वचनमपूर्वविधिमेव ते मन्वते । त्यागोऽपि संविभागापरपर्याय एव तैः स्वीक्रियते । एतच्च स्वमनीषितमेव श्रुत्यारूढं कर्त्तुं श्रुत्यन्यथाकरणमित्यन्यत् । तथाविधा ये मूढास्तेषामनधिगत एवायमर्थो यदेषणात्रयसंन्यास आत्मरक्षणसाधनमिति । तथा च

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

तान् प्रत्ययमपूर्वविधिरेव न त्वर्थवादः। न च तैः श्रुत्यर्थान्यथाकरणात्कथं तान् प्रत्यपूर्वविधिरयं स्यादिति वाच्यम्। श्रुत्यर्थान्यथाकरणदुराग्रहिणः प्रत्यपूर्वविधित्वासंभवेऽपि अतथाविधा ये संविभागसंहितभोगस्यात्मरक्षणसाधनभ्रान्तास्तन् प्रत्यपूर्वविधितायाः संभवात्। लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदनेत्यादिवचनालोचनेन केषांचिद् ुराग्रहनिवृत्तिसंभवात्। न हि दुराग्रहमात्रेणापूर्वविधिविलोपो युज्यते। तथा सति कर्मविधिमात्रभङ्गापत्तेः। तथा हि माध्वाः सर्वेषां वचनानां ब्रह्मपरत्वं मन्यन्ते। तत्रैकं वाक्यं तद्व्याख्यातं निदर्शनायोदाह्रियते। "वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत" इति वाक्यम्। अत्र माध्वमते वसन्ते इति सम्बोधनम्। वसतीति वसः पचाद्यच्। तनोतीति तिः। औणादिकडिप्रत्ययः। वसश्चासौ तिश्चेति कर्मधारये नकारागमः। सर्वत्र वर्तमानो जगद्विस्तारको विष्णुस्तत्सम्बुद्धौ हे वसन्ते। द्विरुक्तिरादरार्था। ज्योतिषेति। जायत इति जिर्जगत्। पूर्ववड्डिप्रत्ययः। आ ऊतिर्यस्येत्योतिरोतम्। जगदोतं यत्र। ज्योतिश्चासौ षश्च ज्योतिषः। षकारः प्राण आत्मेतिश्रुतेर्जगदाधारात्मेति पर्यवसितार्थः। तत्सम्बुद्धौ हे ज्योतिष ! आ समन्ताद् यजैर्यज्वभिरितः प्राप्तस्तत्सम्बुद्धौ आयजेत ! यजेर्घञर्थे कविधानम्। वचिस्वपियजादीनां कितीति संप्रसारणं छान्दसत्वान्न भवति। एवमन्यान्यपि वाक्यानि व्याख्येयानीति। एवंविधमाध्वदुराग्रहमात्रेण न प्रतिवसन्तयागानुष्ठानविध्यपलापः शक्यते कर्त्तुम्। ज्ञानिनां ज्ञाने मोक्षसाधनताया इव स्वर्गिणां ज्योतिष्टोमादौ स्वर्गसाधनताया इव च त्यागिनां त्यागे आत्मरक्षणसाधनतायाः प्रत्यक्षसिद्धत्वं नापूर्वविधित्वविघातकम्।

किं चान्यत्, वास्यमाच्छादनीयं त्यक्तं स्यादिति भाष्ये व्याख्यातम्। तदेव तेन त्यक्तेनेत्येवं परामृश्यते। बाधात्मकोऽयं त्यागश्चैषणात्रयसंन्याससाध्य इति फलस्तुत्या विधेयसंन्यासस्तुतिरिति सुवचम्। आम्रो रोपणीयः। मधुरं हि तत्फलं बलवर्धकं चेतिवत्फलस्तुत्या विधेयस्तुतेर्गम्यत्वात्। न च साक्षादेव संन्यासस्तुतिरयमस्त्विति वाच्यम्। तेनेति पूर्वपरामर्शकसर्वनामसार्थक्याय त्यक्तपदेन बाधात्मकत्यागस्यैव धर्त्तुमुचितत्वत्। किं च त्यक्तपदं न संन्यासे रूढम्। घटस्त्यक्तः पटस्त्यक्त इत्यादौ संन्यासार्थादर्शनादिति वास्यपदार्थबाधौपयिकतया प्रकृतत्वात्संन्यासार्थकं त्यागपदमित्येवाभ्युतगन्तव्यम्। एवं सति प्रथमोपस्थितबाधात्मकत्यागस्यैव स्तुतिर्न्याय्या भवति। इत्थं च सर्वमेव नामरूपकर्माख्यं विकारजातं त्यक्तं स्यादित्येवं तेन त्यक्तेनेत्यत्र सर्वनामपरामर्शनीयतया त्यक्तस्य त्यागात्मकस्य भाष्यकारेण कृत उपक्षेपोऽप्युपपद्यते।

अपि चान्यत्। संन्यासो विचारभावनयोरङ्गतया तृतीयपादेन स्तुतिद्वारा

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

ष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानानुकूलत्वात्त्यागस्येत्यर्थः ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

विधीयत इति भवदभियतम् । परं तु अङ्गिनोर्विचारभावनात्मकयोरन्यतरोऽपि नात्र विहित इति कथमङ्गविध्युपपत्तिः । पुत्र एव न जात इति कस्य नामकरण-चूडाकरणान्नप्राशनादिप्रस्तावः ? । ईशावास्यमित्यनेन हि भवता तत्त्वोपदेशः स्वीकृतो न तु विचारादिविधिः । तस्माद्विचारभावनादिविधानार्थं यत्नांन्तरं करणी-यम् । तच्च तेन त्यक्तेनेत्यत्र त्यक्तपदेनाच्छादनविवक्षितबाधग्रहणे कथंचिच्छक्यते ग्रहीतुम् । त्यक्तेति बाधस्याऽविधेयस्य ग्रहणात्तत्कारणीभूतानां विचारभावनादीनां सर्वेषां स्तुत्यतयोपस्थितेः । न च विचारसंन्यासादेः सर्वस्य विधानमसंभवि । विधेयभेदादिति वाच्यम् । संन्यासविशिष्टविचारादेरेकयत्नतो विधिसिद्धेः । न चैवमपि संन्यासविशिष्टविचारो वा संन्यासविशिष्टभावना वा विधेयेत्यनिर्णयः स्यादिति वाच्यम् । बाधकारणत्वेनैकधर्मेणोभयोरपि विधेयत्वोपपत्तेः ।

अन्यच्च, एवंविधमहाक्लेशस्वीकारापेक्षया ईशावास्यमिति ईश्वरस्वरूपेणा-भिव्यक्तेन जगदाच्छादनीयमित्येव विधिरस्तु । अभिव्यक्तेश्वरविधानस्याभि-व्यञ्जकविचारादिविधिपर्यवसायित्वात् । तेन त्यक्तेनेति वास्यपदार्थबाधेनात्मरक्षण-प्रतिपादनमस्त्विति यथाश्रुतभाष्यार्थं एव प्रागस्माभिः प्रदर्शितोऽत्र सम्यग् । यत्तु विचारभावनयोर्ज्ञानहेतुत्वं प्रत्यक्षमिति तद्विधानवैयर्थ्यमिति । तदसत् । तर्हि कथं संन्यासस्य तदङ्गतया विधेयत्वमुपगन्तुं शक्यम् ? । तस्मादात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येदित्यादिश्रुत्यन्तरपर्यालोचनया ईशेतिपदस्येश्वरभावनार्थ इति गम्यते । तत्र च प्रव्रजन्तीति श्रुतेः संन्यासोऽपि साधनमवगम्यत इति मा गृध इति नियमविध्यनुरोधेन सोऽपि ग्राह्य इत्यर्थो भाष्यकारैरुक्त इत्यलं विस्तरेण ।

निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानानुकूलत्वात्त्यागस्येति । यद्यपि त्याग-पदेनैषणात्रयत्यागः कर्मत्यागो वा गृह्यते न तु क्रियामात्रत्यागः । न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः, न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृदि-त्यादिवचनादनुभवाच्च सर्वक्रियापरित्यागानुपपत्तेः । न च निष्क्रियेति क्रियाऽभावो नार्थः, किन्तु क्रियाबाधः, त्यागजन्यज्ञानेन क्रियाया बाधादिति वाच्यम् । त्याग-जन्यज्ञानेन नामरूपयोरपि बाधात्केवलक्रियाबाधोक्त्यसंगतेः, अद्वैतात्मस्वरूपेणाव-स्थानस्यैव वक्तुमुचितत्वात् । तथाप्यत्र निष्क्रियपदेन नैष्कर्म्यं विवक्षितमित्यदोषः ।

❀ भाष्यम् ❀

एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृधः—गृधिमाकाङ्क्षां मा कार्षीर्धनविष-

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

संन्यासिनः शरीरसंधारणोपयुक्तकौपीनाच्छादनभिक्षाशनादिव्यतिरिक्तेऽपि कथंचिद् द्रव्यपरिग्रहे रागश्चेत् प्राप्नोति तन्निरोधे यत्नः कर्त्तव्यः, तस्य प्रधानविरोधित्वादित्यभिप्रेत्य नियमविधिमाह—एवं त्यक्तैषण

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

नैष्कर्म्यं च मोक्ष एव। कर्मणः संसारबीजत्वेन तद्विरहावस्थाया मोक्षात्मकत्वात्। एतच्च भगवताप्युक्तं—"नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति" इति। न चैवं टीकाकारेण निष्क्रियपदप्रयोगः कुतः कृत इति वाच्यम्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता इति क्रियामात्रस्य पुण्यपापलक्षणदोषत्वोक्तेः। अतएव नैष्कर्म्यसिद्धिमित्यत्र भाष्ये नैष्कर्म्यस्य वा निष्क्रियात्मरूपावस्थानलक्षणस्य सिद्धिर्निष्पत्तिस्तामित्येव व्याख्यानम्। तदनुकूलत्वं च शास्त्रात्त्यागस्य बोध्यम्।

भाष्ये एवं त्यक्तैषणस्त्वं मा गृध इति। ननु त्यक्तैषणस्य धनविषयकगर्धाऽप्राप्तेस्त्यक्तैषणो मा गृध इति वचनमनर्थकमित्याशङ्कायां त्यक्तस्यापि पुनरुद्भवसंभवात्तन्निरोधनियमविध्यर्थतयोक्तिसार्थक्यान्नैवमिति परिहरति टीकायां—संन्यासिन इति। प्रधानविरोधित्वादिति। संन्यासोऽत्र विधित्सितत्वात् प्रधानं तद्विरोधित्वादित्यर्थः। त्यागे सति न रागः, रागे सति च न त्यागः। तत्र कदाचित्त्यागेन कदाचिद्रागेण वृत्तिः प्राप्ता। तत्र रागेण प्राप्तां वृत्तिं निराकर्त्तुं नियमविधिरिति भावः।

ननु त्यागे सति यदि न रागस्तदा शरीरसंधारणौपयिकवस्तुष्वपि रागो न प्राप्नोतीति तद्व्यतिरिक्तत्वविशेषणमनर्थकम्‌ शरीरसंधारणौपयिकद्रव्यरागस्य त्यागस्य च सहभावस्वीकारेऽन्यरागाणामपि सहभावसंभवान्नियमविधिरित्यनुपपन्नम्। किन्तूभयप्राप्तेः परिसंख्याविधिरेव। यद्वा मा गृध इति निषेधशास्त्रमित्येव स्वीकर्त्तुमुचितमिति चेन्न। शरीरसंधारणौपयिकद्रव्यसंग्रहस्य शारीरप्रारब्धप्राप्ततया तत्र रागाभासमात्रं न पुना रागः। न चैवं व्यतिरिक्तान्तविशेषणमफलम्, रागश्चेत्प्राप्नोतीति रागपदेनैव रागाभासस्य व्यावृत्तत्वादिति वाच्यम्। रागाभासस्यापि रागत्वं यदि कश्चिद् ब्रूयात्तदा तं प्रति तद्व्यावर्त्तनाय व्यतिरिक्तान्तविशेषणसाफल्यात्।

तन्निरोध इति। तथा च मा गृध इति गर्धाभावो न विवक्षितः। किन्तु गर्धनिरोध एवेति नेदं निषेधशास्त्रमिति भावः। तन्निरोधश्च तदनुत्पत्तिप्रयोजकव्या-

❀ भाष्यम् ❀

याम् । कस्यस्विद्धनं=कस्यचित् परस्य स्वस्य वा धनं मा काङ्क्षीरित्यर्थः । स्विदित्यनर्थको निपातः ।

❀ आनन्दगिरीयटीका ❀

इति । स्विदिति निपातस्य सामान्यार्थत्वेऽपि कस्यस्विदिति वितर्कार्थ-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

पारविशेषः । न कलञ्जं भुञ्जीतेत्यादौ कलञ्जभक्षणस्यानिष्टहेतुत्वं प्रतिपादयत्कलञ्जभक्षणान्निवर्त्तयच्छास्त्रं कलञ्जभक्षणाभावे पर्यवसाययति । न पुनस्तत्र व्यापारविशेषो विधित्स्यत इति विशेषः । नियमविधिमिति । "विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति । तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते" इति तन्त्रविदः ।

मन्त्रे कस्यस्विदित्यनेन गरीयसो वा कनीयसो वा धनं मा गृध इति विवक्षितः प्रतीयते । परं परस्येत्येकोक्त्यैव सर्वसंग्रहे कस्यस्विदित्यधिकार्थविवक्षयोक्तिर्भवितुमर्हतीत्यतो विवक्षितमर्थमाह भाष्ये—परस्य स्वस्य वेति । न चैवं सर्वधनोपग्रहात्कस्यस्विदिति विशेषणमफलम् । मा गृधो धनमित्येवं सामान्यधनगर्धनिराकरणस्य सुगमत्वादिति वाच्यम् । परद्रव्येषु लोष्टवदित्यादिवचनैः परद्रव्यविषयकगर्धस्यैव निषिद्धतया प्रसिद्धत्वादनुक्तेऽपि परपदे परधनमर्थतः प्राप्नोतीति कस्यस्विदिति विशेषणसार्थक्यात्। न च सिद्धे नेच्छेति (दीधिति)सिद्धान्तात्स्वस्य धने गर्ध एव न प्राप्नोतीत्यप्राप्तनिषेधापत्तिरिति वाच्यम् । सिद्धेष्वपि दारादिषु गर्धस्य सर्वजनीनत्वात् सिद्धे नेच्छेति सिद्धान्तस्यासिद्धत्वात् । प्रत्युत सिद्धेष्वेव पुत्रदारादिषु रागविशेषः सान्द्रतर उपलभ्यते, न परपुत्रदारादिषु । न च दारादेः सिद्धत्वेऽपि तत्प्रयुक्तभाविसुखविशेषाणामसिद्धतया तद्विशिष्टदारादिगर्धो युज्यत इति वाच्यम् । एवं तर्हि भाविसुखविशिष्टधनस्याप्यसिद्धतया तद्विषयकगर्धोऽपि धनस्य स्वीयत्वेऽपि घटत इति किमिदमकाण्डे प्रत्यवस्थानम् ।

स्विदित्यनर्थको निपात इति भाष्यम् । नन्विदमयुक्तम् । कस्यचिदित्यत्रत्यचित्पदसमानार्थत्वात् स्विदित्यस्य । यद्यपि कस्येतिपदस्यैव कस्यचिदित्यर्थः, चिदिति स्वार्थे प्रयोगमात्रम् । तथापि तदर्थाभिव्यञ्जकतया चित्स्विदोः सार्थक्यं भवत्येव । यथा सप्तम्यन्तात् कस्मिन्शब्दात् 'किं ङि' इत्यतो वा स्वार्थे त्रलप्रत्यये कुत्रेति रूपं भवति । न हि तत्र त्रलोऽनर्थकत्वम् सप्तम्यर्थाभिव्यञ्जकत्वादित्याशङ्क्य सामान्यार्थेनार्थवत्त्वेऽपि विशेषार्थवाचकशब्दस्य सामान्यार्थप्रयोगस्थलेऽनर्थकत्वव्यवहारदर्शनान्नैवमिति परिहरति टीकायां—स्विदितीति । सामान्यार्थत्वेऽ-

❀ भाष्यम् ❀

अथ वा मा गृधः, कस्मात् ? कस्यस्विद्धनम् इत्याक्षेपार्थः, न कस्यचिद्धनमस्ति यद् गृध्येत। आत्मैवेदं सर्वमितीश्वर-भावनया सर्वं त्यक्तम्, अत आत्मन एवेदं सर्व-

❀ आनन्दगिरिय टीका ❀

त्वमन्यत्र प्रसिद्धं, तदिह न गृह्यत इत्यनर्थक इत्युक्तम्।

व्यवहारदृष्ट्याप्यात्मन एवेदं सर्वं शेषभूतं जडस्य चित्परतन्त्रत्वा-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम ❀

पीति। स्वार्थिकत्वेन प्रकृत्यर्थाभिव्यञ्जकत्वेऽपीत्यर्थः। अन्यत्रेति। कस्य नु धनमित्यस्मिन्नर्थे कस्यस्विद्धनमिति यत्र प्रयुज्यते तत्रेत्यर्थः। तत् =वितर्कार्थत्वम्। इत्युक्तमिति। यथा कुत्सिताद्यर्थेऽन्यत्र प्रसिद्धकन्प्रत्ययस्य यत्र स्वार्थे प्रयोग-स्तत्राश्वकोऽयं बालकोऽयमित्यादावनर्थकः कन्निति व्यपदिश्यते तद्वदित्यर्थः।

यद्यपि मा गृधो धनमित्युक्ते लौकिकप्रवादबलात्परधनमिति प्राप्नोति, न तु शब्दतः। शब्दविवक्षितार्थश्च तात्पर्यादवसेय इति श्रुतौ धनसामान्ये तात्पर्ये लौकिकप्रवादबलेन तत्संकोऽचोऽसंभवीति कस्यस्विदिति विशेषणमफलम्। किंच रागसामान्यनिरोधस्य नियमेन कर्त्तव्यतया विशेषवचनमयुक्तमिव भवतीत्यतः प्रकारान्तरेण मा गृध इत्यादिकं व्याचष्टे भाष्यकारोऽथवेति। मा गृध इति राग-सामान्यनिषेधः। रागसामान्यनिरोधे कर्तव्ये हेतुविषयोदाहरणमेकं कस्यस्विद्धन-मित्याशयमभिव्यञ्जयितुं पृच्छति—कस्मादिति। धनमित्येतदुदाहरणमात्रं, न तु धनमात्रं विवक्षितमित्येतत्पूर्वापरसंगत्या योजयन् दर्शयति—आत्मैवेदं सर्वमि-तीति। ईश्वरभावनयेति। ईशावास्यमित्यत्रेशपदस्येश्वरभावनाऽर्थः। तस्याः स्वरूपम्—आत्मैवेदं सर्वमिति। तेनात्मैवेदं सर्वमित्यात्मभावनयेति वक्तव्ये ईश्वरभावनयेति किमुच्यत इति नाशङ्कनीयम्। सर्व त्यक्तमिति। सर्वं बाधित-मित्यर्थः।

नन्वत आत्मन एवेदं सर्वमित्युत्तरभाष्यमसंगतम्। आत्मैवेदं सर्वमिति भावनां हेतूकृत्यात्मन एवेदं सर्वमिति साधनासंभवात्, सर्वं च त्यक्तं चेत्कुत आत्मन एवेदं सर्वं, तस्मात्परस्परासम्बद्धो भाष्यसन्दर्भोऽयमित्यतष्टीकाकारो विभज्य व्याचष्टे—व्यवहारदृष्ट्यापीति। विचारात्मकव्यवहारदृष्ट्यापीत्यर्थः। तेनात्मन एवेदं सर्वमिति व्यवहाराभावेऽपि नासंगतिः। कुत आत्मन एवेदं सर्वमित्यत्र हेतुगर्भं विशेषणं—शेषभूतमिति। आत्मा शेषी जगच्च सकलं शेषः। तदपि कुतः ? तत्राह—चित्परतन्त्रत्वादिति। स्वामिपरतन्त्रो हि भृत्यः स्वामिशेषो

❀ भाष्यम् ❀

मात्मैव च सर्वमतो मिथ्याविषयां गृधिं मा कार्षीरित्यर्थः ॥१॥

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

दतोऽप्राप्ते [प्राप्ते वा] विषये नाकाङ्क्षा कर्त्तव्या । परमार्थतस्त्वात्मैव सर्वासत्याकाङ्क्षाविषय एव नास्तीत्यर्थः ॥१॥

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

दृष्टस्तथा चित्परतन्त्रं जगदपि चिच्छेषभूतमेवेत्यर्थः । चित्परतन्त्रत्वं जगतः कथमित्यत्र हेतुगर्भं विशेषणम्—जडस्येति । अप्राप्ते प्राप्ते वेति पाठः । परस्य स्वस्य वेति भाष्यात् । नाकाङ्क्षा कर्त्तव्येति । आत्मनो व्यापकत्वात्तत्रैव सर्वं कल्पितमिति विचारशीलः सर्वमात्मशेषभूतमात्मन एवेत्यनुशीलयन् प्राप्ताप्राप्तविषययोराकाङ्क्षां न कुर्यादित्यर्थः। यथाश्रुतं तु न युक्तम् । शेषत्वस्याकाङ्क्षापरित्यागाऽप्रयोजकत्वात् । प्रत्युत शेषस्यैवाकाङ्क्षणीयत्वम् । ननु स्वशेषतयाऽसिद्धे स्वशेषत्वसंपादनाकाङ्क्षा भवति, सिद्धे च स्वशेषत्वे नाकाङ्क्षासम्भवः, प्रकृते च स्वशेषतायाः सिद्धत्वान्नाकाङ्क्षा कर्त्तव्येत्यर्थं इत्यदोष इति चेन्न । व्यवहारदृष्ट्येति विशेषणानुपपत्तेः । न हि व्यवहारदृष्ट्यात्मशेषत्वं सिद्धम् । किं च सिद्धेऽपि शेषत्वे शेषत्वप्रयुक्तफलवैशिष्ट्यविषयकाकाङ्क्षा भवति । तस्माद्यथाप्रदर्शित एवार्थः । अथवाऽप्राप्ते विषय इत्येव पाठः । अप्राप्तत्वप्रकारकबोधविषयीभूते विषये इति तदर्थः । वस्तुतः प्राप्तत्वादप्राप्तत्वप्रयुक्ताकाङ्क्षा न कर्त्तव्येति समुदितार्थः । आत्मैव च सर्वमिति भाष्यतात्पर्यमाह—परमार्थतस्त्विति । तथा च भाष्यसन्दर्भस्यैवमत्र योजना कार्या—आत्मैवेदं सर्वमिति प्रथममीश्वरभावना । सा चात्मनि कल्पितमिदं जडं जगदित्यनुसन्धानकालीनेति आत्मन एवेदं सर्वमित्येवंविधबोधविशिष्टा, तत्रापि विषयमिथ्यात्वावगमान्नाकाङ्क्षा कार्या । ततस्तादृशेश्वरभावनया दृढीभूतया जातपरोक्षसाक्षात्कारेण सर्वं त्यक्तं बाधितं भवति । तदा चात्मैव सर्वमिति बोधो भवति, न तु शेषशेषिभावोऽपि, तदा चात्मातिरेकविरहेण विषयविरहादेव नाकाङ्क्षा संभवतीति ।

परे तु कस्यचिदपि धनं मा गृध इति प्रथमपक्षेणात्मन एवेदं सर्वमित्याह । मा गृधः । कस्य खलु धनमिति द्वितीयपक्षेणात्मैव सर्वमित्याह । अयं भावः—आत्मैवेदं सर्वमितीश्वरभावनां कुर्वाणेषु केचन मध्यमाधिकारिणः केचन चोत्तमाधिकारिणः । तत्र मध्यमाधिकारिणां परोक्षतया जगदीश्वरेणाच्छादयतामपि जगतो दृश्यमानत्वादात्मन एवेदं सर्वमिति भावना भवति । तां दृढीकुर्वन्त एव कादाचित्कां धनविषयाकाङ्क्षां ते न कुर्युः । ये चोत्तमाधिकारिणस्तेषामपरोक्षतया

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

आद्यमन्त्रस्य पूर्वार्धेन तत्त्वोपदेशः कृतः। तृतीयपादेन अपरिपक्वज्ञानस्य संन्यासविधिरुक्तः। चतुर्थपादेन संन्यासिनो नियमविधिरुक्त इति प्रतिपदं व्याख्याय संक्षिप्यार्थमनुवदति उत्तरस्य

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

जगद्बाधेऽपे दृढापरोक्षोद्भवपर्यन्तमाकाङ्क्षानिरोधप्रयत्न आस्थेयः। आत्मैवेदं सर्वमिति च भावना निरन्तरमनुवर्त्तयितव्येत्याहुः।

नन्वात्मन एवेदं सर्वमात्मैव च सर्वमिति बोधे गृधिरेव न प्राप्नोतीतिति गृधिं मा कार्षीरितिविधिवैयर्थ्यमिति चेन्न। साधकं प्रत्येतदुपदेशात्। तत्रात्मन एवेदंमित्यादि वस्तुकथनमित्यपि वदन्ति ॥ १ ॥

इति प्रथममन्त्रविवरणम्

कुर्वन्नेव ॥ टीकायाम्—'आद्यमन्त्रस्य पूर्वार्धेन तत्त्वोपदेशः कृत इति। सर्वात्मक ईश्वरोऽस्मीति ज्ञातव्यमिति तत्त्वोपदेशः कृतः। तृतीयपादेन= तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा इत्यनेन। अपरिपक्वज्ञानस्येति। यथाधिकारं विचारभावनयोरन्यतरस्मिन् प्रवृत्तस्येति शेषः संन्यासविधिरुक्त इति। ननु पूर्वार्धव्याख्यायामेव भाष्यकृता नामरूपकर्माख्य विकारजातं परमार्थसत्यात्मभावनया त्यक्तं स्यादिति संन्यास उक्तः। तत्र कर्मणोऽपि ग्रहणेन त्यक्तपदेन त्यागापरपर्यायसंन्यासस्योक्तत्वात्। न च तत्र त्यक्तपदेन बाधो विवक्षितो न तु संन्यास इति वाच्यम्। यस्योपदेशिकज्ञानमात्रेणानृतदृष्टिर्न तिरष्क्रियत इति वदता टीकाकृता विचरादिप्रयत्नकाले बाधविरहस्याभिहितत्वात्। न च परमार्थसत्यात्मभावनयेत्यनन्तरं संजातापरोक्षसाक्षात्कारस्येति शेषपूरणान्नानुपपत्तिरिति वाच्यम्। शेषपूरणं विनैव नामरूपकर्मत्यागात्मकसंन्यासस्य व्याख्यातुं शक्यत्वादिति चेन्न। त्यक्तं स्यादित्यनन्तरम् एवमीश्वरात्मभावनायुक्तस्य पुत्राद्येषणात्रयसंन्यास एवाधिकार इत्येवं भाष्यकृता पुनः संन्यासाधिकारकथनात् पूर्वत्र त्यक्तं स्यादित्यनेन साक्षात्कारद्वारा बाधितं स्यादित्यर्थ एव तात्पर्यावगमात्। नामरूपकर्मत्यागश्च न संन्यासशब्दार्थः। किन्तु सर्वकर्मपरित्यागमात्रम्। नामादेर्बाधातिरिक्तपरित्यागायोगात्। न च नामरूपयोर्बाधात्मकत्यागोऽस्तु कर्मणस्तु स्वरूपतोऽपि त्यागः संभवतीति नामरूपकर्माख्यविकारत्यागान्तर्भावी संन्यास इति वाच्यम्। तथापि पूर्वार्धे स्वतः प्राप्तसंन्यास एवाभिहितो न तु विधित्सितः। तत्त्वसाक्षात्कारे सति नामादीनां बाधात्स्वत एव कर्मसंन्यासोऽपि जायते। न हि तादृशसंन्यासस्य विधिविषयत्वं संभवतीति विधिविषयसंन्यासस्तृतीयपादे एव लभ्यः।

ॐ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ॐ

वस्तुतस्तु परमार्थसत्यात्मभावनेति ईश्वरात्मभावनेति च भाष्ये एक एवार्थोऽभिहितः। अत एव एवमीश्वरात्मभावनयेत्येवंपदेन पूर्वप्रदर्शितप्रकारपरामर्शोपपत्तिः। परमार्थसत्यात्मभावनया च नामरूपकर्माख्यविकारजातस्य बाधाद्वयत्यागे आच्छादनीयमितिपदलभ्ये संपादनीये मध्येऽपरोक्षसाक्षात्कारस्तत्कारणतया संन्यासश्चावश्यं विवक्षणीयः। तथा च परमार्थसत्यात्मभावनया विकारजातं त्यक्तं स्यादित्येव पूर्वार्धे विवक्षितोऽर्थश्चेद् बलात्संन्यासस्याप्यर्थतो विवक्षितत्वं स्यात्। ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादौ मध्येऽपूर्ववत्। न च ज्योतिष्टोमेन यजेतेत्यत्र कथं यजेतेति कथंभावाकाङ्क्षायां समिधो यजतीत्येवं पञ्चप्रयाजविधिः पृथग् भवति। तथात्रापि ईश्वरात्मभावनया विकारजातत्यागे कथंभावाकाङ्क्षायां संन्यासेनेति संन्यासविधिः पृथगत्र वक्तव्यः, स च तेन त्यक्तेनेति वाक्ये स्पष्ट इति वाच्यम्। प्रयाजादिवत् संन्यासस्यापूर्वत्वविरहात्। पुत्राद्येषणायाश्चित्तविक्षेपहेतुत्वेन प्रसिद्धत्वादिति वदता टीकाकारेणाप्यपूर्वत्वपरित्यागात्। न चैवं शास्त्रेषु संन्यासविधिरनर्थकः स्यादिति वाच्यम्। यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादित्यादिवचनप्राप्तयावज्जीवनकर्मपरित्यागस्य वचनं विना कर्तुमशक्यत्वात्। न चेदमपि संन्यासशास्त्रमस्त्विति वाच्यम्। तत्त्वोपदेशप्रकरणे विधेरसंभवात्। कर्तृत्वादिसकलधर्मोपमर्दनपूर्वकात्मयाथात्म्यप्रतिपादनप्रकरणे कर्तृभोक्तृभावप्रयुक्तविधेरसंगतत्वात्। न च यथोक्तात्मयाथात्म्यज्ञानौपयिकनिर्विक्षेपताप्रयोजकतया साधनोपदेशात्मकविधिसंभव इति वाच्यम्। निर्विक्षेपताप्रयोजकतायाः प्रत्यक्षसिद्धतया तदर्थे विध्यसंभवस्यानुपदं दर्शितत्वात्। न च पूर्वार्धस्य तत्त्वोपदेशरूपत्वे तदनन्तरं संन्यासविध्यसंभवेऽपि ईश्वरात्मभावनाप्रतिपादनपरत्वपक्षे संन्यासविधिसंभव इति वाच्यम्। ईश्वरात्मभावनापक्षेऽपि उपनिषद आत्मयाथात्म्यप्रतिपादनपरत्वस्योपक्रमे प्रदर्शितत्वात्।

ननु एषणात्रयात्मककर्मणश्चित्तविक्षेपहेतुत्वं यद्यपि प्रसिद्धम्। तथापि न नियतम्। पश्यन् शृण्वन्नपि नैव किंचित्करोमीति मन्यमानस्य चित्तविक्षेपाप्रसक्तेः। तथा च कदाचित् कर्मसंन्यासः प्राप्तः कदाचित्कर्मापि प्राप्तमिति प्राप्तकर्मव्यावर्तनाय नियमविधिरयमस्तु। अत एव भाष्ये संन्यास एवाधिकारो न कर्मसु इति नियम एव स्पष्टतया प्रागुक्त इति चेन्न। ईश्वरात्मभावनावतः साधकस्य कर्म यदि न चित्तविक्षेपकारणं तदा नास्त्येव तस्य कर्मसंन्यासः। जनकादिवत्। ज्ञाने जाते तु कर्तृत्वादिभावविरहात्स्वत एव कर्मसंन्यास इति त्वन्यत्। न चैवं भाष्ये ईश्वरात्मभावनया युक्तस्य संन्यास एवाधिकारो न कर्मसु इति कथनं युक्तमिति वाच्यम्। मुमुक्षोर्विविदिषापर्यन्तत्वात् कर्मणः, ततः परं कर्मसंपादनस्य

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

र्थवादत्वाद् अर्थकर्मसंपादनापेक्षया कर्मसंन्यासस्यैव युक्तत्वात्। कर्मजन्यफलभोक्तृत्व-विरहेण तत्राधिकाराभावादिति भाष्याशयात्। जनकादयस्तु प्रारब्धविशेषवशेन कर्म कुर्वाणा अवतस्थिरे, न पुनस्तेषामपि कर्मजन्यफलभोक्तृत्वलक्षणोऽधिकार आसीदिति न किंचिदनुपपन्नम्।

ननु कर्मसंन्यासविधिरुपनिषत्स्वेवोपलभ्यते। उपनिषदश्चात्मयाथात्म्यपरा एव भवन्ति। तदुक्तं भाष्यकृता सर्वासामुपनिषदामात्मयाथात्म्यनिरूपणेनैवोपक्षयादिति। तथा च यावज्जीवश्रुतिचोदितकर्मणः परित्यागायापेक्षितं वचनमुपनिषद्भ्य एव ग्रहणीयमिति बृहदारण्यकादिवदीशावास्येऽपि संन्यासविधिरुपदिश्येत चेत्का नाम हानिर्भवतां संजातेति चेन्न। यतो नात्र संन्यासविधिः स्पष्टः। त्यक्तेनेत्यत्र त्याग-पदस्य पुत्राद्येषणात्रयत्यागे रूढिविरहात्। टीकाकारश्च विधित्सितं सन्यासं स्तौतीत्येव प्राग् व्याजहार। न तु संन्यासं विधत्त इति। स्तुतत्वाच्चानुमेयः संन्यासविधिः। अनुमेयश्रुतिश्च प्रत्यक्षश्रुतिसमानार्थकत्वेऽनुवादिकैव भवति। प्रत्यक्षश्रुतिश्च ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीति श्रूयते। अयमप्यर्थवाद एवेति चेत्, अस्तु। इतः पूर्ववाक्यं प्रत्यक्ष-विधिरस्तु। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति। न च प्रव्रजन्तीति लटः श्रवणादयमप्यर्थवाद एवेति वाच्यम्। लेडाश्रयणेनानुपपत्तिविरहात्। अग्निहोत्रं जुहोति इडो यजतीत्यादिवत्। तस्माद् विधायिकायां प्रत्यक्षश्रुतौ विद्यमानायां तदनुप्रवृत्ता अनुमेयश्रुतिरनुवादिकैव भवति। न हि शाखान्तरमनधीया-नस्यार्थवादानुमेयश्रुतिरपि प्रमाणं भवतीति शाखान्तरन्यायोऽप्यत्र प्रवर्त्तते। ईशा-वास्योपनिषदो बृहदारण्यकस्य चैकशाखान्तर्गतत्वात्। त्यक्तपदस्य फलत्यागो वा कर्मत्यागे वा विवक्षित इत्येतन्निर्णयाय श्रुत्यन्तरावष्टम्भावश्यकत्वाच्च। तस्मा-त्तृतीयपादे संन्यासविधिरुक्त इतीमां टीकाकारोक्तिमसमञ्जसामेव पश्यामः।

केचित्तु तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा इत्यात्मरक्षणफलोद्देश्येन संन्यासलक्षण-स्त्यागोऽत्र विधीयते। न च कर्मत्यागेन निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानमपि प्रात्य-क्षिकमिति तत्रापि विधिरनुपयुक्त इति वाच्यम्। त्यागानन्तरं निष्क्रियात्मस्व-रूपावस्थानस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेऽपि त्यागात् पूर्वं तस्य प्रमाणान्तरानधिगततया त्यागस्य विधेयत्वोपपत्तेः। अन्यथा यागसंपादनोत्तरं मरणानन्तरं स्वर्गोऽपि प्रत्यक्ष इति तत्रापि विधिर्न स्यात्। न चाश्रुतत्यागवचनस्यापि सुषुप्त्यादौ कर्मत्यागे निष्क्रियात्म-स्वरूपावस्थानं प्रत्यक्षसिद्धम्, न ह्येवं ज्योतिष्टोमादिस्थले इति वैषम्यमिति वाच्यम्। निष्क्रियपदेन नैष्कर्म्यस्य विवक्षिततया सकलद्वैतप्रपञ्चरहितात्मस्वरूपावस्थानस्य मोक्षाभिधानस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वविरहात्। सुषुप्तेरज्ञानवासनादिकलितत्वेन द्वैतबाध-

❀ भाष्यम् ❀

एवमात्मविदः पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासेनाऽऽत्मज्ञाननि - तयाऽऽत्मा रक्षितव्य इत्येष वेदार्थः। अथेतरस्यानात्मज्ञत-

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

सम्बन्धाभिधित्सया—एवमात्मविद इत्यादिना। पूर्व-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

विरहात्। न चैवं संन्यासं विधत्त इत्येव वक्तव्ये विधित्सितं संन्यासं स्तौतीति टीकाकारोक्तिरसमञ्जसेति वाच्यम्। यतः सर्वद्वैतबाधसहितात्मस्वरूपावस्थानं वस्तुतो ज्ञानस्यैव फलम्, ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति श्रुतेः, तादृशज्ञानोपयोगित्वात्संन्यासस्य तादृशफलकत्वकथनं स्तुतिरेवेति टीकाकाराशयात्। कर्मसंन्यासं विनापि जनकादेर्ज्ञानोत्पत्तिस्तु क्वाचित्कापवादमात्रम्। तेन न संन्यासस्य हेतुत्वानुपपत्तिरिति वदन्ति।

भाष्ये एवमित्यादि। आत्मविदः = परोक्षात्मज्ञानवतो मुमुक्षोः। आत्मापरोक्षसाक्षात्कारवत्त्वं प्रत्युपदेशानर्थक्यात्। यद्वा आत्मज्ञाननिष्ठतया क्रमेण जातात्मज्ञानवानात्मानं रक्षेदिति योजनीयम्। एषणात्रयसंन्यासेनेति। तद्घटिता तत्प्रयोज्या वाऽऽत्मज्ञाननिष्ठेति भावः। आत्मज्ञाननिष्ठतयेति। तदेकविचारतदेकभावनान्यतरलक्षणा गृधिपरित्यागपूर्विका या निष्ठाऽऽत्मज्ञाने सा यस्य तत्तया। आत्म रक्षितव्य इति। यथोक्तात्मज्ञाननिष्ठाजनितात्मतत्त्वसाक्षात्कारेण कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसर्वसंसारबाधात्मकजगदाच्छादनपुरःसरं निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं मोक्षाख्यं रक्षणं कर्तव्यमित्यर्थः। इत्येष वेदार्थः = इत्येष प्रथममन्त्रार्थः सकलवेदरहस्यभूत इत्यर्थः। अथ=यथोक्तरीत्याऽऽत्मरक्षणकथनानन्तरम्। इतरस्येति। अस्यैव व्याख्या—अनात्मज्ञतयेत्याद्यशक्तस्येत्यन्तम्। अनात्मज्ञतया=परोक्षात्मज्ञानेनापि शून्यतया। दृढनिश्चयात्मकमत्र परोक्षज्ञानमपीति ध्येयम्। तेनापातात्मज्ञानवतां सुलभत्वेऽपि न क्षतिः। न च दृढनिश्चयोऽयं श्रवणाद्यनन्तरमेव भवति। श्रवणादिकं च संन्यासोत्तरमिति आत्मविदः पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासेनेति पूर्वोक्त्यसंगतिरिह च विवक्षितार्थाऽलाभ इति वाच्यम्। आत्मविद इति अनात्मज्ञतयेति च विवेकवत इति विवेकशून्यस्य चेत्यर्थकम्। विवेकस्य दार्ढ्यं च वैराग्यशमदमादिविशिष्टत्वम्। साधनचतुष्टय सम्पत्तिमत इति पूर्वत्रार्थः। साधनचतुष्टयरहिततयेति च इहार्थ इति सर्वमुपपन्नम्। अनात्मानं पुत्रपौत्रादिकमेव जानाति नत्वात्मानमित्यनात्मज्ञस्तद्भावस्तत्ता तयेत्यपि कश्चित्। आत्मग्रहणाशक्तस्येति। साधनचतुष्टयसम्पत्तिरहितेन कृतोऽपि

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

❀ भाष्यम् ❀

याऽऽत्मग्रहणाशक्तस्येदमुपदिशति मन्त्रः—कुर्वन्नेवेति । कुर्वन्नेव= निर्वर्त्तयन्नेव इह कर्माणि—अग्निहोत्रादीनि जिजीविषेद्=जीवितु-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

श्रवणादिर्विचारो भावना वा नात्मतत्त्वापरोक्षसाक्षात्काराय कल्पत इति आत्म-ग्रहणासमर्थं इत्युच्यते । इदमुपदिशतीति । यज्ञेन विविदिषन्तीत्यादिश्रुतेर्विवेकादिसंपादनौपयिकतया पतनाभावप्रयोजकतया वा इदं वक्ष्यमाणमुपदिशति । न च शतवर्षं कुर्वन्नेवेति वक्ष्यमाणतया विविदिषोपयोगित्वं न प्रतीयत इति वाच्यम् । जन्मान्तरविविदिषोपयोगित्वेनोपपत्तेः । यावन्न विविदिषा भवति तावत्कर्म कर्त्तव्यमित्येतस्यैव वेदतात्पर्यार्थत्वात् ।

इह=अधिकारभूमौ । निर्वर्त्तयन्नेवेति । संभारसंपादनपूर्वककरणं निर्वर्त्तनं तेनात्र न स्वाभाविकं कर्म मन्त्रे विवक्षितं किन्तु विहितं कर्मेति निर्वर्त्तयन्निति व्याचक्षाणेन सूचितम् । यद्वा निर्वर्त्तनं निष्पादनं कार्त्स्न्येन कर्मसंपादनम् । किंचित्कर्म सामि कृत्वा पुनः कर्मान्तरमारभ्य तदपि सामि संपाद्य कर्मान्तरारम्भे यद्यपि कर्मनैरन्तर्यमस्ति तथापि तथाविधकर्मकरणं नात्र विवक्षितं किन्तु साङ्गसमस्तकर्मसम्पादनमेव । एतदुक्तं भवति-विविदिषार्थे निष्कामकर्म कुर्वाणोऽपि सकामवदेव सावधानतया साङ्गं समस्तं कर्म संपादयेदेवेति । न चात्र निष्कामकर्मणोऽनुपात्तत्वेन सामिकरणादिप्रसक्तिरेव नास्तीति वाच्यम् । न कर्म लिप्यत इत्येतदनुसारेण नैष्कर्म्येच्छुकं प्रत्येवोपदेशस्य प्रतीतेर्निष्कामकर्मण एव श्रुत्यभिप्रेतत्वात् । न च भाष्यकृताऽशुभं कर्म न लिप्यत इति व्याख्यास्यमानत्वान्न नैष्कर्म्यमिह विवक्षितं, किन्तु विहितकर्मकरणादशुभकर्मणोऽवसराप्राप्तिरेव, विहितं कर्म सकामं निष्कामं वेत्यत्राविशेष एवेति वाच्यम् । सकामकर्मणामपि स्वर्गादिफलद्वारा पुनः संसारप्रयोजकतयाऽशुभत्वतौल्यात् । न वाऽग्निहोत्रादिकर्मनैरन्तर्यं संभाव्यते कस्यचित् । प्रातरग्निहोत्रादिकरणानन्तरं पश्चात्पापस्यापि प्रसक्तिसत्त्वात् । अत एवाग्रे कर्मनिष्ठेति वक्ष्यति भाष्यकारः । लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ । ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् । यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यत इत्यादिभगवद्वचनपर्यालोचनया च कर्मनिष्ठाघटककर्मणो निष्कामकर्मण्येव पर्यवसानात् । तस्मात्कृत्स्नकर्मसंपादन-

❀ भाष्यम् ❀

मिच्छेत् शतं=शतसंख्याकाः समाः=संवत्सरान्। तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम्।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

तात्पर्यं श्रुतेर्निर्वर्त्तयन्निति व्याचक्षाणेन सम्यगेव प्रदर्शितम्। अस्तु वा सकामनिष्कामभावनैरपेक्ष्येण कर्मसामान्यपरत्वमेव कर्मपदस्य। तथापि तस्य सम्यक् सम्पादनं कर्त्तव्यमन्यथा कृतस्यापि व्यङ्गत्वेऽफलत्वाल्पफलत्वादिप्रसक्तिरित्याशयेन निर्वर्त्तयन्निति व्याख्यातमिति द्रष्टव्यम्। कर्माणीति न स्वाभाविकानीति शब्दतः स्फोरयति—अग्निहोत्रादीनीति। स्वाभाविककर्मणां सर्वैरेव संपाद्यमानत्वेन विधिवैयर्थ्यापत्तेरिति भावः मुमूर्षुरित्यादौ संभावनायां सन्नवलोक्यते जिजीविषेदित्यत्रापि यदि तथा सनः संभावनार्थत्वं स्यात्तदा संभावनकरणं न सर्वेषां प्राप्तमिति वक्ष्यमाणप्राप्तानुवादतोक्तिर्न घटेतेत्यतो व्याचष्टे—जिजीविषेज्जीवितुमिच्छेदिति। इच्छा तु प्राप्तैव सर्वेषां। मा न भूवं हि भूयासमिति सर्वेषामिच्छादर्शनात्। न च जीवनसंभावनाविधिरस्तु, कुत इच्छार्थस्वीकार इति वाच्यम्। सन इच्छार्थस्यैव मुख्यत्वात्। संभावनाया लक्षणयापि लाभसंभवेन बहुतरप्रयोगसिद्धेच्छार्थस्यैव मुख्यार्थत्वौचित्यात्। शतसहस्रादिपदानामनन्तार्थत्वस्य शतरुद्रियं शतशो मनुष्या इत्यादौ प्रसिद्धत्वात्तद्व्यावर्त्तनाय संख्यात्वव्याप्यजात्यवच्छिन्नार्थकतया व्याचष्टे—शतं शतसंख्याका इति। समाशब्दस्य संवत्सरार्थकत्वमप्रतिपन्नमतो व्याचष्टे समाः संवत्सरानिति। ननु जीवनेच्छामात्रं प्राप्तम्। शतवर्षजीवनेच्छा न नियता। केचित्षष्टिवर्षपर्यन्तमात्रं जीवेयं ततः परं वार्धक्यदुःखदुःखितो मा जीवेयमितीच्छन्ति। इतरे शतवर्षोत्तरमपि जीवितुमिच्छन्ति। तथा च न न्यूनं नाप्यधिकमिच्छेदित्येतदर्थे शतं जिजीविषेदित्युक्तिः संभवति। शतं समा जिजीविषेदेव नात्मानं जिघांसेदित्याद्यर्थलाभात् तथा च वक्ष्यमाणप्राप्तानुवादोक्तिरनुपपन्नैव स्यादित्यत आह—तावद्धीति। निरूपितमिति। श्रुत्यादौ। तथा च तैत्तिरीयसंहितायां—'शतायुः पुरुष' इति। 'जीवेम शरदः शतमि'ति च। "शतं वर्षाणि सर्वमायुः पुरुषस्य" इति छान्दोग्यभाष्योदाहृता काचन श्रुतिः। अपि चान्यत्र—शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्। पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः" । अस्यार्थः शतमित् शतमपि शरदो वर्षाणि न तु पञ्चषवर्षाण्येव सर्वमायुरिति यावत् हे देवा यूयमन्ति समीपमस्माकं तिष्ठतेति शेषः। यत्र शरच्छते नोऽस्माकं तनूनां शरीराणां जरसं जरां यूयं चक्रा कुरुथ।

❀ भाष्यम् ❀

तथा च प्राप्तानुवादेन यज्जिजीविषेच्छतं वर्षाणि तत्कुर्वन्नेव कर्माणीत्येतद्विधीयते। एवमेवंप्रकारेण त्वयि जिजीविषति

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

शतवर्षपर्यन्तं शरीरं जीर्णं भवति तावत्पर्यन्तं हे देवा यूयं समीपेऽस्माकं तिष्ठतेति समुदितार्थः। यत्रास्माकं पुत्रासः पुत्राः पितरो भवन्ति सपुत्रा भवन्ति वयं यदा पितामहा भवेमेत्यर्थः। एतच्छरच्छतस्य मध्या मध्ये नोऽस्माकमायुर्मा रीरिषत मा हिंसिषत। कीदृशमायुः? गन्तोः=गमनशीलम् इत्थं च शतवर्षजीवनस्यैव पुरुषाणां परमायुष्ट्वात्तावदिच्छैव न्यायतः प्राप्ता, अधिकेच्छायाश्चन्द्रानयनेच्छावदुन्मत्तमात्रविषयत्वात्। मध्ये मुमूर्षापि दुःखविशेषादिप्रयुक्तविवेकहानादिनिबन्धनैव। तस्माच्छतवर्षजीवनेच्छा प्राप्तैवेति। प्राप्तानुवादेनेति। अयं भावः—नायं जिजीविषाविधिः। मा न भूवमिति सर्वेषां जीवनेच्छायाः प्राप्तत्वात्। अपूर्वविध्यसंभवात्। नापि नियमविधिः। पक्षेऽप्राप्त्यभावात्। न च दुःखितस्य मरणेच्छादर्शनादस्ति पक्षेऽप्राप्तिः, यत्तु सा विवेकहानादिति, तर्हि विवेकप्रापणायैव नियमविधिरास्तामिति वाच्यम्। जीवनस्य जीवनेच्छाया वा अपूर्वजनकत्वविरहेण नियमविध्यनुपपत्तेः। व्रीहीनवहन्तीत्यादौ नियमपरित्यागे यागादृष्टानुत्पत्तिवदत्र जीवनादृष्टस्य कस्यचिदनुत्पत्तेर्निरूपयितुमशक्यत्वात्। न जीविते गृधिं कुर्यादिति वचनान्तरविरोधापत्तेश्च। नापि परिसंख्याविधिः। शताधिकजीवनेच्छानिवारकतयैव तस्योपपादनीयत्वात्तस्य चायुक्तत्वात्। तथा सति पञ्चपञ्चनखेतरभक्षणे पापप्रसक्तिवच्छताधिकजीवनेच्छायां पापप्रसक्त्यापत्तेः। न चेष्टापत्तिः। स्वभावसिद्धजीवनेच्छायाः पापजनकत्वविभीषिकया श्रुत्या निवारयितुमशक्यत्वात्। भूयश्च शरदः शतादिति श्रुत्यन्तरविरोधापत्तेश्च। तस्माच्छतवर्षस्य परमायुष्ट्वात्तद्विषयकेच्छा स्वभावसिद्धात्रानूद्यत इत्येव समञ्जसम्। यज्जिजीविषेत्तत्कर्म कुर्वन्नेवेत्युद्देश्यविधेयवैपरीत्यप्रयुक्तवैरूप्यं त्वगत्या समास्थेयमिति भावः। एवमिति न समुच्चयाद्यर्थकम्। किन्त्वन्यथेतिवक्ष्यमाणथाल्प्रत्ययार्थप्रकारप्रतियोगिप्रकार एवेत्याशयेन व्याचष्टे–एवमेवंप्रकारेणेति। अस्यार्थं स्वयं स्फुटीकरिष्यति–अग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वतो वर्त्तमानात् प्रकारादिति। त्वयीत्यनन्तरं जिजीविषेदित्युक्तिप्राप्तार्थमनुकृष्य योजयति– जिजीविषतीति। न च एवंशब्दार्थप्रकारान्तर्गततयैव जिजीविषा सुयोजा तथा चैवंप्रकारेण कर्माणि कुर्वञ्जिजीविषति त्वयीत्येव कुतो न व्याख्यातमिति वाच्यम्। कर्माऽलेपं प्रति जिजीविषाया अप्रयोजकत्वात्तस्याः प्रकारान्तर्भावनायोगात्।

❀ भाष्यम् ❀

नरे=नरमात्राभिमानिनि इत=एतस्मादग्निहोत्रादीनि कर्माणि कुर्वतो वर्त्तमानात् प्रकारात् अन्यथा=प्रकारान्तरं नास्ति येन

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

अतएव त्वयीत्यनन्तरं जिजीविषतीति योजितम्। अन्यथा जिजीविषाया अपि एवमित्यनेन परामर्शशङ्का स्यात्। आत्मनि कर्मलेपतदभावयोर्वस्तुतोऽप्रसक्तेः शरीरस्य च कर्ममयत्वान्नरे इति विशेषणमनुपपन्नं स्यादतो व्याचष्टे—नरे नरमात्राभिमानिनीति। किमर्थं मात्रपदमिति चेत्? कालान्तरे देवपश्वाद्यभिमानस्यापि सत्त्वात् तदानीं यदि कस्यचिद् भ्रान्त्या नराभिमाने तद्व्यावर्त्तनाय विशेषणात्। न चैवं मनुष्यशरीरे स्थितस्यैव कदाचिदावेशादिना व्याघ्राद्यभिमाने सति तदपि व्यावर्त्तेतेति वाच्यम्। व्यावर्त्ततां कामम्। न हि व्याघ्राभिमानकालकृतकर्मणामदृष्टफलजनकत्वमस्ति। इत इति सर्वनामपरामृश्यस्य दुर्बोधत्वाद् व्याचष्टे एतस्मादित्यादि। अन्यथेत्यत्र सर्वनाम्नोऽन्यशब्दात् "प्रकारवचने थाल्" इति सूत्रेण थाल्प्रत्ययः। तेन प्रकारेण तथेति वृत्तिकाराः। तत्र तत्त्वबोधिनीकारादयः—प्रथमान्तात्तु न भवति स प्रकारस्तथेति, अनभिधानादेवेति। एवं सति अन्यथा नास्तीत्यस्य अन्यप्रकारेण नास्तीत्यादिरर्थः स्यात्। स च न प्रकृतसंगतः। तस्मात्प्रथमान्तादपि थाल् प्रत्ययो भवत्येव। वृत्तिकारादयस्त्वनतिप्रसिद्धेरनभिधानमाचख्युरित्याशयेन व्याचष्टे—अन्यथा प्रकारान्तरं नास्तीति। न च एवं त्वयि न कर्म लिप्यते इतोऽन्यथाऽन्यप्रकारेण न कर्म लिप्यत इति न किन्तु लिप्यत एवेति व्याख्यायतामिति वाच्यम्। अस्तिपदवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न चास्तीति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययमस्तु। विद्यमानमिति तदर्थः विद्यमानं कर्म न लिप्यत इति नेति तदर्थं इति वाच्यम्। अविद्यमानकर्मणो लेपाप्रसक्तेरेव विशेषणवैयर्थ्यापत्तेः। एवं त्वयि विद्यमानमपि कर्म न लिप्यत इति योज्यतामिति चेन्न। नान्यथा न लिप्यत इत्यतोऽर्थादेवं त्वयि न लिप्यत इत्यवगम्यत इति प्रथमं तत्रैवान्वयस्योपगन्तव्यत्वात्। ननु लिप्यतां कर्म, काऽत्रानुपपत्तिः, अन्यथा कर्म कुर्वन्नेवेति कुतो विधीयते, विहितस्य लेपो नानुचित इत्यतो विशिनष्टि—अशुभमिति। अत्र केचिद् व्याचक्षते जन्ममरणबन्धनकारणत्वेन सकलमपि कर्माशुभमेवेति तदलेपाय प्रयतितव्यम्। न च प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनमिति न्यायात् कर्माऽकरणादेव लेपो न भविष्यतीति वाच्यम्। अज्ञानिभिः सर्वथा कर्मपरित्यागायोगात्सर्वारम्भाणां च दोषावृतत्वात्कर्मलेपस्य दुर्वारतापत्तेः। न चैवं कर्मकरणेऽपि लेपो दुर्वार एवेति कर्मालेपे नायमपि प्रकारः प्रयोजक इति वाच्यम्। कर्मालेपेच्छुकस्य अत एव निष्कामस्य कामना-

भाष्यम्

प्रकारेणाशुभं कर्म न लिप्यते कर्मणा न लिप्यस इत्यर्थः। अतः शास्त्रविहितानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि कुर्वन्नेव जिजीविषेत्।

❀ जयमङ्गलाचार्यं विवरणम् ❀

विरहेण कर्मलेपाप्रसक्तेः। स्वाभाविककर्मप्रयुक्तपापविशेषाश्च प्रायश्चित्तकर्मणा वारयितुं शक्याः। तथा च नित्यानि नैमित्तिकानि प्रायश्चित्तानि च कर्माणि कर्त्तव्यान्येव। काम्यत्वेन प्रसिद्धान्यपि कामनापरित्यागपूर्वकं कर्त्तव्यानीति।

केचित्तु भट्टादिमतानुसारेण नित्याद्यकरणस्याभावरूपतया पापजनकत्वविरहान्नित्यादिकर्मकालविहितकर्मान्तरमेव प्रत्यवायजनकमिति स्वीकारात्तदेवात्राशुभं कर्मेत्यनेन विवक्षितम्। नित्यादिकर्मकरणे च तदकरणकालीनकर्मात्मकप्रत्यवायिकर्मविरहादशुभं कर्म न लिप्यत इति युक्तमिति वदन्ति। तच्चिन्त्यम्। नित्यादिकर्मकरणेऽशुभकर्मैव न भवतीति अशुभकर्मलेपस्याऽप्रसक्तस्य निषेधस्वीकारापत्तेः। अशुभं कर्म न भवतीति वक्तव्येऽशुभं कर्म न लिप्यत इत्येतावत्पर्यन्तगमनस्याशुभकर्मसत्त्वेऽपि लेपाभावतात्पर्यकत्वावगमात्। वस्तुतस्तु 'कर्मणा पितृलोकः' इत्याद्युदाहरणेनाग्रे भाष्य एतन्मन्त्रोदितकर्मण एव सफलत्वस्य वक्ष्यमाणतया नात्र निष्कामकर्ममात्रं विवक्षितम्। न च निष्कामतया क्रियमाणानामपि नित्यादिकर्मणां पितृलोकादिफलं भवतीति वाच्यम्। तत्तत्फलकामनावत एव तत्तत्फलप्राप्तेः। अन्यथा "सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ" इत्यत्र कामनाविरहवतः सर्वफलप्राप्त्यापत्तेः। तत्र हि तत्तत्कामनावतस्तत्तत्फलप्राप्तिरिति हि सिद्धान्तितम्। निष्कामकर्मणां च ज्ञानोपयोगिन्यन्तःकरणशुद्धिरेव फलमिति च तत्र तत्र प्राज्ञैर्व्यवस्थापितम्। न चाप्राप्तज्ञानस्य निष्कामस्यापि कृतकर्मणः फलं किंचिद् वक्तव्यम्। स्वर्गकाम इति वा सर्वेभ्य इति वा फलविशेषकामानुल्लेखाच्च पितृलोकः फलम्। अन्यथा कर्मनैष्फल्यापत्तेरिति वाच्यम् "अनेकजन्मसंसिद्ध" इति न्यायेन जन्मान्तरभाविज्ञानं प्रत्युपयोगितया साफल्योपपत्तेः। न हि कृतविप्रणाशो भवति "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयाद्" इति स्मृतेश्च। नित्यादेः पापक्षयफलताया अप्युक्तत्वादशुभकर्मालेपश्च भाष्योक्त उपपद्यते। अन्यथा सर्वस्यापि कर्मणोऽशुभत्वादशुभविशेषणवैयर्थ्यमेव स्यादिति ध्येयम्। देवदत्ते यज्ञदत्तोऽनुरक्त इत्यत्र यज्ञदत्तगतगुणदोषविशेष एव मुख्यतया प्रतीयते न तु देवदत्तगतः। एवं त्वयि कर्म लिप्यत इत्यादौ कर्मण्येव कश्चिद्गुणदोषविशेषः प्रतीयेतेत्यतो व्याचष्टे—कर्मणा न लिप्यस इत्यर्थ इति। मन्त्रार्थमुपसंहरति—अत इति। यतः कर्माकरणे कर्मलेपविनिर्मुक्तिर्न भवति कर्मकरणे च सा संभाव्यतेऽत इत्यर्थः।

भाष्यम्

कथं पुनरिदमवगम्यते—पूर्वेण मन्त्रेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता, द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेति । उच्यते,

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

मन्त्रेण ज्ञानं विहितं यस्य तस्यैवोत्तरमन्त्रेण कर्म विहितं, ततः समुच्चयानुष्ठानेतात्पर्यं मन्त्रद्वयस्येत्येकदेशी शङ्कामुद्भावयतिकथं पुनरिति । शुद्धब्रह्मज्ञानकर्मणोरेकाधिकारे विरुद्धत्वात् । ऋतुगमनत्रिदण्डिधर्मवद्-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

एवमात्मविद इति अथेतरस्यानात्मज्ञतयेति च भाष्यसन्दर्भाभ्यां मन्त्रद्वयस्य भिन्नाधिकारविषयत्वं दर्शितम् । तत्र ज्ञानकर्मसमुच्चयवादिनो भास्करादेर्मतमुत्थापयति टीकायां—पूर्वमन्त्रेणेत्यादि । ज्ञानं विहितमिति । समुच्चयवादिमते ज्ञानस्यापि विधेयत्वमङ्गीकृत्येदम् । ज्ञाननिष्ठा विहितेति वाऽर्थः कर्त्तव्यः । ज्ञाननिष्ठा च न संन्यासात्मिका । विरोधापत्तेः । किन्तु ईश्वरात्मविचारभावनादिकमेव । साधनविधानानुरोधाद्वा साध्ये ज्ञाने विहितत्वोपचारः ।

भाष्ये कथमिति । केन प्रकारेण केन हेतुनेति यावत् । उच्यत इति । कथमिति पृष्टः प्रकारात्मकहेतुरुच्यत इत्यर्थः ।

हेतुप्रतिपादनविधया नोत्तरभाष्यं स्पष्टं प्रतीयते । अतः हेतुबोधकपञ्चम्यन्तेन भावार्थं व्याचष्टे टीकाकारः—शुद्धब्रह्मज्ञानकर्मणोरेकाधिकारे विरुद्धत्वादिति । अस्य भाष्यगतेनोच्यत इत्यनेन सम्बन्धान्न पञ्चम्यन्तप्रयोगासंगतिः । एकाधिकारे विरुद्धत्वादवगम्यते पूर्वेण मन्त्रेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्तेत्यादिग्रन्थयोजना द्रष्टव्या । विरुद्धत्वमेव विवरीतुं चोदयति—ऋतुगमनेति । "ऋतौ भार्यामुपेयाद्" इत्युक्तमृतुगमनम् । "कुटीचकश्च संन्यस्य स्वे स्वे वेश्मनि नित्यशः । भिक्षामादाय भुञ्जीत स्वबन्धूनां गृहेऽथवा । शिखी यज्ञोपवीती स्यात त्रिदण्डी सकमण्डलुः । सपवित्रश्च काषायी गायत्रीं च जपेत्सदा" इत्यादिवचनोक्ताः कुटीचकादीनां धर्मास्त्रिदण्डिधर्माः । अत्र यज्ञोपवीतं नाम यज्ञार्थमुपवीतमिति शिखायज्ञोपवीतादिमतः कर्मसत्त्वं प्रसिद्धम् । तत्र यद्यपि गृहस्थानामृतुगमनसत्त्वेऽपि न भिक्षाशनकाषायाम्बरधारणादिकम् । संन्यस्येति ल्यपा संन्यासोत्तरभवस्य संन्यासधर्मत्वात् । त्रिदण्डिनां च न गृहवर्त्तिनामप्यृतुगमनादिकम् । तथापि पूर्वमृतुगमनं पश्चात् संन्यस्य त्रिदण्डिधर्मधारणमित्येवमेकस्यैव क्रमेणोभयकर्त्तृत्वं शास्त्रसंमतमिति यथैकाधिकारत्वं तथा ज्ञानकर्मणोरप्येकाधिकारत्वं संभवतीति चोद्यार्थः । गृहस्थधर्मविशिष्टस्य ऋतुगमनाधिकारः

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

स्त्येव तत्रापि क्रमेणैककर्तृकत्वमिति चेन्न। विशिष्टरूपभेदाद्भिन्नाधिकारत्वात्। यच्चोक्तं ज्ञानकर्मणोर्वेदविहितत्वेन शुद्धिसाम्याद्विरोधोऽसिद्ध इति। तदसत्। ऋतुगमनत्रिदण्डिधर्मयोरप्यविरोध-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

संन्यासधर्मविशिष्टस्य त्रिदण्डिधर्मा इति तत्रापि कर्मैक्येऽपि अधिकारभेद एव। अधिकारभेदानभ्युपगमे भवन्मत एव ऋतुगमनत्रिदण्डिधर्मयोः समुच्चयः शास्त्रविरुद्धः प्राप्नोतीति समाधत्ते—विशिष्टरूपभेदाद्भिन्नाधिकारत्वादिति। ननु विशिष्टरूपभेदाद्भिन्नाधिकारत्वादित्यत्र पुनर्विचारयिष्यामः। यदुक्तं ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यमित्यादि तत्रेदं ब्रूमः, न ज्ञानकर्मणोर्विरोधो युक्तः। उभयोरपि वेदोक्तत्वात्। न च वेदोक्तत्वं न विरोधाभावे हेतुरतिरात्रे षोडशिग्रहणाग्रहणयोर्विरोधदर्शनाद् विरोधविरहे वा कुतस्तत्र विकल्प आश्रीयेतेति वाच्यम्। यतो विकल्पाश्रयणं विरोधपरिहाराय भवति। अर्थान्नास्ति विरोधो वेदस्य, वेदेन विकल्पस्यैव विवक्षितत्वादिति। न चैवमत्रापि ज्ञानकर्मणोर्विकल्प एव प्राप्नोति न तु समुच्चय इति वाच्यम्। वेदोक्तार्थे विरोधाभावे स्थिते विकल्पो वा समुच्चयो वा विवक्षित इत्यस्य तात्पर्यावधारणलिङ्गैरेव निर्णेयत्वात्। तत्र विकल्पस्याष्टदोषदुष्टत्वात्समुच्चय एवाङ्गीकर्त्तव्यः। न चैवं षोडशिग्रहणाग्रहणयोरपि समुच्चयः स्यादिति वाच्यम्। ग्रहणाग्रहणयोरेकसत्त्वेऽपरासंभवेन विकल्पाश्रयणस्यापरिहार्यत्वात्। अत्र तु ज्ञानेन कर्तृत्वादिबाधेऽपि आहार्याध्यारोपेण कर्तृत्वादिकमङ्गीकृत्य कर्म संपादयितुं शक्यमेव। मुमुक्षूणां तु नितरामित्याशयवतः पूर्वपक्षिणो मतमनुवदति—यच्चोक्तमिति। यथाकथंचिद् विरोधपरिहाराभासेन समुच्चयश्चेदङ्गीक्रियते तदा ऋतुगमनत्रिदण्डिधर्मयोरपि समुच्चयः स्यात्। उभयोर्वेदविहितत्वात्। न च संन्यस्येति ल्यपः श्रवणाद् गृहस्थाश्रमकाले त्रिदण्डिधर्मा न प्रसज्यन्त इति वाच्यम्। आरोपितसंन्यासस्य तत्रापि संभवात्। किं च त्रिदण्डिधर्मकाले ऋतुगमनं प्राप्तं कथं वार्यताम्। न च यतीनामवकीर्णित्वे प्रायश्चित्तस्मरणान्निषिद्धमृतुगमनमिति वाच्यम्। तर्हि गृहस्थस्यापि तदप्राप्तेः। यो गृहस्थः स एव पश्चात् त्रिदण्डीति त्रिदण्डिनस्तन्निषेधे गृहस्थस्यापि तद्वारणायोगात्। आरोपितगृहस्थत्वस्य त्रिदण्डिन्यपि संभवात्। तस्मादध्यारोपितधर्ममादाय समुच्चयो न शक्यते कर्त्तुमिति ज्ञानकर्मणोरपि समुच्चयो नाहार्यारोपितकर्तृत्वेन संभवतीत्याशयेन पूर्वपक्षिमतं प्रतिक्षिपति—ऋतुगमनत्रिदण्डिधर्मयोरप्यविरोधप्रसङ्गादिति। ननु कोयं विरोध ऋतुगमनत्रिदण्डिधर्मयोर्यदभावं भवान् प्रसञ्जयति। न तावत्स्वरूपतो विरोधः। औष्ण्यशैत्ययोरिवैकसत्त्वेऽपराभावनियमस्य विरहात्।

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

प्रसङ्गात्। तदुभयं नैकस्य विहितमिति चेत्? तुल्यमेतत्।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

न हि ऋतुगामी काषायवस्त्रं न धारयितुं शक्नोति। त्रिदण्डी वा ऋतौ न गन्तुं शक्नोति। नापि शास्त्रतो विरोध उभयोः। भिन्नकालविहितयोरुभयोरेकदा प्राप्तिविरहेण विरोधाप्रसक्तेः। न ह्यद्य म्रियमाणदेवदत्तस्य श्वोभाविना यज्ञदत्तेन विरोधः। न च तृतीयं विरोधबीजं किंचित्पश्याम इति चेन्न। शास्त्रेण भिन्नकालविहितयोरपि तयो रागेणैककाले प्राप्तिसंभवाच्छास्त्रीयविरोधस्थितेः। पूर्वकालत्वोत्तरकालत्वयोः परस्परविरहवद्व्याप्यान्यतररूपत्वादस्ति तद्विशिष्टयोर्विरोधः। आरोपितोत्तरत्वपूर्वत्वाभ्यां तु विरोधो भज्येतैवेति दिक्। ननु विशेष्यैक्येऽपि विशेषणभेदाद्भेदः। तथा च गृहस्थत्वविशिष्टोऽन्यः त्रिदण्डित्वविशिष्टोऽन्यः इति नैकस्योभयं विहितम्। न चैवं ज्ञानकर्मणोरपि विशिष्टभेदेन भिन्नकर्तृकत्वं स्यादिति वाच्यम्। कर्तृत्वविशिष्टः कर्म कुर्यात्, कर्तृत्वाभावविशिष्टश्च ज्ञानं संपादयेदित्येवं भेदेन विध्यदर्शनादिति शङ्कते—**तदुभयं नैकस्य विहितमिति चेदिति**। तथा च न विरोधात् तदुभयसमुच्चयाभावः किन्त्वेकस्योभयाविधानादेवेति भावः। आख्यातानामर्थं ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणीति न्यायेन कर्तृत्वाध्यासविरहवता कर्म कर्तुमशक्यत्वात् कर्तृत्वाध्यासवता च ज्ञानसंपादनासंभवादत्रापि नैकस्योभयं विधातुमर्हमिति समानमत्रापीति परिहरति—**तुल्यमेतदिति**। अत्रापीति शेषः।

अथ ऋतुगमनत्रिदण्डित्वधर्मयोर्नैकस्य विहितमित्ययुक्तम्। "निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्। ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्" इति हि मनुः। अस्यार्थः—ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृता इति षोडशसु रात्रिषु 'तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या त्रयोदशी च" इत्युदीरितनिन्दिताः षड् रात्रीरन्याश्च काश्चिदष्टौ रात्रीर्वर्जयित्वा शेषयोर्द्वयोर्ऋतुकालीनरात्र्योः स्वभार्यां व्रजन् ब्रह्मचार्येव भवति। अत्र च यत्र तत्राश्रमे वसन्निति त्रिदण्ड्याश्रमस्यापि ग्रहणं गम्यते। यत्तु मेधातिथिराह—यत्र तत्राश्रमे वसन्निति प्राप्तगृहस्थाश्रमानुवादमात्रम्। गृहस्थेतराश्रमत्रये जितेन्द्रियत्वविधानाद्रात्रिद्वयाभ्यनुज्ञानासंभवादिति। तन्न। ब्रह्मचर्यमेव तद् यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्त इति श्रुतेर्गृहस्थस्य रात्रिमात्रगमनस्य ब्रह्मचारित्वाविघातकत्वेन रात्रिद्वयगमनेऽपि ब्रह्मचार्येवेति वचनवैयर्थ्यापत्तेः, यत्रतत्रेतिपदद्वयस्वारसिकार्थपरित्यागापत्तेश्च। जितेन्द्रियत्वं च परेच्छया पुत्राद्यर्थे वा गमनप्रवृत्तावप्यविरुद्धमेव। बहूनां

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम ❀

राजर्षीणां जितेन्द्रियत्वेन प्रसिद्धानामपि पुत्रपौत्रादिसन्ततिदर्शनात् । तथा च गोविन्दराजो व्याचचक्षे—उत्पन्नविनष्टपुत्रस्याश्रमान्तरस्थस्यापीच्छया पुत्रार्थं रात्रिद्वयगमने दोषाभावप्रतिपादनार्थमेतत् । यत्रतत्राश्रमे वसन्निति वचनात् पुत्रार्थी संविशेदिति च प्रस्तुतत्वात् पुत्रस्य महोपकारकत्वादिति । यत्तु कुल्लूकभट्टेन यत्रतत्राश्रमे वसन्निति वानप्रस्थापेक्षया । तस्य हि भार्यया सह गमनपक्षे ऋतुगमनं प्रसक्तमिति व्याख्याय गोविन्दराजः प्रत्याख्यातः— "हन्त गोविन्दराजेन विशेषमविवृण्वता । व्यक्तमङ्गीकृतमृतौ स्वदारसुरतं यतेः" इति । तत्र पृच्छामः । वनप्रस्थस्यापि कथमनुमतिर्दत्ता भवता ? जितेन्द्रियत्वसामान्यात् । भार्यया सह वनगमनपक्षे प्रसक्तं चेत् "कुटीचकश्च संन्यस्य स्वे स्वे वेश्मनि" इत्यादिना कुटीचकानां त्रिदण्डिनां सुतरां प्रसक्तम् । "संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन् । नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत्" इत्येवं मनुना संन्यासिनां पुत्रैश्वर्ये सुखवासाभ्यनुज्ञानाद् उत्पन्नविनष्टपुत्रस्येत्यादिगोविन्दराजव्याख्यानस्यैवाधिकसुसंगत्वादिति चेद् ? अत्रोच्यते एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्तीति प्रव्रजनविधौ आत्मलोककामस्यैवाधिकारदर्शनाद्, किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति आत्मलोककामानां प्रजोपकारप्रतिक्षेपात्प्रजाया महोपकारकत्वकथनेन ऋतुगमनाभ्यनुज्ञानकथनं गोविन्दराजस्यासंगतमेव । यावज्जीवं गार्हस्थ्यधर्मेण स्थितिसंभवस्य श्रुतिस्मृत्यादिषु सर्वत्र प्रसिद्धत्वाद् वानप्रस्थाश्रमोऽपि असंजातदृढवैराग्याणामपि विवेकसामान्यवैराग्यादिमतामेवेति वने गत्वा पुत्रोत्पादनप्रवृत्त्यभ्यनुज्ञानमपि मूढानामेव भवति । भार्याया आग्रहेण हि तया सह तपोऽर्थं वने गम्यते न तु तया सह सुरतार्थम् । तथा सति गृहस्थाश्रमे निवासे किं छिन्नम् । ये तु मृतपत्नीका अलभ्यकन्यका अनाश्रमित्वभयेन वनं प्रतिष्ठन्तेऽजितेन्द्रियास्तेषां दारविरहादेवर्तुगमनमप्राप्तमिति निन्द्यास्वित्यादिश्लोको गृहस्थविषय एव । यत्रतत्राश्रमे इति हरिद्वारकाशीप्रयागादितीर्थस्थानादीनामुपलक्षणम् । आश्रम इति च शान्तमिदमाश्रमपदमित्यादिप्रसिद्धतपस्विस्थानपरम् । तत्र तीर्थयात्रादौ गृहस्थानामपि ब्रह्मचर्यविधानात्तेषामेव रात्रिद्वयाभ्यनुज्ञानार्थमुक्तंवचनम् । तस्मादृतुगमनत्रिदण्डिधर्मयोर्नैकस्य विहितमिति युक्तयुक्तं भवति ।

ननु मुमुक्षोः कर्तृत्वाद्यध्याससत्त्वाद् मुमुक्षोर्विचारादिकाले कर्मसमुच्चयः स्यादिति चेन्न । आपातज्ञानेन मुमुक्षोरपि कर्तृत्वादिदृढाध्यासपरिहारात् । कर्तृत्वाद्यध्यासक्षयप्रयोजकज्ञानसंपादनपरायणस्य मुमुक्षोः कर्तृत्वाद्यध्यासदृढीकरणप्रयोजककर्मोपादानायोगाच्च । न हि शैत्यं संपादयितुं गच्छन् अग्निं सहायी-

❀ आनन्दगिरिय टीका ❀

प्रतिषेधात्तत्र न समुच्चय इति चेद् ? इहापि "न कर्मणा न प्रजया" "नानुध्यायाद् बहून् शब्दान्" इत्यादिप्रतिषेधस्तुल्यः। केवलकर्मविषयो निषेध इति न च वाच्यम्। केवलपदव्यवच्छेद्याभावात्, समुच्चयवि-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

करोति।

ननु "पदापि युवतिं भिक्षुर्न स्पृशेद्दारवीमपि" इत्यादिप्रतिषेधात्त्रिदण्डिन अनुगमनं न प्राप्नोतीति ब्रूमः, न तु भिन्नाधिकारित्वादिति, अध्यारोपिततत्तद्धर्मवत्त्वादिना वा; न ह्येवं ज्ञानिनः कर्मनिषेधकं वाक्यान्तरमुपलभामहे येन ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो नावकल्पेतेति शङ्कते—प्रतिषेधादिति। न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः इत्यादिकमत्रापि प्रतिषेधवचनमस्तीति यत्तानुकूलो बलिरिति न्यायेनोत्तरमाह—इहापीति।

ननु न स्त्रियं पश्येन्न युवतिं स्पृशेदित्यादिकं स्पष्टं प्रतिषेधशास्त्रम्। "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" इति च न प्रतिषेधशास्त्रम् तत्र कर्मादिषु अमृतत्वकारणत्वमात्रव्यावर्त्तनात्। न हि भवति भोजनेन ज्ञानं न भवति किन्त्वध्ययनेनेत्युक्तेऽधीयानेन भोजनं त्यक्तव्यमित्यर्थलाभः। न च अमृतत्वकारणत्वव्यावृत्तौ समुच्चयासिद्धिः, एककार्यकारित्वेनैव समुच्चयोपगमादिति वाच्यम्। एककार्यकारित्वलक्षणसमुच्चयाऽलाभेऽपि एककालभावित्वलक्षणसमुच्चयोपपत्तेः। न हि तदपि भवद्भिरुपगम्यते। तथा च कर्मणा ज्ञातज्ञानमेव विमलीकुर्वन्नभ्यासात्पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नर इति कुतः कर्मसंन्यास इति चेन्न। त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुरिति द्वितीयपादे प्रथमपादप्रसिद्धकारणताककर्मप्रजादीनामेवोपस्थितत्वेन त्यागप्रतियोगितया ग्रहणात् कर्मत्यागस्य ज्ञानवदेव मोक्षहेतुत्वसिद्धौ न कर्मणेत्यादिश्रुतेरपि प्रतिषेधशास्त्रसमानत्वसिद्धेः।

ननु न कर्मणेति केवलकर्मणेत्यर्थः, ज्ञानरहितकर्मणेति यावत्। ज्ञानसमुच्चितेन कर्मणा मोक्षः स्यादेव। तथा चोक्तं—"तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानं कर्म चोक्तं महामुने" इत्याशङ्कते—केवलकर्मविषय इति। ज्ञानासमुच्चितकर्मविषय इत्यर्थः। समुच्चितकर्मणा मोक्षो भवतीति सिद्धं चेत्तदा न कर्मणेति श्रुतौ कर्मपदस्य ज्ञानासमुच्चितकर्मार्थकत्वं कल्प्येत। न च तदद्यापि सिद्धमिति कथमुक्तार्थसंभव इति समाधत्ते—केवलेत्यादि। न च तत्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानं कर्म चोक्तमिति स्मरणात् सिद्धमिति वाच्यम्। ज्ञानादेव तु कैवल्यं तमेव विदित्वेत्यादिश्रुत्यन्तरेषु ज्ञानमात्रस्य मोक्षकारणत्वावधारणादुक्तस्मृतौ कर्मणः परम्परया मोक्षहेतुत्वस्यैव कल्प-

❀ भाष्यम् ❀

ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यं यथोक्तं न स्मरसि किम् ? इहाप्युक्तं यो हि जिजीविषेत् स कर्म कुर्वन्, ईशावास्यमिदं सर्वं, तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः कस्यस्विद्धनमिति

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

धेरव्याप्यनिश्चितत्वात्। तस्मान्न समुच्चये तात्पर्यं मन्त्रद्वयस्येत्याह—ज्ञानकर्मणोर्विरोधमिति। कर्तृत्वाद्यध्यासाश्रयं कर्म शुद्धत्वाऽकर्तृत्वादिज्ञानेनोपमृद्यत इति सम्बन्धग्रन्थे यथोक्तं सहानवस्थानलक्षणं विरोधं किं न स्मरसि येनैकाधिकारत्वं तयोः कल्पयसीत्यर्थः। मन्त्रलिङ्गादपि तयोर्भिन्नाधिकारत्वं प्रतीयत इत्याह—इहाप्युक्तमिति। जिजीविषो रागिणः कर्म विहितं, सर्वमीश्वर एवेति ज्ञानवतस्त्यागो विहितः। किं च धनसंपन्नस्यैव कर्मण्यधिकारः। प्रथममन्त्रार्था-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

नीयत्वात्। यथोक्तहेतुपरतया भाष्यं योजयन्नुपसंहरति—तस्मादिति। अध्यासाश्रयम्—अध्यासप्रयोज्यम्। ज्ञानेनोपमृद्यत इति। ज्ञानेनाध्यासनिवृत्तेः प्रयोजकविरहेण प्रयोज्यानवस्थितेरित्यर्थः। सहानवस्थानलक्षणविरोधे सहैककार्यकारित्वलक्षणसमुच्चयो दूरनिरस्त इत्याह—येनैकाधिकारत्वमिति। भाष्ये यो हि जिजीविषेत् स कर्म कुर्वन्निति रागिणः कर्मेत्येतदुपपादकं, सन इच्छार्थत्वात्। ईशावस्यमिदं तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा इति कर्मसंन्यासोपपादकं, मा गृधः कस्यविद्धनमिति कर्मनिषेधोपपादकं, कर्मसाधकधनाकाङ्क्षानिषेधादिति विवेकेन व्याचष्टे—जिजीविषो रागिण इत्यादि। ज्ञानवतः=ज्ञाननिष्ठावतः। सकलद्वैतविकारजातत्यागो वास्यमित्यस्यार्थस्तं त्यागं त्यक्तेनेत्यनेन परामृशतीति पक्षेऽपि तस्यापि संन्यासरूपत्वमेवेत्युपपादितं प्राक्। धनसंपन्नस्यैवेति। वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति वाजसनेयिभिराम्नानादिति भावः। ननु सन्ध्यावन्दनादौ न धनसापेक्षता। तथा च कथमिदमुपपद्यते धनसंपन्नस्यैव कर्मण्यधिकार इति। किं च धनपदं तत्र न वित्तपरम्। मिथ्याविषयां गृधिं मा कार्षीरिति व्याचक्षाणेन भाष्यकृता सर्वमिथ्यापदार्थपरताया एव दर्शनादिति चेत् ? सत्यम्। अत एव सन्ध्यावन्दनादेरपि धनपदतात्पर्यार्थसापेक्षतां ब्रूमः। गन्धाक्षतजलादेः सर्वस्यैव मिथ्यावस्तुत्वेन धनपदलभ्यार्थत्वात्। तादृशधनसंपत्तिं विना कर्मासंभवस्य निश्चितत्वात्। तद्गृधिपरित्यागे कर्मणोऽप्यनिर्वृत्तेरिति भावः। ननु जिजीविषेदिति मन्त्रलिङ्गेन रागिण एव कर्माधिकार इत्ययुक्तम्। जिजीविषायाः स्वभावप्राप्ततया

❀ भाष्यम् ❀

च; न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्वीतारण्यमियादिति च पदं, ततो न पुनरियादिति संन्यासशासनात् ।

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

धिकारिणश्च धनाकाङ्क्षानिषेधेन कर्माधिकारनिषेधः प्रतीयत इत्यर्थः । जिजीविषा हि कर्माधिकारिण एव, न ज्ञानाधिकारिण इत्यत्र प्रमाणमाह—न जीवित इति । अरण्यं स्त्रीजनासंकीर्णमाश्रममियाद् गच्छेदिति पदं वेदशास्त्रस्थितिस्ततोऽरण्यवासोपलक्षितात् संन्यासान्न पुनरियात् कर्मश्रद्धया न प्रत्यावृत्तिं कुर्यादिति जिजीविषादिरहितस्य संन्यासविधानादित्यर्थः ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

ज्ञानिनां भोजनादीच्छावदेव रागाभासमात्रत्वात् । भोजनस्येव जीवनस्यापि प्रारब्धनिबन्धनत्वादित्याशङ्कायां प्रवृत्तेरिच्छाजन्यत्वेन भोजनादिप्रवृत्तिस्थले प्रारब्धप्रयुक्तरागाभासस्वीकारेऽपि जीवनस्य प्राणसंयोगात्मकस्य इच्छाजन्यत्वविरहेण तद्विषयकेच्छायाः प्रारब्धाधीनत्वकल्पनानुत्थितेः रागिण एव जिजीविषा पर्यवस्यतीत्येवं समाधातुं जिजीविषायाः प्रारब्धाधीनत्वे तत्त्यागोपदेशपरवेदवचनानर्थक्यमापद्येतेत्याशयवान् तादृशजिजीविषात्यागपरकं वाक्यमुदाहरति भाष्यकार इत्याह जिजीविषा हीति । अरण्यमियात्ततो न पुनरियादित्युभयमपि न संगतम् । संन्यासिनां ग्रामेषु परिव्रजनस्य शास्त्रसिद्धत्वादतस्तत्तात्पर्यमाह—अरण्यं स्त्रीजनासंकीर्णमिति । स्त्रियश्च जनाश्च तैरसंकीर्णम् । जना इति जनसमुदायः । फलितमाह—आश्रममिति । रणे साधू रण्यं न रण्यमरण्यम् । मनोवाक्कायसंघर्षशून्यम् । शान्तमाश्रमपदम् । सर्वकर्मसंन्यासलक्षणमिति यावत् । नन्वत्र न जीविते मरण इत्येवं बहूनि पदानि दृश्यन्ते, तत्कथं पदमित्येकवचनेन प्रयोग इत्याशङ्कायां नात्र पदमिति सुप्तिङन्तपदप म् किन्तु वेदशास्त्रस्थितिपरमित्याशयेन व्याचष्टे पदं वेदशास्त्रस्थितिरिति । वानप्रस्थाश्रमशङ्कां निरस्यन्नाह—अरण्यवासोपलक्षितात्संन्यासादिति । न पुनरियादित्यनेनारण्यप्रदेशाद्ग्रामं न प्रत्यावर्त्तेतेति नार्थः किन्तु कर्मसंन्यासोत्तरं पुनः कर्मणि श्रद्धया तत्र न प्रवर्त्तेतेत्याशयेन व्याचष्टे—कर्मश्रद्धयेति । जिजीविषादिरहितस्येति । ननु जिजीविषादिसहितस्य कर्मविधानं जिजीविषादिरहितस्य संन्यासविधानमित्येतावता ज्ञानकर्मणोरसमुच्चयः कथं सिद्धः ? कर्मतत्संन्यासयोरेवासमुच्चयस्योक्तवाक्यतः प्रतीतेः, तं च वयमभ्युपगच्छाम एव, न हि कर्मतत्संन्यासयोः समुच्चयसंभावनापि शक्यकार्या । ज्ञानकर्मणोर्विरोधं

❀ भाष्यम् ❀

उभयोः फलभेदं च वक्ष्यति । "इमौ द्वावेव पन्थानावनुनिष्क्रान्ततरौ भवतः क्रियापथश्चैव पुरस्तात् संन्यासश्च [उत्तरेण

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

इतश्च नैकफलकामस्य ज्ञानकर्मणोरधिकारः प्रतिपत्तव्य इत्याह—उभयोरिति । को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति सनिदानानर्थप्रहाणं ज्ञानफलं वक्ष्यति, संसारमण्डलान्तर्गतमेव च देशान्तरप्राप्त्यायत्तं हिरण्यगर्भपदप्राप्त्यादिलक्षणं कर्मफलं वक्ष्यति अग्ने नय सुपथेत्यन्तेनेत्यर्थः । नारायणोपनिषद्वाक्यमपि भिन्नाधिकारित्वे प्रमाणयति इमौ द्वावेवेति । पुरस्तात् सृष्टिकालेऽनुनिष्क्रान्ततरौ भूतसृष्टिमनुप्रवृत्तौ, भिन्नाधिकारित्वादुभयोः संन्यास एवातिरिक्तः श्रेष्ठो

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

प्रतिज्ञाय कर्मतत्संन्यासयोर्विरोधप्रदर्शनं चासंगतम् । किं च कर्मतत्संन्यासयोर्विरोधस्य प्रत्यक्षसिद्धतया तत्र जिजीविष्वजिजीविष्वधिकारत्वहेतुना विरोधानुमानमपि विफलमिति चेन्न । ज्ञानं संन्यासलक्षणमिति स्मृतेरत्र ज्ञानात्मकसंन्यासस्य विवक्षितत्वात् । न चारण्यमियादित्यत्र गृहत्यागस्य गृहपदेन च गृहिकर्मण उपलक्षणतया लाभः संभवतीति कर्मत्यागमात्रार्थलाभेऽपि ज्ञानलाभो न भवतीति वाच्यम् । एतमेव लोकमिच्छन्त इति श्रुत्यन्तरे आत्मलोककामस्य संन्यासविधानादत्रापि तत्प्राप्तेः । आत्मलोककामना च नात्मनः साक्षात्कारमापातज्ञानं वा विना संभवतीति युक्तं शास्त्रीयसंन्यासस्य ज्ञानलक्षणत्वम् । इतश्चेत्यादि । यदेव विद्यया करोति यस्तद्वेदोभयं सहेत्यादौ कर्मोपासनासमुच्चयस्थले फलैक्यं दृष्टम् । इह तु फलभेद इति न समुच्चयविवक्षासंभव इति भावः । फलभेदं वक्ष्यतीत्येतदेव विभज्य दर्शयति—को मोह इत्यादि सनिदानेत्यादि । एकत्वमनुपश्यत इति निवर्तकत्वेन ज्ञानोक्तिः। शोक इति कार्योक्तिः । मोह इति निदानोक्तिः । क इति आक्षेपेण प्रहाणोक्तिः । अग्ने नय सुपथेत्यनेनात्मलोकप्राप्तिमार्ग एव किं नोक्त इत्यत आह संसारेति । आत्मा संसारबहिर्भूतः परमार्थसत्यत्वाद् । न तु हिरण्यगर्भपदादिकं तथा । हिरण्यगर्भोऽप्यात्मैव न कुत इत्यत आह—देशान्तरेति । न ह्यात्मा देशान्तरप्राप्त्यायत्तप्राप्तिकः । न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीत्यादि श्रुतेः । इमावित्यादिवाक्ये दुर्बोधपदानि व्याचष्टे पुरस्तादित्यादि । भिन्नाधिकारित्वादित्यादि । एकाधिकारित्वेऽन्यतरश्रैष्ठ्यकथनमसंगतं स्यात् । समुच्चयस्थले उभयोर्मिलित्वा फलजनकत्वेनान्यतरश्रैष्ठ्यायोगात् । यद्यपि स्वामिभृत्यौ मिलित्वा धनमुत्पादयतः

❀ भाष्यम् ❀

निवृत्तिमार्गेणैषणात्रयस्य त्यागः] तयोः संन्यासपथ एवातिरेचयति" "न्यास एवात्यरेचयदि"ति च तैत्तिरीयके । "द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः । प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तश्च विभावितः" इत्यादि पुत्राय विचार्य निश्चितमुक्तं व्यासेन वेदाचार्येण भगवता । विभागं चानयोर्दर्शयिष्यामः॥२॥

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

भवति परमपुरुषार्थाव्यवधानादित्यर्थः। व्यासवाक्यमपि संवादयति द्वाविमाविति ॥२॥

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

तयोः स्वामी श्रेष्ठो भवतीति समुच्चयस्थलेऽप्यन्यतरश्रैष्ठ्यमस्ति । तथाप्यत्रान्यतरश्रैष्ठ्यकथनमनुपयुक्तं यदि समुच्चयो विवक्षितः स्यात् । उभयोरेव संपादनीयत्वात् । किं च इमौ द्वावेव पन्थानावित्यत्र पन्थानावित्येतेनाऽसमुच्चयलाभः । न हि माहिष्मत्या अवन्तिकां गच्छन् मार्गद्वयेन समुच्चित्य गन्तुं प्रभवति । तस्मान्नास्ति समुच्चय इति । कथं श्रैष्ठ्यमित्यत्र हेतुमाह—परमेति । परमपुरुषार्थसाधनत्वादित्यर्थः । न तु क्रियापथस्य ज्ञानद्वारा परमपुरुषार्थप्रयोजकत्वेन ज्ञानव्यवधानादव्यवहितसाधनस्य ज्ञानस्य श्रैष्ठ्यमित्यर्थोऽत्र । न हि भवति अन्नादन्नभक्षणं तृप्त्यव्यवहितत्वाच्छ्रेष्ठमिति लोकव्यवहारः । तस्मात् संन्यासपथः परमपुरुषार्थसाधनं क्रियापथश्च स्वर्गादिसाधनमिति फलतारतम्येन संन्यासपथस्य श्रैष्ठ्यत्वमित्येव विवक्षितम् । फलभेदं च वक्ष्यतीति प्राग्भाष्यसांगत्याच्च ।

अत्र पुरस्तात्संन्यासश्चेत्यनन्तरम् उत्तरेण निवृत्तिमार्गेणैषणात्रयस्य त्यागः" इति पाठो भाष्येऽधिकः । स तु बृहदारण्यके न दृश्यते इह टीकाकारेणापि न स्पृष्टः । अतिरेचयतीत्यन्तमेकं वाक्यम् । ततोऽपरम् । यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः=यत्प्रतिपादनोपक्षीणा वेदाः । पुत्रायेत्यादिसन्देहविपर्यासराहित्यदार्ढ्याय ।

अत्र केचित् मन्त्रद्वयमुपासनाकर्मसमुच्चयपरतया व्याख्याय ज्ञानाग्निदग्धाधिकारो विधिनिषेधानधिकारीति पक्षस्तु न वेदवित्संमत इत्याहुः । ते तु वेदान्नाधीतवन्त एव, इहापि भाष्ये टीकायां च प्रदर्शितानि श्रुतिवचनानि न वीक्षितवन्तः । न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुरित्यादिवचनेषु कर्मादीनां मोक्षकारणत्वप्रतिक्षेपः स्पष्ट एव । न चोक्तश्रुत्या कर्मणा मोक्षो मा भूत्तथापि कर्मण्यनधिकारवचनमयुक्तमिति वाच्यम् । अधिकारपदेन यदि

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताँ स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचात्महनो जनाः ॥३॥

❀ भाष्यम् ❀

अथेदानीमविद्वन्निन्दार्थोऽयं मन्त्र आरभ्यते—असुर्याः।

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

आद्यमन्त्रार्थं प्रपञ्चयितुं प्रथममविद्वन्निन्दा क्रियत इत्याह—अथेति

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

तज्जन्यफलभोक्तृत्वमुच्यते तदा "तस्यैवात्मा पदवित्तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेन" "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" "नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन" इत्यादिवचनशतविरोधात् । इहापि न कर्म लिप्यते नर इति कर्मजन्यफलाभावं भवानाचष्टे स्म । अहं ब्राह्मण इत्यादिदेहाभिमानस्य त्वयापि मिथ्यात्वोपगमाज्ज्ञानेन तन्निवृत्तौ अधिकारस्य युक्तितोऽप्यसिद्धेश्च। ननु ज्ञानिनामपि देहात्मभावना दृश्यत इति चेद् ? वन्ध्यज्ञानिन एव ते। अस्ति चेन्न स तत्त्वविदिति वचनात् । न हि त्वद्यूथ्येषु सर्वेऽपि वन्ध्यज्ञानिन एवेत्येतावता कस्यापि ज्ञानेन देहाभिमानो न निवर्त्तत इति प्रतिज्ञातुं शक्यम् ।

ननु "नाविशेषात्" 'स्तुतयेऽनुमतिर्वे"ति सूत्रयतो वेदविदो व्यासस्यासंमत इति मयोच्यते । वेदव्यासेन ज्ञानिनामपि कर्मानुमतिप्रदर्शनादिति चेन्न। न हि तत्राधिकारो दर्शितः । किन्त्वनुमतिः । "नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन" इति ह्यनुमतिपदेन द्योत्यते । न ह्येतावता कर्मजन्यफलभोक्तृत्वलक्षणाधिकारो व्यासेन स्वीकृतो भवति । नैव तस्यकृतेनार्थ इति फलप्रतिषेधात् । वस्तुतस्तु मद्गृहे मम प्रवेशाधिकारोऽस्तीत्यादिलौकिकाधिकारपरत्वभ्रान्त्या कर्मस्पर्शाधिकारो नास्तीति विपर्यास्थन्निमे द्वैतिनः । तान् ब्रूमः प्रतिबोधनाय—कर्माधिकारो नाम न कर्मस्वाम्यं किन्तु कर्मजन्यफलस्वाम्यं कर्मजन्यफलभोक्तृत्वलक्षणम् ।

अथात्र स्तुतयेऽनुमतिर्वेति ज्ञानिनामेव कर्मानुमतिपरतया मन्त्रमिमं व्यासो मीमांसते स्म । भाष्ये तु अधिकारिभेदेन मन्त्रद्वयं व्याख्यातमित्येष एव विरोध इति चेन्न। माध्यन्दिनानुसारेण सूत्रप्रवृत्तेः । तत्र खं ब्रह्मेत्युपसंहारेण कृत्स्नोपनिषद् ब्रह्मपरेति विभागो न युज्यते । काण्वशाखायां तु तथोपसंहारविरहात् स पर्यगादित्यन्तं ज्ञानप्रकरणं शेषं कर्मप्रकरणमिति विभागस्य सुकरत्वात्प्रकृतभाष्योपपत्तिरिति ध्येयम् ॥२॥ इति द्वितीयमन्त्रविवरणम् ॥

असुर्याः ॥ केचिदाहुः—प्रथममन्त्रे तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा इति त्यागपूर्वकं

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

भोगं कुर्वीथा इत्यर्थं आत्मनेपदानुरोधाद् भोगस्यापि जीवनाङ्गत्वाच्चेत्यादि। तदसत्। तृतीयमन्त्रानुत्थानापत्तेः। आत्महनोऽसुर्यलोकान् गच्छन्तीत्यस्याप्रासङ्गिकत्वात्। मन्मते तु त्यागेनात्मानं पालयेथा इति विधौ आत्मपालनाकरणे को दोष इति जिज्ञासायामात्मपालनाभावलक्षण आत्महनने दोषं प्रपञ्चयितुं तृतीयमन्त्रोत्थानमिति भवति संगतिरित्याशयेन ग्रन्थमुत्थापयति—**आद्यमन्त्रार्थं प्रपञ्चयितुमिति।** एवमात्मविदः पुत्राद्येषणात्रयसंन्यासेनात्मज्ञाननिष्ठतयाऽऽत्मा रक्षितव्य इति वेदार्थं इति भाष्यप्रदर्शितं तथाविधमात्मरक्षणं **प्रपञ्चयितुं**=ज्ञाननिष्ठापूर्वकं द्वैतप्रपञ्चाऽपरित्यागे आत्मरक्षाया अकरणे किं स्यादित्येतत्प्रतिपादनपुरःसरमात्मतत्त्वं प्रतिपादयितुमिति यावत्। **प्रथमं** यथोक्तप्रपञ्चनघटकात्मरक्षाऽकरणफलप्रदर्शनविषयेति शेषः। **अन्ये तु** प्रथममन्त्रार्थमात्मतत्त्वमनेजदेकमित्यादिना प्रपञ्चयितुं प्रथममविद्वन्निन्दा क्रियत इति योजयन्ति।

ननु प्रथममन्त्रार्थप्रपञ्चनौपयिकतया नायं तृतीयो मन्त्रः प्रवर्तते, येन भुञ्जीथा भोगं कुर्वीथा इति व्याख्यायां मन्त्रोत्थानासंगतिदोषः प्रसज्येत, किन्तु द्वितीयमन्त्रार्थप्रपञ्चनविषयैव। तथा हि जिजीविषेज्जीवितुमिच्छेदित्युक्तम्। फलतश्चात्मघातं न कुर्यादित्यायाति। तत्रात्मघाते को दोष इति जिज्ञासायामसुर्यानामेत्याद्याह। न चैवं जीवेदित्येव वक्तव्ये जिजीविषेदिति कथमुक्तमिति वाच्यम्। जीवनस्य प्रारब्धतन्त्रतया पुरुषतन्त्रत्वविरहात्। जिजीविषा तु पुरुषतन्त्रेति तद्विध्युपपत्तिः। न चैवं जीवनस्य प्रारब्धतन्त्रत्वे मरणस्यापि प्रारब्धतन्त्रतयाऽऽत्मघातिनां निन्दा वृथैवेति वाच्यम्। आत्महन इत्यत्रापि आत्मजिघांसव इत्यस्य विवक्षितत्वात्। न चैवमपि जिजीविषेदित्येतत्प्रतियोगितया न मुमूर्षेदित्येव वक्तुमुचितम्, आत्महननस्यैवात्मघातनस्याप्ययुक्तत्वाद्, आत्महन इति वचनेन हि स्वयं स्वस्य हननमेव प्राप्नोति न तु परेण स्वस्य हननमिति वाच्यम्। परेण हनने यदि न प्रतिविधीयते तदा तदपि आत्महननमेव, प्रतिविधानेऽप्यसाफल्ये नास्त्येव दोषः, अस्तु वा आत्महन इत्यनेनात्महननघातनयोरुभयोरेव विवक्षेति चेद् ? न, जिजीविषायाः स्वतः प्रवर्त्तमानायाः कृत्यसाध्यत्वेन विधिविषयत्वासंभवस्योक्तत्वात्। किं च जिजीविषेदित्यत्र जिजीविषयेष्टं भावयेदित्यर्थः। तत्र जिजीविषायाः किं फलमिष्टं भाव्यत इति वक्तव्यम्। न हि किंचिदपि फलं श्रूयते। विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गः फलं कल्प्यत इति चेन्न। तथा सति स्वर्गस्यायत्नलभ्यत्वापत्तेः। को वा जिजीविषामात्रेण लभ्य स्वर्गं ज्योतिष्टोमादिना प्राप्तुं प्रयतेत। विषयभोगादिकं लौकिकफलं तु सार्वलौकिकमिति न तदुद्देश्येनापि जिजीविषाविधिसंभवः। न च कुर्वन्नेवेति गुणविधानात् कर्मकरणविशिष्टजिजीविषायाः स्वर्गः फलं स्यादिति वाच्यम्। कर्म-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

एवं स्वर्गादिसंभवे कर्मकरणविशिष्टजिजीविषायाः स्वर्गहेतुत्वकल्पनाया अप्रसक्तेः। कर्मणा च स्वर्गः अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादौ प्रसिद्ध एव। न च ज्योतिष्टोमाग्निहोत्रादिकर्मणोऽङ्गं जिजीविषेति वाच्यम्। जिजीविषाविरहवता कृतेन ज्योतिष्टोमादिना फलाऽनिष्पादापत्तेः। न चैतत्कस्यचिदपि मीमांसकस्य संमतम्। न च जिजीविषेदित्ययं नियमविधिरस्तु इति वाच्यम्। यतः किमर्थोऽयं नियमविधिः? क्रत्वर्थो वा पुरुषार्थो वा? न हि नियमविधिः पुरुषार्थो भवति। तथा सत्यपूर्वविधित्वापत्तेः। क्रत्वर्थत्वं चानुपदमेव निरस्तम्। जिजीविषां विना क्रियमाणकर्मणामदृष्टाजनकत्वापत्तेः। व्रीहीनवहन्तीत्यवहनननियमविधौ अवहननमन्तरा संपादितपुरोडाशकृतयागस्यादृष्टानिष्पादकत्वात्।

नन्वात्मजिघांसाया असुर्या नाम त इत्यनेन निन्दितत्वात्तेन चात्मजिघांसानिषेधः कल्पयिष्यते, तथा चासुर्या नामेत्यादिनिषेधशास्त्रम्। आत्महनननिषेधस्तावकतया च कुर्वन्नेवेत्ययमर्थवाद इति चेन्न। स्तुतेरत्राप्रतीतेः। किं चैवं तृतीयमन्त्रशेषोऽयं द्वितीयो मन्त्र इति स्यात्। तत्र तृतीयमन्त्रोत्थाने बीजमपश्यन् द्वितीयमन्त्रशेषत्वेन तृतीयमन्त्रोत्थापनमुपपाद्याधुना तृतीयमन्त्रशेषो द्वितीय इति कथं विपरीतप्रलापी भवान्।

ननु ये केचात्महनो जना इति तृतीयमन्त्रानुरोधादेव मन्त्रद्वयोदितार्थं आत्मरक्षणमिति कल्पयामः। ईश्वरेण व्याप्तं जगदिति ज्ञातव्यम्, सर्वप्राणिषु परमेश्वरसत्त्वादेव यद्भोगं कुर्वीथास्तदितरेभ्यो विभज्य त्यागेन, कस्यचिदपि धनं मा गृधः, यज्जिजीविषेत् तत्कर्म कुर्वन्नेव एतच्चतुष्टयमात्मरक्षणम्। एतेन विना जीवन्तोऽप्यात्महनस्तेऽसुर्याल्ल्येकान् गच्छन्तीति योजना। किं च प्रथममन्त्रेण ज्ञाननिष्ठोक्ता द्वितीयमन्त्रेण कर्मनिष्ठोक्तेति मतेऽपि एतद्द्वयमात्मरक्षणम्। एतद्द्वयाभावश्चात्महननमिति योजना सुगमा। तथा चाविद्वन्निन्दार्थमिति भाष्यम्, आद्यमन्त्रार्थं प्रपञ्चयितुमिति टीका चोभयमप्यसमञ्जसम्। ज्ञानकर्मोभयरहितनिन्दार्थमिति भाष्यकारेण मन्त्रद्वयार्थं प्रपञ्चयितुमिति टीकाकारेण च वक्तुमुचितत्वादिति चेत्? अत्रोच्यते। कर्म कुर्वन्नेवेति नित्यनैमित्तिकादीनां निष्कामभावेनानुष्ठानं वा विवक्षितं काम्यानुष्ठानं वा। न द्वितीयः। काम्येन स्वर्गादिगमने पुण्यक्षयोत्तरं ब्राह्मणयोनिक्षत्रिययोनिसूकरयोन्याद्यन्यतमप्राप्तिध्रौव्याज्जन्ममरणलक्षणसंसारे पूर्ववदेव पतनात् कथमात्मरक्षणं भवता समर्थयितुं शक्यम्? अधुनापि तर्हि रक्षित एवात्मेति किं नामात्महननम्। नाद्यः। निष्कामकर्मानुष्ठानस्यान्तःकरणशुद्धिविविदिषाभ्यामात्मज्ञानपर्यन्तत्वादात्मज्ञानेनैवात्मरक्षणमित्ययं घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्तएव तर्हि स्यात्। निष्कामकर्मण्यपि कदाचित्त्रुटिविशेषे जाते आत्मरक्षणायोगादात्मज्ञानप्रतिपादक-

❀ जयमङ्गलाचार्यं विवरणम् ❀

प्रथममन्त्रार्थशेषत्वस्यैव नैयत्येन तृतीयमन्त्रे प्राप्तेः। अत एव भाष्यकृद्भिरात्मग्रहणासमर्थस्येदमुपदिशति मन्त्र इति द्वितीयमवतारयामास। इदं हितमित्यर्थः। तेन मार्गेण कदाचिदात्मज्ञानस्य संभवादिति। तथा चाविद्वान्निन्दार्थ इति युक्तमुक्तं भाष्ये। न चैवं कुर्वन्नेवेति ज्ञानपर्यवसायितयैव श्रुत्योपदेशाद् भाष्यसंगतावपि टीकासंगतिर्न भवति द्वितीयमन्त्रस्य ज्ञानपर्यवसायित्वेन ज्ञानसमकक्षत्वादिति तत्प्रपञ्चनस्यापि तृतीये युक्तत्वादिति वाच्यम। कर्मपदेन सकामकर्मणामप्युपादातुं शक्यत्वाद्। अत एव मार्गद्वयाभिधानादिसंगतिः। अन्यथा कर्ममार्गोऽपि ज्ञाने परिसमाप्नोतीति मार्गद्वयसंभावना कथं स्यात्। एवं चात्मरक्षणवार्त्तया द्वितीयमन्त्रे विरहेणात्महन्तुः प्रपञ्चनमकाण्डताण्डवितमेव स्याद् यदि प्रथममन्त्रे भुञ्जीथा इत्यस्य पालयेथा इत्यर्थो न स्यात्।

केचित्तु जिजीविषेदिति नित्यविधिः। यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादितिविधिप्राप्ताग्निहोत्रमनूद्य तद्विशिष्टजीवनविषयकेच्छाविधानपरत्वाद्। नित्याकरणे च यः प्रत्यवायस्तत्फलमाहापरेण मन्त्रेणासुर्यानामेत्यादिनेति सर्वमुपपन्नमिति वदन्ति। तदसत् "अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसोऽबुधा जना" इति श्रुत्यन्तरसंवादेनात्मज्ञानशून्यानामेवात्महनपदेनोक्तत्वनिश्चयात्। अविद्वांसः=अपरोक्षज्ञानशून्याः अबुधाः=परोक्षज्ञानेनापि शून्याः। ज्ञानविज्ञानरहिता इत्यर्थः। किं च जिजीविषाविध्यसंभवः प्रागेवोक्तः। अपि च जिजीविषाविरहमात्रं नात्मघातो नात्मजिघांसा वा सुषुप्त्यादौ जिजीविषाविरहेऽपि आत्मघातादिव्यवहारादर्शनात्। तस्मान्न नित्यजिजीविषाविरहवतः प्रत्यवायकथनपरस्तृतीयो मन्त्रः। किं च निरन्तरं जिजीविषा कर्त्तव्या वा प्रतिदिनं जिजीविषा कर्त्तव्या वा विवक्षिता? नाद्यः। सुषुप्त्यादौ तद्विरहस्योक्तत्वात्। नान्त्यः। व्यवहारग्रस्तस्य जिजीविषाविस्मरणेन पञ्चषदिननिःसरणसंभवेन प्रत्यवायापत्तेः। न च पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्" इति प्रतिदिनं सन्ध्यावन्दनकाले पठनीयत्वा दहरहः सन्ध्यामुपासीतेति श्रुतेर्जिजीविषा कर्त्तव्यैवेति वाच्यम्। तथा सति अहरहः सन्ध्यामुपासीतेत्यनेनैव जिजीविषासिद्धौ व्यर्थोऽयमनुवादमात्रात्मकत्वेनाप्रामाणिकश्च मन्त्रः स्यात्। न च जीवेम शरदः शतमिति मन्त्रमर्थानुसन्धानपुरःसरं प्रतिदिनं पठनीयमित्येतद्विधिपरकमेवेदं जिजीविषाविधानमस्तु, तथा चेच्छाया अविधेयत्वमित्यादिदोषाणामप्यप्रसक्तिरेवेति वाच्यम्। अहरहः सन्ध्यामुपासीतेत्यनेनैव तत्प्राप्तेः। न विधौ परः शब्दार्थ इति सिद्धान्तेन जिजीविषेदिति विधिवाक्यस्य मन्त्रविशेषपठनपरतया व्याख्या-

❀ भाष्यम् ❀

परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोऽप्यसुराः,

❀ आनन्दगिरीयटीका ❀

ते लोका इति तच्छब्दो यच्छब्दार्थे ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

तुमशक्यत्वाच्च । एतेन जिजीविषेदित्यस्यात्मजिघांसां न कुर्यादात्महत्यां वा न कुर्यादित्याद्यर्थोऽपि परास्तः । न जीविते मरणे वा गृधिं कुर्यादिति निषेधशास्त्रविरोधापत्तेश्च । वस्तुतश्चाध्यात्माधिकारे उदरभेदनादिलक्षणात्मघात-विचारस्य प्रसङ्गाभावादीदृशार्थानामयुक्ततैव । भुञ्जीथा भोगं कुर्वीथा इत्येवं व्याचक्षाणैरप्यात्महन इत्यस्योदरभेदित्वाद्यर्थाकरणाच्चेत्यलं विस्तरेण ।

तांस्ते इति यच्छब्दसापेक्षत्वात्ते लोका इत्यत्र तच्छब्दानपेक्षणाच्च तच्छब्दो यच्छब्दार्थपर इत्याह—त इति ।

भाष्ये—परमात्मेति । द्विविधाः प्राणिनो भवन्ति । अघायुरिन्द्रियाराम इत्यादिस्मृतिप्रसिद्धा इन्द्रियारामाः, 'आत्मक्रीड आत्मरतिः' 'यस्त्वात्मरति-रेव स्यात्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धा आत्मारामाश्च । तत्राद्वैतपरमात्मभावना-स्थिता आत्मारामा उच्यन्ते । तद्भिन्ना इन्द्रियारामाः । त एवासुरा इत्यप्युच्यन्ते । असुषु शरीरेन्द्रियप्राणादिषु रमन्त इति व्युत्पत्तेः । तथा च सुराणां देवानां रूढार्थाऽसुरपदवाच्यत्वविरहेऽपि अद्वैतपरमात्मभावात्मकात्मारामत्वमपेक्ष्य यौगि-कमसुरपदवाच्यत्वमस्त्येवेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति आत्महन इत्यनेन तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा इत्यत्र प्रतिपादितसंन्यासपूर्वकात्मज्ञाननिष्ठया रहिता यद्युच्यन्ते तदा विक-र्मिण इव कर्मिणोऽपि तथाभूताः स्युरिति कथं तेषामसुर्यलोकत्वम् ? पितृलोक-देवलोकादिप्राप्तेः कर्मणा पितृलोक इत्यादौ प्रसिद्धत्वादिति नात्र शङ्कावसरः । यौगिकासुरपदार्थत्वस्य देवादावपि सत्त्वात् । नन्वेवं निन्दार्थोऽयं मन्त्र इति नोप-पद्येत, असुरपदस्य रूढार्थासुरत्वग्रहणे एव निन्दाप्रतीतिसंभवात् । न च यौगि-केऽर्थे दैत्यानामप्यन्तर्भावाद्भवति निन्देति वाच्यम् । एवं तर्हि प्रमेयमभिगच्छन्ती-त्युक्तस्यापि निन्दापत्तेः । प्रमेयत्वेन रूपेण नरकादीनामपि ग्रहणसंभवादिति चेन्न । असुष्वेव रमणान्निन्दार्थोपपत्तेः । अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीव-तीत्यन्यत्रापीन्द्रियारामस्य मोघजीवनत्वोक्त्या निन्दावगमात् । अत एवासुर्यपद-प्रयोगस्वारस्यसार्थक्यम् । दनुजादिशब्दाप्रयोगात् ।

नन्वेवमसुर्या इति विशेषणमफलम् । देवलोकस्याप्यसुर्यत्वे लोकान्तराणां सुतरामसुर्यत्वेन व्यावर्त्यविरहात् । न चात्मलोकव्यावृत्तिरस्तीति वाच्यम् । आत्म-

❀ भाष्यम् ❀

तेषां च स्वभूता लोका असुर्या नाम; नामशब्दोऽनर्थको निपातः;

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

ज्ञानविरहेणात्मलोकस्याप्राप्तत्वादेव तद्व्यावृत्तेरप्रयोजनत्वात्। आत्मज्ञानविरहेणात्मलोकाऽप्राप्तौ सुतरामन्यलोकप्राप्तिसिद्धेरसुर्यलोकान् गच्छन्तीत्युक्तिवैयर्थ्यात् अनात्मलोकसामान्यस्यैव भवन्मतेऽसुर्यलोकत्वादिति चेन्न। यत्र मनुष्यादिलोकेऽपि परमात्मभावप्राप्तिसंभावना तद्व्यावर्त्तनाय विशेषणसार्थक्यात्। अथवा योगिनामेव कुले भवती" त्युपक्रम्य "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिमि"ति भगवता निगदितत्वात्तद्विषयीभूतानेकजन्मनामसुर्यत्वविरहात्। अतएव तथाविधलोकव्यावृत्तिमभिप्रेत्य भाष्यकारैः परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्येत्युक्तमिथि ध्येयम्।

परे तु असुर्या नामेत्यनेन निन्दानवगमेऽपि अन्धेन तमसेत्यादिना निन्दा स्पष्टमवगम्यत इति न काप्यनुपपत्तिः। न चैवमसुर्यपदप्रयोगवैयर्थ्यमिति वाच्यम्। असुरशब्दघटितत्वेन घोरत्वप्रदर्शनार्थतया सार्थक्यादित्याहुः।

स्वभूताः इति। **असुरस्य स्वमिति** सूत्रेण यत्प्रत्ययः। आत्मात्मीयभावाभिमानविषयभूताः इत्यर्थः। लोकपदस्य जन्मार्थकताया वक्ष्यमाणतया अहं जातः अहं देवो मनुष्यो वा, मम शरीरमित्याद्यभिमानविषयत्वं लोके सुघटम्। ये पुनर्ज्ञाननिष्ठास्तैर्जन्मान्तरे केनचित्कारणेन प्राप्तेऽपि तत्राहंममाभिमानो न विधीयते वामदेवादिवदिति विशेष इति भावः।

ननु असुर्या नामेत्यत्र नामपदेन पितृलोकदेवलोकादिवदेवासुर्यनामकः कश्चिल्लोकविशेषोऽस्तीति प्रतीयते, तत्कथं योगमाश्रित्य देवादीनामप्यसुरत्वसंपादनं घटत इत्यत आह—**नामशब्द** इति। **अनर्थको निपात** इति। देवदत्तो नाम गच्छतीत्यादौ पादपूरणवाक्यालंकारादिप्रयोजनतया नामशब्दः प्रयुज्यते। अन्यथा नामशब्दस्य शब्दपरतयाऽभेदान्वयो न घटेत। शब्देन सहाभेदान्वये वा देवदत्तशब्दो गच्छतीत्यर्थः स्यान्न तु पुरुषो गच्छतीति। समासे वा देवदत्तनामा असुर्यनामानः इति प्रयोगो युक्तः। तस्मान्नामशब्दमवलोक्य रूढार्थत्वमसुर्यशब्दस्य नाशङ्कनीयमिति भावः। यत्तु नामेति प्रसिद्धार्थकं, रौरवादिनरकं चासुर्यं प्रसिद्धमिति। तन्न। रौरवादीनामसुर्यत्वस्य कुत्राप्यप्रसिद्धेः। न चासुरभावप्राप्तानुपक्रम्य "पतन्ति नरकेऽशुचावि"ति गीतासूक्तत्वात्तत्प्रसिद्धिरिति वाच्यम्। आसुरभावापन्ना मृत्वा नरकं यान्तीत्येव तत्रोक्तं, न तु नरकस्यासुर्यलोकत्वमपि। असुरगम्यत्वमात्रेणासुर्यलोकत्वे मनुष्यगम्यत्वेन पितृलोकदेवलोकादानां मनुष्य-

❀ भाष्यम् ❀

ते लोकाः कर्मफलानि लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्त इति जन्मानि । अन्धेनादर्शनात्मकेनाज्ञानेन तमसाऽऽवृता आच्छादिताः, तान्स्था-

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

लोकत्वप्रसिद्धिरपि स्वीकार्या स्यात् । न वाऽऽसुरप्रकृतिमात्रेण मनुष्या असुरा भवन्ति । पशुप्रकृतिमत्त्वेन क्वचिन्मनुष्येषु पशव इति व्यवहारस्याप्यगौणस्यापत्तेः । किं चात्महनो यद्यसुरास्तर्ह्यसुर्येति अर्थप्राप्ततया न वक्तव्यम् । यदि नासुरास्तर्हि नासुर्यलोकप्राप्तिसंभवः । तस्मान्नामेत्यनर्थको निपात एव ।

स्वभूता लोका इति स्वत्वाभिमानविषयत्वं लोकशब्दस्य जन्मार्थकत्वे एव प्रकृतसंगतं भवति, तत्र जन्मार्थकत्वं लोकशब्दस्याप्रसिद्धमित्यतो योगेन संपादयति लोका इत्यादि । लोक्यन्त इति विग्रहः । तस्य सकर्मकत्वात् कानि लोक्यन्त इति साकाङ्क्षत्वात् पूरयति—कर्मफलानीति । सुखदुःखलक्षणानि कर्मफलानि । लोक्यन्ते इत्यस्य विवरणं दृश्यन्त इति । लोकृ दर्शन इति व्याकरणस्मरणात् । कर्मफलानि दृश्यन्त इत्यस्य फलितार्थो—भुज्यन्त इति । सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोग इति न्यायविद्भिरभ्युपगमात् कर्मफलानि सुखदुःखलक्षणानि दृश्यन्त इत्यनेन फलतो भुज्यन्त इत्यर्थलाभादिति भावः । भुज्यन्त इत्यन्तरं येषु इति शेषः । जन्मसु हि कर्मफलानि भुज्यन्त इति । तथा चाधिकरणे घञ् । यदि च कर्मणि घञभ्युपगम्यते प्रकृते, तदा भुज्यन्त इति भोगाः सुखदुःखादयस्तद्धेतुत्वादायुर्घृतमितिवल्लोकशब्दस्य जन्मार्थकत्वम् । जन्मनश्च सुखदुःखादिहेतुत्वं दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषेत्यादिन्यायसूत्रे स्फुटम् । तत्र दुःखपदेन सुखदुःखयोरुभयोरुपलक्षणादिति द्रष्टव्यम् ।

ननु देवमनुष्यादिशरीराणामप्यसुर्यत्वाविशेषे तत्प्राप्तौ किं छिन्नम् ? न च सांप्रतिकशरीरवदेव तानीत्यात्मरक्षा न स्यादिति वाच्यम् । सांप्रतिकशरीरस्यापि असम्यक्त्वं क आह, को वा मन्तुमिच्छति, तथा चासुर्यत्वकथनेन साधारण्या न विभीषयितुं शक्यन्त इत्यत आह—अन्धेनेति । लोकालोकपर्वताद्यन्तरप्रसिद्धान्धतमसस्य लोकशब्देन जन्मविवक्षणे सामञ्जस्याभावाद् व्याचष्टे—अन्धेनादर्शनात्मकेनेति । अन्धपदं नेत्रहीने प्रसिद्धं, नेत्रं च दर्शनसाधनमिति तद्विरहेण तत्कार्यदर्शनाभावपर्यवसानम् । तच्चेह न चाक्षुषप्रत्यक्षाभावमात्रं विवक्षितं, किन्त्वात्मदर्शनाभावप्रयोजकाज्ञानात्मकमित्याशयेन व्याचष्टे—अज्ञानेनेति । तमःपदमज्ञानरूपकतया योजयति—तमसेति । अन्धेनेत्यस्यादर्शनात्मकेनेत्यर्थः, अज्ञानेनेति च तमसेत्यस्य व्याख्येत्यपि योजयितुं शक्यम् । अज्ञानेनाद्वृतत्वं चाऽज्ञानविषयीकृतात्मस्वरूपकत्वम् । आत्मनोऽन्धतमसाच्छादनं च शृण्वतः कस्यापि नेष्टम् ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

तथा च किं नश्छिन्नमित्यादिपूर्वग्रन्थस्य नावसरः ? न हि किल साधारणतरोऽपि स्वं मूर्खं इत्यधिक्षिप्तः प्रसीदति । मूर्खस्याप्यस्त्येव मौर्ख्येण विरोधः । न च वर्त्तमानावस्थाप्यन्धतमसाच्छन्नैवेति ततो जुगुप्साऽदर्शनात्कथमितो व्यावृत्त्य साधारणा आत्मज्ञानोन्मुखा भवेयुरनया निन्दयेति वाच्यम् । यतः कीटादयोऽपि स्वस्या वर्त्तमानावस्थाया न जुगुप्सन्ते, न ते मुमूर्षन्तीति मानवा अपि कीटभावं प्रतिपद्य न ततो जुगुप्सेरन् न चैतावता संप्रत्यपि स्वीयकीटभावप्राप्तेर्नास्ति जुगुप्सेति शक्यं वक्तुम् । तत्कस्य हेतोः ? तस्यात्यन्ताज्ञत्वनारकयोनित्वावलोकनं यद् भवति । वर्त्तमानावस्थायामपि तदवलोकने कुतो न ततो जुगुप्सेत । इयं खलु वर्त्तमानावस्थाज्ञानान्धतमसाच्छन्ना प्राप्ता निर्वोढव्या, परं पुनरेवंविधा मा भूदिति निन्दया जातविवेकस्य भवत्येव मतिः । तदेतदखिलं हृदि निधाय देवादयोऽपीति पूर्वोक्तादिपदेनापिकारेण चाभिप्रेतमर्थं स्पष्टयन् तानिति पदं व्याचष्टे—**स्थावरान्तानिति** । न खलु देवमनुष्यादिशरीरप्राप्तिनियमः, किन्तु कीटपतङ्गाद्यास्थावरशरीरप्राप्तिः संभवति, तत्र च गतो वर्त्तमानमानवशरीरे इव कीटादिशरीरेऽपि संतुष्टः स्यात् । यदि च तदसह्यमिति मन्यते तदाऽज्ञानप्रविष्टवर्त्तमानजन्मापि कथं सहेतेत्यभिप्रायः ।

ननु चाधर्मबहुलानि कर्माणि संपाद्य पश्वादिस्थावरान्तजन्मानि लभ्यन्ते तानि चाज्ञानान्धतमसाऽऽवृतानीति युक्तम् । अधर्ममिश्रितैर्धर्मैर्मनुष्यशरीराणि ब्राह्मणादिलक्षणानि लभ्येरन् । तेषामज्ञानावृतत्वे न नियमः । तथा केवलैर्धर्मैः पितृलोकः केवलयोपासनया देवलोकः उपासनासहितकर्मभिश्च ब्रह्मलोकादिरिति तेष्वपि नाज्ञानान्धतमसाऽऽवृतत्वनियमः । **"तदुपर्यपि बादरायणः संभवाद्"** इति न्यायेन तदुपर्यपि देवादिशरीरे ज्ञानोत्पत्तिं बादरायणो मन्यते तत्र तत्संभवादिन्द्रादीनां प्रजापतेर्ज्ञानाप्तिश्रवणादित्यर्थकेन देवादीनां ज्ञानप्राप्त्युपपत्तेः । ब्रह्मलोकपर्यन्तगामिनश्चाज्ञानोद्बृंहिता भवन्ति, ज्ञानिनां न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीति श्रुतेः । तथा चाविद्वांस एव ब्रह्मलोकादिं प्रेत्य गता इति तत्रान्धतमसाच्छादननियमविरहात्तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्तीत्यविद्वन्निन्दा कथं घटत इति चेद् ? सत्यम् । यद्यपि मनुष्यादिब्रह्मलोकान्तेषु नाज्ञानान्धतमसावृतिनियमः, तथापि गुरूपसदनश्रवणमननादितः प्राक् नियमेन तदावृतिरस्त्येव । न वा गुरूपसदनादीनामप्यस्ति नियमः । यदि च मानवादिशरीरत्वाद् गुरुपसदनादिः संभाव्यते तर्हि वर्त्तमानजन्मन्येव गुरूपसदनेन ज्ञानं कुतो न सम्पाद्यते । "वर्त्तमानजन्मनि ज्ञानायाऽप्रयतमानोऽनियतभाविजन्मज्ञानप्राप्तिमाशासानो ये ध्रुवाणि परित्यज्याध्रुवं परिषेवते ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हीति न्यायविषया एव भवन्ति । तस्माद्भाविजन्मनोऽज्ञानावृतत्वेन निन्दनं युक्तमेव युक्ततरैव च तन्मुखेनाविद्वन्निन्देति सर्वं

चतुरस्रम्।

यत्तु मानवशरीरस्य कुटुम्बभारादिसमाक्रान्तत्वात्क्लेशबहुलत्वाच्छ्रवणमननादौ सम्यक् प्रवृत्त्यनुपपत्तेर्देवादिशरीरे च यथोक्तक्लेशविरहात्कर्मोपासनाभिर्देवादिशरीरं प्राप्य तदुपर्यपीति न्यायेन तत्र ज्ञानं सम्पाद्य मुक्ता भविष्याम इति तेषां लोकानां हेयत्वं कथमुपपद्यते, न स पुनरावर्त्तते तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म अनावृत्तिः शब्दादिति श्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यश्च, तस्मादसुर्यलोकपदेन देवशरीरादेरपि ग्रहणमनुचितमिति। तत्तुच्छम्। मनुष्यशरीरे क्लेशबाहुल्येन श्रवणाद्यनवसरश्चेद्देवलोकादौ भोगबाहुल्येन ततोऽपि कष्टतरा श्रवणादिप्रवृत्तिः। क्लेशविरहादेव च वैराग्यशमदमादीनामप्रसक्तेराधिकरित्वमपि दुर्लभं तत्र तत्र। तदुपर्यपि बादरायणः संभवादिति च संभावनामात्रं संभवपदप्रयोगात्। जिज्ञासौपयिकपुण्यविशेषैरैवेहकृतेन देवशरीरे इन्द्रादेः प्रजापत्युपसदनम्। तथाविधा एव ब्रह्मलोकेऽपि पुनरावृत्तिशून्यं स्थानं प्राप्नुवन्ति न तु सर्वे। अन्येषामाब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिन इति न्यायस्यैव प्रवृत्तेः इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्त इत्यत्र इममिति विशेषणाच्च कल्पान्तरीयमानवावर्त्तावर्त्तनप्राप्तेः। तस्माद्वर्त्तमानमानवशरीरकृतविविदिषोपयोगिकर्मवशादेव देवादिशरीरेऽपि विविदिषावेदनयोरुत्पत्तेर्व्यवस्थितत्वादिहैव प्रमादं परित्यज्य ज्ञानाय प्रयतनार्थे ब्रह्मलोकादेरपि निन्दा सुसमीचीनैव।

अथ लोकपदं भूरादिलोकविशेषेषु रूढम्। अन्धतमसं चान्धकारविशेषे प्रसिद्धम्। असुरशब्दोऽपि दैत्येषु नियतम्। तथा च लोकालोकपर्वतानन्तरं यत्र चासुराणामेव निवासस्तेषु महाकष्टेषु लोकेषु आत्मघातिनो गच्छन्तीत्यर्थः। अतलवितलादयो वाऽन्धेन तमसावृतास्तत्र चासुरनिवासः प्रसिद्धस्तत्र वाऽऽत्मघातिनः प्रेत्य गच्छन्तीत्यर्थं इति वा ऋजुव्याख्याने किमित्येवमप्रसिद्धार्थस्वीकारो भाष्यकृता कृतः न च लोकालोकपर्वतादीनां पुराणेषु प्रसिद्धत्वेऽपि न वेदेषु प्रसिद्धिरस्ति। वेदार्थश्च वेदप्रसिद्धार्थेन कर्त्तुं युक्त इति वाच्यम्। पदतदर्थसंगतिज्ञानस्य लोकत एव प्राप्यत्वात् पुराणेतिहासादीनामपि वेदार्थप्रतिपादकत्वेन तदुक्तार्थस्य वैदिकत्वाच्चेति चेद्? अत्रोच्यते। अर्थवादवाक्यानां न स्वार्थे तात्पर्यमिति सर्वमीमांसकाभिमतम्। तथा चात्मज्ञानार्थवादपरस्यास्य मन्त्रस्य लोकालोकपर्वतानन्तरमवान्धतमसाच्छन्नलोकादिप्रतिपादनतात्पर्याभावाद् लघुना सुबोधेन येनार्थवादः सम्यक् सिद्ध्यति तादृशार्थस्वीकारस्यैवौचित्ये लोकालोकपर्यन्तगमनवैयर्थ्यात्। न च भूतार्थवादानां देवताधिकरणन्यायेन क्वचित्स्वार्थे प्रामाण्याद्देवताविग्रहवदेवान्धतमसावृतासुर्यलोकसिद्धिः संभवतीति प्रसिद्धार्थपरित्यागानौचित्य-

❀ भाष्यम् ❀

वरान्तान् प्रेत्य त्यक्त्वेमं देहमभिगच्छन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ।

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

येन यादृशं प्रतिषिद्धं विहितं वा देवतादिज्ञानमनुष्ठितं स तदनुरूपामेव

जयमङ्गलाचार्य विवरणम्

मेवेति वाच्यम् । आत्महनपदेनात्मज्ञानशून्यार्थविवक्षाया वक्ष्यमाणतया सर्वेऽप्या-त्मज्ञानशून्याः कर्मिणो वा उपासका वा यदि लोकालोकपर्वतानन्तरभवान्धतमसा-वृतासुर्यलोकगामिनो भवेयुस्तदा ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादिप्रत्यक्षविधिवि-रोधः स्यात् । सर्वेऽपि कर्मण्यधिकृता आत्मयाथात्म्यज्ञानरहिता भवन्तीति प्रथमं प्रतिपादिततया ज्योतिष्टोमादिसर्वकर्मकर्तृणामात्मघातित्वस्य समानत्वात् । तस्मा-दात्मज्ञानशून्यानां नानाविधयोनिसहस्रप्राप्तिश्रुतिस्मृत्यादिविरोधप्रसङ्गेनासुर्या नाम त इत्याद्यर्थवादवाक्यस्यैवार्थान्तरकरणं न्याय्यम् । तदिदमखिलमभिसन्धाय नानाविध-योनिप्रदर्शनपरं वाक्यमुदाहरति—यथाकर्म यथाश्रुतमिति । प्रेत्याभिगच्छन्तीति योजना । प्रेत्येत्यस्य मृत्वेत्यर्थे ध्वंसो यदि विवक्षितस्तदा अभिगच्छन्तीत्यनुपपन्नमतो व्याचष्टे—त्यक्त्वेमं देहमिति ।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतमिति श्रुतिप्रतीकं भाष्यकारो जग्राह । तत्र यथाकर्मेति स्पष्टार्थम् । यथाश्रुतमित्यस्यार्थो न स्फुटः । न च यथाश्रुतमित्यस्य श्रुतिषु यथाश्रुतं तथा कर्मादि कुर्वन्त इत्यर्थ इति वाच्यम् । श्रुत्युक्तोपासनाद्यनुष्ठातुः स्थाणुत्वादि-प्राप्तेरयुक्तत्वात् । यथाकर्म यथाश्रुतमित्यत्रोभयोरप्यन्वयित्वादित्यतो यथाश्रुतमित्यंशं व्याचष्टे टीकायां—येनेति । देवतादिज्ञानं देवताद्युपासनम् । न चोपासनं प्रति-षिद्धमप्रसिद्धम् । कर्मणो रागादिविशाद्विहितनिषिद्धयोरुभयोरपि प्राप्तिसंभवेऽपि उपासनायाः शास्त्रैकगम्यत्वेनोभयाप्राप्तेरिति वाच्यम् । शास्त्रविहितस्यापि श्येन-यागादेः प्रतिषिद्धफलत्वेन फलतः प्रतिषेधादुपासनाया अपि तथा संभवात् । 'अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः' इत्यादिना वञ्चकादि-वचनप्राप्तप्रतिषिद्धोपासनाया अपि संभवाच्च । न चैवमपि शास्त्राऽप्राप्तत्वमेव तत्र न तु शास्त्रप्रतिषिद्धत्वमिति वाच्यम् । घोरं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयानिति निन्दा-श्रवणेन तस्यापि प्रतिषिद्धत्वात् । स्तुतेः स्तुत्यविधिकल्पनावन्निन्दाया निन्द्यप्रतिषेध-कल्पनाया अपि स्वीकारात् । यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिमिति सुखाद्यभावप्रयोजकत्वोक्ते-र्निषेधावगमाच्च । निषेधो हि निषेध्यस्येष्टसाधनत्वं वारयति । सुखादिप्रयोजनाभावेन

❀ भाष्यम् ❀

ये के चात्महनः। आत्मानं घ्नन्तीत्यात्महनः। के ते जनाः? येऽविद्वांसः। कथं त आत्मानं नित्यं हिंसन्ति?

❀ आनंन्दगिरिय टीका ❀

योनिमाप्नोतीत्यर्थः। आत्महन्तृत्वस्योदरभेदिनि प्रसिद्धेः कथमविद्वांस आत्महन इति शङ्कते—कथं त इति। उदरभेदिनो ह्यध्यात्माधिकारे

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

न कुर्यान्निष्फलं कर्मेति निषेधविषयत्वाच्च। प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः अधो गच्छन्ति तामसा इति च स्मृतेः प्रतिषेधावगमाच्च। वैश्वानरोपासनायां तत्तदवयवोपासने मूर्धा ते व्यपतिष्यदित्यादिश्रुतेश्च। उदरभेदिनीति। गलपाशक्षेपगरलभक्षणादिप्रवृत्तानामिदमुपलक्षणम्।

भाष्ये कथमिति। नित्यमविनाशिनमात्मानं कथं ते हिंसन्तीति योजना। न तु नित्यमिति हिंसाक्रियाविशेषणतया नैरन्तर्यार्थकम्।

प्रसिद्धोऽप्यर्थोऽप्रासङ्गिकत्वे न स्वीक्रियते। अन्यथा वायवः स्थेत्यादौ वाय्वादिशब्दानां मुख्यार्थमरुदादिपरतया तत्र मरुदादिस्तुतिस्वीकारापत्तेः। अतः प्रकृतेऽप्यात्महन्तृत्वमन्यादृशमेव प्रसङ्गानुसारादुचितमित्युत्तरभाष्याशयं व्यनक्ति टीकायाम्—उदरभेदिन इति। ननु प्रसङ्गाभावहेतुरसिद्धः। दुर्लभं त्रयमेवैतद्दैवानुग्रहहेतुकं मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रय इत्येवं मोक्षाधिकारे मनुष्यशरीरप्रशंसादर्शनात्तादृशमनुष्यशरीरघातस्य पापत्वेन प्रकृतेऽपि कथनेऽप्रासङ्गिकत्वविरहादित्यत आह—अध्यात्माधिकार इति। यदि कश्चनोदरं विभित्सुरुपगतः स्यात्तर्हि तं प्रति उदरभेदननिन्दा युज्यते। इह तु जन्ममरणक्लेशं पश्यन् कश्चिन्मुमुक्षुरुपगतः पूर्वकाण्डप्रतिपादितकर्मभिर्निस्तारमपश्यन्नित्यनिरतिशयानन्दतत्त्वजिज्ञासुरित्यात्माधिकारोऽयं प्रवृत्तः। तत्रोदरभेदनलक्षणात्मघातोऽप्राप्त इति तन्निन्दया तन्निषेधनमप्रासङ्गिकमेवेति। न च सर्वतो दुःखरूपं संसारं पश्यतो वैराग्योदयो भवति। तत्रातिदुःखेन निर्विण्ण आत्मानं जिघांसेदित्युदरभेदोऽपि प्राप्त एवेति वाच्यम्। एवंविधोदविभित्सोरविवेकित्वध्रौव्यात्। विवेकपूर्वकवैराग्यवत एव मुमुक्षोरत्राधिकारात्। यज्ञादिजनितविविदिषावान् हि मरणोत्तरमपि आत्मनो नित्यत्वाज्जन्मान्तरमवलोकमानोऽत्रैव जन्ममरणक्लेशनिवर्हणोपायपर्यन्वेषी कथमात्मघाते प्रवर्तेत। न चायमुपदेशो न मुमुक्षून् प्रति, किन्तु सकलहितैषिणी श्रुतिर्मूढानप्युद्दिधीर्षतीति मूढान् प्रत्ययमुपदेशः किं न स्यादिति वाच्यम्। मूढान् प्रति आत्मघातिनिन्दाया व्यर्थत्वात्। कृतायामपि निन्दाया-

❀ भाष्यम् ❀

अविद्यादोषेण विद्यमानस्यात्मनस्तिरस्करणात् ।

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

प्रसङ्गाभावादशुद्धत्वाध्यासेन तिरस्कार एवात्महन्तृत्वमित्याह—अवि-द्यादोषेणेति । यथा कस्यचिच्छुद्धस्य मिथ्याभिशापोऽशस्त्रवध उच्यते तद्वदात्मनि पापित्वाद्यध्यासोऽपि हिंसैवेत्यर्थः ।

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

मात्मघाते तेषां प्रवृत्तिसंभवात् । मूढान् प्रति हि कर्मकाण्डमुपदिष्टं प्राक् श्रेयः-करणतया । न हि सर्वस्मिन् प्रकरणे सर्वे उपदेष्टव्या भवन्ति । तथा च नात्रा-त्यन्तमूढोद्देश्येनोपदेश इति नोदरभेदिनः प्रसङ्गः । फलितमाह—अशुद्धत्वा-ध्यासेनेति । शुद्धं निर्मलमविद्यामलरहितमिति भाष्ये वक्ष्यमाणतयाऽशुद्धत्व-मविद्यैवेत्यविद्यादोषेणेत्यादिभाष्येण सह न विसंवादः । न चैवमविद्याध्यासेनैवेत्येव व्याख्यातव्येऽशुद्धत्वाध्यासेनेति शब्दान्तरप्रयोगः किमिति कृतष्टीकाकारेणेति वाच्यम् । शुद्धस्य मिथ्याभिशाप इति वक्ष्यमाणदृष्टान्तेन श्लेषोक्त्यार्थसुगमत्वायेति गृहाण । किं च नाविद्यामात्रं विवक्षितं किन्तु अविद्यातत्कार्योभयम् । अतएव टीकाकारः पापित्वाद्यध्यास इति वक्ष्यति ।

ननु विद्यमानस्यात्मनस्तिरस्करणादिति भाष्ये विद्यमानत्वविशेषणात्तिरस्करणपदेना-विद्यमानत्वपर्यन्तमवगम्यते, तत्तु न घटते, अहंप्रत्ययविषयतया सर्वैरप्यस्तित्वेना-त्मनोऽवगमादिति शङ्कां तिरस्करणं न सर्वथाऽविद्यमानत्वप्रत्ययः किन्तु अविद्यमान-सदृशत्वमित्याशयेन परिहरन् विद्यमानस्यात्मनो यत्कार्यमित्यादिना स्वाभिप्रायं स्वयं भाष्यकारो वक्ष्यति, परं तत्रापि हननं न स्फुटतरं, हतस्यैव तिरोभूतमिति हि युक्तिः, परं त्वहतस्यापि कारणान्तरेण तत्तिरस्कारः सभाव्यते, यथा रोगविशेषा-क्रान्तस्य विद्यातिरस्कारः, न हि तत्र पण्डितो मृत इति भवति व्यवहारः, हतस्य च सर्वे गुणा अस्तं यान्ति, न तु यत्किंचिद्गुण एवेत्यतष्टीकाकारो भाष्याशयं स्फुटयति—यथा कस्यचिदित्यादि शुद्धस्य = अभिशापप्रयोजकदोषविशेषरहितस्याभिशाप-विषयदोषशून्यस्येति यावत् । मिथ्याभिशापः=अभिशाप आक्रोशः त्वं चौरोऽसी-त्येवंविधः अशस्त्रवधः=विना शस्त्रं वधः । शुद्धस्येत्यनन्तरं संभावितस्येति शेषं पूरणीयम् । कस्यचिन्मानापमानरहितस्य मिथ्याभिशापेऽपि अशस्त्रवधाप्रतीतेः । यथोक्तपूरणे च संभावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यत इति भगवद्वचना-द्भवति दृष्टान्तोपपत्तिः । आत्मा तु संभावितत्तम इति नितरां दार्ष्टान्तिकसंगतिः । पूरितं संभावितपदं च श्लेषतया व्याख्येयम् । निर्विषयस्यात्मनः संमानविषयत्व-

❀ भाष्यम् ❀

विद्यमानस्यात्मनो यत्कार्यं फलमजरामरत्वादिसंवेदनलक्षणं तद् हतस्येव तिरोभूतं भवतीति प्राकृता अविद्वांसो जना आत्महन [इति] उच्यन्ते। तेन ह्यात्महननदोषेण संसरन्ति ते ॥३॥

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

अजरामरत्वादिलक्षणोऽहमिति संवेदनमभिधानं च यत्कार्यं तद्धतस्येव न दृश्यत इति हननमुपचर्यत इत्याह—विद्यमानस्येति। अस्यात्मघातस्य प्रायश्चित्तविधानादर्शनात् संसरणमेव फलमित्याह—तेन हीति।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

लक्षणासंभावितत्वायोगात्। किन्तु दोषसामान्यशून्यत्वेन संमानयोग्यत्वम्।

वस्तुतस्तु गुणान्तरतिरस्कारस्य हतत्वव्यवहाराऽप्रयोजकत्वेऽपि भाष्योक्तगुणतिरस्कारो हतत्वव्यवहारप्रयोजक एव। भाष्ये ह्यजरामरत्वादिकमुदाहृतम्। तत्तिरस्कारे च जीर्णत्वं मृतत्वमित्यादिर्भवति। तत्र जीर्णे मृतप्रायत्वव्यवहारः तत्रापरितोषान्मृतत्वोदाहरणम्। मृते च हतव्यवहारः स्फुट एव। न च वर्त्तमानावस्थायां मृतत्वविरहेणात्महन इति व्यवहारानुपपत्तिरिति वाच्यम्। भविष्यद्वृत्त्याप्यात्महन इति व्यवहारसंभवात्। वर्त्तमानसामीप्येन च आत्मनं घ्नन्तीति प्रयोगः। किं च मृत्योः स मृत्युमाप्नोतीति श्रुतेस्तथा व्यवहाराच्च प्रेत्यभाव इति शास्त्रप्रयोगाच्च मृतस्यैव जन्मयोगादनादिकालप्रवृत्तस्य वर्त्तमाने भविष्यति चोपपत्तेः कालसामान्ये लट्। न चैवमपि आत्मा स्वयमेव मृतो जातश्च, न त्वात्मानं हन्ति जनयति वा कश्चिदिति वाच्यम्। स्वयममृतत्वादज्ञानस्यैव मृतत्वप्रत्ययव्यवहारप्रयोजकत्वादात्मानं हन्तीत्यस्यैव सम्यक्त्वात्। एवंव्याख्यायां नित्यं हिंसन्तीति नित्यपदस्य क्रियाविशेषणतयापि योजनं संभवति। शुद्धस्य मिथ्याभिशाप इत्यादिटीकोदाहरणं तु मन्दानुग्रहार्थं लोकप्रसिद्धार्थोपादानमिति द्रष्टव्यम्।

तद्धतस्येवेति। जीवितो हि अहं गच्छामि वदामीत्येवं संवेदयत्यभिधत्ते च। मृतस्तु देवदत्तोऽहं गच्छामीति वा वदामीति वा न संवेदयति नाप्यभिधत्ते तद् गमनवदनयोर्विरहाद्वा संवेदनाभिधानकर्त्तुरभावाद्वा। न च गमनवदनयोर्विरहादेवेति वाच्यम्। केचन तान्त्रिका मृतकमुत्थापयन्ति गमयन्ति प्रलापयन्ति च। न पुनस्तत्र देवदत्तोऽहं गच्छामीत्यादिप्रत्ययः। तस्माद्विद्यमानस्य गुणस्यासंवेदनादिकं हतस्यैव नियततया युक्तम्। एवमात्मनि विद्यमानमेवाजरत्वामरत्वादिकं हततुल्यत्वादेव न जानीयादभिदध्याद्वा। तस्मादहतोऽपि हतसम इति टीकाकृदाशयः। उपचर्यत इति। यथा वायुदेवताकत्वेन पशुषु वायव इत्युप-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

चरितप्रयोगो भवति तथात्रापि उपचरितप्रयोगः प्रसङ्गवशादविरुद्ध इति भावः ।

अस्यात्मघातस्य प्रायश्चित्तविधानादर्शनादिति । नन्वस्येति विशेषणमफलम् । आत्मघातमात्रस्य प्रायश्चित्तादर्शनस्य समानत्वात् । न हि उदरभेदेन मृत आत्मघातस्य प्रायश्चित्तं शक्नोति कर्त्तुम् । मृतत्वादेव । न च जन्मान्तरे प्रायश्चित्तसंभवः । अज्ञेयत्वात् । न हि पूर्वजन्मन्यात्मघातो मया कृत इति कोऽपि जानातीति चेन्न । अस्यात्मघातस्य संसरणमेव फलमिति ग्रन्थान्वयः । उदरभेदनलक्षणात्मघातस्य तु फलान्तरं भविष्यतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमस्येति विशेषणम् । ननु संसरणं फलं प्रायश्चित्तेन मार्जयिष्याम इत्याशङ्कायां प्रायश्चित्तादर्शनादिति हेतुविषयाऽन्वयः ।

वस्तुतस्तु प्रायश्चित्तं पश्चादिव पूर्वमपि भवितुमर्हति । तत्र पश्चात्क्रियमाणप्रायश्चित्तस्य पापध्वंसः फलम् । पूर्वं क्रियमाणस्य च प्रायश्चित्तस्य नाशकसमवधानेन पापानुत्पत्तिर्वा उत्पन्नविनाशो वा फलं स्यात् । यथा ज्वरोत्तरक्रियमाणक्काथपानस्य ज्वरविनाशकत्वं, पूर्वं क्रियमाणस्य तस्य ज्वरानुत्पादकत्वं संक्रमणरोगस्थल उत्पन्नविनाशो वा । अत एव भगवन्नामस्मरणादिपूर्वकमात्मघाते नास्ति तस्य पातकम् । तथा ज्ञानिनामुपवासादिनात्मघाते न पापं भवति । यत्र तु विशेषेण पापोत्तरं प्रायश्चित्तं विहितं तत्र पूर्वकृतप्रायश्चित्तेनाऽनिर्वाह इत्यन्यदेतत् । पूर्वप्रायश्चित्तमन्यत्रापि प्रसिद्धम् । यथा देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया । प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षय इत्यादौ परपुरुषगमनप्रायश्चित्तरूपेण सम्यङ्नियोगादिकं प्रागेवानुष्ठीयते । न च परपुरुषगमननिषेधशास्त्रं सम्यङ्नियोगादिरहितविषयतया संकोच्यत इति वाच्यम् । शास्त्रसंकोचएकदेशबाधादिदोषप्रसक्तेः सम्यङ्नियोगादेः पूर्वप्रायश्चित्तात्मकताया एवौचित्यात् । यथा वा राज्ञश्चौराद्यपह्रियमाणपरधनमाच्छिद्य स्वाम्यनुपलम्भे पश्चात्तदुपयोगपापप्रायश्चित्तविधया उपयोगात्पूर्वमेव ब्राह्मणादिभ्योऽंशदानम् । तस्मादस्त्येवाऽऽत्मघातस्यापि पूर्वप्रायश्चित्तम् । प्राकृतात्मघातस्य तु प्रायश्चित्तं कुत्रापि पूर्वतो वा परतो वा नोपलभ्यते इति संसरणं तत्फलमवश्यं भाव्येवेति भावः ।

नन्वात्महननफलविषया संसरणमित्ययुक्तम् पुण्यापुण्यकर्मफलत्वाज्जन्ममरणलक्षणसंसारस्य । न चैवं भाष्ये संसरन्ति त इति कथनमनुपपन्नं स्यादिति वाच्यम् । समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् । न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्" इति भगवताऽऽत्महननाभावस्य परमगतिप्रयोजकत्वोक्तेः आत्महनने च सत्यात्महननाभावविरहेण परमगतिरूपमोक्षानिष्पत्तेरर्थतः संसार इति सिद्धेः । मोक्षाभावे सति कर्मणा संसार इति फलितार्थ

अनेजदेकं मनसो जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोन्यानत्येति तिष्ठत्
तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

❀ भाष्यम् ❀

यस्यात्मनो हननादविद्वांसः संसरन्ति तद्विपर्ययेण विद्वांसो जना मुच्यन्तेऽनात्महनस्तत्कीदृशमात्मतत्त्वमित्युच्यते-अनेजदिति

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

उत्तरमन्त्रमवतारयति यस्यात्मन इत्यादिना ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

इति चेन्न । अविद्यादिप्रयुक्तात्मतिरस्कारस्यैवात्महननत्वात्पुण्यापुण्यकर्मणामपि अविद्याकार्यत्वेनाविद्यात्मकत्वादात्महननफलं संसरणमित्येतत्संगतेः । अतएव विद्योत्पत्तौ अविद्याविरहादविद्यात्मकपुण्यपापविरहेण न पुनर्जन्मप्रसक्तिः । अन्यथा विद्योत्पत्तावपि कर्मवशात्संसरणमापद्येत । समं पश्यन्नित्यत्रापि आत्महननविरहात्संसाराभाव इत्येवार्थः । परां गतिमिति तु फलितार्थः । अतिरिक्तप्रापणीयपरमगतेरन्यत्र प्रत्याख्यातत्वादभावस्य भावाऽप्रयोजकत्वाच्च ।

इति तृतीयमन्त्रविवरणम्

अनेजत् ॥ ये के चात्महनो जना इति पूर्वोक्तात्महशब्दघटकीभूतात्मपदार्थतत्त्वप्रतिपादनपरतयोत्तरमन्त्रमवतारयति भाष्ये—यस्यात्मनो हननादिति।मुच्यन्त इति । अर्थादेतत्सिद्धिः । न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परांगतिमिति स्मृतेश्च।तत्कीदृशमात्मतत्त्वमित्युच्यत इति। नन्वीशावास्यमित्यादिनोपक्रान्तेशतत्त्वप्रतिपादनपर उत्तरग्रन्थ इति युक्तं स्वीकर्त्तुम् । टीकाकारश्चाह पूर्वमन्त्रोपक्रमे आद्यमन्त्रार्थं प्रपञ्चयितुं प्रथममविद्वन्निन्दा क्रियत इति । प्रपञ्चयितुमिति तुमुनः, प्रयोगाद् अनेजदित्यादिना प्रपञ्चनं गम्यते । न च टीकाकारो यथातथा कथयतु । आत्मतत्त्वस्याव्यवहितपूर्वमभिधानात्तस्यैव प्रतिपादनमिहापेक्षितमिति वाच्यम् । ईशावास्यमिति प्रथममुपक्रान्तस्यैवाभ्यासापूर्वत्वादिना वर्णनीयतया प्राप्तेरिति चेत् ? सत्यम् । आत्मतत्त्वस्य वस्तुत ईश्वरस्वरूपात्तत्त्वान्तरत्वविरहेण न प्रक्रमभङ्गः । तथापि चाध्यात्मवर्णनमेवेह गम्यते मनसोजवीयः पूर्वमर्षद् इति लिङ्गादित्यात्महनघटकात्मतत्त्ववर्णनपर एवायं मन्त्रः । न च मनसोजवीयस्त्वदिकथनं कथं लिङ्गमिति

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

वाच्यम्। ईश्वरस्य मनसो जवीयस्त्वादिकथनस्याप्रत्यक्षविषयत्वादनुपयोगित्वाच्च। यत्रैव मनो याति तत्रैवार्थप्रकाशतयाऽऽत्मतत्त्वं प्रकाशत इति आत्मतत्त्वस्य मनसो जवीयस्त्वादि सिद्धम्। न ह्येवमीश्वरस्य तादृशं जवीयस्त्वादि। न चापूर्वार्थप्रतिपादनतयैव तर्हि सार्थक्यमस्त्विति वाच्यम्। ईश्वरे मनसो जवीयस्त्वविज्ञानस्य व्यर्थत्वात्। ईशावास्यमिति व्यापकत्वेनोपक्रान्तस्य गगनसमस्य जवीयस्त्वानुपपत्तेश्च। न चौपाधिकं जवीयस्त्वम्। तदुक्तिवैयर्थ्यस्य स्पष्टत्वात्। आत्मतत्त्वस्य मनसो जवीयस्त्वाद्युक्तिर्व्यापकत्वतात्पर्यतया व्याख्यास्यते। ईश्वरस्येशावास्यमित्युक्त्यैव सिद्धव्यापकताकस्याप्रसिद्धमनोजवीयस्त्वाद्युक्त्या किं साधितं स्यात्। तथा च त्वंपदार्थशोधनविषया प्रवृत्तेऽस्मिन् मन्त्रे पूर्वमन्त्रगतात्मतत्त्वप्रतिपादनपरत्वमेवेति सिद्धम्।

ननु तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधातीति लिङ्गेनेश्वरार्थत्वं सिद्ध्यतीति कथमिदमुच्यत आत्मतत्त्वप्रतिपादनपरत्वमेवेति सिद्धमिति। न ह्यात्मतत्त्वे तस्मिन् सति मातरिश्वा दधाति किन्तु ईश्वरतत्त्वे सत्येव। मातरिश्वनः सर्वनियन्तृत्वेनात्मतत्त्वाधीनत्वायोगात्। मनसो जवीय इत्यादि सोपाधिकस्य विशेषज्ञानार्थमस्त्विति चेन्न। ब्रह्मात्मैक्यस्य विवक्षिततयाऽऽत्मतत्त्ववर्णनेऽपि तस्मिन्नित्यादेरुपपत्तेः। न च मनसो जवीय इत्यादिलिङ्गेनात्मतत्त्वमुपक्रम्य तत्र ब्रह्मात्मैक्यविवक्षया तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधातीत्युपसंहृतं किं वा तस्मिन्नप इति लिङ्गेन ईश्वरेणोपक्रम्य तत्र जवीयस्त्वादिगुणप्रकाशनाय मनसो जवीय इत्याद्युक्तमित्यत्र नास्ति विनिगमनेति वाच्यम्। यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूदिति चात्मतत्त्वस्य व्यापकत्वविवक्षाया अवश्यस्वीकर्तव्यतयाऽऽत्मतत्त्वप्रतिपादनपरसन्दर्भत्वनिश्चयान्मध्ये ईश्वरजवीयस्त्वादिगुणविधिपरताया असंगतत्वात्। अनेजदित्युपक्रान्तात्मतत्त्वस्य तस्मिन्नप इत्यनेन ब्रह्मैक्यविधानं सफलं, तज्ज्ञानस्य परमपुरुषार्थप्रयोजकत्वात्। ईश्वरस्य जवीयस्त्वादिकथनं चाफलमेव। न चानेजदेकमित्युपक्रान्तेश्वरस्य परोक्षताव्यावृत्तये मनसो जवीय इत्यादिना प्रत्यगात्मनैक्यमाहेत्यपि संभवति व्याख्या, ब्रह्मणः परोक्षत्वव्यावृत्तिश्च परमपुरुषार्थतयाभिमतैवेति वाच्यम्। मनसो जवीय इत्यादिनात्मनो व्यापकत्वस्य प्रतिपिपादयिषितत्वात् परोक्षताव्यावृत्तौ तदनुपयोगात्। न च व्यापकत्वविरहे ब्रह्मणा सहैक्यमसंभवीति व्यापकत्वोक्तिसार्थक्यमिति वाच्यम्। तथा सति प्रत्यगात्मनो ब्रह्मैक्यं विवक्षितमित्येव फलितं स्यात्। तस्य ब्रह्मैक्यं ह्यव्यापकत्वपरिहारार्थमिति सिद्धान्तात्। मनस इति लिङ्गात्प्रत्यगात्मा व्यापकत्वविवक्षया ब्रह्म वा मनसो जवीय इत्यादौ शब्दार्थ इत्यनिर्णयापाताच्च। मम तु प्रत्यगात्मनो व्यापकत्वमज्ञातं विधीयत इति न दोषः। भवन्मते प्रत्यगात्मनोऽज्ञातं

❀ भाष्यम् ❀

अनेजद् न एजत्। एजृ कम्पने, कम्पनं चलनं स्वाव-स्थाप्रच्युतिः, तद्वर्जितं सर्वदैकरूपमित्यर्थः। तच्चैकं सर्वभूतेषु।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

व्यापकत्वं च विधेय, पुनर्ब्रह्मणि तदैक्यं च विधेयमिति स्पष्टो वाक्यभेदः स्यात्। तस्मादात्मतत्त्वमुपक्रम्य प्रत्येकविशेषणेनानेजत्त्वव्यापकत्वादिकं ब्रह्मैक्यपर्यन्तं मन्त्रेऽस्मिन्विवक्षितमित्येव युक्तः पन्थाः। कश्चित्तु ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादिश्रुतिप्रतिपादितमोक्षसाधनज्ञानविषयीभूतं ब्रह्म किंविधमित्येतदाह—अनेजदित्येवं तैत्तिरीयोपनिषदुक्तब्रह्मपर्यन्तमुदडीयत। तदसत्। नैनद्देवा इत्यत्रान्वादेश एनतः प्रयोगानुपपत्तेः। अन्वादेशश्च कथितानुकथितमात्रमिति वार्त्तिके (कात्ययनीये) कथितानुकथनस्यैवान्वादेशत्वोक्तेरकथितस्य ब्रह्मण एनता परामर्शायोगात्।

यस्यात्मन इति यत्पदेनात्मन एवोपक्रान्तत्वेन तद् आत्मतत्त्वमिति तदा आत्मतत्त्वपरामर्शो यद्यपि न संगतमिव भाति। तथापि आत्मैवात्मतत्त्वं नान्यदिति न तत्परामर्शासंगतिः। आत्मतत्त्वमित्येतावत्पर्यन्तगमनं त्वनेजदित्यादिनपुंसकप्रयोगस्य सुव्याख्येयत्वाय। अन्यथा सर्वत्र पुंल्लिङ्गतया विपरिणामे गौरवापत्तेः। न च सामान्ये नपुंसकप्रयोगो मन्त्रेऽनेजदित्यादि, दृढं भक्तिरित्यादिवदिति वाच्यम्। दृढं यथा स्यात्तथा भक्तिरिति सामान्यनपुंसकस्थले साक्षादन्वयालाभेन क्लेशबाहुल्यात्। विशेष्यलिङ्गाननुसन्धानकालीनं क्वचित्सामान्ये नपुंसकम्। तदनुसन्धानात्प्रागेव किंचिद्विवक्षितं चेत्तदनुसन्धानविलम्बक्लेशं सोढुमशक्नुवता प्रयोगस्य क्रियमाणत्वात्तत्रापि शुद्धप्रयोगसिद्ध्यर्थं लोकव्यवहारानुसारेण सामान्ये नपुंसकानुमतिः। तावती कल्पनापि नात्र रुचिरतरेति आत्मैवात्मतत्त्वमिति विवक्षया नपुंसकश्रौतप्रयोगोपपत्तिर्लभ्यतीति भावः।

विवक्षितार्थसामीप्यकरणाय प्रथमं व्याचष्टे—कम्पनं चलनमिति। कपि चलते। चलनं च विचलनपर्यन्तं बोध्यम्। तत्रान्तर्निहितमर्थमाह—स्वावस्थाप्रच्युतिरिति। पटादयो हि प्रतिक्षणपरिणामिनः प्रतिक्षणं स्वावस्थायाः प्रच्यवन्ते, न त्वेवं परिणामादिमदात्मतत्त्वमित्याह—तद्वर्जितमिति। शशविषाणादावपि स्वावस्थाप्रच्युपिलक्षणपरिणामाभावादनेजदित्युक्त्या विकल्पवृत्तिमात्रं नोदीयादपुरुषार्थत्वादित्यतो विवक्षितार्थमाह—सर्वदैकरूपमित्यर्थ इति। अपरिणामिनित्यसच्चिदानन्दस्वरूपमिति तु तात्पर्यार्थः। प्रतिपुरुषमेकत्वस्य सर्वैरुपगमाद् व्यावर्त्यविरहेणैकमिति विशेषणमफलमित्यतः पूरयित्वा व्याचष्टे—एकं सर्वभूतेष्विति। एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा

❀ जयमङ्गलाचार्यं विवरणम् ❀

बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदिति श्रुतेर्भेदप्रतीतिरुपाधिनिबन्धनैव। एतेन यदत्र केचिदाहुः एकं समाधिकरहितम्, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत इति श्रुतेरिति परास्तम्। एक एव हीति श्रुत्यन्तरानुरोधेन विनापि लाक्षणिकार्थमर्थसंगतेः। यदपि च विज्ञानत्वेनैकमिति। तदसत्। प्रमेयत्वेनैकमिति सर्वत्रैकत्वसंभवेन विशेषणानर्थक्यापत्तेः। यच्चात्र परमात्मैक्यमेवोच्यते न स्वात्मैक्यम्। परमात्मा चैक एव, एको देवः सर्वभूतेषु गूढ इत्यादिश्रुतेरिति। तदप्यसत्। परमात्मनोऽनेकत्वस्याऽप्राप्तत्वेन तद्व्यावर्त्तनायैकमिति विशेषणवैफल्यात्। शास्त्रेण हि परमात्मनोऽवगतिः। न च शास्त्रे क्वचिदनेकत्वं निरुपाधिकं परमात्मनो निरूपितम्। क्षित्यादिकं सकर्त्तृकं कार्यत्वादित्यनुमानेनापि परमात्मावगतिसंभव इति तार्किकमतोपगमेऽपि लाघवानुगृहीततर्केणैकस्यैव परमात्मनः सिद्धिर्भवति। तस्माद्भ्रान्तिसिद्धमात्मनानात्वं व्यावर्त्तयितुमेकमिति विशेषणमित्येव युक्तम्।

विशिष्टाद्वैतिनस्तु एकं प्रधानभूतं स्वानधीनस्वसमानद्वितीयरहित वेत्याहुः। तत्रात्मतत्त्वस्यैव प्रधानभूतत्वेन ज्ञातव्यतयोपक्रमणात्प्रधानभूतमिति व्यर्थविशेषणं स्यादित्यस्वरसात् स्वानधीनेत्यादिद्वितीयकल्पः। परं तु सोऽर्थः साक्षाच्छब्दवृत्त्यलभ्यः। लक्षणाश्रयण तु जघन्यम्। तत्र स्वसमानेति विशेषणवैयर्थ्यं च। स्वानधीनद्वितीयरहितमित्येतावतैव सामञ्जस्यात्। न हि ईश्वरविषमोऽपि ईश्वरानधीनस्तन्मते। अपर आह—अनधीनेत्यनेन साजात्यं विवक्षितम्। स्वसजातीयस्वसमानद्वितीयरहितमिति। तत्रापि स्वसजातीयेति विशेषणं व्यर्थम्। स्वसमानद्वितीयरहितत्वमात्रस्य वक्तव्यत्वात्। न च चेतनत्वेन स्वसमानजीवसत्त्वात्तद्राहित्यमीश्वरस्येति वाच्यम् साजात्यनिवेशेऽपि तद्दोषवारणाऽसंभवात्। चेतनत्वेन साजात्यस्यापि तत्र सत्वात्।

अस्तु तर्हि स्वानधीनद्वितीयाभाव एवार्थः। मैवम्। स्वानधीनद्वितीयाऽप्रसिद्धेः। अपर आह—स्वानधीनत्वसामानाधिकरण्य-स्वप्रतियोगिकत्वोभयसम्बन्धावच्छिन्नभेदवृत्तित्वाभाव इत्यर्थः। स्वं घटादि। तदनधीन ईश्वरः। तत्त्वमीश्वरे तत्सामानाधिकरण्यं स्व(घट)प्रतियोगिकत्वं चेश्वरवृत्तिघटभेदे तद्वृत्तित्वं प्रतियोगितासम्बधेन स्वस्मिन् घटे तदभाव ईश्वर इति ईश्वरे लक्षणसमन्वयः। ईश्वरभेदस्येश्वरानधीनत्वसामानाधिकरण्यविरहात्स्वपदेनेश्वरस्य धर्त्तुमशक्यत्वान्नाऽव्याप्तिः। तत्तुच्छम्। स्वत्वस्याननुगमेन तत्तद्घटादिभेदवृत्तित्वाभावस्य पटादावेव सत्त्वेनातिव्याप्तेः। अनन्तघटपटादीनां प्रातिस्विकरूपेण भेदानादाय तत्तद्वृत्तित्वाभावस्य ज्ञानमसर्वज्ञेन संपादयितुमशक्यम्। न च स्वत्वमप्रवेश्यैवाधीनत्वसामान्याभावस्य सम्बन्धघटकतया प्रवेशान्न दोषः। अधीनत्वसामान्याभावश्चेश्वरे एव प्रसिद्ध इति

❀ भाष्यम् ❀

मनसः संकल्पादिलक्षणाज्जवीयो जववत्तरम् । कथं विरुद्धमुच्यते ध्रुवं निश्चलमिदं, मनसो जवीय इति च । नैष दोषः । निरुपाध्युपाधिमत्त्वेनोपपत्तेः । तत्र निरुपाधिकेन स्वेन रूपेणोच्यतेऽनेजदेकमिति । मनसोऽन्तःकरणस्य संकल्पविकल्पलक्षणस्योपाधेर

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

वाच्यम् । अहं भक्तपराधीन इति स्मृतिप्रामाण्ये अधीनत्वसामान्याभावाप्रसिद्धेः । अधीनत्वसामान्याभावमात्रेणोपपत्तौ गुरुतरनिवेशस्य द्वितीयनिषेधस्वीयोक्तिरत्तामात्रप्रयोजनत्वेनानादर्त्तव्यत्वाच्च । संभवति लघुधर्मे गुरुधर्मस्यानवच्छेदकत्वमिति सिद्धान्ते तु यथोक्तवृत्तित्वत्वावच्छिन्नप्रतियोगित्वासिद्धेश्च । गुरुधर्मस्यावच्छेदकत्वमतेऽपि लघुधर्माघटितगुरुधर्मस्यैवावच्छेदकत्वम् । न हि घटभिन्नभिन्नत्वावच्छिन्नत्वं घटनिष्ठप्रतियोगितायाः । घटत्वाद्यनुपस्थितिकालेऽपि कम्बुग्रीवादिमान्नास्तीति प्रतीत्युपपत्त्यर्थमेव हि क्वचिद्गुरुधर्मावच्छिन्नप्रतियोगित्वाभ्युपगमात् । न चाधीनत्वाभावस्य संसर्गघटकत्वात् प्रकारताविरहेण तद्घटितमप्यवच्छेदकं स्यादिति वाच्यम् । ईदृशपरम्पराणां संसर्गत्वानभ्युपगमेन प्रकारविधयैवानुगमस्य कर्त्तव्यत्वात् ।

कथं विरुद्धमिति । ननु विरोधशङ्केयमनुपपन्ना । अनेजदित्यत्र स्वावस्थाप्रच्युतिवर्जितमित्यर्थकरणात् । यथा हि जलादिपरमाणवः स्वावस्थाप्रच्युतिरहिता एव सन्तः परस्परसंयोगहेतुजववन्तो भवन्ति तार्किकादीनां मते तथाऽणुरूप आत्मापि स्वावस्थाप्रच्युतिवर्जित एव मनसो जवीयान् भवतु, को नामात्र विरोध इति चेन्न । क्रियावतः सर्वदैकरूपत्वलक्षणस्वावस्थाप्रच्युतिवर्जनानुपपत्तेः । प्रतिक्षणजायमानक्रिययैव विक्रियावत्त्वात् । न च क्रियाप्रयुक्तविक्रियाऽकिंचित्करीति तदितरविक्रियाशून्यत्वमेवार्थोऽस्त्विति वाच्यम् । अनेजदिति स्पष्टतया एजधात्वर्थक्रियानिषेधात् क्रियेतरविक्रियाशून्यत्वार्थकरणे बीजाभावात् । तस्मात्स्वावस्थाप्रच्युतिवर्जितत्वोक्त्या क्रियादिसर्वसंसारधर्मप्रतिषेधाद्भवत्येव विरोध इति । अधिकमग्रेस्पष्टीभविष्यति । निरुपाध्युपाधिधिमत्त्वेनोपपत्तेरिति संग्रहवाक्यं विवृणोति—तत्रेत्यादि मनसो जवीय इत्याहेत्यन्तम् । निरुपाधिकरूपेणानेजदेकमितिपदद्वयार्थं व्यवस्थाप्य सोपाधिकरूपेण मनसो जवीयस्त्वं व्यवस्थापयति—मनसोऽन्तःकारणस्येत्यादि ।

ननु मनसो जवीय इति जवीयस्त्वकथनमनुपयुक्तम् । न च व्यापकत्वलाभाय जवीयस्त्वोक्तिरिति वाच्यम् । पूर्वमर्षदित्यनेन व्यापकत्वलाभस्य वक्ष्यमाणत्वात् । न च जवीयस्त्वोक्तेर्विक्रियावत्त्वार्थे वक्ष्याम इति तदर्थमुक्तिसार्थक्यमिति वाच्यम् । यतः किमर्थं विक्रियावत्त्वमपि वक्तव्यम् । न हि तज्ज्ञानं मोक्षसाधनं, न वा तेन गुणेन

❀ आनन्दगिरीयटीका ❀

अविक्रियमेकं चेदात्मतत्त्वं कथं तर्हि केचन स्वर्गगामिनः केचन नरकगामिन इति सांसारिकव्यवस्था स्यादिति चेद् ? मनउपाधि निबन्धनेत्यभिप्रेत्याह—मनस इत्यादिना। उपाधेरनुवर्त्तनाद्। विक्रियादिव्यवहाराश्रयत्वमिति शेषः। ननु मनसो देहान्तःस्थत्वाद्

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

काचनोपासना विधीयत इत्याशङ्कां निवारयन् यदर्था जवीयस्त्वोक्तिस्तत्र पूर्वपक्ष-मुत्थापयति टीकाकारः—अविक्रियमेकं चेदिति। केचनेति। एकत्वे केचिदेव-मपरेऽपरथेति व्यवस्था नोपपद्यते अविक्रियश्चेत्स्वर्गगामी नरकगामीति विकारवत्त्वं नोपपद्यत इति विवेकः। उत्तरमाह—मनउपाधिनिबन्धनेति। तथा च प्रसिद्ध-स्वर्गगमननरकगमनादिव्यवस्थाप्रतिपिपादयिषया श्रुतिर्मनसो जवीय इत्येवमजवीय-स्यापि औपाधिकजवीयस्त्वमाहेत्याशयः। इत्यभिप्रेत्याहेति। नन्वत्र भाष्यकारैः स्वर्गनरकादिशब्दमात्रस्याप्यनुपादानात्कथं भाष्यकारोक्तेरेवमभिप्रायो भवता ज्ञात इत्याशङ्कायां तदभिप्रायप्रदर्शनाय उपाधेरनुवर्त्तनादित्यनन्तरं भाष्यकृद्विवक्षितं शेषं पूरयति—विक्रियादिव्यवहाराश्रयत्वमिति शेष इति। अयं भावः—अनेज-दित्यनेन स्वावस्थाप्रच्युतिवर्जितत्वविवक्षाप्रदर्शनात् सर्वदैकरूपमिति तात्पर्यप्रदर्श-नाच्च सर्वविक्रियारहितमात्मतत्त्वमिति भाष्यकृद्भिर्व्याख्यातमवगम्यते। तदनन्तरं च मनसो जवीय इत्युक्तौ विरुद्धत्वाशङ्कनेन विक्रियाराहित्यविरोधि विक्रियावत्त्वं मनसो जवीय इत्यस्य तात्पर्यविषयतया भाष्यकृद्भिर्व्याचिख्यासितमित्यप्यवगम्यते। विक्रिया-वत्त्वं च वास्तविकमविवक्षितं विरोधपरिहारानुरोधादिति विक्रियाव्यवहारविषयत्व-मभिमतमवगन्तुं शक्यम्। तथा च विक्रियादिव्यवहारविषयत्वमिति शेषं पूरयित्वैव भाष्यं व्याख्येयम्। सर्वव्यापि तदात्मतत्त्वमित्याद्युत्तरभाष्ये प्रदर्शयिष्यते चायं स्वविवक्षितार्थस्तं च तत्रैव स्पष्टीकरिष्यामो वयम्। अत्र अनेजन्मनसो जवीय इत्याभ्यां गतिविरहगतिमत्त्वयोरेव यथाश्रुततो लाभात्तत्र विक्रियासामान्यविरहसव-विक्रियावत्त्वार्थकथनं भाष्यकृतां स्वर्गनरकादिसकलविक्रियाया नानापुरुषगामित्वेन प्रतीयमानाया एकस्मिन्नात्मनि उपाधिवशात्संभवव्यवस्थापनमिति गम्यत इति विक्रि-यादीत्यादिपदेन कर्तृत्वभोक्तृत्व-गमन-निवर्त्तनादिकं सर्वं ग्राह्यम्। व्यवहारपदेन वास्तविकविक्रियाशून्यत्वेऽपि दोषाभावः सूचितः।

मन्त्रे मनस इति पञ्चम्यन्तम्। मनो जववत्। ततोऽतिशयेन जववत्त्वादात्म-तत्त्वं जवीयः। 'विन्मतोर्लुक्' इतिसूत्रेणेयसुनि परे मतुप्प्रत्ययस्य लुकि रूपम्। अत्र मनसो जववत्त्वं यदुच्यते तदसिद्धमिति शङ्कते—ननु मनस इति। भाष्यगत देहस्थेत्यस्य विवरणं देहान्तःस्थेति। ननु देहोपरिस्थस्य केशादेर्वपने वायुनोड्डीय-

❀ भाष्यम् ❀

नुवर्त्तनाद् [इह] देहस्थस्य मनसो ब्रह्मलोकादिदूरस्थसंकल्पनं क्षणमात्राद्भवतीत्यतो मनसो जविष्ठत्वं लोके प्रसिद्धम्। तस्मिन् मनसि ब्रह्मलोकादीन् द्रुतं गच्छति सति प्रथमं प्राप्त इवात्मचैतन्याभासो गृह्यतेऽतो मनसो जवीय इत्याह।

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

बहिर्गमनाऽयोग्यत्वात् कथं वेगवत्त्वमित्याशङ्क्याह—देहस्थस्येति।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

मानस्य तस्य वेगवत्त्वं संभवतीत्यस्वरसाद्देहान्तःस्थेत्युक्तं, तात्रतापि न वेगवत्त्वनिरासः, निष्ठीव्यमानकफादौ वेगवत्त्वदर्शनादतो व्याचष्टे—बहिर्गमनायोग्यत्वादिति। न तु देहान्तःस्थत्वादिति वहिर्गमनाऽयोग्यत्वे हेतुः। देहान्तःस्थस्यापि स्वेदकफादेर्वहिर्गमनदर्शनात्। यद्वा देहस्थस्य देहमात्रे तिष्ठतीति तस्येति सावधारणतया विग्रहीतव्यम्। तदा च वहिर्गमनायोग्यत्वे हेतुरयं भविष्यति।

भाष्ये ब्रह्मलोकादिदूरस्थसंकल्पनमिति। ब्रह्मलोकादिकं यद् दूरस्थं तत्संकल्पनमित्यर्थः। लोके प्रसिद्धमिति। यथा लोके शब्दं शृण्वन् वदति मम कर्णौ तत्र गताविति तथा ब्रह्मलोकं संकल्पयन् कथयति मम मनो ब्रह्मलोकं गतमिति। संकल्पनं च क्षणमात्राद्भवतीति मम मनोऽतिजवेन ब्रह्मलोकं गतमिति व्यवहरति। तथा च लोकप्रसिद्धमिदं मनसो जविष्ठत्वम्। वस्तुतश्च यथा शब्दप्रदेशे श्रोत्रादिगमनं नास्ति तथैव मनसोऽपि गमनं नास्त्येव। न च श्रोत्रस्य गमनमस्ति शब्दप्रदेशे, कथमन्यथा दूरस्थशब्दश्रवणमिति वाच्यम्। वीचीतरङ्गन्यायादिना श्रोत्रागतशब्दस्यैव श्रोत्रेण श्रवणात्। न च पूर्वदिशायां शब्दः श्रूयते आकाशे शब्दः श्रूयत इत्यनुभवाच्छ्रोत्रगमनमावश्यकमिति वाच्यम्। शब्दत्वादिवदेव शब्ददैर्घ्यादेरपि श्रोत्रेण ग्रहणात्। अन्यथा कमलिनीसौगन्ध्ये मम घ्राणं गतमिति प्रत्ययेन घ्राणेन्द्रियस्यापि गमनं स्वीकर्त्तव्यं स्यात्। पूर्वदिशि सौगन्ध्यमित्यादिप्रत्ययस्य तत्रापि सत्त्वात्। पिपीलिकादयो हि घ्राणेनाघ्राय शर्करादीनां निश्चितं स्थानमप्यवच्छन्तीति नासिकाया अपि गमनं भवता स्वीकर्त्तव्यमेव स्यात्। तत्र गमनमन्तराप्युपपत्तिश्चेच्छब्दस्थलेऽपि समानम्। दूरश्रवणयन्त्रादितः शब्दानयनप्रसिद्धेश्च।

नन्वेवं देहान्तरेव मनसः स्थितत्वे जववत्त्वव्यवहारस्य लोकानां मिथ्यात्वान्मनसो जवीय इति मनसोऽधिकजववत्तरत्वमात्मनि श्रुत्युक्तं सिद्धं न स्यात्। मनसि जववत्त्वस्यैव गगनकुसुमायितत्वेन ततोऽधिकतरजववत्त्वस्य नितरामसिद्धेरिति चेत्? सत्यम्। नात्र श्रुतावात्मनो जवीयस्त्वं प्रतिपिपादयिषितम्। किं तर्हि,

ॐ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ॐ

केवलं व्यवहारसिद्धं विक्रियावत्त्वमित्यवोचाम। तथा चौपाधिकविक्रियावत्त्वस्य विवक्षितस्य सिद्धेर्जवीयस्त्वविरहेऽपि का नामानुपपत्तिः। एतेन गमनागमने यथाश्रुते परित्यज्य विक्रियावत्त्वतदभावपरतया श्रुतेर्व्याख्यानमनुचितम्। न च गमनागमनमात्रप्रतिपादनवैयर्थ्यमिति वाच्यम्। श्रुतेः पर्यनुयोगायोग्यत्वात्, जवीयस्त्वेन पूर्वमर्षदिति व्यापकत्वपर्यवसानसंभवाच्च यथाश्रुतार्थेन सप्रयोजनार्थतात्पर्यलाभे लाक्षणिकार्थेन तात्पर्यान्तरस्वीकरणानौचित्यादिति परास्तम्। मनसो जविष्ठत्वासिद्धेः। यद्यपि शरीरान्तरेऽतिशीघ्रं मनो धावतीति भाति, क्षणमात्रेण पादे क्षणमात्रेण शिरसि च वेदनाया अनुभवात्। तथापि तावता मनसो जवीयस्त्वं न सिद्ध्यति। मनसः सावयवत्वेन संकोचविकाससंभवेन युगपदुभयानुभवेन वेगासिद्धेः। विद्यदादावप्येवंविधवेगदर्शनेन मनस इति वैशेष्यासिद्धेश्च। वैशेष्यं हि क्षणमात्रेण ब्रह्मलोकादिगमने स्यात्। किन्तु तन्निरस्तमेवेति लोकप्रसिद्धार्थानुवादेनान्यदेव सांव्यवहारिकविक्रियावत्त्वादिकं श्रुतेरभिमतमिति निश्चीयत इति। मनोऽविषयत्वमेव प्रकृते परमतात्पर्यमिति तु अनुपदं स्पष्टीभविष्यति टीकायाम्।

अत्र बहुतरकोशेषु—"देहस्थस्य मनसो ब्रह्मलोकादिदूरगमनं संकल्पेन क्षणमात्राद् भवतीत्यतो मनसो जविष्ठत्वं लोके प्रसिद्धम्" इति भाष्यपाठो दृश्यते। टीकापि तदनुसारिण्येवेति भाति। जवीयस्त्वादश्वादिवत्तर्हि चक्षुरादिग्राह्यत्वं प्राप्तमित्युत्तरटीकायामश्वादिवज्जवीयस्त्वस्य पूर्वोक्तत्वलाभात्। न च मनसो देहस्थत्वाद्बहिर्गमनाऽयोग्यत्वात् कथं वेगवत्त्वमिति टीकोत्थापितशङ्कायाः समाधानं यथादर्शितपाठपक्षे न दृश्यते, बहिर्गमानादियोग्यत्वसाधकयुक्तेर्भाष्येऽप्रतिपादनादिति वाच्यम्। संकल्पेनेति भाष्यपदेन बहिर्गमनसाधनप्रदर्शनात्। यद्यपि स्वतो मनो बहिर्न गच्छति "परतन्त्रं बहिर्मनः" इत्यभियुक्तोक्तेः, तथापि संकल्पसहायेन ब्रह्मलोकादिकं मनो गच्छतीति तदभिप्रायः।

परं स्वयं पाठ एवमभिप्रायवर्णनं च नातीव संगतं भाति। तथा हि कथं संकल्पसहायं मनो ब्रह्मलोकं गच्छेत्? न हि संकल्पो नाम कश्चन विमानो यस्मिन्नारुह्य मनो ब्रह्मलोकं व्रजेत्। संकल्पोऽपि देहान्तरेव भवति। स कथं देहान्तरस्थसंकल्पो मनो ब्रह्मलोकं प्रेषयेत्। परतन्त्रं बहिर्मनः इत्युक्तपारतन्त्र्यसाधनमात्रार्थमिदं संकल्पोपादानम्। वस्तुतस्तूक्ततार्किकवचनं चक्षुरादिबहिरिन्द्रियविरहेण मनसो बहिर्गमनाऽयोग्यत्वपरमेव। न तु यत्किंचित्संकल्पादितन्त्रतया बहिर्गमनयोग्यत्वकथनपरम्। किं च ब्रह्मलोकगमने तत्रत्यवस्तूनां सर्वेषामपि वस्तुरीत्या दर्शनं भविष्यतीति तद्विषयकसंशयविपर्यासादिकं न स्यात्। न हि काशीं गत्वा देवालयं विश्वनाथमूर्त्यादिकं च दृष्ट्वा

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

प्रतिनिरुद्धो विश्वनाथमन्दिरमस्ति वा न वा, कथं वा तदित्येवं सन्दिग्धे विपर्यस्यति वा। न च संकल्पसहायं मनो यद्यपि ब्रह्मलोकं गतं तथापि चक्षुरादिबाह्येन्द्रियस्य तत्राऽगमनेन न तत्रस्थवस्तूनि द्रष्टुं प्रभवतीति वाच्यम्। तर्हि तत्र गत्वा किं कृत-मनेन मनसा? पट्टबद्धान्धस्योत्सवदर्शनगमनकथामिदमनुकरोति। न चेत् किंचिद् दृष्टं तर्हि तत्र गतमित्यत्रैव किं मानम्? न च संकल्पसहायत्वात्संकल्पितवस्तुबोध-मात्रं भवति नेतरबोध इति वाच्यम्। संकल्पितार्थबोधो हि न संकल्पादतिरिक्तः कश्चिदनुभूयते। संकल्पश्च देहान्तरेव संपन्न इति मनसो ब्रह्मलोकगमनकल्पना निर्मूलैव।

ननु तार्किकाणां ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्त्या यथा चक्षुरादेर्हट्टस्थरजतपर्यन्तग-मनम्, अन्यथा शुक्तौ रजतमहं पश्यामीति प्रात्यक्षिकप्रत्ययानुपपत्तेः, न च हट्टं गच्छदपि चक्षुरादि मध्येभवं वस्तु निरीक्षते, नापि हट्टगतं सुवर्णताम्रविक्रेतृपुरुषा-दिकमन्यत्, तथा मनोऽपि संकल्पप्रत्यासत्त्या ब्रह्मलोकं गन्तुमर्हति, संकल्पप्रत्यासत्ति-विषयीभूतार्थं च पश्यति, न त्वतिरिक्तमन्यमर्थमिति स्वीकारे को दोषः। न च संकल्पातिरिक्तबोधासिद्धिः, रजतादिज्ञानस्यैव ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तित्वात्तद्विषय-रजतादिदर्शनं यथा प्रत्यासत्तितः पृथग् भवति तथा संकल्पस्य प्रत्यासत्तित्वात्त-द्विषयब्रह्मलोकादिदर्शनं संकल्पतः पृथगेव भविष्यति। तदिदं मानसप्रत्यक्षमित्यु-च्यते। तत्रेयं प्रक्रिया भविष्यति—ब्रह्मलोकादिश्रवणसमनन्तरं पश्चाद् ब्रह्मलोकादि-स्मरणतस्तत्संकल्पो भवति। संकल्पतश्च वस्तुसमीपे गतस्य मानसप्रत्यक्षं भवति, ततस्तदिच्छादिकम्। न च स्मरणमानसप्रत्यक्षयोः को विशेष इति वाच्यम्। स्मरणे शरीरादिविषयकबोधो भवति। मानसप्रत्यक्षे तु क्षणं विस्मृतशरीर एव भवति। तथा च सिद्धं मनसो ब्रह्मलोकादिगमनमिति चेन्न। दृष्टान्तभूतज्ञान-लक्षणाप्रत्यासत्त्यसिद्धेः। शुक्तौ रजतदर्शनं तु तदानीमुत्पन्नप्रातिभासिकरजतविषयकं न तु हट्टस्थरजतविषयकमिति सिद्धान्तस्यान्यत्र व्यवस्थापितत्वात्। इत्थं च यदि ब्रह्मलोकस्य मानसप्रत्यक्षमस्तीत्यभ्युपगम्यते तदा तत्रापि संकल्पसध्रीचीनमनः-कल्पितप्रातिभासिकब्रह्मलोकविषयकमेव तद् भवेत्। संकल्पजनितमानसप्रत्यक्ष-विषयातिरिक्ताकारप्रकारादेर्वस्तुनि दर्शनात्। अष्टावक्रो हि महापण्डित इति जनकवचनसंश्रवणजनितसंकल्पोद्भवमानससाक्षात्कारविषयदीर्घकायबृहदुष्णीषगौर-वर्णमानवव्यक्तिविशेषादन्यस्यैव वक्रत्वाष्टकवदस्थिपञ्जरशरीरस्य दर्शनेन-पण्डितैरन्यैः प्रहासकरणात्। दृष्टपूर्वत्वे वा कथं प्रहासः। कन्या च स्वमनो-रथपरिकल्पितपरमसुन्दराकारादपरमेव वरं पश्यति विवाहे। तस्मात्संकल्पजनितमा-नसप्रत्यक्षविषय आकारादितोऽवास्तविक एवेति प्रातिभासिकवस्तूत्पत्तिरेवाभ्युपग-

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

जवीयस्त्वादश्वादिवत्तर्हि चक्षुरादिग्राह्यत्वं प्राप्तमित्याशङ्क्या-

❀ जयमङ्गलाचार्यं विवरणम् ❀

न्तव्या तत्रेति । केचित्तु गजेन्द्रादिरक्षणार्थं मनसो जवीय इत्याहुस्तन्न । अनेज-दित्यनेन विरोधात् । एकेन वैकुण्ठेऽनेजदपरेण मनसो जवीय इति चेन्न । एक-मिति विरोधात् । वैकुण्ठेऽपि अनेजत्वविरहाच्च । इतरे तु गोवर्धनोद्धारणादि-समये सप्ताहं नाचलत्पदादित्युक्तेरनेजदिति । तन्न । वयमपि यदा कदाचिदचलास्ति-ष्ठाम इत्यनेजदितिविशेषणस्यास्मास्वपि सुघटत्वात् । न ह्यत्र सप्ताहं वा सप्तनिमेषं वा विशेषितमस्ति । तस्मादत्र चलनसामान्याभाव एव विवक्षितः ।

परे तु भक्तरक्षणहेतोर्मनसोऽपि जवीयः । मनो नाम संकल्पकम् । संकल्पात् प्रागेव भक्तमागच्छति भगवान् । यत्कृतः कृष्णसंप्रश्नो येनात्मा सम्प्रसीदतीति प्रश्न-काले एवात्मसंप्रसादोक्तेः । न ह्यात्मसंप्रसादः श्रीकृष्णप्राप्तिं विना संभवतीति वदन्ति । तत्राखिलदेहिनामन्तरात्मदृगिति गोपीभिरुक्तत्वादागमनाद्यपेक्षाविरहाद् एवंविधा खलु भगवत्कृपेति भावनासंपादनफलकमिदं वचनं मन्तव्यं स्यात् ।

यथाश्रुतं जवीयस्त्वमादाय शङ्कते टीकायां—जवीयस्त्वादिति । अश्वादि-वदिति । नन्वश्वादे रूपादिमत्त्वाच्चक्षुरादिग्राह्यत्वं युक्तं न त्वात्मनः । तस्य रूपादि-शून्यत्वात् । न हि जवीयानपि वायुश्चक्षुषा गृह्यते रूपरहितत्वात् । न च तर्हि वायुवदेव स्पार्शनेन्द्रियप्रत्यक्षमस्तु, तथा च जवेन धावन्नश्वः पथोऽनपसरन्तं यथाऽऽ हन्ति तद्वदात्माप्याहन्यात् पथिस्थानित्येव शङ्कितुराशय इति वाच्यम् । आहन्यान्नाम कोऽत्र दोषः । आघातप्रतीतिस्तु न भवति स्पर्शशून्यत्वात् । यथा जवीयो मनो ब्रह्मलोकं गच्छदाहन्ति यद्यपि पथिस्थान् , तथापि पथिका न प्रतियन्ति तमाघातं, तत्कस्य हेतो? मनसः स्पर्शशून्यत्वाद् । एवमात्मनोऽपि स्पर्शशून्यत्वात्तदाघात-प्रतीतिर्लोकानां न भवेत् । यदि च स्पर्शादिशून्यस्याप्यात्मनो गमनमात्रेण स्पार्शन-प्रत्यक्षमापाद्य गमनं निषिध्यते तदा मनसोऽपि तुल्ययुक्त्या गमनं निषिद्धं स्यात् । अन्यथाऽश्वादिवत्तस्यापि ग्रहणापत्तेरिति चेन्न । वायो रूपराहित्यान्न चाक्षुष-प्रत्यक्षम् । मनसो रूपस्पर्शोभयशून्यत्वान्न चाक्षुषस्पार्शनोभयविधप्रत्यक्षमिति तत्र तत्र प्रत्यक्षत्वापत्तिविरहेऽपि आत्मनि तदापत्तेः सत्त्वात् । न चात्मनोऽप्युद्भूतरूप-स्पर्शविरहान्न प्रत्यक्षत्वापत्तिरिति वाच्यम् ! आत्मप्रत्यक्षे उद्भूतरूपस्पर्शादेरप्रयो-जकत्वात् । तार्किकैरप्यात्मेतरप्रत्यक्षे एवोद्भूतरूपादेर्हेतुत्वोपगमात् । अहं सुखीत्येवं तैरात्मप्रत्यक्षोपगमात् । न चैवमपि तार्किकैर्मानसप्रत्यक्षमेवात्मन उररीक्रियते न तु चाक्षुषादिप्रत्यक्षमिति वाच्यम् । तदुररीकरणानुररीकरणयोरप्रयोजकत्वात् । प्रत्य-क्षत्वेनेन्द्रियसंनिकर्षत्वेन सामान्यकार्यकारणभावसिद्धौ गच्छत आत्मनः सामान्य-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

प्रत्यक्षस्य वारयितुमशक्यत्वात्। न चेन्द्रियत्वस्याननुगतत्वात्प्रत्यक्षत्वेनेन्द्रियसंनिकर्षत्वेन सामान्यकार्यकारणभाव एव नास्तीति वाच्यम्। इन्द्रियत्वस्य जातित्वेनानुगतत्वात्। प्रत्यक्षत्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकतया इन्द्रियत्वजातिसिद्धेः। न च पृथिवीत्वादिना सांकर्यान्न जातित्वमिति वाच्यम्। सांकर्यस्य जातिबाधकत्वाभावात्। अन्यथा इन्द्रियत्वेन सांकर्यात्पृथिवीत्ववायुत्वादिकं न जातिरिति वैपरीत्यमेव किं न स्यात्। न च प्रत्यक्षसिद्धा पृथिवीत्वादिजातिरिति वाच्यम्। पृथिवीपरमाण्वादौ वृक्षादौ च पृथिवीत्वाऽप्रत्यक्षात् पृथिवीति च मेदिनीमात्रमवगच्छन्ति लौकिकाः। सा चैकैव दृश्यत इति जातित्वेन पृथिवीत्वप्रत्यक्षमसिद्धमेव कुत्रापि। या च पृथिवीत्वजातिः कल्प्यते तस्या घटत्वादिनैव सांकर्यम्। सुवर्णघटादौ पृथिवीत्वविरहात्। इत्थं च गन्धजनकतावच्छेदकतयैव पृथिवीत्वजातिसिद्धिर्वक्तव्या। तत्पुनरिन्द्रियत्वजातावपि समानम्। न च नित्यप्रत्यक्षजनकाऽप्रसिद्ध्या नोक्तकार्यकारणभाव इति वाच्यम्। जन्यप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया तत्सिद्धेः। जन्यशीतत्वाद्यवच्छिन्नजनकतावच्छेदकतया जलत्वादिसिद्धिवत्। न च जन्यत्वमनन्यथासिद्धनियतोत्तरवर्त्तित्वं वा प्रागभावप्रतियोगित्वं वा ध्वंसप्रतियोगित्वं वेत्यविनिगम इति वाच्यम्। समवायकालिकोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रत्यक्षत्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितकार्यताप्रतियोगिककारणतावच्छेदकतये न्द्रियत्वजातिसिद्धेर्विवक्षणात्। एवमेव जन्यशीतत्वावच्छिन्नेत्यादावपि परिष्कारः। इत्थं चेन्द्रियसंनिकर्षलक्षणसामान्यकारणसत्त्वादात्मनः गच्छतः प्रत्यक्षत्वं स्यादेव। न च सामान्यकारणानां विशेषकारणसमवधानेनैव कार्यजनकत्वमिति वाच्यम्। विशेषकारणान्तरसद्भावे एव तादृशनियमोपगमात्। यथा रथादिक्रियायामदृष्टवदात्मसंयोगस्य सामान्यकारणत्वमश्वनोदनादेर्विशेषकारणत्वमिति भवति तत्र विशेषकारणापेक्षा। सर्गाद्यकालीनपरमाणुक्रियायां त्वदृष्टवदात्मसंयोगमात्रं कारणं, न नु नोदना, तदसंभवात्। एवं चात्रापि चक्षुरादीन्द्रियसंनिकर्षसत्त्वादात्मनोऽश्वादिवत्प्रत्यक्षत्वं स्यादेव। न च चाक्षुषप्रत्यक्षत्वावच्छिन्नं प्रति रूपं कारणं तदभावान्न प्रत्यक्षत्वापत्तिरिति वाच्यम्। सामान्यप्रत्यक्षस्यापादितस्याऽवारणात्। न च प्रत्यक्षत्वस्य चाक्षुषत्वाद्यन्यतमत्वनियमः। ईश्वरप्रत्यक्षे व्यभिचारात्। न वा जन्यप्रत्यक्षे तन्नियमः। योगिप्रत्यक्षादौ तद्विरहात्। जन्यलौकिकप्रत्यक्षे तथानियम इति चेदस्त्विदमात्मप्रत्यक्षं किंचिदलौकिकमेव। चक्षुर्जन्यत्वाच्च चाक्षुषमस्त्वलौकिकम्। किं चान्यत्, अहं सुखीत्यादिकं प्रत्यक्षं वस्तुगत्या सिद्धान्तेऽन्तःकरणतादात्म्याध्यासेनैव भवति। तथाऽहं ब्राह्मणो गौर इत्यादिप्रत्यक्षं शरीरतादात्म्याध्यासेन भवति। तत्र रूपादिरहितस्यात्मनश्चाक्षुषाद्यध्यासविषयत्वेन चाक्षुषादिप्रत्यक्षविषयत्व-

❁ जयमङ्गलाचार्यं विवरणम् ❁

मङ्गीकरणीयम्। एवं तर्हि बहिर्भावतोऽपि चाक्षुषादिप्रत्यक्षविषयत्वं प्राप्तमेव। न चाध्यासविषयतया चक्षुरादिग्राह्यत्वेऽपि बहिर्भावति शरीराद्यध्यासविरहान्न चक्षुरादि ग्राह्यत्वं प्राप्नोति, यथा राहोश्चन्द्रसांनिध्येन चक्षुर्ग्राह्यत्वेऽपि तदुपाधिविरहे तदग्राह्यत्वमिति वाच्यम्। छायाविशेषरूपस्य राहोराधारतया प्रत्यक्षजनकत्वेन चन्द्रसांनिध्यावश्यकत्वेऽपि आत्मनः स्वयंप्रकाशस्य ग्रहणे शरीरसांनिध्यानुपयोगात्। अन्यथा सुषुप्त्यादिकाले आत्मग्रहणानुपपत्तिप्रसङ्गात्। न च घटाद्यवच्छेदेन पृथिवीत्वादेश्चक्षुरादिग्राह्यत्वेऽपि पृथिवीपरमाण्वाद्यवच्छेदेन पृथिवीत्वादेश्चाक्षुषग्रहणायोग्यत्ववच्छरीरावच्छेदेन चाक्षुषयोग्यत्वेऽपि तदभावे न चाक्षुषयोग्यत्वं, सुषुप्तौ स्वयंप्रकाशतया ग्रहणमस्तु, न पुनस्तत्र चाक्षुषग्रहणयोग्यत्वम्। अत्र चाश्वदृष्टान्तेन चक्षुरादीन्द्रियग्रहणयोग्यत्वमापाद्यते, तदविवक्षायां नैनद्देवा इत्यस्यावतरणानुपपत्तेरिति वाच्यम्। क्रियाया एवोपाधित्वात्। प्रत्यक्षग्रहणयोग्यस्य क्रियावतः प्रत्यक्षविषयत्वमिति नियमस्वीकारात्। पृथिवीत्वादिकं न क्रियावदिति न परमाण्ववच्छेदेन पृथिवीत्वादिप्रत्यक्षम्। न च प्रत्यक्षग्रहणयोग्यस्य क्रियावतः प्रत्यक्षविषयत्वमिति नियमोपगमो व्यर्थ इति वाच्यम्। क्रियाशून्यकाले वायोरप्रत्यक्षात् क्रियावतश्च तस्य स्पार्शनप्रत्यक्षेण ग्रहणादुक्तनियमावश्यकत्वात्। न चैष नियमः स्पार्शनप्रत्यक्षस्थल एव, न तु चाक्षुषप्रत्यक्षस्थल इति वाच्यम्। स्पार्शनप्रत्यक्षत्वापेक्षया प्रत्यक्षत्वमात्रस्य प्रयोज्यतावच्छेदकतायां लाघवात्। शुकादेः पलाशमध्ये तिष्ठतोऽदर्शनेऽपि उड्डीयमानस्यावलोकनाच्च। अत एव जवीयस्त्वादश्वादिवदित्युक्तेः संगतिः, अन्यथाऽजवीयसोऽप्यश्वादेः प्रत्यक्षत्वाज्जवीयस्त्वादिति हेतोरानर्थक्यं स्यात्। लोकेऽपि दूरस्थे मित्रेऽहमत्रास्मीति दर्शयितुं होहोकारं कुर्वन्तः स्वहस्तमुत्थाप्य चालयन्ति वस्त्रखण्डं क्वचिदुत्थाप्य चालयन्तीति क्रियायाश्चाक्षुषप्रत्यक्षप्रयोजकत्वं लौकिकमेव एतेन महत्त्वमात्रेणात्मनः प्रत्यक्षत्वस्वीकारे व्यापकस्यात्मनो घटाद्यवच्छेदेनापि प्रत्यक्षतापत्तिरिति परास्तम्। किं चाश्वादीत्यादिपदेन वायुपरिग्रहः। त्वगिन्द्रियसंनिकर्षे स्पार्शनप्रत्ययक्षयोग्यस्य क्रियावत्त्वे स्पार्शनप्रत्यक्षनियमात्। न च वायुस्पार्शनप्रत्यक्षे एव क्रियावत्त्वस्य प्रयोजकत्वमिति वाच्यम्। स्पार्शनप्रत्यक्षत्वस्यैव लाघवेन प्रयोज्यतावच्छेदकत्वात्। न च वायुपरमाण्वादेः क्रियावतः प्रत्यक्षत्ववारणाय सावयवत्वं प्रयोजकं वक्तव्यम्, आत्मनश्च सावयवत्वाभावान्न प्रत्यक्षत्वापत्तिरिति वाच्यम्। द्व्यणुकादेः सावयवत्वेऽप्यप्रत्यक्षान्महत्त्वस्यैव प्रत्यक्षप्रयोजकत्वात्। महत्त्वं चात्मन्यप्यस्ति। न च वायुस्पार्शनत्वस्य प्रयोज्यतावच्छेदकतायां गौरवेऽपि विषयतया प्रत्यक्षं प्रति वायुत्वसमानाधिकरणसमवायेन क्रियायाः प्रयोजकत्वं स्वी-

❁ भाष्यम् ❁

नैनद्देवा द्योतनाद्देवाश्चक्षुरादीनीन्द्रियाणि एनत्=प्रकृतम्

❁ आनन्दगिरीय टीका ❁

ह—नैनद्देवा इति ।

❁ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❁

क्रियतामिति वाच्यम् । तत्रापि कारणतावच्छेदकसंसर्गे गौरवात् । समवायस्यैकत्वेन विशेषनिवेशायोगात् । यूकापिपीलिकादयः शरीरे निश्चेष्टा यदा तिष्ठन्ति तदा न स्पार्शनप्रत्यक्षं, तेषु चलत्सु च तेषां प्रत्यक्षमिति सर्वानुभवाद् वायुत्वसमानाधिकरण-समवायनिवेशायोगाच्च । तस्मात्क्रियावत्त्वे युक्तमेवात्मन ऐन्द्रियकप्रत्यक्षत्वापादनम् ।

भाष्ये द्योतनाद्देवा इति । ननु कथं प्रसिद्धममरार्थत्वं परित्यज्य देवपद-स्येन्द्रियार्थत्वं स्वीक्रियत इति चेन्न । मनसो जवीय इति करणसाधर्म्यात्तत्सहपठित-देवपदस्येन्द्रियार्थताया एव युक्तत्वात् । न च देवसाधर्म्यात्तत्सहपठितमनःपदस्यैव चन्द्राद्यर्थत्वं कुतो न गृह्यतामिति वाच्यम् । असंजातविरोधिन्यायेन प्रथम मनसो यथाश्रुतार्थे परिगृहीते देवपदस्यैव पश्चादायातस्येन्द्रियार्थत्वौचित्यात् । किं चात्म-तत्त्वग्रहणायानेजदेकमित्याद्यारम्भः । तत्र नैनद्देवा इति देवैःप्राप्तिकथनमफलम्, इन्द्रियार्थतायां त्विन्द्रियाद्यविषयत्वप्रतिपादनेन स्वयंप्रकाशात्मसिद्धिः प्रयोजनम् । यत्तु नैनद्देवा इति ब्रह्माद्या देवा अपि नैनदाप्नुवन्निति कश्चित्तदसत् । तत्किं देवादय आत्महीना इति ब्रवीषि ? न च एनद् ब्रह्मेत्यर्थ इति वाच्यम् । द्वा सुपर्णा इति श्रुतेः सर्वत्र परमात्मनोऽपि विद्यमानत्वात् । नाप्नुवन्नित्यस्य परमात्मप्राप्तिं मोक्षलक्षणां न लब्धवन्त इत्यर्थ इति चेन्न । प्रतिसंचरे ब्रह्मादीनुपक्रम्य 'प्रविशन्ति परं पदम्' इति स्मृतिविरोधात् । नाप्नुवन्=कार्त्स्न्येन न ज्ञातवन्त इत्यर्थ इति चेन्न । आप्नोतेः कार्त्स्न्यज्ञानार्थोऽप्रसिद्धेः । तद्वरं देवा इत्यस्यैवेन्द्रियार्थत्वम् । किं च कार्त्स्न्येन ज्ञानं किमर्थं यत् प्रतिषिध्यते ? मोक्षार्थमिति चेन्न । ब्रह्मादीनां मोक्ष-स्यानुपदं दर्शितत्वात् । तत्कार्त्स्न्यज्ञानेन वा एकदेशज्ञानेन वा किमर्थोऽयं विचारः । न च महिम्नः पारं ते परमविदुषः इतिवन्महिमप्रदर्शनमिदमिति वाच्यम् । यतस्तत्र पुष्पदन्तस्य स्वीयस्तुतेर्निरपवादत्वसमर्थनमपि फलमस्ति । इह किं प्रयोजनं नाम । ब्रह्मादयोपि कार्त्स्न्येन न ज्ञातवन्तस्तस्मात्त्वमपि तज्ज्ञानार्थं व्यर्थं परिश्रमं मा कार्षीः इति अध्यात्मविद्यातो निवर्त्तनं यदि प्रयोजनं तर्ह्यस्तु स्वादृशस्य तत् ।

न चेन्द्रियार्थत्वं देवपदस्याऽसिद्धमिति वाच्यम् । उपनिषत्सु तत्र तत्र देवपदेनेन्द्रि-यव्यपदेशात् । यत्तु मनोऽगम्यत्वोक्त्यैव देवाऽगम्यत्वं स्थितमिति पृथक् प्रयासो व्यर्थः स्यादिति । तदप्यसत् । घटादीनां मानसप्रत्यक्षविषयत्वविरहेऽपि चक्षुरादिप्रत्यक्ष-

❀ भाष्यम् ❀

आत्मतत्त्वं नाप्नुवन्=न प्राप्तवन्तः। तेभ्यो मनो जवीयः। मनो-व्यापारव्यवहितत्वादाभासमात्रमप्यात्मनो नैव देवानां विषयीभ-

❀ आनन्दगिरीयटीका ❀

चक्षुरादिप्रवृत्तेर्मनोव्यापारपूर्वकत्वात्तदविषयत्वे चक्षुरादिविषयत्वस-

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

विषयत्वदर्शनेन मनोऽगम्यत्वोक्त्या चारितार्थ्याभावात्। अत्र च याधिकविवक्षा तामग्रे स्पष्टीकरिष्यामः। तेभ्यो मन इति। यथा कंचिदग्रेऽतिजवेन धावन्तं ज्येष्ठभ्रातरं कनिष्ठोऽनुधावन्न प्राप्तुं पारयति, कनिष्ठभ्रातृपुत्राश्च शिशवो मध्ये तत्कनिष्ठभ्रातृव्यवधानेन तदीयच्छायामपि प्राप्तुं न शक्नुवन्ति तद्वदित्यर्थः। नैव देवानां विषयीभवतीति। मनसो ब्रह्मलोकधावनादिना जववत्त्वप्रसिद्धावपि इन्द्रियाणां धावनमप्रसिद्धम्। न च दृष्टिर्झटिति तत्र गता श्रोत्रं झटिति तत्र गतमित्यस्तीन्द्रियाणामपि धावनप्रसिद्धिरिति वाच्यम्। मनो धावतीति-वच्चक्षुर्धावति श्रोत्रं धावतीत्येवमप्रयोगात्। रसनादीन्द्रियाणामपि देवपदार्थतायाः स्वीकार्यतया तत्र धावनाभावाच्च। तथा च धावनेनेन्द्रियैरप्राप्यत्वमिह इन्द्रियाविष-यत्वमेव श्रुतेर्विवक्षितम्। अत एव नैव देवानां विषयीभवतीति विषयपदघटितं भाष्यम्। तथा सति धावनपूर्वकप्राप्तिनिषेधसामान्यान्मनसोऽप्यविषयत्वमेव श्रुत्यभि-मतम्। एवं स्थिते मनसोऽविषयत्वान्मनोव्यापारव्यवहितेन्द्रियवृत्तिविषयत्वं सुतरामेव नास्तीति भाष्याशय इत्यभिप्रायेण धावनादिपदं वर्जयित्वा विषयत्वमात्रं योजयन् भाष्यार्थमाह टीकायां—चक्षुरादिप्रवृत्तेरिति। नन्वनेजदेकमिति सर्वविक्रिया-शून्यमिति व्याख्याय कथं तर्हि स्वर्गनरकादिगामित्वविक्रियेत्याशङ्कायामौपाधिकसर्व-विक्रियाश्रयत्वं प्रतिपादयितुं मनसो जवीय इत्युक्तमिति प्रथमं व्याख्यातं, कथमधुना मनोऽविषयत्वार्थपरतया व्याख्यायते इति चेन्न। मनसो जवीय इत्यत्रार्थद्वयं प्रतिभाति। आत्मतत्त्वस्य जवीयस्त्वमत एव मनसोऽप्राप्यत्वं च। चैत्रान्मैत्रो जवीय इत्युक्ते धावने मैत्रजवीयस्त्वस्यात एव चैत्रानाप्यत्वस्य च लोकसिद्धत्वात्। तत्रात्मतत्त्वस्य जवीयस्त्वं सर्वविकाराश्रयत्वं, मनसाऽप्राप्यत्वं मनोऽवि-षयत्वात्मकमित्युभयार्थसिद्धेः। न चैवमुभयविधानाद् वाक्यभेद इति वाच्यम्। जवीयस्त्वोक्त्या मनोऽविषयत्वस्यार्थिकत्वात्। शब्दत उभयविधाने एव वाक्यभेदः। न त्वर्थतः अनेकविधाने, यथा निषादस्थपतिं याजयेदिति विध्यर्थापत्तिसिद्धतदध्यय-नविध्यभ्युपगमेऽपि न तत्र वाक्यभेदप्रसक्तिः। किं चात्र लिङादिविरहेण विधि-र्नास्त्येव! किन्तु सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयतीति नियमादर्थद्वयं कथमिति

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

प्रश्नः, द्वितीयोऽर्थं आर्थिक इति तत्र समाधानमिति न काचिदत्रानुपपत्तिः। न च जवीयस्त्वं नाम विक्रियावत्त्वं तदन्यथानुपपत्त्या कथं मनोऽविषयत्वमिति वाच्यम्। यतोऽत्रालंकारिकरीत्या श्रुतिर्मनसो जवीय इतिब्रवीति। तत एव मनोऽप्राप्यमिति चोपतिष्ठते। ततश्च भावार्थसमये औपाधिकसर्वविक्रियात्त्वं मनोऽविषयत्वं चोपतिष्ठेते इति का नामानुपपत्तिः। नैनद्देवा आप्नुवन्नित्युत्तरत्रानाप्यत्वस्य शब्दत उक्तत्वाच्चेत्यलं विस्तरेण। न च निरुपाधिकब्रह्मणो मनोऽविषयत्वेऽपि जवीयःपदार्थसर्वविक्रियाश्रयस्य मनोऽविषयत्वं कथं घटतामिति वाच्यम्। यतो न सर्वविक्रियाविशिष्टस्य मनोऽविषयत्वमिहोच्यते, किं तर्हि, आत्मतत्त्वमुद्दिश्य तत्रैव मनोऽगम्यत्वमुपाधिवशात्सर्वक्रियाश्रयत्वं चाभिधीयते।

मनोव्यापारपूर्वकत्वादिति। ननु कथं चक्षुरादिप्रवृत्तेर्मनोव्यापारपूर्वकत्वम्। घटादिभिः सह चक्षुरादिसन्निकर्षे सति तद्द्वारा घटाद्याकारा मनोवृत्तिर्भवतीति हि प्रक्रिया। तथा च चक्षुरादिव्यापारपूर्वकत्वं मनःप्रवृत्तेरिति वैपरीत्यमेव। न च बहिरर्थे मनसश्चक्षुरादिप्रवृत्तिपूर्वकप्रवृत्तिकत्वेऽपि आन्तरतत्त्वे चक्षुरादिप्रवृत्तेरेव मनःप्रवृत्तिपूर्वकत्वमिति वाच्यम्। आन्तरतत्त्वे चक्षुरादिप्रवृत्त्यप्रसिद्धेर्मनोव्यापारपूर्वकप्रवृत्तिकथननैरर्थक्यात्। प्रसिद्धो हि दृष्टान्तः। न च मनःप्रेरितान्येवेन्द्रियाणि विषयदेशं गच्छन्तीति मनोव्यापारपूर्वकत्वमिति वाच्यम्। भवत्वेवम्। तथापीन्द्रियाण्येव प्रथमं विषयमुपयान्ति पश्चात्तद्द्वारा मनः। यथा कश्चित् पृष्ठतः शकटीमाहत्य तदुपरि लम्बमानः शकटीमनुप्राप्नोति विषयदेशं तद्वदिति चेद् ? मैवम्, पादे मे वेदना शिरसि मे सुखमित्यादौ मनोवत्त्वगादीन्द्रियग्राह्यत्वमपि सुखादेः सर्वानुभवसिद्धम्। शीतलपवनाप्यायितकलेवरस्य त्वचा शैत्यसुखानुभवस्यान्यथयितुमशक्यत्वात्। तस्मादान्तरस्थलेऽपि बाह्येन्द्रियप्रवृत्तिरस्ति। परं तु मनसा तत्सुखानुभवे सत्येव त्वचा तदनुभवसंभवः। स्वप्नसुषुप्त्यादौ मनसा तदग्रहणेन त्वचापि तदग्रहणदर्शनात्। एवं जिह्वया रससुखमनुभवामीत्यादिकं द्रष्टव्यम्। न चैवं सुखादेः कथंचिद् बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षोपगमेऽपि आत्मनस्तन्न संभवतीति वाच्यम। निरुपाधिकात्मन उभयविषयतायाः श्रुत्यैव निषिध्यमानत्वात्। यस्य चात्मनो मनोग्राह्यत्वं तस्येन्द्रियग्राह्यताया अपि स्वीकारे क्षतिविरहात्। अत एव पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् इत्यादि श्रुतिरपि संगच्छते। अन्यथा इन्द्रियैः प्रत्यगग्रहणात्तदुक्त्यानर्थक्यापत्तेः। तथा च योगिनोऽप्याचक्षते—स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार इति। किं च बाह्यप्रत्यक्षस्थलेऽपि मनोव्यापारपूर्वकत्वमेव चक्षुरादिप्रवृत्तेः। न च घटादिप्रत्यक्षस्थले घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्फुरणस्योपगमात्तत्र प्रथम-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

मिन्द्रियसम्बन्धः पश्चान्मनःसम्बन्ध इति मनोव्यापारपूर्वकत्वं कथमिति वाच्यम्। यतस्तत्र विषयसम्बन्धः काममिन्द्रियस्य प्रथमं भवेत् तथापि विषयविषयिभावाख्यो ज्ञानसम्बन्धः प्रथमं मनस एव पश्चादेवेन्द्रियाणाम्। तथा हि तत्र प्रथममज्ञानावृत-चैतन्येन चक्षुरादिसम्बन्धः, ततो घटाद्याकारचित्तवृत्तौ जातायां तया आवरणपरि-हारे सत्यनावृतचैतन्येन प्रथम मनस एव सम्बन्धः पश्चादेवेन्द्रियाणाम्। यथा छुरिकयाऽऽम्रादिफलस्य त्वचि अपनीयमानायां यद्यपि प्रथमं सत्वचा फलेन हस्तस्यैव सम्बन्धः पश्चाच्छुरिकायाः, तथापि अपत्वचितफलेन सह प्रथमं छुरिकाया एव सम्बन्धः पश्चादेव हस्तस्य तद्वद्। इत्थं च सोपाधिकात्मनि सर्वत्र मनःसम्बन्ध-पूर्वकमिन्द्रियसम्बन्धो दृष्टः। निरुपाधिके पुनर्मनःसम्बन्धे व्यावर्त्तमाने इन्द्रिय-सम्बन्धोऽपि नितरां व्यावर्त्तत इति भावः।

अथैवं मनसोऽविषयत्वकथनेनैवेन्द्रियाऽविषयत्वं प्राप्तमिति नैनद्देवा आप्नु-वन्नित्यनेनेन्द्रियाऽविषयत्वकथनमफलं स्यात्। न चात्मनो जवीयस्त्वेऽश्वादिवत्त-द्ग्रहणं स्यादित्याशङ्कापरिहारार्थं नैनद्देवा इतीन्द्रियाविषयत्वमुच्यत इति वाच्यम्। जवीयसोऽश्वस्य मनोविषयत्वसत्त्वाद् दृष्टान्तवैषम्यात्। यस्य मनोविषयत्वं नास्ति तादृशेन्द्रियविषयीभूतवस्तु हि दृष्टान्ततया वक्तुमुचितमिति चेत्? सत्यम्। अश्वदृष्टान्तो जवीयसश्चक्षुरादिग्राह्यत्वे झटित्युपतिष्ठत इति निदर्शितः। वस्तुतस्तु क्वचिन्मनोविरहेऽपि इन्द्रियग्राह्यत्वमादाय नैनद्देवा इति श्रुतिराह। तथा च छन्दोगा आमनन्तिः—मनो होच्चक्राम, तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः इति। न चैव मनोव्यापारव्यवहितत्वादिति भाष्योक्तहेतुः, मनोव्यापारपूर्वकत्वादिति तट्टीका च नोपपद्येयातामिति वाच्यम्। सति मनसि मनस एव प्रथमं प्रवर्त्तमान-त्वनियमेन भाष्यटीकयोः सांगत्यात्। मनोविरहेऽपि मनःसमानवेगविरहान्न प्राप्तुं प्रभवन्ति देवा इति तदविषयत्वमेव। न च मनोविरहे आवरणापनायकवृत्ति विरहाज्ज्ञानमेव कथं संपद्यतामिति वाच्यम्। यत इदं चोद्यममनसो बालाः शृण्वन्तः श्रोत्रेणेत्यादि वदन्तीं श्रुतिमेव पृच्छ। वस्तुत इन्द्रियेष्वपि सामान्यतो ज्ञानादिवृत्तयस्तत्प्रयुक्तरागद्वेषादयश्च भवन्ति, इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थिताविस्येवं भगवतापीन्द्रियेषु रागद्वेषादिकथनादित्यन्यत्र विस्तरः।

मन्त्रे पूर्वमर्षदिति केवलं देवेभ्यः पूर्वमर्षदित्यर्थभ्रान्तिं वारयन् मनसोपि पूर्वमर्षदित्यन्वयं बोधयति भाष्ये—यस्मादित्यादि। मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्नित्युभयशेषतया पूर्वमर्षदित्युक्तेरिति भावः।

❀ भाष्यम् ❀

वति। यस्माज्जवनान्मनसोऽपि पूर्वमर्षत्=पूर्वमेव गतम्। व्योमवद्व्या-

❀ आनन्दगिरिय टीका ❀

प्यात्मनो न संभवतीत्यर्थः। मनसो वा कथं न विषय आत्मेत्यत आह—यस्मादिति।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

ननु देवेभ्यः पूर्वमर्षदित्येतावन्मात्रं कुतो न व्याख्यायते देवानां संनिहितत्वादित्याशङ्क्य मनइन्द्रिययोरुभयोरप्यविषयतायाः प्रतिपादनीयत्वाद्देवमात्रपूर्वंर्षत्वे तादृशार्थालाभान्नैवमिति परिहरन् ग्रन्थमुत्थापयति टीकायां—मनसो वा कथं न विषय इति। ननु भाष्ये मनसोऽपीत्यपिकारेण देवेभ्योऽपि पूवमर्षदित्यर्थः प्राप्नोति। तदिह मनसो वा कथं न विषय इत्येवं केवलमनसः पूर्वमर्षदित्येतस्यावतरणिका कथमियं टीकाकृत इति चेन्न। जववता मनसाऽप्राप्तस्य सुतरामिन्द्रियाऽप्राप्तिसिद्धेर्मनोऽप्राप्यत्वस्य प्रधानतया व्यवस्थापनीयत्वात् तस्मिन् व्यवस्थापिते इन्द्रियाप्राप्यत्वसाधनं नातीवोपयोगि भवति। न चैवं भाष्ये मनसोऽपि पूर्वमर्षदित्यपिकारवैयर्थ्यमिति वाच्यम्। संभवमात्रेणापिकारोपादानादिति भावः। अपिकारस्यैव वाकारार्थत्वमित्याशयेन टीकायां वाकार इत्यन्ये।

ननु व्योववद् व्यापित्वादिति भाष्यं यथाश्रुतधावनपक्षे घटते। यत्रापि धावन् गच्छति पुरुषस्तत्र पूवमेव व्योम प्राप्तमिव पश्यति तद् व्योम्नो व्यापकत्वं गमयति, तथैव यत्रापि मनो धावद् गच्छति तत्र पूर्वमेव प्राप्तवदात्मा प्रकाशमानः प्रकाशयंश्च दृश्यते तदात्मनो व्यापकत्वं गमयति। परं तु मनसो जवीय इत्यस्य मनोऽविषयत्वमिति तात्पर्यार्थे न तत्साधकं व्यापकत्वम्। व्यापकत्वादेव सुतरां मनोविषयताया एव प्राप्तेः। अत एव तार्किकैः परममहत्त्वादेवात्मनो मानसप्रत्यक्षतामुपगच्छन्ति। न वा पूर्वमर्षदित्यनेन व्यापकत्वार्थलाभोऽपीति चेद्? अत्रोच्यते। व्योमवदिति दृष्टान्तो जवीयः पूर्वमर्षदिति यथाश्रुतार्थे प्रथमं झटिति बुद्धिपथमारोहयति वस्तुतश्चाकाशवत्सर्वगतश्च नित्य इति श्रुत्यन्तरोक्तदृष्टान्तविषयाप्युपात्तः। यथोक्त श्रुति प्रकृत भाष्याभ्यां प्रदर्शिताकाशदृष्टान्तकव्यापकत्वं च न सर्वमूर्त्तद्रव्यसंयोगित्वात्मकं तार्किकाद्यभिमत, येन व्यापकत्वादेव मनोविषयत्वमिति पूर्वपक्षावसरः स्यात्। किन्तु उपादानत्वलक्षणमेव। कार्यं यत्र कुत्रापि गच्छति तत्रोपादानं पूर्वागतमिव दृश्यते। यथा गगनमिति दृष्टान्तोपपत्तिः। उपादानं चेह विवर्त्तोपादानमेव। विवर्त्तोपादानं च कार्यपदार्थो न विषयीकर्त्तुमर्हति। यथा चलच्चित्रपटप्रदर्श्यमानसूर्यादयो न मूलप्रकाशं विषयीकर्त्तुमर्हन्ति प्रकाशयन्तीति। तस्मान्मनोऽविषयत्वं विवर्त्तोपादानत्वलक्षणव्यापक-

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

यथा मनःस्थं परिमाणं मनसो न विषयोऽत्यन्ताऽव्यवधानात्, तथाऽऽत्माप्यत्यन्ताऽव्यवधानाद् मनसो न विषयः, तद्व्यापकत्वाच्चेत्यर्थः।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

त्वादिति उपपत्तो हेतुः, उपादानस्य पूर्वप्राप्तत्वादेव कार्यव्यापकत्वमिति व्यापकत्वार्थोऽपि उपपन्नतरः इति।

आत्मनो मनोऽविषयत्वे हेत्वन्तरमप्यस्तीत्याह टीकायां यथा मनःस्थमित्यादि अत्यन्ताऽव्यवधानादिति।

केचित्त्वत्र विशेषणद्वयं मेनिरे। पूर्वमिति कारणमित्यर्थः। अर्षदिति ज्ञानस्वरूपमित्यर्थ इति। तत्तु भाष्यकृद्भिर्नानुमतम्। कुत इति चेद्? यतोऽत्र अनेजदेकं मनसो जवीय इति विरोधाभासेनोपक्रान्तम्। तत्रैव मनसो जवीय इति रूपकमुपात्तम्। उत्प्रेक्षेत्यन्ये। तत्साधयितुं कारणत्वालंकारेणोत्प्रेक्षादिगर्भितं पूर्वमर्षदित्याह। एवमालंकारिकपद्धत्या वर्णयन्त्यां श्रुतौ कङ्करसंभरणवद् मध्ये कतिचन विशेषणानीत्यनधीतानधिगतसाहित्यिकरसानामेव शोभते। यत्तु पूर्वमेव देवान् अर्षत् प्राप्तमिदं तथापि नैनद्देवा आप्नुवन्नित्यर्थ इति। तन्न। पूर्वमेवेत्यस्य व्यर्थत्वापत्तेः। नित्यप्राप्त्युपगमात्। न च ब्रह्म देवान् प्रति आगच्छत् प्रथममेव प्राप्तं तथापि देवा न तत्प्राप्तुमशक्नन्निति वैचित्र्यप्रदर्शनार्थं पूर्वपदमिति वाच्यम्। नित्यप्राप्तमपि ब्रह्म न देवाः प्राप्तवन्त इत्युक्तावेवाधिकवैचित्र्यप्रतीतेः। यत्तु भवन्मते धावन्तो देवा इत्यध्याहार्यम् अर्षदित्यत्र च कर्मपदमध्याहार्यमिति गौरवापत्तिरिति। तत्तुच्छम्। अनुसन्धानविलम्बप्रयुक्तक्लेशसत्त्वे हि अध्याहारस्थले गौरवदोषः। न हि प्रकृतेऽनुसन्धानक्लेशोऽस्ति। मनसो जवीय इति जववत्त्वस्य बुद्धिस्थत्वात्। जवीयश्च धावमानो यं कंचित्प्रदेशं प्राप्नोत्येवेति कर्मापि बुद्धिस्थमेव। देवदत्तो यज्ञदत्ताज्जवीयान् पूर्वं गच्छन्तं तं विष्णुमित्रोऽपि न प्राप्नोतीति वाक्ये विनैव क्लेशं वाक्यार्थबोधस्य सर्वजनीनस्यापलपितुमशक्यत्वात्। प्रत्युत भवन्मते एवाध्याहारक्लेशः। पूर्वमेव देवान् प्राप्तं देवा नाप्नुवन्निति व्याख्याने देवानिति द्वितीयान्तस्य क्लेशेनाध्याहार्यत्वात्। न हि पूर्वं गच्छन्तं यज्ञदत्तं देवदत्तो न प्राप्नोतीति वाक्येन पूर्वमेव देवदत्तं प्राप्नुवन्तं यज्ञदत्तं स एव देवदत्तो न प्राप्नोतीति कस्यापि शब्दकुशलस्याऽञ्जसा बोधो भवति। प्रत्युत तादृशवाक्येन पूर्वमग्रे गच्छन्तं यज्ञदत्तं पश्चादागच्छन् देवदत्तो न प्राप्नोतीत्येवार्थः सर्वानुभवगोचरः। तस्माद्भगवत्पादभाष्यमालोक्यावगतवाक्यार्थस्य स्वीयविलक्षणाचार्यतासंपादनमात्रप्रयोजनोऽयमसंगतबुद्धिव्यायाम इति कृतं विस्तरेण।

मन्त्रपूर्वार्धस्य पदशो व्याख्यातस्य समुदितार्थमाह भाष्ये—सर्वव्यापीत्यादि।

❀ भाष्यम ❀

पित्वात् । सर्वव्यापि तदात्मतत्त्वं सर्वसंसारधर्मवर्जितं स्वेन निरुपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रियमेव सदुपाधिकृताः सर्वाः संसारविक्रिया अनुभवतीवाविवेकिनां मूढानामनेकमिव च प्रतिदेहं प्रतिभासत इति एतदाह तद् धावतो द्रुतं गच्छतो-

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

पूर्वमर्षदित्यनेन लब्धार्थः—सर्वव्यापीति । एनदित्यन्वादेशलभ्यार्थः—तदात्मतत्त्वमिति । अनेजदित्यनेन लब्धार्थः—स्वेन निरुपाधिकेन स्वरूपेणाविक्रियमिति । तस्यैव फलितार्थः—सर्वसंसारधर्मवर्जितमिति । अनेजज्जवीय इति सामानाधिकरण्यार्थमाह-एव सदिति । अनेजज्जवीय इति विरोधाभासेऽर्थाल्लभ्यविरोधपरिहारार्थमाह—उपाधिकृता इति । जवीय इत्यनेन लभ्यमर्थमाह—सर्वाः संसारविक्रिया अनुभवतीति, अनुभवति प्राप्नोत । ननूपाधिकृतत्वेऽपि विरोधपरिहारो न स्फुटः, स्वयमव्रणस्यापि छुरिकोपाधिकृत व्रणसत्त्वे सर्वथाऽव्रणत्वव्यपदेशायोगादित्यतो विरोधपरिहारलभ्यं स्फुटार्थमाह—इवेति । एकमिति मन्त्रपदस्य प्राप्तानेकनिषेधात्मकत्व त्तत्प्राप्यमर्थमाह—अनेकमिव च प्रतिदेहमिति । प्राप्तस्य तर्हि कथं निषेध इत्यत आह—अविवेकिनां मूढानामिति । प्रत्यवभासत इति । एकमपीति शेषः । इत्येतदाहेति । इत्येतमर्थं पूर्वार्धेन मन्त्र आहेत्यर्थः । यद्वा प्रत्यवभासत इति इत्यत्रेतिशब्दः परिसमाप्त्यर्थः । एतदाहेति तृतीयपादोत्थानिका । एतमेवार्थं पुनराहाभ्यासेनार्थदार्ढ्यायेत्यर्थः । परे तु पूर्वार्धे मनसो जवीयः नैनद्देवा आप्नुवन्नित्याभ्यां मनोऽविषयत्वमिन्द्रियाविषयत्वं चाभिहितम् । तेनैवौपाधिकसर्वविक्रियावत्त्वाभिधाने वाक्यभेदापत्तेः । अनेजदिति च निष्क्रियमिति वा स्वावस्थाप्रच्युतिरहितमिति वार्थः । उत्तरार्धे तु तिष्ठदित्यनेन स्वरूपेणाविक्रियमित्यर्थः तद्धावतोऽन्यानिति चोपाधिकृतसकलविक्रियावानित्यर्थः । एवं च पूर्वार्धोत्तरार्धयोरपौनरुक्त्यं चोपपद्यते । तथा च सर्वव्यापि तदात्मतत्त्वमित्यादिभाष्यग्रन्थ उत्तरार्धस्यैवावतरणिकारूपमिति प्राहुः । धावु गतिशुद्ध्योरिति धातोः शुद्ध्यर्थकत्वमपि प्रसिद्ध वस्त्राणि धावतीत्यादौ, तथा च धावतः शोधयतो जलादीनन्यानत्येति सर्वशोधकत्वादित्यर्थोऽपि संभवतीत्यतस्तादृशार्थस्य प्रकृते स्वरसतोऽप्रतीतेरालंकारिकभाषाप्रक्रमविरोधाच्चेत्यभिप्रायेण विवक्षितमर्थमाह—धावतो द्रुत गच्छत इति । धावत इति पञ्चम्यन्तं स्वीकर्त्तव्यम्, अन्यानिति अन्ययोगाद् 'अन्यारादितरर्त्ते' इति सूत्रेणान्यार्थयोगे पञ्चमीस्वीकारात्, तथा च धावतोऽन्यान् स्थिरानत्येत्याकाशादीनित्यर्थं इति भ्रान्तिं व्युदसितुमिहान्यपदं स्वप्रतियोगिकभेदार्थं-

❀ भाष्यम् ❀

ऽन्यानात्मविलक्षणान् मनोवागिन्द्रियप्रभृतीनत्येति अतीत्य गच्छतीव। इवार्थं स्वयमेव दर्शयति—तिष्ठदिति।

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

परमित्याशयेन व्याचष्टे—अन्यानिति। तदात्मतत्त्वमन्यान् स्वभिन्नानित्यत्र स्वभिन्नार्थकमन्यपदं किमर्थमुपात्तं? धावतोऽतीत्य गच्छतीत्युक्तेर्देवादेः पूर्वोक्तस्योपस्थितिसंभवाद्, न च स्वयं स्वमतीत्य गच्छतीति स्वान्यत्वस्यार्थत एव लब्धेश्चेत्यतो विवक्षितार्थमाह—आत्मविलक्षणानिति। तथा च वैजात्यविवक्षयाऽत्रान्यपदम्। आत्मवैजत्यं च विषयत्वजडत्वकल्पितत्वादिना बोध्यम्। इत्थं च देवशब्देन चेतनप्रतीतेश्चेतनस्य चोत्कर्षप्रेप्सुतास्वभावत्वादद्यावधि देवा नाप्नुवंश्चेन्नाप्नुवन्तु भविष्यत्काले विलक्षणं बलं प्राप्य ते देवा एनदात्मतत्त्वं धावनेन प्राप्नुयुरिति च न मन्तव्य, जडानां चेतनतन्त्रत्वाच्चेतनाधीनसत्तास्फूर्त्तिकत्वाद् विषयत्वमेव न तु विषयित्वं कदापि भवितुमर्हन्तीति सर्वदा मनःप्रभृत्यविषयत्वमेवात्मन इति सूचितं भवतीति भावः। पूर्वार्धोक्तार्थात्किंचिदधिकार्थं शब्दार्थविधया संपादयति मनोवागिन्द्रियप्रभृतीनिति प्रभृतिशब्देन। अश्वरथवायुयानादेः प्रभृतिशब्देन ग्रहणम्। न चात्रातिगमनोक्त्याऽविषयत्वमेव विवक्षितमश्वरथादेश्च विषय एवाप्रसिद्धः, ज्ञानेच्छादेरेव सविषयत्वात्तन्मुखेनैव चेन्द्रियादेरपि सविषयत्वस्वीकारादिति वाच्यम्। विमानस्य विषयो गगनादिकमश्वस्य विषयः पर्वतादिकं रथस्य विषयो राजमार्गादिरित्येवमन्यत्रापि विषयशब्दप्रयोगात्। न च कथंचिन्मनःप्रभृतिविषयतायामात्मनो जडत्वं प्रसज्येतेति तद्विषयत्वनिषेधः सार्थकः स्वयंप्रकाशसाधनोपयिकत्वाद् अश्वादिविषयत्वप्रतिषेधस्तु निरर्थक इति वाच्यम्। अश्वादिविषयत्वं ह्यश्वादिगमनविषयत्वम्। गमनविषयस्य च ग्रामादिवत्परिच्छिन्नत्वं स्यादिति व्यापकत्वलक्षणनित्यसद्रूपताप्राप्त्यर्थमश्वादिविषयत्वनिषेधस्यापि सार्थक्यात्। अनात्मनो धावतोऽतिगच्छतीत्युक्त्याऽनात्मसु गमनं वर्त्तते ततोऽप्यधिकगमनं द्रुततरगमनमात्मनि विद्यत इति प्रतीयते। तेन चानात्मसु विकारा वर्तन्ते, ततोऽप्यधिकतरविकारा आत्मनि वर्त्तन्त इत्यपि लभ्यते। कथमधिकतरविकार इति चेदुच्यते अनात्मनां विकारा अप्यात्मन एव विकाराः, अनात्मानोऽप्यात्मन एव विकाराः। आत्मन्येवानात्मनामनात्मविकाराणां च जायमानत्वात्। तत् किं वस्तुतस्ते विकाराः सन्ति? नेत्याह। अतीत्य गच्छतीव, जायन्त इव न तु वस्तुतो जायन्ते। तर्हि कीदृशमात्मस्वरूपमिति चेत्? सर्वथा विक्रियाशून्यमिति ब्रूमः। तदेतदखिलमिह विवक्षितमित्याशयेनात्यवक्तव्यमात्रं विवृत्य दर्शयति संक्षेपोक्तिकुशलो भाष्य-

❀ भाष्यम् ❀

स्वयमविक्रियमेव सदित्यर्थः। तस्मिन्नात्मतत्त्वे सति नित्यचैत-

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

उक्तात्म[तत्त्व]संभावनायोपपत्तिमाह—तस्मिन्नात्मतत्त्वे सतीति।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम ❀

कारः—स्वयमविक्रियमेव सदित्यर्थ इति। केचित्तु तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठदित्यस्य 'इतश्चेतश्च धावन्ति ये वा विषयलोलुपाः। तेषु तिष्ठदपि ब्रह्म तानत्येति तिरोभवत्' इति वचनोक्त एवार्थः इति वदन्ति। तन्मते विषयलोलुपान् इति इतश्चेतश्चेति च धावत इत्यत्राध्याहार्यम्। वृन्दावनमथुरादि-धावनपरेषु विरोभावस्य वक्तुमशक्यत्वात्। अधावतां च विषयलोलुपानामुपलक्षणं वक्तव्यम्। तिष्ठदित्यतः पूर्वं तेषु इति चाध्याहार्यम्। अपीति चोत्तरम्। तिरोभवदिति च। तदा वाक्यार्थः सम्पद्यते। तस्मिन्नित्यधिकरणे सप्तमी, आत्मतत्त्वेऽपो जलानि कर्मफलानि मातरिश्वा गमयति इत्यर्थे मातरिश्वनोऽधिकमहत्त्वं प्रकृतासंगतमापद्येतेत्यतः सतिसप्तम्या व्याचष्टे—तस्मिन्नित्यादि।

टीकायामुपपत्तिमाहेति। कथमत्रोपपत्तिः प्रतीयत इति चेद्? इत्थम्। 'क्रिया नाम परिस्पन्दपरिणामस्वरूपिणी। स्पन्दमाने वहिर्ज्ञाने तदङ्कुरवदुद्भवेत्' इति वार्त्तिककारोक्तेर्ज्ञानशक्तिं विना क्रियाशक्तिर्न संभवति। अत एव तार्किका अपि जानाति इच्छति यतत इति क्रममुपगच्छन्ति। क्रियाशक्तिश्च लोके सर्वानुभवसिद्धा। तदन्यथानुपपत्त्या ज्ञानशक्तेश्चैतन्यस्वभावस्य व्यापकस्य सिद्धिः। सर्वत्र क्रियाशक्त्युपलम्भात्। आकाशादिकमपि परिणामित्वात् क्रियावदेव। प्रकृतेरपि नित्यपरिणामितायाः सांख्यैरप्युपगमात्। न च चेष्टालक्षणक्रियाया ज्ञानशक्तिपूर्वकत्वेऽपि क्रियासामान्यस्य तथात्वं न प्रामाणिकमिति वाच्यम्। वाय्वग्न्यादिक्रिया चैतन्यपूर्विका क्रियत्वाच्चेष्टावदित्यनुमानेन चैतन्यपूर्वकत्वसिद्धेः। न चाप्रयोजकत्वम्। रथादिक्रियार्थं सारथ्यादिप्रसञ्जनदर्शनात्। तस्मिन्नप इत्यादिप्रकृतश्रुतेश्च। को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यादिति च श्रुत्यन्तरम्।

नन्वेवंविधोपपत्तिप्रतिपादनपरा श्रुतिरिति भाष्यकारैः कथं दर्शितमिति चेद्? उच्यते। एतदुपपत्तिप्रदर्शनाय हि भाष्ये तस्मिन्नात्मतत्त्वे सतीत्यनन्तरं नित्यचैतन्यस्वभावे इत्यभिप्रेतार्थपूरणेन व्याख्यातम्। नित्यचैतन्यस्वभावे इत्यनेन ज्ञानशक्त्यभिधानात्।

ज्ञानशक्त्या क्रियाशक्तिरिति सामान्यव्याप्तिप्रदर्शनाय मातरिश्वपदं सर्वक्रिया-

❀ भाष्यम् ❀

न्यस्वभावे मातरिश्वा मातर्यन्तरिक्षे श्वयति गच्छतीति मातरिश्वा वायुः सर्वप्राणभृत्क्रियात्मकः, यदाश्रयाणि कार्यकरणजातानि यस्मिन्नोतानि प्रोतानि च, यत् सूत्रसंज्ञकं सर्वस्य जगतो विधार-

जयमङ्गलाचार्य विवरणम्

स्पदसूत्रात्मपरतया व्याचष्टे भाष्ये—मातर्यन्तरिक्ष इत्यादि। माङ् माने शब्दे च मिमीते सर्वं जगत् स्वस्मिन्निति शब्दमुख्याश्रयत्वाद्वा मातृ तदन्तरिक्षम्। मातरि श्वयत इति विग्रहे संज्ञात्वात् सप्तम्या अलुक्। न च मातृशब्दस्य नपुंसकस्य सप्तम्यां मातृणीति रूपं स्याद्, भाषितपुंस्कस्य स्वन्तरिक्षार्थत्वं नास्ति येन 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्येति पाक्षिकेन पुंस्त्वेनोपपत्तिः स्यादिति वाच्यम्। 'श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्क्लेदन्स्नेहन्मूर्धन्मज्जन्नर्यमन् विश्वप्सन्परिज्वन्मातरिश्वन्मघवन्निति' इत्यौणादिकसूत्रेण पुंस्त्वनिपातनात्। अत एव निपातनात् सप्तम्या अलुगपि। यद्वा स्त्रीलिङ्गप्रसिद्धमातृशब्द एवान्तरिक्षवाच्यप्यस्तु। सप्तम्या अलुङ्मात्रं निपातनादस्तु। मातरिश्वा वायुरिति प्रसिद्धमर्थं व्याख्याय प्रकृतोपयुक्तसूत्रपरत्वं लम्भयितुं वायुविशेषप्राणशक्तिपरतया व्याचष्टे—सर्वप्राणभृत्क्रियात्मक इति। सर्वेषां प्राणभृतां क्रियाशक्तिरूप इत्यर्थः। जन्तुपदादिकं परित्यज्य प्राणभृच्छब्दोपादानं प्राणयुक्तैव क्रियेति वायुविशेषरूपप्राणाभिन्नतया क्रियाशक्त्यर्थस्फुटीकरणाय। प्राणनिमित्ता एव च शरीरेन्द्रियादीनामखिला क्रियाः भवन्ति इति लोकप्रसिद्धं प्राणोपासनप्रकरणे छान्दोग्यादौ च स्पष्टीकृतम्। "प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवती"ति श्रुतेः। प्रत्यक्षसिद्धोऽयमध्यात्मपरिच्छिन्नः प्राणः। तस्यैवाध्यात्मपरिच्छेदपरित्यागे समष्टिप्राणात्मकसूत्ररूपत्वमिति प्रतिपादयितुमध्यात्मपरिच्छिन्नस्य प्रथमं स्वरूपमाह—यदाश्रयाणीत्यादि। तथा च श्रुतिः—"अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन् स यथा सुहयः पड्वीशशङ्कून् सङ्खिदेदेवमितरान् प्राणान् समखिददि"त्यादि। यस्मिन्नोतानि प्रोतानीति। अत एव "यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यत" इत्येवं श्रुतावुक्तम्। प्रत्यक्षतया श्रुतिप्रसिद्धया चाध्यात्मप्राणे सर्वस्यौतप्रोतभावं प्रदर्शयता सूत्रपर्यन्तार्थपृष्ठभूमिरुपक्षिप्ता। सूत्रे खलु मणिगणा ओतप्रोता भवन्ति। तथा च निरुच्यमानस्य प्राणस्य सूत्रसंज्ञाऽविरुद्धेत्याशयेनाह—यत् सूत्रसंज्ञकमिति। सूत्रसंज्ञामुपक्षिप्य समष्टिप्राणार्थकत्वं संभावितम्। ततो विवक्षितं समष्टिप्राणमेव स्पष्टमाचष्टे—सर्वस्य जगतो विधारयितृ इति। "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्याम्" इति श्रुतेरिति भावः। न

❀ भाष्यम् ❀

यित् स मातरिश्वा अपः=कर्माणि प्राणिनां चेष्टालक्षणानि अग्न्या-

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

श्रौतानि कर्माणि सोमाज्यपयःप्रभृतिभिरद्भिः संपाद्यन्त इति सम्बन्धा-ल्लाक्षणिकोऽप्शब्दः कर्मसु, प्राणिचेष्टायाश्चाबन्निमित्तत्वसिद्धेः कारण-वाचकः शब्दः कार्ये लक्षणया प्रयुक्त इत्यर्थः।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

चाप्रसिद्धोऽयं वायुमातरिश्वादिशब्दानां हिरण्यगर्भार्थत्वमिति वाच्यम्। नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासीत्यादौ तद्दर्शनात्। प्राणशब्दस्य हिरण्यगर्भे प्रसिद्धेश्च। कर्माणि प्राणिनामिति दृष्टान्तार्थः।

अप्शब्दस्य जलार्थकत्वं प्रसिद्धमिति कथं कर्माणीसि तदर्थकथनोपपत्तिरित्या-शङ्क्य कर्मार्थकत्वं तस्योपपादयति टीकायां—श्रौतानीत्यादि। बृहदारण्यके चोक्तं भाष्ये—आप इति कर्मसमवायिन्योऽग्निहोत्राद्याहुतयः। अग्निहोत्राद्याहुतेर्द्रवात्म-कत्वादप्त्वम्। ताश्चापोऽग्निहोत्रादिकर्मापवर्गोत्तरकालं केनचिददृष्टेन सूक्ष्मेणात्मना कर्मसमवायित्वमपरित्यजन्त्यः" इत्यादि। तथा चापां कर्मणां च समवायसम्बन्ध-स्तेन सम्बन्धेन लक्षणया कर्माण्याप उच्यन्ते। टीकाकारस्तु अद्भिः सम्पाद्यन्त इति सम्बन्धादिति वदन् कार्यकारणभावसम्बन्धमादृतवान्। नन्वेतावता प्राणिनां चेष्टालक्षणानीति भाष्यं न विवृतं तेषां श्रौतकर्मत्वविरहादित्यत आह—प्राणिचेष्टा-याश्चेति। आपोमयः प्राण इति श्रुतेः प्राणस्यापोमयत्वात्प्राणचेष्टाया आपोम-यत्वसिद्धेः प्राणचेष्टाप्रयुक्तप्राणिचेष्टाया अपि अन्निमित्तकत्वं सिद्धमित्यर्थः। कार्ये लक्षणयेति। आयुर्वै घृतमितिवदिति भावः। न चैवमपि प्राणक्रियामात्र-मायातं न त्वग्न्यादीनां ज्वलनादिक्रिया भाष्योक्ता इति वाच्यम्। कर्मत्वसा-मान्येन सर्वासां क्रियाणामुपलक्षणीयत्वाद्। यद्वा अग्न्यादयो देवाः, तेषां शरीरमिदं भौतिकम्। तत्क्रिया च ज्वलनादयस्ताश्च पूर्वजन्मकृतकर्मो-पासनफलभूता इति तासामप्यप्शब्दत्वम्। वस्तुतस्तु निघण्टौ द्वितीयाध्याये अपः अप्नः इत्यादीनि षड्विंशतिः कर्मनामान्युक्तानि। ज्वलनादिकमप्यग्न्यादीनां कर्मैव। न च तत्र अपस् इति सकारान्तशब्द एव न तु पान्त इति वाच्यम्। धात्वै-क्येन पान्तत्वेऽपि अर्थक्षतिविरहात्। "आपः कर्माख्यायाम्" इत्यौणादिक-सूत्रेणाप्नोतेरसुनि ह्रस्वे चापसितिरूपम्। पान्तशब्दोऽपि तत एव धातोः साधितः। तथा च सूत्रम्—"आप्नोतेर्ह्रस्वश्चे"ति। तथा च गोभिला आमनन्तिः—"तद्यद-ब्रवीद् आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किंचेति तस्मादापोऽभवन्" इति।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

तद्=ब्रह्म। अथ वा तस्मिन्नपो मातरिश्वेति सान्त एव शब्दः। "अपांसि यस्मिन्नभिसंदधुः" इति नपुंसकेऽपस्शब्दप्रयोगात्। अद्भिः संपद्यन्त इति टीकाकारेण यद्यपि पान्तशब्द एव गृहीतः। 'अपो भि' इति सूत्रेण भकारादौ प्रत्यये परे पस्य तत्वविधानात्। अन्यथाऽपोभिरिति स्यात्। तथापि टीकाकारो जलवाचकमेवाप्शब्दं गृहीत्वा लक्षणया कर्मार्थकत्वं संपादितवान्, सोमाज्यपयःप्रभृतिभिरद्भिरित्युक्त्वा सम्बन्धाल्लाक्षणिकोऽप्शब्दः कर्मसु इत्युक्तेः। तद्बीजं तु आप इति कर्मसमवायिन्योऽग्निहोत्राद्याहुतय इति बृहदारण्यकभाष्यम्। न च भाष्यकारैस्तत्राप्यपस्शब्दः कुतो न गृहीत इति वाच्यम्। "आप एवेदमग्र" इति मूलेऽप्शब्दस्यैव ग्रहणात्। नन्वापः कर्माख्यायामित्यौणादिकसूत्रे उणादयो बहुलमिति बाहुलकादापस्शब्दो दीर्घोऽपि सिद्ध्यति। तथा च वृत्तिकाराः—"बाहुलकादाप" इति। तत्र टीका—"तथा च, 'ब्रुवते कतमेऽपि नपुंसकमाप' इति कोशमुदाहृत्य सर्वमापोमयं जगदिति प्रयोगो दुर्घटवृत्तौ समर्थित" इति। न च सर्वमापोमयं जगदिति दुर्गासप्तशत्यामापस्शब्दो जलवाचकतया प्रयुक्तो न तु कर्मवाचकतयेति वाच्यम्। कर्मसाधकत्वाज्जलानां लाक्षणिकप्रयोगोपपत्तेरिति चेन्न। आप एवेदमग्र आसुरिति ब्राह्मणे बहुवचनप्रयोगात्। आसुरिति बहुवचनप्रतिरूपकम्। आपः सत्यमसृजन्तेति स्पष्टं बहुवचनोक्तेश्च। न च तस्मिन्नप इत्यत्रापस्शब्दस्य प्रयुक्तत्वे तस्यैकवचनत्वादपः कर्माणीति बहुवचनेन व्याख्यानं कथं भाष्यकारैः कृतमिति वाच्यम्। यतः मूले अप इति सामान्ये एकवचनम्। भाष्यकारस्तु नानैकत्वं विवक्षितमित्याशयेन कर्मणामानन्त्यात्कर्माणीति बहुवचनेन व्याचख्यौ। नच द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने इति सूत्रेणैकत्वविवक्षायामेकवचनं विहितमिति कथमविवक्षेति वाच्यम्। जातिविवक्षायामेकत्वोपपत्तेः। यथा ब्राह्मणो न हन्तव्य इत्यत्र ब्राह्मणत्वजातिगतैकत्वेनैकवचनोपपत्तिः। किंच द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने बहुषु बहुवचनम् इति सूत्रद्वयं भङ्क्त्वा भाष्यकारः प्रथमम् एकवचनमिति सूत्रं सामान्ये एकवचनमित्यर्थकं ततश्च तदपवादरूपेण द्विबह्वोर्द्विवचनबहुवचने इति द्वित्वबहुत्वयोर्विवक्षायां द्विवचनबहुवचने स्त इत्यर्थकं सूत्रं स्वीकर्त्तव्यमाह। तथा चैकत्वविवक्षायामविवक्षायां चैकवचनं भवत्येव। अत्र च वस्तुतो बहुत्वमेव कर्मणामिति भाष्यकारैर्बहुवचनेन तद्व्याख्यानं नायुक्तमिति।

ननु मातरिश्वपदस्य भौतिकवायौ अप्शब्दस्य च जले प्रसिद्धत्वादन्यार्थपरिग्रहणं कुतः कृतं भाष्यकृता। वायुर्हि मेघरूपेणापो दधाति तत्र तत्र नीत्वा विभजते चेति ऋज्वर्थसंभवाद् भीषास्माद्वातः पवत इत्युदाहरिष्यमाणश्रुतेरप्यत्रार्थे संगतत्वादिति—चेन्न। भीषोदेति सूर्य इत्यन्येषां कर्मणामपि परमेश्वरप्रयुक्ततायास्तत्रैवोक्ते-

भाष्यम्

दित्यपर्जन्यादीनां ज्वलनदहनप्रकाशाभिवर्षणादिलक्षणानि दधाति विभजतीत्यर्थः । धारयति वा । भीषास्माद्वातः पव

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

र्मातरिश्वकर्ममात्रग्रहणे हेतोरभावात् । न च मातरिश्वाऽपो दधातीति अन्यकर्मणामप्युपलक्षणमिति वाच्यम् । तर्हि स एवार्थो भाष्यकृता प्रदर्शितः । उपलक्षणापेक्षया योगरूढ्यादेरौचित्योपगमाच्च मातरिश्वपदेन सूत्रात्मापद्देन च कर्मसामान्यं गृह्यत इत्युपपत्तेः ।

विभजतीत्यर्थं इति । अग्निर्ज्वलयति आदित्यः प्रकाशयतीत्येवं प्रतिनियतकर्मस्वाभाव्यं दृश्यते । न ह्येतद्विभाजकविरहे भवितुमर्हति । कस्मिंश्चिद्यन्त्रनिर्माणादिस्थले कश्चिन्निरीक्षकः कश्चिच्चालकः अपरो वस्त्वानायक इति विभागो हि कस्मिंश्चिदधिनिरिक्षके (डायरक्टरे) सति भवति । परमधिनिरीक्षकोऽपि श्रेष्ठनि सति सर्वं करोति । एवमेवाग्न्यादित्यादीनां प्रतिनियतक्रिया सूत्रात्मनि अधिनिरीक्षके सति भवति । परं सूत्रात्मापि परमात्मनि सति सर्वं विभजतीत्यर्थः । दधातीत्यस्य विभजनार्थोऽनतिप्रसिद्ध इत्यतोऽर्थान्तरमाह—धारयति वेति । डुधाञ् धारणपोषणयोरिति स्मरणाद्धारणार्थत्वं प्रसिद्धमेव । अग्न्यादयो ज्वलनादिक्रियां धरन्ति सूत्रात्मा तैर्धारयतीति णिजर्थे दधातिप्रयोगः । न च डुधाञ् धारणपोषणयोरिति धातुपाठे प्रेरणार्थो न विवक्षितः, धृञ् धारण इत्यत्रापि धारणे इति प्रयोगादिति वाच्यम् । धृञ् धारण इत्यत्र णिजर्थस्याविवक्षितत्वेऽपि डुधाञ्धारणपोषणयोरित्यत्राप्यविवक्षायां कारणाभावात् । न च दधातीत्यस्य धरतीत्यर्थे प्रयोग एव णिजर्थाविवक्षायां कारणमिति वाच्यम् । धारयतीत्येवं णिजर्थेऽपि प्रयोगादेव विवक्षास्वीकारोऽप्यस्तु । दधातीत्यन्तर्भावितणिजर्थप्रयोगो वास्तु । अथ वा सूत्रात्मैव समष्टिः सर्वक्रियावान् । उपाधिभेदेन चाग्न्यादित्यादिषु भिन्नाः क्रियाः प्रतीयन्ते । तथा चाग्न्यादित्यादीनां सर्वाः क्रियाः सूत्रात्मा स्वयमेव धत्ते परं परमात्मनि सतीति योजना । अत्रैव श्रुतिं प्रमाणयति—भीषास्मादिति ।

ननु भीषास्मादिति श्रुतौ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति प्रस्तुतं ब्रह्म को ह्येवान्यादित्यादिना परामृष्टमस्मादिति सर्वनाम्ना परामृश्य नियन्तुस्तस्माद् भीषा वातादयः प्रवर्त्तन्त इत्युक्तं, न तु हिरण्यगर्भात्सूत्रात्मनो भीषेति । तथा च सूत्रात्मा विभजति धारयति वेत्यर्थे कथमेतच्छ्रुत्युदाहरणम् । न च शुद्धब्रह्मणि न प्रवर्त्तकत्वं, न वा तस्माद्भयं कथमपि संभवतीतीश्वर एवोपाधिविशिष्टब्रह्म सर्वनाम्ना परामृश्यत इति वाच्यम् । एवं सति 'तस्मिन्नात्मतत्त्वे सति' इत्यर्थस्योक्तश्रुत्यलभ्यत्वेन प्रकृतानुपयोग-

❀ जयमङ्गलाचार्ये विवरणम् ❀

तादवस्थ्यात्। अत्र ह्यात्मतत्त्वं प्रधानतया प्रतिपादनीयं, न तु हिरण्यगर्भः। न च भीषेति लाक्षणिकः प्रयोगः, भयहेतुनियन्तृत्वोपलक्षिताद् ब्रह्मण आत्मतत्त्वाद् भीषा वातो हिरण्यगर्भाख्यः प्राणात्मा पवते, अग्न्यादित्यादीनां प्रज्वलनदहनादिकार्यकरणसमर्थं भवतीत्यर्थस्वीकारादुपपत्तिरिति वाच्यम्। भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः इति श्रुतौ सूर्याग्न्यादिसहपठितस्य वातशब्दस्य भौतिकवायुर्वा तदधिष्ठातृदेवता वा अर्थः संभवति न तु हिरण्यगर्भ इति यथोक्तार्थाऽलाभादिति चेद् ? अत्रोच्यते। भीषास्माद्वातः इत्यादिकमुपलक्षणमवश्यमेव वक्तव्यम्। अन्येषामपि बहूनां देवानां सत्त्वात्। 'अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवते'त्यादिना बह्वीनां देवतानां परिगणनात्। न हि पञ्चैव देवता भीषास्मात्प्रवर्तन्ते। अत एव भीषास्मादित्यस्य वार्त्तिके 'यथोक्तबोधविरहादीश्वराणामपीश्वराः। प्रतीचो ब्रह्मणो भीताः स्वकर्माणि प्रकुर्वते' इत्येवं प्रथमं सर्वदेवान् सामान्येनोपादाय तत्प्रपञ्चनविधया वातादिग्रहणं 'वातादयो महावीर्याः स्वतन्त्रा बाहुशालिनः। तेऽपि भीताः प्रवर्त्तन्ते ब्रह्मणो हि महत्तमाः' इति श्लोकेन दर्शयामासुराचार्याः। 'उक्तमेव प्रपञ्चयति वातादयः इतीति तत्र टीका। यथोक्तबोधेत्यादिपूर्वश्लोकार्थमेव किंचिदुदाहरणपूर्वकं प्रपञ्चयतीति टीकार्थः। इत्थं च सूत्रात्मप्रभृतेरपि तत्र ग्रहणमस्तीति युक्तमेवात्र तच्छ्रुत्युदाहरणेन सूत्रस्य प्रवृत्तिसमर्थनम्।

ननु भवतु भीषास्मादितिश्रुतौ सूत्रात्मादेरपि ग्रहणं तथापि तच्छ्रुतिबलादेव वातादयोऽपि परब्रह्मणो भयात् साक्षादेव परब्रह्मप्रयोज्याः प्रवर्त्तन्ते, न तु परब्रह्मप्रयोज्यसूत्रात्मप्रयोज्यतया। तथा सति मातरिश्वा दधातीति कथमुपपद्यते। न च परब्रह्मप्रयोज्यत्वं सूत्रात्मन एव साक्षात्, तत्प्रयोज्यत्वं च वातादेः, तथापि तत्प्रयोज्यप्रयोज्यस्यापि तत्प्रयोज्यत्वमस्तीत्युपपत्तिरिति वाच्यम्। भीषास्माद्वातः पवत इति समानरूपेण श्रवणाद् यादृशं प्रयोज्यत्वं वातादेस्तादृशमेव वाताद्युपलक्षणीयसूत्रात्मनोऽपि इति विलक्षणप्रयोज्यत्वद्वयस्य तत्र कल्पनाऽयोगात्। किं च वातादिमुख्योदाहरणेनान्येषामपि साधारणानामुपलक्षणमिति युक्तम्, भवन्मते च वातादयोऽमुख्याः, उपलक्षणीयः सूत्रात्मा च मुख्यः सर्वप्रवर्तकत्वादिति वैषम्यम्। न ह्यमुख्येन मुख्योपलक्षणं दृष्टम्। राजाऽऽगच्छतीत्युक्ते हि मन्त्रिप्रभृतेरागमनमुपलक्षयितुं शक्यम्, न तु पुनः मन्त्री समागच्छतीत्युक्ते राजाऽऽगमनमुपलक्ष्यते। तथा च वातादिभिर्वातादिप्रवर्त्तकसूत्रात्मोपलक्षणं कथं युज्यते। तस्माद् भीषास्मादिति मन्त्रे वातादिसमानकोटिकतयैव सूत्रात्मादेरपि ग्रहणमिति चेत् ? सत्यम्।

❀ जयमङ्गलाचार्यं विवरणम् ❀

यद्यपि तत्र मन्त्रे वातादिसमानकोटिकतयैव सूत्रात्मनो ग्रहणं विशेषविवक्षाया अभावात्। "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्" इत्येतदुपपादनमात्रस्य तत्र विवक्षितत्वात्। अत्र तु विशेषरूपेण मातरिश्वनः सूत्रस्य ब्रह्मप्रयोज्यत्वं साक्षादेव तद्द्वारा चाग्न्यादीनां प्रयोज्यत्वम् मुख्यविधयाऽऽत्मतत्त्वसत्त्वप्रतिपादनौपयिकतया मातरिश्वनः प्रवृत्तिरेव विवक्षितेति तावदंशसमर्थनविधया भीषास्मादिति श्रुत्युदाहरणेऽनुपपत्तिविरहात्।

यत्तु तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधातीति परब्रह्मप्रयोज्यत्वं मातरिश्वनस्तत्प्रयोज्यत्वं चाग्न्यादीनामिति प्रक्रियया‌ऽभिहितम्। भीषाऽस्माद्वातः पवत इति श्रुतौ तु साक्षादेव परब्रह्मप्रयोज्यत्वं वातादेरिति प्रक्रियया‌ऽभिहितम्। तथा च प्रक्रियाभेदाद् एतच्छ्रुत्यर्थसमर्थनविधया भीषास्मादितिश्रुत्युपन्यासो न संगत इति। तदसत्। वस्तुनि विकल्पायोगेन श्रुतिद्वयार्थसामञ्जस्यायोपसंहारन्यायस्यावश्यकत्वात्। अत एव तत्तेजोऽसृजतेति छान्दोग्यश्रुतेः आत्मन आकाशः संभूत इति श्रुतिविरोधपरिहारायोपसंहारन्यायमाश्रित्याकाशवायुसृष्टिपूर्वकं तेजोऽसृजतेत्यर्थः समर्थितः सूत्रकृता। न तु प्रक्रियाभेदेन श्रुत्योर्विभिन्नत्वमाश्रितम्। प्रकृते च यथा श्रेष्ठिभयादेवाधिनिरीक्षकभृत्यादयः प्रवर्त्तन्तेऽधिनिरीक्षकश्च भृत्येभ्यो विभजते कर्माणि तथा परब्रह्मभयात्सर्वे प्रवर्त्तन्ते विभजते तु सूत्रात्मेत्युभयमुपपन्नम्।

अयमत्राभिसन्धिः समष्टिसूक्ष्मशरीरं यन्महत्तत्त्वमाख्यायते तत्र भागद्वयं, मलिनामलिनदर्पणभागद्वयवत्। तत्र स्वच्छभागे प्रतिविम्बितचैतन्यमादाय हिरण्यगर्भं इत्युच्यते स ज्ञानशक्तिमान्। अस्वच्छभागप्रतिविम्बितब्रह्मचैतन्यमादाय सूत्रात्मा वायुरित्याद्युच्यते। स च क्रियाशक्तिमान्। तत्र नियन्तृविषयकज्ञानेन नियमनाख्यभयसचिवेनेच्छा प्रवर्त्तते। ततः क्रिया। सैव क्रियाग्न्यादित्याद्युपाधिं प्राप्य ज्वलनप्रकाशनादिभावेनाभिव्यज्यते इति आत्मतत्त्वे सति सूत्रात्मा कर्माणि विभजतीत्युच्यते। अधिकमन्यत्र।

नन्वेवमपि मनुष्यपशुप्रभृतीनां क्रियाया विभजनासिद्धिरिति न्यूनतैव। न हि सूत्रात्मक्रिया मनुष्याद्युपाधिं प्राप्य तत्तत्क्रियारूपेण परिणमत इति युक्तम्। साक्षादेवान्तःकरणे क्रियाशक्त्यंशे ब्रह्मप्रतिविम्बेन हिरण्यगर्भवदेव मनुष्यादीनामपि ब्रह्मप्रयुक्तक्रियावत्त्वोपपत्तेः। उक्तं च वार्त्तिके "मलिनामलिनादर्शपश्चात्प्राग्भागतुल्ययोः। क्रियाशक्तिज्ञानशक्त्योरन्तःकरणभागयोः" प्रतिविम्बे स्फुरन्नीशः कर्त्ता ज्ञातेति कथ्यत इति चेत्? सत्यम्। अत एवात्मतत्त्वे सति सर्वक्रियेत्युपपत्तेः। समष्टिलिङ्गशरीरोपाधिकसूत्रात्मक्रियायाचैतन्यात्मतत्त्वप्रयोज्यत्वोक्तौ सुतरामेव व्यष्टिलिङ्गशरीरक्रियायास्तत्प्रयोज्यत्वसिद्धेः।

❋ भाष्यम् ❋

त इत्यादिश्रुतिभ्यः । सर्वा हि कार्यकरणादिक्रिया नित्यचैतन्यात्मस्वरूपे सर्वास्पदभूते सत्येव भवन्तीत्यर्थः ॥४॥

❋ आनन्दगिरीय टीका ❋

ईश्वरस्यापि हिरण्यगर्भस्य नियतप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्याऽधिष्ठाता परमेश्वरः संभाव्यत इत्युक्तम्, इदानीं मातरिश्वग्रहणमुपलक्षणार्थमादाय तात्पर्यमाह—सर्वा हीति ॥४॥

❋ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❋

यदि पुनरत्र मातरिश्वपदेन समष्टिविवक्षा नास्ति, हिरण्यगर्भः सूत्रात्मा कोऽपि लोकविशेषवर्त्तीतिमतं, यद्वा मातरिश्वपदस्य वायुमात्रमर्थस्तदोपलक्षीया एव सर्वाः क्रिया इत्याशयेनाह—सर्वा हीति ।

तदेतदखिलं मनसिकृत्य टीकाकारो ग्रन्थमुत्थापयति—ईश्वरस्यापीति। नियतप्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्येति । यद्यपि हिरण्यगर्भस्य नियतप्रवृत्तिर्न प्रत्यक्षसिद्धेति तदन्यथानुपपत्त्या परमेश्वरसंभवना न संभवति । शास्त्रतः सिद्धा चेन्नैषा युक्तिरुपपत्तिलक्षणा शास्त्रेण ब्रह्मणोऽपि सिद्धत्वात्तथापि अस्माभिरनुपदं यथाप्रदर्शितेऽर्थे तात्पर्यमिति नानुपपत्तिरिति मन्तव्यम् । उक्तमिति । इत्यादि श्रुतिभ्य इत्यन्तेनेति शेषः ।

भाष्ये कार्येत्यादि । कार्यं देहेन्द्रियादि वाय्वग्न्यादयश्च । करणमन्तःकरणं सूक्ष्मसमष्टिप्राणात्मशरीरं च तेषां क्रियाः पूर्वंदर्शिताः । तत्र प्रथमं करणे चैतन्यात्मप्रतिबिम्बेन क्रियाशक्त्युदयस्तद्द्वारा च देहेन्द्रियादिषु वाय्वादित्यादिषु च यथोपाधिक्रिया भवन्ति । सर्वमिदं बिम्बचैतन्ये परमात्मनि सत्येव भवति । कुतः । सर्वास्पदभूतत्वादित्यर्थः ।

अत्र केचिद् व्याचख्युः—ब्रह्माण्डावरणजलं वायुना परमात्मविधृतेन धार्यत इति । तदसहमानाः अपरे चाहुः—ब्रह्माण्डावरणजलस्य वायुधार्यत्वे न किंचिन्मानम् । किं च मध्येऽन्यावरणधार्यत्वपरित्यागे न किंचिद्बीजम् । अतोऽपेक्षितत्वात् संनिहितत्वाद् दृश्यमानत्वाच्च मातरिश्वा प्रात्यक्षिकोऽयं वायुस्तस्मिन् परमात्मनि सत्येव परमात्मविधृत एवापो बाष्पपयोधराद्या अपो दधातीति । तदुभयमप्यसत् । बाष्पपयोधरादीनामपि वायुधार्यत्वे प्रमाणाभावात् । बाष्पादिकं स्वयमूर्ध्वगमनादिशीलं बाष्पशकटादौ प्रत्यक्षम् । बाष्पभावपरित्यागे हि जलरूपेण पतत्येव पृथिवीतले तत् । तृणतूलादिधारणानुक्तेन्यूनत्वं च । नन्वत एवैतदुत्तरं "सर्वाधारभूतेन सर्वेश्वरेण विधृतः स मातरिश्वा तच्छक्त्यैव पाथःपयोधरनक्षत्रग्रह-

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

❀ भाष्यम् ❀

न मन्त्राणां जामितास्तीति पूर्वमन्त्रोक्तमप्यर्थं पुनराह—तदेजतीति । तदात्मतत्त्वं यत् प्रकृतं तदेजति चलति तदेव च नैजति स्वतो नैव चलति, स्वतोऽचलमेव सच्चलतीवेत्यर्थः । किं

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

जामिता=आलस्यम् । व्यापित्वाद् बाह्यतोऽस्ति, निरतिशयसूक्ष्म-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

तारादिकं विभर्त्ति" त्येवमौपलक्षणिकतया व्याख्यातमिति चेत् तदप्यसत् । चन्द्र-ग्रहादौ वाय्वभावस्याधुनिकवैज्ञानिकैस्तत्र गत्वाऽऽगतैः प्रत्यक्षीकृतत्वेन ग्रहनक्षत्रादीनां वायुधृत्तत्वस्य सर्वथाऽप्रामाणिकत्वात् । न च पञ्चीकरणप्रक्रियया चन्द्रग्रहादावपि वायुरस्तीति वाच्यम् । प्रत्यक्षपार्थिवतत्त्वधृतत्वमनुक्त्वा पञ्चीकरणप्रक्रियावलेशेन वायुधृतत्वस्याऽप्रत्यक्षस्य परमेश्वरसाधकत्वेनोपन्यासानुपपत्तेः । न च "द्यौः सचन्द्रार्क-नक्षत्रं खं दिशो भूर्महोदधिः वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः" इति वचना-दुक्तार्थसिद्धिरिति वाच्यम् । यत उक्तवचने वासुदेवधृतत्वमेवोच्यते न तु वायुधृत-त्वमपि ॥४॥

इति चतुर्थमन्त्रविवरणम् ।

तदेजति । भाष्ये पूर्वमन्त्रोक्तमपीति । अपिना किंचिदन्यदपि । तद्दूर इत्या-द्यधिकार्थदर्शनात् । अथ वा यद्यपि पूर्वमन्त्रोक्त एवार्थस्तथापि मन्त्राणां जामिताविर-हादभ्यासेनार्थदार्ढ्याय पुनराहेति योजना । न च तद्दूर इत्याद्यधिकार्थदर्शनात् कथं पूर्वमन्त्रोक्त एवार्थोऽत्रेति वाच्यम् । तद्दूर इत्याद्युक्तेर्व्यापकत्वपर्यवसानात्तस्य चार्थस्य पूर्वमर्षदित्यादौ पूर्वमन्त्रेऽपि दर्शितत्वात् । न च तदन्तरित्युक्त्या सूक्ष्मत्वमपि लभ्यते, न च तत्पूर्वमन्त्रे इति वाच्यम् । नैनद्देवा आप्नुवन्नित्यनेन सूक्ष्मत्वस्यापि लाभसंभवात् । स्वतोऽचलमेव सच्चलतीवेति । स्वतोऽविक्रियमेव सत् सर्व-विक्रियास्पदमिवेत्यर्थः यत्तु श्रुतिप्रमाण्याद्विरुद्धधर्मसमावेशः परमेश्वरेऽभ्युपगन्तव्य इति तदसत् । तथा सति नैकस्मिन्नसंभवादित्यधिकरणाऽप्रवृत्तेर्जैनानामेव विजयापत्तेः । बहूनामन्येषामधिकरणानां वैयर्थ्यमापद्येत । आदित्यो यूप इत्यादेर्य-थाश्रुतार्थत्वं स्यात् । न च कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वेति पूर्वपक्ष-मुत्थाप्य श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वादिति विरुद्धधर्मसमावेशोऽङ्गीकृत इति वाच्यम् ।

❀ भाष्यम् ❀

च तद्दूरे वर्षकोटिशतैरप्यविदुषामप्राप्यत्वाद्दूर इव । तद् उ अन्तिक

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

लोकाद्दृष्टाभिन्ननिमित्तोपादानत्वम् पारमार्थिकसत्ताकाद् व्यावहारिकजगदुत्पत्तिरित्यादेरेव तत्रोक्तत्वात् । वर्षकोटीति । यथा नीलं गगनं पर्वतोपरि संस्पृशद् दृश्यते तद्ग्रहीष्यामीतिप्रवृत्तस्य नीलगगनं दूरतोऽपसरदेव न वर्षकोटिशतैरपि शक्यग्रहं तद्वदिति भावः । उ अन्तिक इति च्छेद इति । कथं व्याख्यया ज्ञायते, भाष्यकारैरपि सन्धिं कृत्वा प्रयोक्तव्यत्वाद् । अन्यथाऽसाधुप्रयोगापत्तेः । न । मय उञो वो वा इति वत्त्वविकल्पात् पक्षे प्रकृतिभावेन सन्धिमकृत्वा प्रयोगात् । यद्वा सन्धिच्छेदप्रदर्शनस्थले सन्धिमकृत्वैव प्रयोगः । न च प्रयोगाऽसाधुत्वमिति वाच्यम् । शब्दपरत्वेन सन्ध्ययोगात् । तथा हि सुधी उपास्य इति सन्धिच्छेदप्रदर्शनस्थले सुधीशब्दस्य न विद्वानित्यर्थः, किन्तु सुधीशब्द इत्यर्थः । अत एव गौरितिशब्दः गौरित्यर्थः गौरितिज्ञानमिति त्रयाणामेव गोसंज्ञा भाष्यादौ प्रदर्शिता । तत्र यदि सुध्युपास्य इत्युच्येत तदा सुध्य् शब्दः पृथगेव सुधीशब्दात् । तथा च शब्दानुकरणस्थले नास्ति सन्धिः । अत्र प्रमाणम् अइउण् इत्याद्यसन्धिप्रयोग एव । तस्य ज्ञापकत्वात् । यत्तु तत्र चादयोऽसत्त्व इति निपातत्वान्निपात एकाजनाङ् इति सूत्रेण प्रकृतिभाव इति । तदसत् । चादिपठिताकारादीनां तत्तदर्थप्रसिद्धानामिह ग्रहणे प्रत्याहारादौ तेषामेव ग्रहणापत्त्या सुध्युपास्य इत्यादौ निपातत्वेन यणादिसन्धेर्दुर्लभतापत्तेः । इको यणचीत्यादिसूत्रवैयर्थ्यापत्त्या यण् स्यादित्युच्यते तदा अइउणित्यत्रापि यण् केन वार्यताम् । यच्च स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थं सन्धेरविवक्षेति । अयमर्थः संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षत इति वचनाद् अइउणित्यादौ सन्धेरविवक्षणान्न सन्धिरिति । तदपि न । अकारादीनां समासासमासे सन्धेर्नित्यत्वात् । अन्यथा पुंसि विसर्गस्य स्त्रियां टापः नपुंसकेऽमादेशादेश्च प्राप्तेः । तस्मादत्राकारादीनां शब्दपरत्वात् अयुणिति प्रयोगे यकारेणोकारग्रहणायोगादसन्धिरेव । न चाकारेकारोकाराः ऊकालः इत्येवं शब्दपरस्थलेऽपि सन्धिदर्शनान्नोक्तनियम इति वाच्यम् । तत्र लक्षणया तत्तद्वर्णपरत्वात् । वर्णात्कार इति कारप्रत्ययेन तत्रानुकरणविरहाच्च । यत्र स्वशब्देनैव स्वस्यग्रहणं तत्रैवासन्धिरिति स्वीकारात् । अइउण् ऊकाल इत्युभयनिर्देशाद्वैकल्पिकसन्धिस्वीकाराद्वा । अन्तिके समीप इति । आकाशस्वरूपयाथात्म्यविदां स्वस्थान एवाकाशो, नतु तदर्थं पर्वतोपरि गन्तव्यमस्ति । पराङ्मुखानां गोविन्दे विषयासक्तचेतसाम् । तेषां तत्परमं ब्रह्म दूराद्दूरतरे स्थितम् । तन्मयत्वेन गोविन्दे ये नरा न्यस्तचेतसः विषय-

❀ भाष्यम् ❀

इति च्छेदः तद्वन्तिके समीपेऽत्यन्तमेव विदुषामात्मत्वात्। न केवलं दूरेऽन्तिके च, तदन्तः—अभ्यन्तरेऽस्य सर्वस्य, य आत्मा सर्वान्तर इति श्रुतेः। अस्य सर्वस्य-जगतो नामरूपक्रियात्मकस्य। तदु अपि सर्वस्यास्य बाह्यतः, व्यापकत्वादाकाशवत्। निरतिशय-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

त्यागिनस्तेषां विज्ञेयं च तदन्तिके ॥ इति शौनकीयवचनद्वयमत्र केचिदुदाहरन्ति। य आत्मा सर्वान्तर इत्यादिश्रुतेरिति। ननु पिण्डस्यान्तः कार्यकरणसंघातस्त-स्याप्यान्तर इति तत्रोषस्तचाक्रायणप्रश्नस्यार्थः। न तु सर्वस्य जगतोऽन्तस्तत्त्वविषयकः प्रश्नादिरिति चेन्न। यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तर इति श्रुतौ ब्रह्म-रूपेण पूर्वमुक्त्वा पुनरात्मशब्देन तस्यैव ग्रहणाच्छरीरादिसर्वान्तरत्ववत्सर्वं जगदा-न्तरत्वस्यापि सिद्धेः। प्रत्यग्रूपावबोधस्य भावाभावात्मवस्तुषु। सर्वत्राव्य-भिचारित्वादात्मा सर्वान्तरो भवेत्" इत्येवं वार्त्तिककारेण कल्पितसकल-वस्त्वान्तरत्वार्थप्रतिपादनाच्च।

ननु यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्मेति प्रस्तुत्य य आत्मेत्यात्मत्वेन तस्यैव परामर्शादात्मनो ब्रह्मत्वमपरिच्छिन्नत्वलक्षणमायाति। तत्तु न घटते आत्मानात्मनोर्भेदात् परिच्छेदा-वश्यंभावादित्याशङ्कायां नानात्वनिवारणाय सर्वान्तर इति विशेषणं, तथा च वार्तिकम्:—सजातीयविजातीयद्वितीयार्थानभिप्लुतम्। सांख्यराद्धान्त-वुक्तत्प्राप्तं नानात्वदर्शनात् ॥ यतोऽतस्तन्निषेधार्थं सर्वान्तर इतीर-णम्। सर्वेषामान्तरो योऽर्थो नाना स कथमुच्यते ॥ स्रग्वत्सर्पादि-क्लृप्तानां प्रत्यङ्मात्रैकरूपतः। प्रत्यग्वस्तूपरोधेन नानार्थो नावशिष्यते" एषां श्लोकानामर्थः—सजातीयादिभिरनात्मभिरसंस्पृष्टं सांख्यमतसिद्धात्मवद् यत्सा-क्षादित्यत्र यत्पदाभिधेयम् तस्य ब्रह्मत्वं न घटते अनात्मभिः परिच्छेदादेव। न चनाना-त्मनामसिद्धिः। नानात्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वादिति पूर्वपक्षं निषेद्धुं सर्वान्तरत्वविशेषणम्। घटादीनामन्तरात्मा मृन्न घटादिभिर्नानात्वं प्रतिपद्यते। दृश्यमानं च द्वैतं स्रजि कल्पितसर्पादिवदात्मनि कल्पितत्वान्न द्वैतत्वाय कल्पत इत्यपरिच्छिन्नत्वं सिद्धमिति। परन्त्वेतावानर्थस्तु तदु सर्वस्यास्य बाह्यत इत्येतेन सिद्ध्यति। सर्वस्य बाह्यत्वे सर्वं ब्रह्मणोऽन्तरिति सिद्ध्यति। तदर्थंश्चाग्रिममन्त्रे आत्मन्येवानुपश्यति आत्मव्यतिरिक्ता-नि न पश्यतीति वक्ष्यतेऽतोऽत्र तात्पर्यविशेषं दर्शयति—सर्वस्यास्य बाह्यतो व्यापकत्वादाकाशवत् निरतिशयसूक्ष्मत्वादन्त इति। उषस्तयाज्ञवल्क्याभ्यां

❀ भाष्यम् ❀

सूक्ष्मत्वाद् अन्तः प्रज्ञानघन एवेति शासनान्निरन्तरं च ॥५॥

❀ आनन्दगिरिय टीका ❀

त्वादन्तश्चेदस्ति तर्हि निरन्तरमेकरसं न स्याद्, मानाभावादित्याशङ्क्याह—प्रज्ञानघन एवेति ॥५॥

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

तत्र वाह्यत्वं नोक्तमिति तत्र यथाप्रदर्शितवर्त्तिकार्थस्वीकारेऽपि प्रकृते बाह्यत्वस्य दर्शनात्प्रकृतोपयोग्ययमेवार्थः। तथा चात्र व्यापकत्वसूक्ष्मत्वे एव विवक्षिते इति भावः। न च वाह्यत इत्यस्य व्यापकत्वे तात्पर्यमस्तु, तदन्तरस्येत्यस्य नानात्वप्रतिषेध-तात्पर्यं कुतो नोच्यत इति वाच्यम्। नानात्वप्रतिषेधे व्यापकत्वस्य स्वतःसिद्धेर्बाह्यत इत्युक्तेरप्रयोजनत्वापत्तेः। ननु जलमध्यमग्नकमण्डलोर्बाह्यतो जलमन्तश्च जलं वर्त्तते तथापि मध्ये कमण्डलुस्वरूपे न जलं विद्यते। तथैव चेदात्मतत्त्वमपि बाह्यत आन्तरतश्च विद्यमानमपि न मध्ये विद्यते तदाद्वैतत्वापरिच्छिन्नत्वादयस्तस्य न स्युः। यथा वाकाशः प्रस्तरादौ व्यापकत्वाद् वाह्यतोऽस्ति सूक्ष्मत्वात्प्रस्तरादेरन्तरप्यस्ति तथापि ततो द्वितीयं प्रस्तरादि विद्यत इत्याशङ्क्याह—प्रज्ञानघन एवेति शासनान्निरन्तरं चेति। नान्यज्जात्यन्तरमन्तराले विद्यत इत्यर्थः। टीका सुगमा।

केचित्तु एजच्चरं मनुष्यादि अनेजदचरं स्थावरादि दूरस्थं सूर्यादि समीपस्थं धरादि अन्तर्यामिरूपेणान्तः कालरूपेण वहिश्च तदेवेति मन्त्रार्थमाहुः। तन्न। यदेजति मनुष्यादि तत्तदेवात्मतत्त्वमित्युद्देश्यविधेयभाववैपरीत्येन श्रुतोद्देश्यविधेयभाव-भङ्गापत्तेः। यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूदिति सर्वस्यात्मस्वरूपताया वक्ष्यमाण-त्वेनेह क्लेशेन तदर्थसम्पादनवैयर्थ्याच्च। एतेन मनुष्यादिरूपेण तदेजति स्थावरादि-रूपं सत्तन्नैजतीत्यादिव्याख्यानमपि परास्तम्। अध्याहारगौरवात्। वास्तविक-मनुष्यादिरूपत्वासंभवेन तत्तादात्म्यस्य तद्धर्मैजनादिसंसर्गस्य चाध्यासः शब्दालभ्यः स्वीकर्त्तव्यः स्यादिति तदपेक्षया विरोधाभासलभ्योपाधिसंसर्गैजनादेः साक्षात्तत्प-दार्थान्वयस्यैवौचित्यात्। तन्नैजतीत्यादावध्याहारक्लेशस्यात्यन्तवैयर्थ्याच्च। एजति बिभेति नैजति न बिभेति अन्तर्भावितण्यर्थमादायैजति भीषयति दुष्कृतः, नैजति न भीषयति रक्षयति परित्राति साधूनित्यादिरप्यप्रतीयमानार्थो वलादानीयमानो नादर्त्तव्यो मीमांसाविद्भिः।

विशिष्टाद्वैतिनस्तु शरीरशरीरिभावेनान्तरस्य सर्वस्य, तथा एतदभाववस्थानं बहिस्तत्राप्येतदित्यर्थं कल्पयन्ति। न चाणोरन्तर्देशाभावात्कथं तदन्तरिति वाच्यम्। तत्र तद्देशावच्छेदेन सत्त्वमात्रादान्तरत्वव्यवहारात्। अत एवात्मनोऽप्यन्तरात्मेत्यत्र

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्ट इत्युदाहृतं रामानुजाचार्येण । अन्यथा उक्तवाक्ये हृदयान्तरेवोक्तं न तत्रात्मान्तरिति तदुदाहरणासांगत्यं स्यादिति । तदसत् । आकाशादेरपि जीवे ऽरादिदेशावच्छेदेन सत्त्वेनाकाशादेरपि सर्वान्तरत्वापत्तेः । एतेन शरीरशरीरिभावमादाय क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धीति सामानाधिकरण्यमित्यपि प्रत्युक्तम् । क्षेत्रज्ञ चाप्याकाशं विद्धीत्यस्यापि प्रयोगास्यापत्तेः । न च तद्देशावच्छिन्नत्वे सति तन्नियामकत्वं सामानाधिकरण्यव्यवहारप्रयोजकमिति वाच्यम् । त्वत्कपोलकल्पितप्रयोजकस्यानादर्त्तव्यत्वात् । अहं देवदत्तो ब्राह्मण इत्यादौ तथा दृश्यत इति चेन्न । तस्य देहात्मभावभ्रान्तिनिबन्धनतायाः सर्वैरुपगमात् । भ्रान्तिनिबन्धनमेव क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धीति वचनमपि यदि स्वीकुर्वीथास्तर्हि नास्ति मे किंचिदपि वक्तव्यम् । युष्मदीयभगवानपि भ्रान्तश्चेद्यूयं कीदृशाः स्थ इत्येतावन्मात्रं तु विचारणीयमवशिष्येत । किं चोक्तप्रयोजकाभ्युपगमे सुवर्णं कुण्डलमित्यभेदव्यवहारो न स्यात् । हेमस्याचेतनस्य कुण्डलनियामकत्वविरहात् । अणुः कालः घटः काल इत्यादिव्यवहारापत्तिश्च स्यात् । कालस्य सर्वान्तरत्वात्सर्वनियामकत्वाच्च । राष्ट्रं राजेति च प्रयोगः स्यात् । न च यद्देशावच्छेदेन राष्ट्रमस्ति न तद्देशावच्छेदेन राजेति एकदेशवर्त्तिनि राज्ञि न तथा प्रयोग इति वाच्यम् । अणुपरिमाणस्य जीवात्मनः शरीरव्यापित्वविरहेऽप्येकदेशावच्छेदेन स्थितेऽहं ब्राह्मण इत्यादिप्रयोगस्य त्वयैवोपगतत्वात् । सर्वशरीरे जीवस्य प्रकाशोऽस्तीति चेत्सर्वराष्ट्रे राज्ञः प्रभावोऽस्ति । प्रकाशविरहेण व्यवहारानभ्युपगमे मूर्च्छनपक्षाघातादिना शून्यीकृतशरीरावयवे जीवप्रकाशविरहात्तत्राप्यहं देवदत्त इत्यादिव्यवहारो न स्यात् । न चात एव अहं देवदत्त इति ज्ञानं भ्रान्तिं ब्रूमः, क्षेत्रज्ञं चापि मामिति तु न भ्रान्तिः नियम्यतावच्छेदकावच्छेदेन नियामकसत्त्वादिति वाच्यम् । द्वैतसत्त्वेऽपि कथमेकत्वव्यवहार इत्याशङ्कायां शरीरशरीरिभावेनेति समाधाय तत्र दृष्टान्तविधयाऽहमेको देवदत्त इत्युदाहृत्य पश्चात् तमेव दृष्टान्तं भ्रान्तिज्ञानं वदन् कस्य गुरोः पुत्रः खलु भवान् ? । स्वं ब्राह्मणपितृकत्वेन ब्राह्मणमुक्त्वा मम पिता भ्रान्तिसिद्धब्राह्मण आसीदिति वदितुर्भ्रातैव स्याः । न च राष्ट्रं खलु भूमिः । न तु तदन्ता राजेति नोक्तदोष इति वाच्यम् । यतोऽत एव पृच्छामः कस्य गुरोः पुत्रो भवानिति । पृथिवीसलिलजनतदाकाशादिकं सर्वमेव राष्ट्रमुच्यते । भारतस्योपरिभागे य आकाशस्सोपि भारतान्तर्गत एव । नहि भारतीयशासकाज्ञां विना चीनादयो वायुयानमाकाशेऽपि नेतुं शक्नुवन्ति । तथा च राजाऽन्तरेव राष्ट्रस्य । न चैकस्मिन् राजनि मृते राजान्तरं शास्ति राष्ट्रमिति न दोषो यतः तदेकशासनीयत्वं तदीयशरीरत्वमिति व्याख्यास्याम इति वाच्यम् । मृतशरीरे योगिभिः परकायप्रवेशप्रसिद्धेस्तत्र शरीरशरीरिव्यवहारानापत्तेः । देहोऽहमिति प्रयोगश्च भवतामापद्येत ।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

❀ भाष्यम् ❀

यस्तु । यः परिव्राड् मुमुक्षुः सर्वाणि भूतानि—अव्यक्तादी-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

न च देहत्वव्याप्यब्राह्मणत्वदेवदत्तत्वादिविशिष्टाभेदव्यवहार एव भवति निष्कृष्य देहादिव्यवहारे नाभेदव्यवहार इति वाच्यम् । सर्वं खल्विदं ब्रह्म हरिरेव जगदित्यादि-प्रयोगानुपपत्तेः । कोऽयं निष्कर्षश्च भवतः । तादात्म्याध्यासशून्यत्वं चेत्तादा-त्म्याप्यासो भगवति वक्तव्यः स्यात् । ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुरितिवत् अहं हस्तः अहं पाद इत्यादिरपि दुर्वारो व्यवहारः स्यात् । स्वानुकूलयत्किंचिन्नियम-निर्माणेन समाधानं तु न दार्शनिकसंमतं भवितुमर्हति । किं च प्रकृते तदन्तरस्य सर्वस्येत्यनुपपन्नमेव । जीवात्मप्रभृतीनामणुत्वेन परमात्मनस्तदन्तःप्रवेशायोगात् । सावयवत्वेऽनित्यत्वापत्तेः । न चानेकोपचयात्मक आत्मोपलभ्यत इत्येव'मन्तवन्त इमे देहा' इति गीताश्लोकव्याख्यायां रामानुजाचार्यवचनात् एकं सदेकमिति विष्णु-पुराणव्याख्यानावसरे उपचयापचयानर्हतयैकमिति तदुक्तौ 'उपचयापचयौ तदर्हत्वं सावयवत्वं, सावयवत्वाभावादेवैकशब्दवाच्यत्वम् । निरवयवत्वमेकत्वमिति' श्रुतप्रका-शिकावचनाच्च । तद्देशावच्छेदेन तत्सत्त्वं तदन्तरत्वमिति भवदीयं पारिभाषिक-मान्तरत्वं न श्रुतिव्याख्यानोपयोगि । अस्मन्मते तु अणूनामप्युपादानकारणं ब्रह्मेत्यन्यत्र व्यवस्थापिततया कारणस्य कार्यान्तरत्वादुपपद्यते । जीवस्यापि प्रतिबिम्बरूपत्वात् 'प्रतिबिम्बे स्फुरन्नीशः' इति वार्त्तिकोक्तेः प्रतिबिम्बे बिम्बस्यैव स्फुरणरूपत्वाच्चदन्तः-स्थत्वमप्युपपद्यत इति न किंचिदनुपपन्नम् ॥५॥

॥ इति पञ्चममन्त्रविवरणम् ॥

यस्तु । यस्त्वित्यादिना प्रतिपाद्यमानमात्मैकत्वदर्शनं यस्य भवति तस्य कर्मण्य-धिकाराभावादर्थलब्धमर्थमाह—भाष्ये परिव्राडिति । मुमुक्षुरिति साधनचतुष्ट-येऽन्तिमसाधनप्रदर्शनेन सकलसाधनसम्पन्नत्वं दर्शनहेतुभूतं भूतपूर्वगत्याह । न हि तदानीं मुमुक्षापि संभवति । न मुमुक्षुर्नं वै मुक्त इति श्रुतेः । यद्वाऽत्र मन्त्रे प्रदर्श-यिष्यमाणात्मयाथात्म्यदर्शनोपायविधया पारिव्राज्यमुमुक्षे कर्तृविशेषणतयोपादत्ते परिव्राड् मुमुक्षुरिति । मन्त्रे भूतानीति न पञ्चभूतमात्रपरं न वा प्राणिमात्रपरं, तथा सति तदतिरिक्तद्वैतसत्त्वे जुगुप्सादेः प्रसङ्गात् । किं तु भू सत्तायामिति स्मरणात् सत्त्वेन प्रतीयमानं सर्वमेव गृह्यत इत्याशयेनाह—अव्यक्तादीनीति ।

❀ भाष्यम् ❀

नि स्थावरान्तान्यात्मन्येवानुपश्यति—आत्मव्यतिरिक्तानि न

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

यद्यपि भूतपदस्य पञ्चभूतप्राण्युभयपरत्वेनापि संगतिर्भवति। अव्यक्तादीनामतीन्द्रियत्वेन तत्र घृणाया अप्रसक्तेः। न च बुद्धिमनःप्रभृतिकमभूतभूतं विद्यते प्रात्यक्षिकमिति वाच्यम्। तेषामपि भूतमात्राजन्यत्वेन भौतिकत्वेन भूतत्वोपपत्तेः। तथापि शास्त्रप्रसिद्धाव्यक्तादिकमादाय संभवति जुगुप्सा। बुद्ध्यादीनामपि भौतिकत्वं न सर्वंमतम्। एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च खं वायुरित्यादौ पृथगेव परिगणनात्। किं चात्राद्वैतात्मदर्शनं विवक्षितमिति सकलद्वैतप्रतिषेधः कर्त्तव्य इति अव्यक्तादिस्थावरान्तग्रहणं युक्तमेव। यद्यपि चास्य महतो भूतस्येत्यात्मनोऽपि भूतशब्दत्वं दृष्टं, तथाप्यत्र तद्विवक्षा व्यर्थानर्थवती च। आत्मन्येवानुपश्यतीत्यस्यात्मव्यतिरिक्तानि न पश्यतीत्यर्थस्य वक्ष्यमाणतयाऽऽत्मन आत्मव्यतिरिक्तत्वदर्शनाऽप्रसक्तेस्तन्निषेधवैयर्थ्यापत्तेश्च। यत्तु भूतपदं चेतनवाचकम्। मा हिंस्यात् सर्वाभूतानीत्यादौ तथादर्शनादिति कश्चित्। तन्न। खं वायुमग्निमित्यादि चेतनाचेतनसाधारणतयोपक्रम्य यत्किं च भूतमिति भूतपदेन सर्वानुवाददर्शनात्। भूतयोनिं परिपश्यन्तीत्यादयश्च शतशस्तत्र तत्र प्रयोगाः। आत्मन्येवेति शरीरादिसंघातश्चेद् गृह्यते तदा तत्र यत्किंचिद्भूतसंभवेऽपि न सर्वभूतसंभव इति प्रकृतमात्मतत्त्वं ग्राह्यम्। परं तत्र सर्वभूतानामाधारत्वं नितरां न घटत इत्यतो व्याचष्टे—आत्मव्यतिरिक्तानि न पश्यतीत्यर्थ इति।

नन्वात्मस्वरूपाणि पश्यतीत्येव वक्तव्ये निषेधद्वयं व्यर्थमिति चेन्न। सर्वभूतेषु चात्मानमित्यस्यापि फलतस्तदर्थत्वात्पौनरुक्त्यापत्तेः। न चैवमप्यशब्दार्थोऽयमिति वाच्यम्। एवकारस्येतरव्यावृत्त्यर्थतायाः प्रसिद्धत्वात्। अत एव 'अत्र ह्येवावदयन्ती'त्यत्र पवमानातिरिक्तस्थले न गायन्तीति शाब्दीं परिसंख्यामाचक्षते न्यायविदः।

ननु सप्तम्या यदि अभिन्नार्थकत्वं स्यात्तदा एवकारस्य तद्व्यतिरिक्तदर्शननिषेधपरता स्यात्। न ह्येवं दृष्टमिति कथमयमर्थ इति चेन्न। वने वृक्षा सेनायां वीरा भटा इत्यादौ सप्तम्या अभिन्नार्थत्वात्। न हि वृक्षातिरिक्तवनादिकमस्ति येनाधाराधेयभावः कल्प्येत। न चावयवावयविभावे सप्तमी, वृक्षे शाखेतिवदित्यपि युक्तम्। वृक्षाणामन्त्यावयवितया तत्समूहरूपावयव्यन्तरस्य तार्किकैरप्यनुपगमात्। यदि च तत्र काल्पनिकावयवावयविभावेन सप्तम्यभ्युपेयते तदा प्रकृतेऽपि काल्पनिकावयवावयविभावमादाय सप्तमी संभवति। तथा च श्रुतिः—पादोऽस्य विश्वाभूतानीति।

❀ भाष्यम् ❀

पश्यतीत्यर्थः। सर्वभूतेषु तेष्वेव चात्मानं, तेषामपि भूतानां स्वमात्मानमात्मत्वेन, यथाऽस्य देहस्य कार्यकरणसंघातस्यात्माऽहं सर्वप्रत्ययसाक्षिभूतः चेतयिता

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

ननु वास्तविकावयवावयविभावमादाय सप्तमी स्यात्। विराट्पुरुषपरमेश्वरावयवत्वाज्जगतः। तथा चात्मपदमपि विराट्परतया व्याख्येयम्। न चैवं सर्वभूतेषु चात्मानमित्यस्यानुपपत्तिः। अवयविन्यवयवे च विवक्षानुसारेणाधाराधेयभाववैपरीत्यसंभवात्। यथा पलसुवर्णे कुण्डलं निर्मितम्, कुण्डले पलसुवर्णं विद्यत इति चेन्न। अवयव्यवयवभावसम्बन्धस्यानिर्वचनीयत्वात्। मृदो घटो भिन्नो वाऽभिन्नो वा भिन्नाभिन्नो वेति विकल्पेऽनिर्वचनीयतापर्यवसानस्यान्यत्र परिदर्शितत्वेन फलतो मृदि घटादेरपि कल्पितत्वसिद्धेरात्मन्यपि भूतानां कल्पितत्वसिद्धेः। न च मृदि घटस्य कल्पितत्वेऽपि मृद्घटयोः समानसत्ताकत्वमेव, तथा ब्रह्मजगतोरपि समानसत्ताकत्वं स्यादिति वाच्यम्। मृदवच्छिन्नचैतन्ये एव पारमार्थिके घटस्य कल्पितत्वात्। नह्येवमात्मावच्छिन्नचैतन्यमन्यद्विद्यते। येनात्मसमानसत्ताकत्वं जगतः संभाव्येत। संभाविते वा यदात्मावच्छिन्नचैतन्यमुच्यते तदेवात्मयाथात्म्यमिति भक्षितेऽपि लशुन इति न्यायापातः।

तेष्वेव—यथाव्याख्यातेषु, अव्यक्तादिस्थावरान्तेष्विति यावत्। आत्मानमिति। यस्त्वनुपश्यतीति परेणान्वयः। अस्य व्याख्या—तेषामपि भूतानां स्वमात्मानमात्मत्वेन; यस्त्वनुपश्यतीति योजना। तेषामव्यक्तादिस्थावरान्तानां भूतानामात्मत्वेन स्वमात्मानं यस्त्वनुपश्यतीत्यर्थः। अस्यैव सदृष्टान्तं विवरणं यथेत्यादिनिर्विशेषमित्यन्तं, तस्यापि यस्त्वनुपश्यतीत्यनेनैवान्वयः। ननु घटादीनामात्मा यथा मृदुच्यते तथैव चेत्कार्यकरणसंघातस्यात्मा जडत्वं तस्य प्राप्नोति, न च जडरूपेण स्वात्मदर्शनमर्थवद् भवतीत्यत आह—सर्वप्रत्ययसाक्षिभूत इति। सर्वेषां प्रत्ययानामिदं मे शरीरमित्यादिलक्षणानां बौद्धप्रत्ययानां साक्षिभूत आत्मा न जडः। ननु कथं साक्षिण आत्मत्वं, न हि वादिप्रतिवादिनोः साक्षी तदात्मा भवतीत्यत आह—चेतयितेति। सर्वस्फुरणहेतुरित्यर्थः। न हि स्फुरणमन्तरा वस्तुसिद्धिर्भवति। न च स्फुरणसंपर्कात्स्फुरणरूपता देहादीनाम्। तत्सम्बन्धस्य तद्रूपतानापादकत्वादिति एकश्चन्द्रः सद्वितीयवदिति रीत्या स्फुरणायां कल्पिता भवन्ति देहादय इति कल्पनाधिष्ठातुश्चेतयितुरात्मत्वं सिद्ध्यति, सर्पाधिष्ठातुरिव रज्जुशकलस्य सर्पं प्रति आत्मत्वमिति भावः। ननु कल्पिताधिष्ठानविषया साक्षिणो

❀ भाष्यम् ❀

केवलो निर्गुणः, अनेनैव स्वरूपेणाऽव्यक्तादीनां स्थावरान्तानाम-हमेवात्मेति सर्वभूतेषु चात्मानं निर्विशेषं यस्त्वनुपश्यति स

जयमङ्गलाचार्य विवरणम्

देहादिकं प्रत्यात्मभावस्तदा देहादिरेव वस्तुतो न स्यादित्याशङ्कामिष्टापत्त्या परिहरति केवल इति । अतएव देहादिसम्बन्धोऽप्याध्यासिक एव, गौरत्वश्यामत्वसुखदुःखादि-सकलगुणाऽसंस्पर्शी हि स इत्याह—निर्गुण इति । एवं विवेकेनाचार्यप्रसादेन स्वशरीर आत्मानं विविच्य ततः सर्वभूतेषु तथा विवेकः कर्त्तव्य इत्याह—अनेनैव स्वरूपेणेति । घटादिसकलप्रत्ययसाक्षी घटादिचेतयिता केवलो घटादिसम्बन्धादि-राहित्येन निर्गुण इत्येवंरूपेणेत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चेति । ननु कार्यकरणसंघातात्मकशरीरस्यात्माऽहमिति युक्तमनुभवसिद्धं च । सर्वभूतान्तरात्मा तु नायमल्पीयानात्मा भवितुमर्हति, किन्तु बृहद्रूपं ब्रह्मैव, तच्च ब्रह्म बृहदात्मकमन्यद्वाऽयमेवात्मा क्रमशो बृहद्भूत्वा ब्रह्म भवतीति वा सर्वथापि वर्त्तमानकाले सर्वात्मभावो दुर्घट इत्यत आह—निर्विशेषमिति, अल्पीयस्त्वबृहत्त्वा-द्यशेषविशेषरहितमित्यर्थः । तथा चोक्तप्रश्न एव निर्मूल इति भावः ।

केचित्तु अत्रात्मशब्दः संकोचकाभावात् प्रकरणादर्थस्वभावाच्च सर्वान्तरात्मानं परमात्मानमेवाचष्टे जीवादत्यन्तव्यतिरिक्तमिति । तत्तुच्छम् ! ये के चात्महनो जना इत्यनुपदमेवात्मशब्दस्य जीवात्मनि प्रयोगाद् हेतुत्रयस्याप्याभासत्वात् । संकोच-काभावस्वीकारे आत्मशब्देन जीवात्मपरमात्मनोरुभयोरात्मशब्दार्थत्वात्तवैव मते संकोचापत्तिरिति स्वोक्तिव्याघातः। अर्थस्वभावाच्चेत्यपि विरुद्धम् । जीवात्मन्येवात्म-शब्दस्य रूढत्वात् । आप्लृधातुसिद्धत्वात्सर्वव्याप्त्यर्थकत्वं न जीवात्मनोऽणोः सं-गच्छत इति चेत्, शब्दप्रयोगस्य लोकाधीनत्वाज्जीवात्मन्यात्मशब्दस्य सर्वलोकैः प्रयु-ज्यमानत्वात्स्वप्रक्रियानुरोधेन शब्दप्रयोगस्य नियन्तुमशक्यत्वाज्जीवस्याणुत्वसिद्धान्त एव तेन भज्यते न तु शब्दप्रयोगो वार्यते । न च वाक्यान्वयाधिकरणे आत्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यादावात्मशब्दस्य परमात्मपरत्वनिर्णयादत्रापि परमात्मपरत्वं लिङ्गात् सिद्ध्यतीति वाच्यम् । "न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवती" त्यादौ न्यायसहस्रेणापि आत्मपदस्य जीवात्मभिन्नात्यन्तविलक्षण-परमात्मपरताया उपपादयितुमशक्यत्वाद् आत्मा वा अरे इत्यत्र शारीरत्वविशिष्टो वा शुद्धो वाऽऽत्मा विवक्षित इति संशयोदये विशिष्टात्मपरत्वे आत्मनि विदिते सर्वं विदितमिति सर्वविदित्वाद्युक्त्यनुपपत्तेः शारीरत्वविशेषणेन रहित एवात्मा

भाष्यम्

ततस्तस्मादेव दर्शनान्न विजुगुप्सते विजुगुप्सां घृणां न करोति । प्राप्तस्यैवानुवादोऽयम् । सर्वा हि घृणाऽऽत्मनोऽन्यद् दुष्टं पश्यतो भवति, आत्मानमेवात्यन्तविशुद्धं निरन्तरं पश्यतो न घृणानिमित्तमर्थान्तरमस्तीति प्राप्तमेव ततो न विजुगुप्सत इति ॥६॥

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

विवक्षित इति हि सिद्धान्तितः, न तु शारीरादत्यन्तविलक्षणः परमात्मा । अत एव परमात्माऽत्यन्तविलक्षण आत्मपदार्थश्चेत् प्रियसंसूचितजीवात्मनोपक्रमणं व्याकुप्येतेति शङ्कापरिहाराय प्रतिज्ञासिद्धेरित्यादि सूत्रत्रयमुत्थितम् । प्रकृतेऽपि तथैवात्महन इत्यनेन शारीरत्वविशिष्टप्रतीतावपि शारीरत्वविशेषणरहित एवात्माऽऽत्मन्येवानुपश्यतीत्यादिना निर्दिश्यत इत्युपगम्यत एवास्माभिः । न तु शारीराद् गोरश्व इवात्यन्तविलक्षण आत्मशब्दप्रयोगादेवेत्यलं विस्तरेण ।

मन्त्रे तत इत्यस्य दर्शनानन्तरमित्यर्थो न घटते । दर्शनकालेऽपि जुगुप्साया अयोगादित्यतः प्रयोज्यप्रयोजकभावार्थकपञ्चम्या व्याचष्टे ततस्तस्मादेव दर्शनादिति । न चैवमपि प्रयोज्यस्य प्रयोजकद्वितीयक्षणवर्त्तित्वात्तदनन्तरमिति व्याख्यापेक्षया नास्ति वैलक्षण्यमिति वाच्यम् । कार्यकारणयोः कथंचित्क्षणभेदनियमस्वीकारेऽपि प्रयोज्यप्रयोजकयोस्तथा नियमानभ्युपगमात् । प्रकाशप्रयोज्यस्यान्धकारनाशस्य प्रकाशोत्पत्तिसमकालमेव दर्शनात् । न च तत्र प्रकाशसामग्र्येवान्धकारनाशिकेति वाच्यम् । प्रकाशादन्धकारनाश इति व्यवहारदर्शनात् । यदि च तत्र प्रकाशसामग्री ध्वान्तं ध्वंसयति प्रकाशादन्धकारनाश इति भाक्तो व्यवहार इत्यभिधीयते तदा ततो न विजुगुप्सत इत्यत्रापि आत्मदर्शनसामग्री जुगुप्सामपनयति, आत्मदर्शनाज्जुगुप्सानिमूलनमिति व्यवहारश्च भाक्त इति प्रकृतेऽपि तुल्यम् ।

आत्मनोऽन्यद् दुष्टमिति । न हि स्वीयं गलितपलितं कश्चिज्जुगुप्सते न वा चारुस्वरूपं परकीयमपि इति आत्मनोऽन्यत्वं दुष्टत्वमिति द्वयं जुगुप्साहेतुः । न चात्मनि तयोरन्यतरदपि, आत्मत्वाच्छुद्धत्वाच्च । सकलं च निरन्तरमात्मस्वरूपं पश्यतश्च ततः कथं कुत्रचिदपि जुगुप्सा संभाव्येतेति भावः । प्राप्तमेव ततो न विजुगुप्सत इतीति । ततो न विजुगुप्सत इत्यनेनोक्तोऽर्थः प्राप्त एव युक्तेरनुभवाच्च न त्वपूर्व इत्यर्थः । प्राप्तत्वेऽपि प्रतिपिपादयिषितात्मयाथात्म्यनिर्णायकषड्लिङ्गान्तर्गतफलवत्त्वप्रतिपादनपरतया सार्थक्यमिति ध्येयम् ।

ननु जुगुप्साभावस्य जुगुप्सितवस्त्वनवलोकनादेव सिद्धेर्व्यर्थमिदं फलकथनम् । फलस्यान्यतः सिद्धत्वेन प्रतिपिपादयिषितार्थनिर्धारणहेतुत्वायोगादित्याशङ्क्यात्र

❀ आनन्दगिरीयटीका ❀

उक्तात्मज्ञानस्य फलं विधिनिषेधातीतजीवन्मुक्तस्वरूपेणावस्थानमित्याह—यस्त्विति ॥६॥

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

जुगुप्साभावोक्त्या विलक्षणजीवन्मुक्त्यवस्थाप्रतिपादनान्मैवमिति परिहरति टीकायाम् उक्तात्मज्ञानस्येति। न च विधिनिषेधातीतजीवन्मुक्तस्वरूपेणावस्थानस्यात्र विवक्षितत्वेऽस्य प्राप्तत्वोक्तिः कथं भाष्यकृतामिति वाच्यम्। युक्तितः सिद्धेः। महतामनुभवाच्च। न च फलस्य प्रमाणान्तरगम्यत्वे साधनस्यापि तथात्वं दुर्वारमिति अधिगतार्थप्रतिपादकस्य प्रामाण्यं न स्यादिति वाच्यम्। श्रुतिं विना यथोक्तात्मयाथात्म्यस्य संभावयितुमशक्यत्वात्। संभाविते यथोक्तात्मतत्त्वे तज्ज्ञानस्य फलं युक्त्याप्यवगन्तुं शक्यमित्याशयेन फलांशे प्राप्तानुवादकत्वोक्तिसामञ्जस्यादिति।

नन्वत्र जुगुप्साभावोक्त्या जीवन्मुक्तस्वरूपेणावस्थानलक्षणफलस्य विवक्षितत्वे सोऽर्थः कथं न भाष्यकृताऽभिव्यञ्जित इति चेन्न। इममेवार्थमन्योऽपि मन्त्र आहेत्युत्तरमन्त्रावतरणेन भाष्यकृता तदर्थसूचनात्। उत्तरमन्त्रे हि शोकमोहाभावः फलतयोक्तः। अत्र यदि जुगुप्साभावस्ततः पृथगेव स्यात्तर्हि इममेवेत्यवधारणमनुपपन्नं स्यात्। तथा च जुगुप्साभावो विधिनिषेधातीतस्थितिरित्यतोऽपि स्फुटशब्देन शोकमोहाभाव इत्येतेन व्याख्यातुं शक्यः। तच्च यथोक्तात्मदर्शनफलं मन्त्रान्तरेऽभिहितमपि नेहोपलक्षणतया भाष्यकारो व्याचख्यौ। न चैवं टीकाकृता कुत उपलक्षणतया तादृशफलार्थतया व्याख्यातम्, उत्तरमन्त्रे स्पष्टीकरिष्यमाणार्थत्वादिति वाच्यम्। जुगुप्साभावमात्रं फलमिति जानतोऽपुरुषार्थत्वभ्रान्तिर्मा भूदिति फलितार्थकथनपरत्वादिति द्रष्टव्यम्।

यत्तु न विजुगुप्सते क्वचिदपि निन्दां न करोतीत्यर्थः। स्वामिना भृत्ये भृत्यान्तरेण प्रहारिते प्रथमभृत्यो न भृत्यान्तरं निन्दति स्वाम्यधीनत्वात्तस्येति व्याख्यानं, तदसत्। अत्रात्माधीनत्व-परप्रहारादेः कस्यचिदप्यर्थस्य शब्दाव्यङ्ग्यत्वात्। जुगुप्सतिश्च घृणार्थ एव प्रसिद्धो न तु निन्दार्थे। जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानमिति वार्त्तिके जुगुप्सापदस्य निन्दार्थकत्वेऽर्थग्रहणाद अधर्माज्जुगुप्सत इतिवद् अधर्मान्निन्दतीत्यपि प्रयोगः स्यात्। न चेष्टापत्तिः। "अन्नं न निन्द्यात्" न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तं सदा निन्दति" इत्येवं वैदिकलौकिकप्रयोगेषु कुत्रापि पञ्चमीप्रयोगादर्शनात्। न च प्रमादार्थ एव गृह्यते न तु जुगुप्सार्थकोऽपीति वाच्यम्। अधर्माज्जुगुप्सते अधर्माद् बीभत्सत इत्येवं भाष्ये (महाभाष्ये) जुगुप्सार्थकधात्वन्तरोदाहरणात्। एतेन जुगुप्सा निन्देति व्याचक्षाणौ ज्ञानेन्द्रपरस्वतीनागेशभट्टावुभावपि प्रत्युक्तौ ॥ ६ ॥ इति षष्ठमन्त्रविवरणम् ॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

भाष्यम्

इममेवार्थमन्योऽपि मन्त्र आह—यस्मिन् सर्वाणि भूतानि । यस्मिन् काले यथोक्तात्मनि वा तान्येव भूतानि

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

यस्मिन् । भाष्ये इममेवेति । यद्यपि पूर्वमन्त्रे आत्मनि भूतानि भूतेषु चात्मेति सप्तम्या आधाराधेयभावबोधिकयोभयोः प्रतीतिकालः सूच्यते । आत्मैवाभूदित्येवं प्रस्तुतमन्त्रे च इतरप्रतीतिरपि निषिध्यते इति क्रमिकावस्थाद्वयप्रदर्शनपरता मन्त्रयोरुपलभ्यते, अतएव जुगुप्साभावशोकमोहाभावलक्षणफलभेदोऽपि संगच्छते । तथापि ब्रह्मविद्वरीयस्त्वब्रह्मविद्वरिष्ठत्वलक्षणावस्थाभेदस्य प्रतीयमानत्वेऽपि प्रतिपिपादयिषिताद्वैतात्मतत्त्वमेकमेव । न चाद्वैतात्मतत्त्वं सर्वोपनिषदि समानमिति वाच्यम् । परम्परया तथात्वेऽपि साक्षात्प्रतिपादितार्थानां भेदसत्त्वात् । अन्यथा बृहदुपदेशानर्थक्यापत्तेः । अत्र प्रथममात्मनि सर्वभूतानि रज्जाविव सर्प इति बोधयन् मन्त्रो मिथ्यावस्तुनोऽभावेनाद्वैतमाह । सर्वाणि भूतान्यात्मैवेति सर्वबाध उक्त इति तमेवार्थमाह द्वितीयोऽपि । न च फलभेदः । तस्य तात्पर्यविषयत्वानङ्गीकारात् ।

यस्मिन् काल इति । अस्यैव तृतीयपादे तत्रेति परामर्शः । न च "सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा" इति सूत्रेण दाप्रत्यये तदेति रूपेण भवितव्यमिति वाच्यम् । "वा ह च च्छन्दसि" इति पूर्वसूत्राद् वाकारानुवृत्तेर्दाप्रत्ययस्य वैकल्पिकत्वात् । ये तु वाकारं नानुवर्त्तयन्ति दाप्रत्ययं च "सप्तम्यास्त्रल्" इति विहितत्रलोऽपवादमङ्गीकुर्वन्ति तेषां मते तत्रेत्यस्य तस्मिन् काल इत्यर्थकरणं न युज्यत इति तत्परमर्शनीय'यस्मिन्'इत्यस्यापि कालबोधकत्वं न संभवतीत्यतोऽर्थान्तरमाह भाष्यकारः—यथोक्तात्मनि वेति । अव्यक्तादीनां स्थावरान्तानामहमेवात्मेत्येवंविधानुदर्शनविषयीभूतात्मनीत्यर्थः । न च यस्मिन्नात्मनि भूतान्यात्मैवाभूत्तस्मिन्नात्मनि शोकमोहौ न भवत इत्युक्तेरन्यात्मनि शोकमोहौ स्यातामिति प्रतीयते । तथा चात्मनानात्वं प्राप्तमिति वाच्यम् । अनात्मव्यावर्त्तकतया यत्पदप्रयोगात् । आकाशः शब्दवान् यस्मिन्नाकाशे शब्द उक्तः स व्यापकोऽपि इति प्रयोगे नाकाशान्तरं प्रतीयते, किन्तु वाय्वादिव्यावर्त्तकतयैव यत्पदं प्रयुज्यते । अस्तु वोपाधिभेदेनात्मभेदः । आत्मज्ञानिन आत्मभेदविरहेऽपि श्रुतिर्लौकिकदृष्टिमवष्टभ्य ब्रवीति यस्मिन्नात्मनीत्यादि इति न कश्चिद्दोषः । तान्येव भूतानि—

भाष्यम्

सर्वाणि परमार्थात्मदर्शनादात्मैवाभूद्—आत्मैव संवृत्तः

❀ जयमङ्गलाचार्यं विवरणम् ❀

अव्यक्तादीनि स्थावरान्तानि। तत्रवोऽभूदित्यादिप्रयोगे तत्रवस्य भूतकालीनत्वं वर्त्तमानकालवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वलक्षणं प्रतीयते। न च तादृशोऽर्थः प्रकृते संगत इत्यतो निवृत्तिप्रतियोगित्वार्थकक्तान्तशब्देन व्याचष्टे—आत्मैवाभूदात्मैव संवृत्त इति।

यत्तु सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूदित्यत्र सर्वभूतोद्देश्येनात्मविधाने अभूदित्येकवचनमनुपपन्नं स्यात्। आख्यातप्रत्ययानामुद्देश्यगतसंख्याबोधकत्वनियमात्। पञ्च वृत्ता नौर्भवन्तीत्येवं प्रयोगात्। तस्मादत्रात्मानमुद्दिश्य सर्वभूतविधानं युक्तम्। न च आत्मनः सर्वभूताभिन्नत्वे सर्वभूतानामात्माभिन्नत्वमप्यायातीति किमनेन विचारेणेति वाच्यम्। सर्वभूतशरीरकत्वस्य विधेयविधया विवक्षितत्वेनात्माभेदलाभायोगादिति। तन्न। सर्वभूतशब्दस्य सर्वभूतशरीरकत्वे लक्षणा भवद्भिर्वक्तव्या। परमात्मनः सर्वभूतशरीरकत्वस्य स्वतः सिद्धेः यस्याभूदित्यस्य येन ज्ञात इत्यर्थे लक्षणा वक्तव्या। तथा च गौरवमिति उद्देश्यक्रमाऽभङ्गेन लाघवाद् अभूदित्येकवचनमात्रस्य व्यत्ययो बहुलमिति वचनव्यत्ययस्वीकारौचित्यात्। न च प्रथमं शब्दसाधुत्वस्यापेक्षितत्वाल्लाघवेन विनैव व्यत्ययं शब्दोपपत्तौ पार्ष्ठिक्या लक्षणाया न गौरवापादकत्व फलमुखगौरवस्यादोषत्वादिति वाच्यम्। एकवचनोपपत्तये ह्युद्देश्यं किं विधेयं किमिति विचारः। परन्तु लाघवेन प्रथममेवोक्तिक्रमप्राप्तोद्देश्य विधेयभावे ज्ञातेऽन्तत आयातस्य वचनस्यैव व्यत्यये लाघवमसंजातविरोधिन्यायेनोद्देश्यविधेयभावस्य प्रथमोपस्थितस्यैव यथाश्रुतस्य स्वीकर्त्तव्यत्वाच्च। उद्देश्यविधेयभावक्रमभङ्गो यथा बहुलमुपलभ्यते तथा व्यत्ययोऽपि बहुलमुपलभ्यत एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुरित्यादाविति तदंश उभयोः समानत्वात्।

वस्तुतस्तु नात्र व्यत्ययस्याप्यपेक्षा। मुख्यसामानाधिकरण्यस्थले उद्देश्यगतसंख्याभिधायकताया आख्यातप्रत्यये उपगमेऽपि बाधसामानाधिकरण्यस्थले तदभावात्। न च बाधसामानाधिकरण्यमसिद्धमिति वाच्यम्। अयं स्थाणुः पुरुष एव भवतीत्यादिप्रयोगस्य सार्वलौकिकत्वात्तत्र च मुख्यसामानाधिकरण्यासंभवात्। नायं स्थाणुः किन्तु पुरुष एव भवतीति तदर्थव्याख्यानात्तत्र मुख्यत्वं पुरुषस्य न त्वन्यत्रेवोद्देश्यस्येति विधेयसंख्यावाचकत्वमेवाख्यातस्य। मालासर्पादयो यस्य रज्जुरेवाभवदित्येव प्रयोगो न त्वभवन्निति। मालासर्पादीनां बाध्यमानत्वात्। सर्वाणि भूतान्येकं भवन्तीत्यादौ तु पार्ष्ठिको बाध इति तत्र बहुवचनोपपत्तिः। न च नामार्थयोरभेदान्वयव्युत्पत्तेर्भूतेषु स्वावधिकबाधविषयत्वादिसम्बन्धेन नात्मान्वयः

❁ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❁

संभवतीति बाधसामानाधिकरण्यं कथमिति वाच्यम्। योग्यतायाः शब्दबोधजनकत्वादयमश्वो गौरित्यादौ अश्वत्वगोत्वयोर्विरोधानुसन्धानकाले योग्यताविरहेण शाब्दबोधादर्शनात् अयं स्थाणुः पुरुष इत्यादौ च शाब्दबोधदर्शनाद्विरोधपरिहाराय स्थाणुत्वेन बाधितस्थाणोरेवोपस्थितेर्वक्तव्यत्वात्तत्र चाध्यासिकाऽभेदेन पुरुषान्वयादिहापि तथोपपत्तेः। न चैवं स्थाणवादिपदस्य बाधितस्थाणवादौ लक्षणा वाच्या। अत्रापि बाधितभूतार्थलक्षणायां गौरवं समानम्, अबाधितस्थाणोरपुरुषत्वदबाधितभूतानामात्मत्वाभावश्च स्यादिति वाच्यम्। घटेन जलमाहरेत्यादौ योग्यतावशादच्छिद्रघटेन जलमाहरेत्यर्थलाभवदत्रापि योग्यतावशाद्बाधितार्थलाभात् सर्वाणीति सर्वपदेन भूतत्वावच्छेदेन बाधार्थलाभाच्च। पर्वतीयेतरवह्निबाधकाले व्यापकतानवच्छेदकेनापि पवतीयवह्नित्वेन पर्वते वह्न्यनुमानवत् छिद्रघटबाधकाले पदार्थतानवच्छेदकेनापि अच्छिद्रघटत्वेन घटबोधवच्च बाधितस्थाणुत्वादिनाऽत्रापि बोधो न विरुद्धः। यदि व्यापकतानवच्छेदकादिरूपेण नानुमानादौ वह्न्यादिभानं किन्तु तत्र पर्वतीयत्वाच्छिद्रत्वादेः संसर्गविधयैव भानमित्युपेयते तदाऽत्रापि बाधितत्वं संसर्गविधया भासताम्। नामार्थयोरभेदान्वयनियमस्तु नाभेदत्वपर्याप्ताभेदान्वयपरकः। स्थाणुः पुमानिति शाब्दबोधान्यथानुपपत्तेः। तथा च बाधितानुयोगिकाभेदस्य संसर्गविधया भानाच्छाब्दबोधे पदार्थतावच्छेदकस्थाणुत्वादिनापि बाधितस्थाणुरेवोपतिष्ठते। न हि नीलो घट इत्यादावपि घटत्वेन सकलघटा उपतिष्ठन्ते किन्तु नीलान्वययोग्यघट एव। स्थाणुत्वादिकं च सत्यासत्यसाधारणमेकमुपगम्यते। यदि च सत्यमिथ्यासाधारणमेकं रजतत्वं सत्यमात्रगतमपरं मिथ्यामात्रगतं चापरमित्यद्वैतसिद्धिकृन्मतमुपेयते तदा स्थाणुरयं पुमानित्यादौ नान्वयक्लेशलेश एव। मिथ्यामात्रवृत्तिस्थाणुत्वविशिष्टस्य स्थाणुपदार्थत्वात्। मिथ्यास्थाणुरयं पुरुष इति बोधः। एवमत्रापि मिथ्याभूतानि आत्मैवेत्यर्थ इति।

एतेन देवोऽहमितिवल्लोकवेदमर्यादया शरीरात्मभावेन जगद्ब्रह्मसामानाधिकरण्ये संभवति बाधोपचारस्वरूपैक्यादिपक्षा बहिष्कार्या इति प्रत्युक्तम्। क्रमभङ्गदोषस्योक्तत्वात्। देवोऽहमिति च किमुच्यते। एवं मनुष्याः प्रतियन्तीति, किं वा इन्द्रादिदेवा आहोस्वित् परमेश्वर एवं प्रत्येतीति। नाद्यः। अप्रसिद्धेः, देवो भूत्वा देवं यजेदिति स्वारोपमात्रं न तु वास्तविकम्। उपासनार्थे मनुष्यैरारोपेऽपि परमात्मनः पुरुषार्थप्राप्तव्यताविरहेणाहं भूतानीत्यारोपः किंप्रयोजनः स्यात्। नापि द्वितीयः। देवानामप्यात्मनः शरीररूपत्वाभावादहं मनुष्य इतिवद्भ्रान्तिज्ञानसामान्यात्। न हि देवा ज्ञानिन आत्मसाक्षात्कारवन्त इत्यत्र प्रमाणमस्ति। नापि तृतीयः। शरीरविशेषमाश्रित्य देवोऽहमित्येवं परमात्मा प्रत्येतीत्यत्र प्रमाणाभावात्। शरीरा-

भाष्यम्

परमार्थवस्तु विजानतः, तत्र—तस्मिन् काले तत्रात्मनि वा को

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

निरतिशयानन्दस्वरूपमत एव दुःखाऽस्पृष्टमात्मानमजानतः शोको भवति 'हा हतोऽहं, न मे पुत्रोऽस्ति, न मे क्षेत्रमिति। ततः पुत्रा-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

त्मभावस्य चार्वाकेतरैः सर्वैरेव मिथ्यात्वाभ्युपगमेन भगवतो मिथ्याज्ञानाङ्गीकारापत्तेश्च। भूतानीति निष्कृष्योक्तेश्च। निष्कृष्योक्तिस्थले च सामानाधिकरण्यप्रयोगाभावः शरीरशरीरिभावप्रयुक्ताद्वैतमतवादिभिरप्यङ्गीकृतः। अन्यथा देहोऽहं करचरणादयोऽहमित्यादिप्रतीतेरपि प्रसङ्गात्। भूतानीति बहुवचनं च विशिष्टस्याद्वैताङ्गीकारे नोपपद्यते। शरीरादीनामनेकत्वेऽपि एकोऽहमितिविशिष्टैकत्वप्रतीति दृष्टान्तीकृत्य हि तादृशाद्वैतोपपादनम्। भूतानीति बहुवचनप्रयोगात्कथमेकत्वावगमः। किं च परमात्मा सर्वविशिष्टः प्रतीत इति किमर्थमुच्यते। यदि परमात्मप्रत्ययमात्रं न मोक्षहेतुः किन्तु सर्वविशिष्टत्वेन परमात्मज्ञानमिति, तदा आत्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यादावपि सर्वविशिष्टत्वेनात्मदर्शनं मोक्षकारणमित्यर्थः केनाप्यनुपगतः स्वीकर्त्तव्यः स्यात्। समाधिस्थानां जगद्विशिष्टत्वेन परमात्मज्ञानविरहान्मोक्षश्च न स्यादित्यलं प्रलापिभिः सह बहुवार्तया।

अन्यविज्ञानस्याप्रकृतत्वादप्रकरणलभ्यमर्थं विज्ञानतः इत्यतः पूर्वं पूरयति—परमार्थवस्त्विति। अन्ये तु विशिष्टं ज्ञानं विज्ञानम्। ज्ञाने वैशिष्ट्यं च विशिष्टार्थविषयकत्वमेव। विशिष्टार्थश्च प्रकृतत्वात्परमात्मवस्त्वेवेत्याशयेन विपदार्थमेव परमार्थवस्त्विति विषयविशेषकथनेनाहेति वदन्ति। स्वतन्त्रपरतन्त्रभेदं विविच्य जानत इत्यर्थे केचिदाहुः। तदेकत्वमनुपश्यत इति भेदप्रतियोग्येकत्वदर्शनपरवाक्यविरुद्धमित्यतिस्पष्टम्।

मन्त्रे मोह इति मिथ्याज्ञानम्। आत्मयाथात्म्यज्ञानविरहवतो नाहं सुखी भवामि किन्तु दुःखीत्येवंविधम्। शोकश्च तत्प्रयुक्तो हृदयदाहविशेषः। तत्स्वरूपमाह—टीकायां—हा हत इत्यादि। यत्तु निरतिशयानन्दस्वरूपमत एव दुःखाऽस्पृष्टमात्मानमजानतः शोक इति टीकां दृष्ट्वा यथोक्तात्मविषयकाज्ञानमेव मोहपदार्थं इह संमत इति तदसत्। मोहशोकयोरविद्याकार्ययोरित्युत्तरभाष्यविरोधात्। तस्मादजानत इत्यन्ता टीका मोहकारणीभूताज्ञानप्रदर्शनपरतया व्याख्येया। सुषुप्त्यादावज्ञानसत्त्वेऽपि शोकादर्शनाद् यथोक्तमोहोत्पत्त्यनन्तरं शोकदर्शनाच्चान्वयव्यतिरेकाभ्यां यथाव्याख्यातमोहस्यैव प्रकृते विवक्षितत्वात्। कहोलयाज्ञवल्क्यसंवादप्रसङ्गे

भाष्यम्

मोहः कः शोकः। शोकश्च मोहश्च कामकर्मबीजम् अज्ञानवतो भवति, न त्वात्मैकत्वं गगनोपमं पश्यतः। को मोहः कः शोक

❁ आनन्दगिरीय टीका ❁

दीन् कामयते, तदर्थं देवताराधनादि चिकीर्षति, न त्वात्मैकत्वं पश्यतः। ततोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां शोकादेरविद्याकार्यत्वावधारणाद्, मूलावि-

❁ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❁

बृहदारण्यकेऽपि भाष्ये मोहस्तु विपरीतप्रत्ययप्रभवोऽविवेको भ्रम इति व्याख्यातम्। शोक इष्टं वस्तूद्दिश्य चिन्तयतो यदरमणं तत्तृष्णाभिभूतस्य कामबीजमिति तत्रैव भाष्यम्। तदेवारमणमिह हा हत इत्यादिना प्रदर्शितम्। अरमणं च रमणविरोधी दाहविशेष एव। इष्टवस्तूद्देश्यकचिन्तनं च तृष्णाकारणतया प्रदर्शितम्। तृष्णा वस्तुप्राप्तिविषकोत्कटेच्छा। कामश्च चिरस्थायी पुनः पुनरिच्छोद्बोधको वासनाविशेषः इति तृष्णाकामयोर्भेदो द्रष्टव्यः। न त्वात्मैकत्वं पश्यत इति। शोको भवती-त्यादिपूर्वेण सम्बन्धः। नञश्च सर्वत्रान्वयः। न पुत्रादीन् कामयत इत्यादि। अविद्याकार्यत्वावधारणात् = विपरीतप्रत्ययादिलक्षणमोहकार्यत्वावधारणात्।

केचित्तु मुह वैचित्य इति स्मरणात् शोकप्रयुक्तं वैचित्यं मोहः। को मोह इत्यत्र हेतुविधया च कः शोक इत्युक्तिः। अत एव भाष्ये शोकश्च मोहश्चेति व्युत्क्रमेण पाठस्य सगतिरिति वदन्ति।

यत्तु कः शोकः परविभूतिभूते सर्वस्मिन्निर्ममत्वसिद्धया पुत्रमरणराज्यहरणा-दावपि न कश्चिच्छोकः स्यादिति द्वैतिव्याख्यानम्। तन्न। आत्मा वै पुत्रनामासि इति श्रुतेर्निजतनूद्भवस्य स्वात्मरूपस्य स्वविभूतित्वेन परविभूतित्वकथनस्यानृत-त्वात्। न हि त्वन्मते परमेश्वर एव विभवति। किन्तु परमेश्वराद्भिन्नं प्रकृत्यादिक-मेव। परमेश्वरशरीरभूतप्रकृतिविभवात्तद्विभूतित्वोपचारे जीवात्मशरीरविभवाज्जीवात्म-विभूतित्वमपि समानम्। न च विभूतिपदं शरीरपरं परमेश्वरस्यैव शरीरं पुत्रादिनं तु जीवस्येति वाच्यम्। यतोऽत एवाधिकशोकः कर्त्तव्यः। प्रियस्य परमेश्वरस्य हा शरीरं नष्टमिति। न चेश्वरेच्छया स्वभावत एव शरीरोत्पत्तिविनाशादिकं भवतीति न शोकावसर इति वाच्यम्।तर्हि तमेव हेतुं वद न तु परमेश्वरविभूतिभूत इत्यादि।

भाष्ये नत्वात्मैकत्वं गगनोपमं पश्यत इति। यत्तु ईशावास्यमिदं सर्व-मित्येवमीश्वरव्याप्तत्वेन प्रक्रान्तस्य द्वितीयस्य जगतो बाधायोगादात्मैकत्वमयुक्तमेव। तस्मात्सर्वविशिष्टैक्यमनुपश्यत इति व्याख्येयमिति केचिदाहुः। तत्तुच्छम्। एक-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

मेवाद्वितीयमित्यादौ विशिष्टेऽप्येकत्वं नास्तीति वदतः स्ववचनेन व्याघातात्। ईशावास्यमित्यत्र चेश्वरेणोपक्रमणमिति स्वसिद्धान्तविरोधाच्च। न हि तत्र द्वितीयसत्त्वे तात्पर्यम्। द्वितीयत्वविधाने वाक्यभेदापत्तेः। द्वितीयस्य प्रमाणान्तरसिद्धस्यानुवादमात्रस्य वक्तव्यत्वाच्च।

ननु सर्वभेदमिथ्यात्ववेदनावेदनयोः कथंचिदपि तादृशैक्योपदेशादिप्रवृत्त्ययोगस्त्वन्मत आपद्यत इति चेत्। किमेवं श्रुतिमुपालभसे किं वा पुरुषम्? नाद्यः। असंभवात्। न द्वितीयः। अप्रकृतदोषारोपणात्। न ह्यत्र कश्चित्पुरुष उपदिशति। किन्तु श्रुतिः। किं च पदार्थाभावनीतुरीयगयोर्भूमिकयोः स्थितेनोपदेशो मा क्रियतां तथापि चतुर्थ्यादिभूमिकास्थेन श्रुत्यवष्टम्भेनोपदेशे का क्षतिः। न च स्थाणुपुरुषोऽयं मिथ्येति जानन्न तमुपदेष्टुं कश्चित्प्रवर्त्तत इति वाच्यम्। यतो दार्ष्टान्तिके शिष्यात्मानं वा शरीरं वा भेदं वा मिथ्येत्याकलय्य दोषं प्रयुङ्क्षे। नाद्यः। आत्मनो मिथ्यात्वायोगात्। न द्वितीयः। शरीरं प्रत्यनुपदेशात्। न तृतीयः। श्रीरामपरशुरामयोर्भेदस्य मिथ्यात्वेऽपि परस्परोपदेशादिदर्शनात्। ननु तत्र भगवतो लीलाकैवल्यमिति चेत्। तत्त्वदर्शिनोऽपि लीलाकैवल्यमस्तु।

ननु शिष्यभावेन वा सुहृद्भावेन वा पृच्छामि, कथं मिथ्याभूतं जगत् पश्यत आचार्यस्य शिष्यदेरपि मिथ्यात्वादुपदेशसंभव इति। शृणु सावधानः। मिथ्या नाम न शशविषाणवदसदित्युच्यते किन्तु स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगी। सत्यपदवाच्यत्वं जगत्यप्यभ्युपेमः। सत्यपदलक्ष्यं तु परं ब्रह्म वाचामगोचरम्। व्यावहारिकं सुखदुःखादिकं यादृशमनुभूयते विद्यत एव तादृशम्। परब्रह्मदृढसाक्षात्काराद् बाध्यत इति मिथ्यात्वमभिधीयते। ननु च कथं ब्रह्मसाक्षात्कारात्सुखादिकं निवर्त्तत इति चेदनुभवाद्वचनाच्चेति ब्रूमः। समाधिनिष्ठः खलु ब्रह्म साक्षात्कुर्वाणोऽपि न सुखदुःखादिकं जगच्चावलोकते। न च पिधायाक्षियुगलमन्तर्ब्रह्म साक्षात्कुर्वतः सुखादिकस्य जगतश्चानुभवो न प्राप्त एवेति न बाधात्तदनवलोकनं किन्तु साधनसामग्र्यभावादिति वाच्यम्। अभिन्ननिमित्तोपादानं ब्रह्मेत्यन्यत्र प्रतिष्ठापितत्वेनोपादानब्रह्मसाक्षात्कारे कार्यजगतोऽपि साक्षात्कारप्रसङ्गसत्त्वात्। घटस्य सद्भावे घटोपादानं मृदमवलोकमानस्य घटावलोकनमप्यवश्यं भाव्येव। चक्षुरादिसामग्रीसमुदायो हि केवलमावरणभङ्गार्थो भवति न तु साक्षात्कारार्थः। तदिह समाधिनैव "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" इति वचनादावरणभङ्गादनपेक्षित एव चक्षुरादिः, योगजसंनिकर्षसत्त्वाच्च। तस्मात्समाधावनुपलभ्यमानत्वाज्जगतो ब्रह्मसाक्षात्कारेण बाध एवेति निश्चीयते। "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येदि"त्यादिवचनाच्च। तथा

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

च साक्षात्कारबाध्यत्वान्मिथ्या जगदिति ब्रूमः। ब्रह्मसाक्षात्कारकालेऽपि संस्कारस्य लेशाविद्याया वा प्रारब्धवशादनुवर्त्तमानत्वाभ्युपगमात् "तस्य तावदेव चिरमि"ति श्रुतेश्च समाधिव्युत्थितस्य साक्षात्कारशिथिलीभावादुद्बुध्यमानलेशाविद्यादिना बाधितजगदनुवृत्तेर्जगदवलोकनमित्यप्युपपद्यते। न च सुषुप्त्यादिकालेऽपि जगदनवलोकनात्तत्र सामग्र्यभावस्य नियतत्वात्समाधावपि सामग्र्यभाव एव किं नोपेयत इति वाच्यम्। दत्तोत्तरत्वात्। पिहिताद्रज्ज्वादेरपि रज्जौ सर्पो न दृश्यते साक्षात्कृतरज्जुतत्त्वस्यापि। तत्र प्रथमे सामग्र्यभावाद् द्वितीये बाधादिति सर्वजनीनम्। सुषुप्तौ नात्मतत्त्वसाक्षात्कारः। नाहं किंचिदवेदिषमितिगाढान्धकारसत्त्वादिति तत्र सामग्र्यभावाददर्शनम्। समाधौ तु उपादानब्रह्मदर्शनमस्तीति विशेषसत्त्वात्। इत्थं चात्मसाक्षात्कारबाध्यत्वाज्जगतो मिथ्यात्वं न त्वसत्त्वादिति स्थितम्। तत्र व्यवहारकालेऽध्यासतो वान्यतो वा दुःखानुभवो भवतीत्यविवादम्। तन्निवृत्तये प्रयतन्ते सर्वेऽपि जीवा इति उपदेशप्राप्तिसार्थक्यम्। आचार्यशिष्ययोर्भेदश्च तावानेव वास्तविको यावानयं व्यावहारिकप्रपञ्चः। तस्यापि साक्षात्कारबाध्यत्वादेव मिथ्यात्वं ब्रूमो न तु स्थाणुपुरुषवत्प्रातिभासिकत्वाच्छशविषाणवदसत्त्वाद्वा। तथा हि "जीव ईशो विशुद्धा चित्तथा जीवेशयोर्भिदा। अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादय" इति जीवादयः षडनादयो व्यावहारिकाः स्वीकृताः। एवं चाचार्यस्य ज्ञानादेव शिष्यस्यापि ज्ञानमित्युपदेशवैयर्थ्यमित्यपि शङ्का नोत्तिष्ठति। परस्परभेदात्। तत्तदन्तःकरणतत्तदाभाससाक्षित्रितयविशिष्टस्यैव जीवत्वेनान्तःकरणादिभेदेन विशिष्टानां परस्परभेदसत्त्वात्। न हि शुद्धं ब्रह्मैवाचार्यो येनोपदेशाद्यसंभव आपद्येत। न वानर्थक्यं, शिष्येण प्रपञ्चाऽबाधात्तद्बाधार्थतया सार्थक्यात्। स्पष्टीकृतं चैतद्भगवत्पादैः। कस्येयमविद्येति चोद्यमुत्थाप्य यस्त्वं पृच्छसि तस्य तव, ब्रह्मैवाहमिति चेत्कृतकृत्यस्तर्हीति ब्रुवद्भिः। तत्रायं भावः—अनादिसिद्धजीवभावसमाक्रान्तस्याज्ञानिनो जीवस्याचार्यादनादिसिद्धभेदभावशालिन इयमविद्या। अहं ब्रह्मेति बोधेन जीवभावादिनिवृत्तौ नास्त्येवाविद्या। परं त्वहं ब्रह्मेत्येवंविधसाक्षात्कारात्मकबोधे सति हि जीवभावादिनिवृत्तिर्न तु कुतर्कवचनमात्रादिति तु द्रष्टव्यम। विशेषावगतिस्तु श्रद्धासमाधिसंपत्तिसम्पन्नानां गुरुचरणमुपेयुषामेव भवति नान्यथेत्युपरम्यते।

यत्त्वत्रानुपश्यत इत्यादौ दर्शनमुपासनमेव। मोक्षोपायोपदेशपरेषु सर्वेषु वाक्येषु दर्शनशब्दस्योपासनाविषयतायाः प्रतिपादितत्वादिति। तत्प्रतिज्ञामात्रगम्यम्। "तं दुर्दर्श" "यत्तत्पश्यसि तद्वद" "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" "स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति" इत्यादौ यथाश्रुतार्थस्यैव दर्शनात्। वस्तुतो यत्र "य एवं वेद" इत्येवमुपासनविधिस्तत्रापि मानस-

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरँ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू-
र्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

❀ भाष्यम् ❀

इति शोकमोहयोरविद्याकार्ययोराक्षेपेणासंभवप्रदर्शनात् सकारणस्य संसारस्यात्यन्तमेवोच्छेदः प्रदर्शितो भवति ॥७॥

योऽयमतीतैर्मन्त्रैरुक्त आत्मा स स्वेन रूपेण किंलक्षण इत्याहायं मन्त्रः—स पर्यगात् । स यथोक्त आत्मा पर्यगात् परि=समन्ताद् अगाद्=गतवान् । आकाशवद् व्यापीत्यर्थः । शुक्रं

❀ आनन्दगिरिय टीका ❀

द्यानिवृत्त्यैव शोकादेरात्यन्तिकी निवृत्तिर्विद्याफलत्वेन विवक्षिता; लयमात्रस्य सुषुप्तेऽपि भावादित्याह—शोकश्च मोहश्चेत्यादिना ॥७॥

❀जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

प्रत्यक्षमादायैव वेदेत्यादिप्रयोगः । फलोत्पत्त्यर्थं स्वावृत्तिः प्रत्ययस्येति तामुपासनामाहुः । आवृत्त्यनुपयोगे वस्तुतत्त्वज्ञाने चोपास्त्यर्थकत्वं स्वयमेव व्यावर्त्तत इत्येव राजमार्गः ।

नो मोहो नो शोक इति वक्तव्ये आक्षेपार्थककिंशब्दोऽसंभवप्रदर्शनाय । असंभवश्च कारणीभूताविद्यानिवृत्त्यैव । सामान्यतः शोकाद्यभावस्य सुषुप्त्यादावपि सत्त्वात् । तदाह टीकायां—मूलाविद्येत्यादि । अत्र मूलपदेन टीकाकारः पूर्वोक्ताविद्या भ्रमात्मिकैव स्वविवक्षितेति सूचितवानिति ज्ञेयम् ।

इति सप्तममन्त्रविवरणम्

स पर्यगात् । भाष्ये स्वेन रूपेणेति । अनेजदेकं मनसो जवीय इत्यादिकमुपाधिसद्भावासद्भावप्रयुक्तरूपभेदप्रतिपादनमुखेनात्मतत्त्वप्रतिपादकं न तु साक्षादिति भावः । समन्ताद् गतवानिति । स एवाधस्तात्स एवोपरिष्टादित्यादिश्रुतेः । व्यापीत्यर्थ इति । सर्वगतं गगनमित्यादौ गच्छतेर्व्याप्त्यर्थत्वदर्शनादिति भावः । शुक्रमिति । ईशुचिर् पूतीभावे । पूतीभावः पवित्रीभावः । तस्माद् ऋज्रेन्द्रेत्याद्यौणादिकसूत्रेण रलयोः प्रत्यययोः शुक्रं शुक्लमिति रूपे । शुद्धमिति

❀ भाष्यम् ❀

=शुद्धं (शुभ्रं) ज्योतिष्मद्दीप्तिमानित्यर्थः । अकायमशरीरो लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः । अव्रणम्=अक्षतम् । अस्नाविरं=स्नावाः शिरा यस्मिन्न विद्यन्त इत्यस्नाविरम् । अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां स्थूल-

❀ जयमङ्गलाचार्यं विवरणम् ❀

यावदित्याशयेनाह—शुद्धमिति । शुद्धमित्यस्य मन्त्रे पुनः पाठादाह—ज्योतिष्मदिति । ज्योतिराधिक्यादेव वैश्वानरादेः शुक्रनामता । "शुक्रः स्याद्भार्गवे ज्येष्ठमासे वैश्वानरे पुमान्" इति मेदिनी । भार्गवादौ भौतिकज्योतिष एव दर्शनात्तदर्थभ्रान्तिनिवारणाय पुंलिङ्गत्वेन परिणमय्य योजनाय च पुनर्व्याचष्टे—दीप्तिमानिति । स्वयंप्रकाश इति फलितार्थो द्रष्टव्यः । अयं भावः शुक्रमित्यनेन शुद्धत्वं ज्योतिष्मत्त्वं च व्यज्यते । लौकिकज्योतींषि हि पूर्वं पश्चाच्चान्धकारेणाऽऽवृतानीति न तानि शुद्धानि । अन्धकारमलाच्छन्नत्वात् । तादृशमलानाच्छन्नत्वं तु स्वयंप्रकाशज्योतिरेवाधिभौतिकादिव्यतिरिक्तमिति । क्वचित्तु शुक्लं शुभ्रमिति पाठ उपलभ्यते । स एव पाठः समीचीनतरो भाति । शुद्धमित्यस्याग्रे मन्त्र एव स्थितत्वात्तेन पदेन व्याख्यानपूर्वकमन्यार्थसंपादनस्य श्रमाधिक्यात् । तत्र "शुक्रस्तु शुक्ले ज्येष्ठमासेऽग्निकाव्ययोः" इति हेमचन्द्रः । ततश्च शुभ्रमिति व्याख्या । शुभ्रमुद्दीप्तशुक्लयोरित्यमरः । अत एव शुभ्रमित्यस्य ज्योतिष्मदिति दीप्तिमानिति च व्याख्या नित्यप्रकाश इति यावत् । अयं भावः—शुक्रशब्दस्य शुक्लार्थकत्वादग्न्यादिवाचकत्वेन ज्योतिष्मदर्थकत्वाच्च शुक्लज्योतिरित्यर्थोऽभिव्यज्यते । शुक्लत्वं चानभिव्यक्तदशायां काष्ठादौ अग्नेः कृष्णवर्णावृतत्वमिव दीप्तेस्तमसाच्छन्नत्वं व्यावर्त्तयतीति अविलुप्तनित्यप्रकाशार्थलाभ इति । अव्रणमित्यादिना स्थूलादिशरीरप्रतिषेधलाभादकायमित्यनेन आवश्यकमर्थमाह—लिङ्गशरीरवर्जित इति । न चापापविद्धमिति धर्माधर्मादिपापवर्जनोक्त्यैव लिङ्गशरीरप्रतिषेधलाभोऽपि संभवति, तथा चाकायमिति सामान्यतः शरीरत्रयनिषेधः, अव्रणमित्यादिना स्थूलकारणसूक्ष्माणां विशेषेण निषेध इत्येव युक्ता व्याख्येति वाच्यम् । ये हि तार्किकादयो धर्माधर्मादिकं नान्तःकरणधर्मः किन्त्वात्मधर्म इति मन्यन्ते तेषां कृत आत्मन्यावश्यको धर्माधर्मादिप्रतिषेधो न सिद्ध्येत्, धर्माधर्मादिनिषेधपरत्वे लिङ्गशरीरप्रतिषेधो न सिद्ध्येदिति लिङ्गशरीरप्रतिषेधविषयैवाकायमित्यस्य व्याख्यातुमुचितत्वात् । अस्नाविरमिति मत्वर्थीयेरप्रत्ययोत्तरं न नञ्बहुव्रीहिरित्याह—स्नावा इति । शरीरप्रतिषेधमध्येऽव्रणमच्छिद्रं पूर्णमित्यादिव्याख्यानमसम्बद्धमित्याशयेनाह—अव्रणमस्नाविरमित्याभ्यां स्थूलशरीरप्रतिषेध इति । शुद्धमनु-

❀ भाष्यम् ❀

शरीरप्रतिषेधः। शुद्धं—निर्मलमविद्यामलरहितमिति कारणशरीरप्रतिषेधः। अपापविद्धं—धर्माधर्मादिपापवर्जितम्। शुक्रमित्यादीनि वचांसि पुंलिङ्गत्वेन परिणेयानि।

❀ जयमङ्गलाचार्यं विवरणम् ❀

पहतं सत्त्वरजस्तमोभिरिति केचित्। तदसत्। शुद्धशब्दस्यानुपहतार्थाऽप्रसिद्धेरतः-प्रसिद्धमर्थमाह—निर्मलमिति। तैलादिमलस्याप्रसक्तस्य प्रतिषेधवैयर्थ्यान्मलशब्दार्थं माह– अविद्यामलेति। धियोऽपि प्रायो हि पुंसा मलिनीभवन्तीत्यादावज्ञानमलावरणविषयीभवन्तीत्यर्थदर्शनादविद्याया मलत्वं नानुपपन्नम्। न च तत्र तमोगुणावृतत्वमेवार्थ इति वाच्यम्। तमसोऽप्यज्ञानात्मकत्वात्। अप्रतिभानस्याज्ञानकार्यत्वाच्च। धर्मस्यापि जन्महेतुत्वाज्जन्मनि सति पुनः कर्मावश्यंभावात् सर्वारम्भा हि दोषेणेति वचनेन तत्राधर्मस्यापि प्रसक्तेरधर्मनिमित्तत्वेन धर्मस्यापि पापशब्दत्वं, तथा च च्छन्दोगा 'न सुकृतं न दुष्कृतमि'त्युपक्षिप्य' सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्त्तन्ते। अपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोक' इति पाप्मत्वेन सुकृतदुष्कृतोभयमनुगमयांचक्रुः। एवं सत्यत्रापि अपापविद्धमित्यत्र धर्माधर्मोभयप्रतिषेधो विवक्षित इत्याह—धर्माधर्मादीति। आदिना स्वाभाविकं कर्म। न च स्वाभाविककर्मणः कथमधर्मत्वमिति वाच्यम्, तस्यापि दोषावृतत्वादधर्मनिमित्तत्वसंभवाच्च। यथा कश्चिद् घुर्घुरायमाणः स्वपिति। ततोऽपरस्य निद्राभङ्गात्स कुपितो युध्यति, ततः परस्परकलहपापमिति। क्लेशकर्मविपाकाशयैरसंस्पृष्टमित्यर्थ इति केचित्। तच्चिन्त्यम्। क्लेशान्तर्गताविद्यादेः शुद्धपदेन गतार्थत्वात्। विपाकस्य शरीरप्राप्त्यादिलक्षणस्याकायमित्यादिना चारितार्थ्यात्। लिङ्गशरीरप्रतिषेधेनाशयत्वारणात्कर्ममात्रावशेषात्। यच्च तत्र परिग्रहीतव्यांशः स आदिपदेन भाष्यकारैः परिगृहीत इति द्रष्टव्यम्। आत्मन एव धर्माधर्मादिर्न तु शरीरस्य, तस्य स्वर्गादिगमनायोगादित्यतिरिक्तात्मसिद्धिरिति वदतां मीमांसकानां नौपनिषद आत्मेत्यप्यत्र सूचितं भवति। पुँलिङ्गत्वेन परिणेयानीति। ननु यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति स यथोक्तात्मयाथात्म्यद्रष्टा पर्यगात् परिप्राप्नोति कं ? शुक्रमकायमित्यादिविशेषणविशिष्टमात्मानमिति कर्मणि द्वितीयया शुक्रमित्यादेर्व्याख्या संभवतीति कुतो नपुंसकप्रयोगमभ्युपेत्य पुंलिगत्वेन परिणेयत्वमुच्यते। न च तत्र को मोहः कः शोक इति शोकमोहनिवृत्तिलक्षणपरमफलाभिधानानन्तरं स पर्यगादिति गमनोक्तिरसंगता, न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीति श्रुत्यन्तरविरोधाच्चेति वाच्यम्। कथं शोकमोहनिवृत्तिरिति जिज्ञासाप्रशमनौपयिकतया ब्रह्म सन् ब्रह्माप्येतीति श्रुत्यन्तरोक्तब्रह्माप्ययपर-

❀ भाष्यम् ❀

स पर्यगादित्युपक्रम्य कविर्मनीषीत्यादिना पुँल्लिङ्गत्वेनोपसंहारात्।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

तया श्रुतेर्व्याख्यानसंभवेनोत्क्रमणार्थाऽकल्पनेन दोषाभावात्। न च जुगुप्सा-भावहेतुरनात्मादर्शनं प्रथममन्त्र उक्तम्, शोकमोहाभावकारणं चात्मैवाभूदित्यद्वैतात्म-रूपेणावस्थानं द्वितीयमन्त्रेऽप्युक्तमिति कथं शोकमोहनिवृत्तिरिति जिज्ञासानुदया-त् स पर्यगादितिमन्त्रोत्थानानुपपत्तिरेवेति वाच्यम्। आत्मैवाभूदित्यत्र केवलात्म-स्वरूपेणावस्थानमात्रमुक्तम्। स पुनरात्मा यदि अशुक्रत्वसकायत्वादिमान् स्यात्तर्हि न शोकमोहनिवृत्तिसंभव इति यादृशात्मस्वरूपेणावस्थितो यादृशमात्मानं प्राप्तः तत्स्वरूपं वक्तव्यमिति शुक्रत्वाकायत्वादिविशेषणेनात्मस्वरूपवर्णनसाफल्यात्। न चैवं घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्तः। केवलमात्मस्वरूपवर्णनमेव कर्त्तव्यमिति स पर्यगादिति तत्प्राप्तिकथनवैफल्यमेव, आत्मस्वरूपवर्णनपरतयैव च भाष्यकारेण मन्त्रोत्थापनं कृतमिति वाच्यम्। यतो यद्यप्यात्मस्वरूपवर्णनमात्रं कर्त्तव्यमस्ति। तथापि स पर्यगादित्यस्य स परिप्राप्नोतीत्यर्थकरणे लिङ्गविपरिणामक्लेशं विनाऽन्वयश्च भव-त्यात्मस्वरूपवर्णनं च संपद्यत इति द्वितीयान्ततयैव व्याख्यातुमुचितत्वादिति पूर्वपक्षं परिहरन् नपुंसकप्रयोगं तस्य पुंलिङ्गत्वेन परिणेयत्वं च समर्थयति—स पर्यगा-दित्युपक्रम्य कविर्मनीषीत्यादिना पुंलिङ्गत्वेनोपसंहारादिति। न च स पर्यगाच्छुक्रादिलक्षणं ब्रह्म स एव ब्रह्मप्राप्तः कविर्मनीषी परिभूरित्यादि योज्यतामिति वाच्यम्। अर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्य इत्यस्यानुपपत्तेः। न हि परमात्म-प्रापकोऽयं प्रजापतिभ्योऽर्थविधाता। न च जीवात्मपरमात्मनोरैक्याद् ब्रह्म प्राप्तः परमात्मभावेन यथोक्तार्थविधाता भवितुमर्हतीति वाच्यम्। यावत्प्राप्यप्रापकभाव-कल्पना तावत्प्रापकत्वेनाभिमतस्य तदयोगात्। अन्यथा 'अनुपपत्तेस्तु न शारीरः' इत्यादिन्यायानां निर्विषयतापत्तिः स्यात्। आनन्दमयाद्यधिकरणानां बहूनामनुत्थानं स्यात्। जगद्व्यापारवर्जमित्यादि न्यायाच्च यथोक्तार्थविधातृत्वमपि कल्पयितुमशक्यमेव।

ननु कर्तृ विधया समुपात्तस्य स पर्यगादित्यस्य कविरित्यादिना न विशेषणम्। किन्तु कर्मविधयोपात्तस्य शुक्रादिलक्षणस्य ब्रह्मणः। न चैवं कविमित्यादि द्वितीयान्तप्रयोगस्तत्रापि दुर्वारः स्यादिति वाच्यम्। कर्मत्वेनोपात्तस्यार्थविधानकर्तृतया पुनरुपादानेन प्रथमान्तप्रयोगोपपत्तेः। न चैवं वाक्यभेदापत्तिरिति वाच्यम्। भव-न्मतेऽपि पर्यगादिति क्रियावाचकपदप्रयोगेण वाक्यद्वैतत्वस्य वारयितुमशक्यत्वात्। यः पर्यगात्स शुक्रमकायमित्याद्यन्वयस्तु प्रक्रमभङ्गादेवोपेक्ष्या। कर्त्तरि लकार इति वदद्भिर्वैयाकरणैरपि पाककर्त्ता देवदत्तो गच्छतीत्यर्थे पचति देवदत्तो गच्छतीति

जयमङ्गलाचार्यं विवरणम्

प्रयोगो नाभ्युपगम्यते। एकतिङ् वाक्यमिति सिद्धान्तात्। न च पचति भवति गच्छति भवति पश्य मृगो धावतीत्यनेकतिङामपि वाक्यत्वमुरीकृतमिति वाच्यम्। भावनामुख्यविशेष्यतयाऽन्वयाभ्युपगमेन पाकभावनाकर्तृकभवनार्थकतया पचति भवतीति धावनभावनाकर्मकदर्शनार्थतया पश्य मृगो धावतीति च प्रयोगयोरुपपत्तावपि प्रकृते परिगमनभावनामुख्यविशेष्यतया बोधस्यासम्भवात्तथाविधार्थस्याविवक्षितत्वाच्च वाक्यद्वैतत्वस्य दुरुद्धरत्वादिति चेद्? न, प्राप्यब्रह्मणः अनेजदेकमिति तदेजति तन्नैजतीति च नपुंसकेन प्रक्रान्तस्य कविर्मनीषीत्येवं सहसा पुंलिङ्गतया प्रयोगानुपपत्तेस्त्वन्मतेऽपि दुर्वारत्वात्। किं च तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधातीतिवद् याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्य इत्युपपत्तिप्रदर्शनमेव भवितुमर्हति। तत्र कविर्मनीषीत्यादिबहुतरविशेषणमनर्थकम्। न च यतः कविर्मनीषी अतोऽर्थान् व्यदधादिति योजनीयमिति वाच्यम्। उपपत्तिनिरूपकस्य स्वयं शेषत्वात्तस्यापि शेषतया उपपादकतया कविरित्यादि विशेषणस्वीकारे शेषशेषत्वापत्तिः, एकत्रोपपाद्यत्वोपपादकत्वयोर्विरुद्धयोः स्वीकारापत्तिश्च स्याताम्। आत्मयाथात्म्यं हि कवित्वापरलक्षणं ज्ञानस्वरूपत्वं परिभूत्वस्वयंभूत्वादिकं च। तदुपपादकतयाऽर्थान् व्यदधादित्युच्यते अर्थविधातृत्वोपपादकतया पुनः कवित्वादिकमुच्यत इति भवति विरुद्धधर्मद्वयमेकत्र विशेषणे। न च यतोऽर्थान् व्यदधादतः कविर्मनीषीति व्याख्यायत इति वाच्यम्। तर्हि शुक्राकायत्वाद्यात्मयाथात्म्यानुपपादनेन न्यूनता केन वार्यताम्। शुक्रत्वादिविशेषणवद्ब्रह्मोपपादकत्वे सर्वेषां विशेषणानां कर्मविशेषणतया वा प्रयोगो युज्यते कर्तृविशेषणतया वा सर्वेषां प्रयोगः संगच्छत इति, तत्र कर्मणि प्रथमास्वीकारापेक्षया नपुंसकस्य पुंलिङ्गतया परिणाम एव लघीयानिति भगवत्पादप्रदर्शित एव वेदार्थः।

यत्तूवटाचार्यः स पूर्वमन्त्रोक्त आत्मोपासकः शुक्रत्वादिलक्षणं ब्रह्म प्राप्नोतीति व्याख्याय तस्य फलविधया स एवात्मोपासकः कव्यादिस्वरूपः सन् अर्थान् विहितवानर्थैर्भोगं कृतवानित्यादि व्याचख्यौ। तन्न। को मोहः कः शोक इति शोकमोहपरिहारमभिधाय पुनरुपभोगं कृतवानिति शृण्वन्तो बाला अपि उपहसेयुः। न च शोकमोहनिवृत्तिलक्षणपरमफलप्राप्तिपूर्वावस्थाफलमिदमुपासनाकालीनम्। तदाहोव्वटः एवमात्मानमुपास्ते स पर्यगादित्यादि शोकमोहनिवृत्तौ च नोपासकत्वमिति वाच्यम्। यत उव्वटेनोपासनाकाल एव शोकमोहनिवृत्तिः स्वीकृता। तदाह पूर्वमन्त्रव्याख्यायां—शोकमोहावपरिज्ञाततत्त्वस्य भवतो नैकत्वमनुपश्यतो ध्यायतः इति। ध्यायत इत्यनेनोपासनाकालीनत्वमुक्तम्। तस्मात्पूर्वापरविरुद्धमुव्वटव्याख्यानमित्यधिकसमालोचनातो विरमामः। शाश्वतीभ्य इत्यादेरर्थान्तरं च तैस्तैरुक्तं

भाष्यम्

कविः=क्रान्तदर्शी सर्वदृक्। नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेत्यादि श्रुतेः। मनीषी=मनस ईषिता सर्वज्ञ ईश्वर इत्यर्थः।

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

योऽयामिति। स्नु प्रस्रवणे धातुः। स्नावयन्ति शरीरमिति स्नावाः शिराः क्रान्तमतिक्रान्तं नष्टमित्युपलक्षणं भूतभविष्यद्वर्तमानदर्शी ॥८॥

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

तद्व्याख्यावसर एव संक्षेपेण निरसिष्यामः।

दीपिकाकृतस्तु स पर्यगात् स ज्ञातवान्। किंविषया ज्ञातवान् शुक्रादिलक्षणं यदीदृक् तदेवाहमस्मीति। किं च कविरहमित्यादिस्वस्वरूपज्ञानप्रदर्शनायेति व्याचक्षते। परं तदपि बहुलाध्याहारक्लेशभूयिष्ठमित्युपेक्ष्यते। कविः क्रान्तदर्शन इति यास्कः। तदनुसारेण व्याचष्टे—क्रान्तदर्शीति। प्रकृतविवक्षितमर्थमाह—सर्वदृगिति।

क्रान्तपदस्य भूतार्थमात्रपरत्वात्सर्वदृगित्यर्थः कथं लभ्यत इत्यत आह टीकायाम्—उपलक्षणमिति। नष्टमात्रदर्शित्वे वर्त्तमानादिदर्शी कश्चिदपरो वक्तव्यः। स च श्रुत्यननुमत इत्याशयेन श्रुतिमुदाहरति भाष्ये—नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेति। केचित्तु क्रान्तं दर्शनं यस्येति नैरुक्तं विगृह्य अतीतानागतविप्रकृष्टविषयकं युगपज्ज्ञानमिति क्रान्तपदार्थं विवृण्वते। परे तु आक्रम्य पश्यतीत्यर्थे क्रान्तदर्शनपदम्। विश्वारूपाणीत्यादिसवितृदैवत्यमन्त्रव्याख्यानावसरे कविपदस्य क्रान्तदर्शनार्थकरणात्। तत्र सूर्यः किल घटादीन् स्वप्रकाशेनाक्रम्य पश्यतीति प्रसिद्धम्। एवमपि ब्रह्म स्वप्रतिबिम्बप्रकाशेनाक्रम्य सर्वाणि वस्तूनि प्रकाशयतीति कवित्वमक्षतम्। तथा च नान्योऽतोऽस्तीत्यादिश्रुत्युदाहरणमपि सुसंगतं भवति। कविः मनीषीत्युभयमपि मेधाविनामतया पठितं निघण्टाविति पौनरुक्त्यवारणाय योगमाश्रित्य व्याचष्टे—मनस ईषितेति। केनेषितं पतति प्रेषितं मन इति प्रश्नस्योत्तरे मनसो मन इत्युक्तत्वादिति भावः। ननु मनस ईषा मनीषेति शकन्ध्वादित्वात्पररूपे सवर्णो भवति टेः। मनीषीति तु मनीषा अस्यास्तीति विग्रहे व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्यये सति भवति। न तु मन ईषयतीत्याद्यर्थे मनीषिशब्दः। न च कोऽत्रार्थविशेष इति-वाच्यम्। बुद्धिर्मनीषा धिषणेत्यादिकोशात् मनीषोत्तरमिनिप्रत्यये बुद्धिमानिति निघण्टूक्तो वा मेधावीत्यर्थः पर्यवस्यति न तु प्रकृते विवक्षितमाण इति चेन्न। अकायमिति निषेधेन लिङ्गशरीरप्रतिषेधाल्लिङ्गशरीरैकदेशबुद्धिमत्त्वस्यानुपपत्तेः। तस्मान्मनसोऽपि प्रेरकः साक्षीत्यर्थ एव वाच्यः। न च शकन्ध्वादौ मनीषाशब्दपाठसत्त्वेऽपि मनीषिशब्दविरहात्पररूपानापत्तिरिति वाच्यम्। ईषधातुनिष्पन्नशब्द-

❀ भाष्यम् ❀

परिभूः सर्वेषां परि-उपरि भवतीति परिभूः। स्वयंभूः-स्वयमेव

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

मात्रे परे मनसष्टेः पररूपविधानात् । अन्यथा मनीषयेत्यादौ रूपपरिवर्त्तनात्पररूपं न स्यात् । किं च शकन्ध्वादेराकृतिगणत्वान्मनीषीत्यपि सिद्धयति । किं च महाभाष्ये पस्पशाह्निके चत्वारि वाक् परिमितेतिमन्त्रव्याख्यानावसरे मनस ईषिणो मनीषिण इत्येव व्याख्यातम् । न तु मनीषावन्त इति । एवं मनीषी मनसोऽपि प्रेरयितेत्यर्थे स्थिते सति कोऽत्र विवक्षितार्थो लभ्यत इति चेच्छृणु, मनस्तावत्स्वविषयाभिव्यव्यञ्जनसमर्थचैतन्ये ह्यात्मज्योतिषि सत्येव भवति । आत्मनैवायं ज्योतिषेत्यादिश्रुतेरिति सर्वज्ञत्वं, यत्किंचिन्मनोमात्रप्रेरकत्वपरित्यागेन मनःसामान्यप्रेरकत्वोक्त्या यो यत्क्रतुर्भवति स तत्कर्म कुरुत इति श्रुतेः सर्वकर्मप्रयोजकमनःप्रयोक्तृत्वेन सर्वेश्वरत्वं च सिद्धयति । ज्ञानक्रियाशक्तिद्वयस्यान्तःकरणीयविलक्षणभागद्वयोपाधिपरिगृहीतात्मचैतन्यप्रतिबिम्बरूपतायाः प्रागस्माभिर्व्याख्यातत्वाच्च । तदिदमखिलं हृदि कृत्वा व्याचष्टे—**सर्वज्ञ ईश्वर** इत्यर्थ इति । कविरित्यस्य सर्वदृगित्यर्थः प्रागुदीरितः स विशेषतः सर्वद्रष्टृत्वपरः । इह सर्वज्ञ इति अन्तःकरणप्रतिबिम्बविधया सर्ववस्तुप्रकाशकत्वेन सामान्यतः सर्वप्रकाशनपर इति भेदो द्रष्टव्यः । एवमेव यः सर्वज्ञः सर्वविदित्यत्र श्रुतावपि पदद्वयसार्थक्यं भाष्ये समर्थितमिति मन्तव्यम् । अनादरः परिभवः परिभावस्तिरस्क्रियेति कोशानुसारेण परिपूर्वकभूधातोस्तिरस्कारार्थतामङ्गीकृत्य सर्वेषां तिरस्कर्त्ता इति व्याख्यानं भद्रपुरुषाणां न मनोहरम् । वस्तुतो न्यक्करणं तिरस्कारः सोऽर्थश्च तिरस्कर्त्ता यदोपरि भवति तदैवेति उपरिशब्दस्योकारलोपेन परिभवादिशब्दो भवति । ततश्च परिभूता अधोभवन्तीति तिरस्कारार्थलाभ इत्याशयेन व्याचष्टे—**परि उपरि भवतीति** । न च परिभवादिशब्दे उपरिशब्दाङ्गीकारे तस्योपसर्गत्वविरहात् परिभवाणीत्यादौ णत्वादिक न स्यादिति वाच्यम् । यतो न स्यादेव । यत्र परीत्युपसर्गप्रयोगस्तत्रैव परिभवाणीति भवति । न चैवं तत्रोपरिशब्दविरहेण तिरस्कारार्थो न स्यादिति वाच्यम् । न स्यादेव । अत एव मनसा परिभाव्य किञ्चनेत्यादिश्रीहर्षप्रयोगे विचार एवार्थो न तु तिरस्कारः । मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्तोः परिभाव्य चेति भट्टोजिदीक्षितोऽपि विचार्येत्यर्थे परिभाव्येति प्रायुङ्क्त । अथ वा परीत्युपसर्गस्यैवार्थद्वयमङ्गीकृत्य समाधेयम् । तत्र **'परीति सर्वतोभावम्'** इति निरुक्तात् परिधावतीत्यादिप्रयोगाच्च सर्वतोभावार्थः सिद्ध एव । क्वचिदुपरीत्यर्थोऽपि । यथा परिभवति परिभव इत्यादौ । न चोपर्यर्थत्वं परेर्नास्ति परिभवादौ **'परेर्भुवोऽवज्ञाने'** इति सूत्राद् रूढ्या तिरस्कारार्थता न तूपरिभवत्वेनार्थादन्यस्य न्यक्कृतिरिति वाच्यम् । 'विरूपास इदृषयस्त

❀ भाष्यम् ❀

भवतीति। येषामुपरि भवति यश्चोपरि भवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयंभूः। स नित्यमुक्त ईश्वरो याथातथ्यतः सर्वज्ञत्वाद् यथातथाभावो याथातथ्यं तस्माद् यथाभूतकर्मफलसाधनतोऽर्थान् कर्त्तव्यपदार्थान् व्यदधाद् विहितवान् यथानुरूपं व्यभजदित्यर्थः। शाश्वतीभ्यः=नित्याभ्यः समाभ्यः-संवत्सराख्येभ्यः प्रजा-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

इद्गम्भीरवेपसः। ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजज्ञिरे' इति मन्त्रव्याख्याने यास्केन अग्नेरधिजज्ञिरे इति व्याख्यानात्। अधीत्युपरिभावमैश्वर्यं वेति स्वयमध्यर्थनिरूपणाच्च। अधि उपरि अधिकतेजस्त्वादग्नेर्जज्ञिर इति निरुक्तयोजना। यत्तु अग्नेरधि अग्नेः सकाशादिति निरुक्त व्याचख्युः। तदसत्। अधिशब्दस्य सकाशार्थाऽप्रसिद्धेः। उपर्याद्यर्थे स्वयंव्याख्याताधिशब्दस्य अप्रसिद्धसकाशार्थे यास्केन प्रयोक्तुमशक्यत्वाच्च। अत्र च ब्रह्मणः पारमार्थिकसत्ताकत्वेनोपरिभवत्वं बोध्यम्। भू सत्तायामिति स्मरणादुपरि भवतीत्यनेनोर्ध्वसत्तालाभादिति ध्येयम्। स्वयंभूरित्यस्य स्वयंसत्ताकत्वमितरसत्तानपेक्षसत्ताकत्वलक्षणं स्वयंभवतीत्यनेन प्रथमं व्याख्याय ततोऽप्यधिकार्थलाभं मन्वानः पुनर्व्याचष्टे—येषामुपरीति। एकमेवात्मतत्त्वं कार्यकारणरूपेण प्रतिभासते केवलाद्वैतं स्वयंभूरित्यनेन विवक्षितमिति भावः। एवं प्रत्यगात्मस्वरूपं सम्यङ् निरूपितम्। तत्सत्त्वोपपादकं याथातथ्यत इत्यादिकं वाक्यान्तरं व्याख्यातुं स पर्यगादित्यत्रत्यं स इति पदमनुवर्त्त्य व्याचष्टे—स इति। पर्यगादित्यादिविशेषणलभ्यमर्थं संक्षिप्याह—नित्यमुक्त इति। शुद्धचैतन्यलक्षणोऽशेषद्वैतशून्योऽनादिनिधनो नित्यमुक्तः। कथं तर्हि नित्यमुक्तोऽर्थान् व्यदधादित्यत आह—ईश्वर इति। मायोपाधिवशादिति भावः। याथातथ्यत एव कुतः? वैपरीत्यतोऽपि कदाचित् कुतो न भवति? माययापहृतज्ञानत्वं हि प्रसिद्धमित्यत आह—सर्वज्ञत्वादिति। जीवात्मनां मायापराधीनत्वाद्भवति माययापहृतज्ञानत्वं, न त्वीश्वरस्य, तस्या ईश्वरपराधीनत्वात्, प्रत्युत जीवस्याज्ञत्वे हेतुभूता ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वे हेतुर्माया भवति। तदुक्त पञ्चदश्यां वशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वर इति। यथाभूतकर्मफलसाधनत इति। यत्कर्म यच्च तत्फलं यच्च तत्साधनं तेषां कर्मफलसाधनानां यादृशी नियमस्थितिस्तामनतिक्रम्येत्यर्थः। कर्त्तव्यपदार्थान्=तानेव कर्मफलसाधनलक्षणान्। यस्य यः कर्त्तव्यपदार्थस्तदनुरूपं व्यभजदिति योजना। काभ्य इत्याह—शाश्वतीभ्य इति। संवत्सराः परिमाणविशेषविशिष्ट-

भाष्यम्

पतिभ्य इत्यर्थः ॥

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

कालात्मकास्तदधिष्ठातारो देवाः संवत्सरप्रजापतय इत्युच्यन्ते। ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरोऽजायतेत्यादिश्रुतिषु संवत्सरशब्दबोधिताः। न च तत्र संवत्सर इत्येक एव प्रजापतिरिति वाच्यम्। एकत्वस्याविवक्षितत्वात्। ततो रात्र्यजायतेति रात्रीणामनेकत्वेऽप्येकवचनप्रयोगात्। रात्रिशब्दोऽपि रात्र्यभिमानिनीं देवतामभिधत्ते अनेकासां रात्रीणां युगपदुत्पादानुपपत्तेः। ते च संवत्सरप्रजापतयः वर्त्तमानसमयप्रसिद्धदुन्दुभिदुर्मतिप्रभृतयः परिवर्त्तमानाः कालशरीरा भवन्ति। सर्वाण्यपि कर्मफलसाधनानि कालनिर्वर्त्यानीत्यविवादम्। न हि सोमयागे निष्पादितेऽन्येद्युरेव स्वर्गफलं भवति। तथा च साधनकालः कर्मकालः फलकालश्च विभक्त एवावतिष्ठते। लोकेऽपि कर्षणबीजवपनफलप्राप्तिकाला भिन्ना एवोपलभ्यन्ते। ज्येष्ठे कर्षणमाषाढे वपनमाश्विनादौ फलमिति। तत्रैतत्कालीनफलप्राप्तावेतत्काले कर्म कार्यम्। एतत्कालकृतकर्मण एतत्काले फलमित्येवं लोके वेदे च कर्मफलसाधनानां तत्तत्कालाख्यप्रजापतिभ्यो विभज्य प्रदाता परमेश्वर एवेत्यर्थः।

ननु संवत्सरप्रजापतयः संवत्सरपर्यन्तमेवाधितिष्ठन्तीति कथं शाश्वतीभ्य इति विशेषणम्। न चोपाधीनामनित्यत्वेऽपि उपधेयो महाकाल एक एवेति वाच्यम् तथा सति तदधिष्ठाता देवोऽप्येक एवेति समाभ्य इति बहुवचनानुपपत्तिरिति चेन्न। स्थूलसंवत्सरकालस्यानित्यत्वेऽपि देवतात्वादेव दिव्यं सूक्ष्ममपि शरीरं संवत्सरप्रजापतीनां विद्यते। तच्च कल्पान्तस्थायीति प्रजापतयः शाश्वता उच्यन्ते। यथाऽस्मदादिस्थूलशरीरस्यानित्यत्वेऽपि लिङ्गशरीरस्य नित्यत्वान्नित्यो नित्यानामित्यादिव्यवहारोपपत्तिः नित्यानां जीवानामपि नित्य इति। एवं प्रजापतीनामपि। गर्भजराजन्मादिविरहात्तु न तेषामनित्यकालशरीरत्वेऽपि दुःखाद्यापत्तिः। संवत्सरपर्यन्तं सस्थूलशरीरास्ते तदुत्तरं लिङ्गमात्रशरीरा दैव्यशरीरा वा अपि पुनः संवत्सरान्तरकालं प्राप्य सस्थूलशरीरा भवन्तीति।

यत्तु प्रजापतिभ्य इत्युपलक्षणम्। प्रजाभ्योऽपि व्यभजदित्याहुः। तन्न। प्रजापतिभिरेव प्रजानां कर्मफलादिविभाजनसंभवाद्, अन्यथा प्रजापतित्वानुपपत्तेः। उपलक्षणतया व्याख्याने प्रयोजनाभावाच्च। "यो वै स संवत्सरः स प्रजापतिः षोडशकल इति श्रुत्यन्तरात्समापदस्य प्रजापतिविशेषमात्रार्थत्वात्।

यदपि शाश्वतीभ्यः समाभ्य इति कल्पान्तस्थायित्वोपलक्षणम्। तथा च कल्पान्तपर्यन्तसंवत्सरपूगभोग्यानर्थान् स्वर्गादीन् व्यभजत्। अपाम सोममृता अ-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

भूमेत्यादिश्रुतेः सोमादियागकर्त्तॄणाममृतपदोपलक्षितकल्पान्तस्वर्गविभाजनकर्त्ता परमेश्वर एव। फलमत उपपत्तेरिति न्यायच्चेति। तदसत्। स्वर्गवन्नरकस्यापि ग्रहणप्रसङ्गेन कल्पान्तस्थायिनरकविभाजनार्थतया अपि स्वीकर्त्तव्यत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः। अर्थानित्यस्यानुपपत्तिप्रसङ्गात्। नरको ह्यनर्थो न त्वर्थः। अर्थ्यमानस्यैवार्थपदार्थतायाश्चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इत्यादौ दर्शनात्। न चात एवार्थपदान्नरकादीन् व्यभजादिति नार्थ इति वाच्यम्। स्वर्गनरकादिसकलफलदातृत्वस्यैव फलमत उपपत्तेरिति न्यायेन सिद्धान्तितया केवलस्वर्गमात्रविभाजनोक्त्यनुपपत्तेः। किं च शाश्वतीभ्य इति विशेषणं किमर्थम्? अल्पकालीनसुखादिफलविधातापि स एव परमेश्वर इति शाश्वतीभ्यः समाभ्य इति व्यर्थप्रयोग एव स्यादित्यर्थान्तरकारणेनैव तस्य सार्थक्यं वक्तव्यम्। स च प्रजापत्यर्थतया प्रदर्शित एवोपपन्नो भवति।

अन्ये तु शाश्वतीभ्यः समाभ्य इति शाश्वतीषु समासु इत्यर्थः। विभक्तिव्यत्ययश्छान्दसः। याथातथ्यतो याथार्थस्वरूपानर्थान् यादृशं रूपमर्थानां तादृशरूपेणार्थान् स परमात्मा व्यदधाद् विदधाति वर्त्तमानार्थे लुङ्। अनादिकालतोऽनन्तकालपर्यन्तप्रतिनियतस्वरूपेणार्थान् विदधातीति सरलार्थः। तथा च श्रुत्यन्तरं—धाता यथापूर्वमकल्पयद् दिवं च पृथिवीं चेत्यादीति व्याचक्षते। तन्न। समापदवैयर्थ्यात्। शाश्वतमर्थान् विदधातीत्येतावतैवोपपत्तेः। न च श्रुतेः पर्यनुयोगोऽयुक्त इति वाच्यम्। अर्थनिर्णये सत्येन पर्यनुयोगायोगस्वीकारात्। समापदस्य संवत्सरप्रजापत्यर्थतायाः पूर्वं दर्शितत्वाद्विभक्तिव्यत्ययकालव्यत्ययादिक्लेशबाहुल्येनोक्तार्थस्य पक्षान्तरे स्थिते निर्णयायोगात्।

एतेन शाश्वतीभ्यः समाभ्यः—अनन्तकालार्थे भोग्यपदार्थान् परमात्मा विहितवानित्यपि परास्तम्। समापदवैयर्थ्यात्। विधत्ते विधास्यति चेति भूतमात्रप्रयोगासांगत्यात्। अनन्तकालस्थायिविहितपदार्थासिद्धेः, सर्वानर्थान्स एव विधत्त इत्येतावतैवोपपत्तावनन्तपदस्यार्थविशेषतात्पर्याङ्गीकारे ज्ञानेनापि संसाराऽनिवृत्तेः श्रुतिविवक्षितत्वकल्पनापत्तेः, दीर्घकालार्थकरणेऽपि ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति तस्य तावदेव चिरमित्याद्यचिरश्रुतिस्मृतिविरोधापपत्तेश्च।

उवटाचार्यस्तु स जीवात्मा कविर्मनीषी मेधावी परिभूर्व्यापकः स्वयंभूर्ब्रह्मरूपश्च ज्ञानबलाद् भविता त्यक्तस्वस्वामिभावसम्बन्धैरर्थैः, तदेव ह्यर्थानां याथातथ्यरूपं यत्स्वस्वामिभावराहित्यं, कस्यस्विद्धनमित्युक्तत्वात्, तादृशैरर्थैरुपभोगं कृतवान्। शाश्वतीभ्यः समाभ्य इति तादर्थ्ये चतुर्थी अनन्तवर्षार्थमनन्तवर्षं

जीवनार्थमनन्तवर्षस्वस्वरूपस्थित्यर्थमिति यावत् व्यदधादिति कर्म च कृतवानित्यर्थः । ननु कर्मजाड्याल्लोकः कर्मवानेव भवति, कथं स्वस्वरूपस्थितिः । सत्यम् । आत्मसंस्कारकं तु कर्म ब्रह्मभावजनकं स्यात् । तस्मात्सोपि गच्छति शुक्रमकायं ब्रह्मेति व्याचख्यौ । अत्रेदं ब्रूमः । स पर्यगाच्छुक्रमकायं ब्रह्म प्राप्तवानिति प्रथममुक्तम् । स प्राक् ब्रह्मैव कविर्मनीषीत्यादिना परामृष्टः कथं परिभूर्भविता स्वयंभूर्भविता सोऽपि गच्छति शुक्रमकायं ब्रह्मेति व्याख्यायते ? । न च स पर्यगादित्यादि अपापविद्धमित्यन्तमेकं वाक्यं परिसमापितम् । ततश्च कविरित्यादिना पृथगेव किंचिदभिधीयते न तु पूर्वविशेषणविशिष्टस्य । तदाह अथात्मोपासनयुक्तस्य फलमाह यश्च कविरित्युवटेनेति वाच्यम् । यत उपभोगं कृतवानिति न फलम् । भुक्तसुखस्य पुरुषार्थत्वविरहात् । असिद्धस्यैवेष्यमाणत्वात् । उपभोगं करिष्यतीति तदर्थ इति चेन्न । तर्हि कर्म कृतवानित्यस्यापि कर्म करिष्यतीत्यर्थः स्यात् । व्यदधादित्येकधातुलभ्यत्वात् । न हि करिष्यमाणं कर्म पुरुषार्थः । अकृतकृत्यत्वात् । व्यदधादित्यस्योपभोगं कृतवानिति चाशब्दार्थः । याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्य इत्येकस्मिन् वाक्ये प्रतीयमाने वाक्यद्वयकल्पना चायुक्ता । एकेन व्यदधादित्यनेन भोगं कृतवान् कर्म च कृतवानित्यर्थद्वयस्वीकारे वाक्यभेदो दोषः । आवृत्तिदोषो वा । व्यदधादित्यस्य कर्म कृतवानित्येतावानर्थश्च लाक्षणिकः । श्रूयमाणमर्थानिति परित्यज्य कर्मणां विदधातिक्रियाकर्मत्वस्वीकारेण श्रुतपरित्यागोऽश्रुतकल्पना चेत्येवमादयो बहुतरदोषाः प्रविभान्ति । तस्माद्भगवत्पादव्याख्यानमेवात्र परमरणीयमिति ।

अत्रानन्तवर्षभोगार्थं भोग्यानार्थान् सृष्टवान् , अनन्तवर्षकर्मकरणार्थं कर्त्तव्यानर्थान् सृष्टवान् , अनन्तकालपर्यन्तसृष्टिक्रमप्रवर्त्तनार्थं चेतनाचेतनलक्षणपदार्थान् सृष्टवानित्येवंविधाः स्वस्वमनीषाकल्पिता मन्त्रार्थाः फल्गुत्वान्न पृथङ् निरस्ताः ।८।

इत्यष्टममन्त्रविवरणम्

इति प्रथमं ब्रह्मविद्याप्रकरणं समाप्तम्

—:०ঃ৹০:—

❀ भाष्यम् ❀

अत्राद्येन मन्त्रेण सर्वैषणापरित्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्ता प्रथमो

❀ आनन्दगिरीयटीका ❀

प्रकरणविभागं दिदर्शयिषुर्वृत्तमनुवदति-अत्राद्येनेति। यदुक्तं भास्करेण 'सर्वासूपनिषत्स्वेकं ब्रह्मविद्याप्रकरणं, ततः प्रकरणभेदकरण-

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

टीकायां प्रकरणविभागमिति। ईशावास्यमित्यादि सपर्यगाद्—व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्य इत्यन्तमेकं ब्रह्मविद्याप्रकरणम्। अन्धं तम इत्यादि नम उक्तिं विधेमेत्यन्तमपरं कर्मप्रकरणमित्येवं प्रकरणविभागमित्यर्थः। दिदर्शयिषुरिति। ननु किमर्थं प्रकरणविभागोऽङ्गीकरणीयो येन तं दिदर्शयिषति भाष्यकारः। न च वक्ष्यमाणदिशा सर्वाप्युपनिषदेकं ब्रह्मविद्याप्रकरणमिति भास्करमतप्रवेशापत्तिरिति वाच्यम्। अविरुद्धांशे भास्करमतस्वीकारे क्षतिविरहात। न हि भास्करेण यदुक्तं तद्विपरीतमेवास्माभिर्वक्तव्यमिति राजाज्ञास्ति। न चैवं ज्ञानकर्मसमुच्चयवादापत्तिरग्रे कर्मादेर्वक्तव्यत्वादिति वाच्यम्। यतो न कर्मादिकथनमात्रेण समुच्चयवादापातो भवति। तथा सति प्रकरणभेदकरणेऽपि प्रथमप्रकरणे कुर्वन्नेवेहेति कर्मप्रतिपादनात्कर्मसमुच्चयापत्तिः केन वार्यताम। भास्करो हि विद्यां चाविद्यां चेत्यत्र मुख्यां विद्यां गृहीत्वा समुच्चये मन्त्रतात्पर्यं वर्णितवानिति भवति तावदंशे तेन विरोधः। प्रकरणैक्येऽपि ज्ञानसाधनविधया कर्मप्रतिपादनमविरुद्धमेव क्रमसमुच्चयस्य सिद्धान्तेऽपि स्वीकारादिति प्रकरणविभागप्रदर्शनायासो विफल इति चेन्न। ईशावास्यमित्यादि नम उक्तिं विधेमेत्यन्तोपनिषद एकप्रकरणत्वे उपक्रमोपसंहारवैरूप्यादुपक्रमोपसंहारैकरूपतात्मकतात्पर्यग्राहकलिङ्गविरहान्नोपनिषदो ब्रह्मात्मैक्यप्रतिपादनपरत्वं सिद्ध्यति। अनेजदेकमित्यादेरभ्यासो वा यस्तद्वेदोभयं सहेत्येतदभ्यासो वेति च दुर्विवेकं स्यात्। एवं लिङ्गान्तरानिर्णयोऽपि। तस्मात्प्रकरणविभागसाधनमत्रावश्यकमिति युक्तमेव तद्दिदर्शयिषुत्वं भाष्यकृतः।

सर्वसूपनिषत्स्वेकं ब्रह्मविद्याप्रकरणमिति। सर्वासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्याप्रकरणमेव, न तु प्रकरणान्तरमित्यर्थः। यथाश्रुतं तु न संगतम्। सर्वासूपनिषत्सु मिलित्वा एकब्रह्मविद्याप्रकरणस्य केनाप्यनङ्गीकारात्। शाखादिभेदेन प्रकरणभेदस्यावश्यंभावात्। न च तदेवेदं ब्रह्मविद्याप्रकरणमिति प्रत्यभिज्ञानात् प्रकरणभेदे उपसंहारन्यायाऽप्रवृत्तेः शाखादिभेदो न प्रकरणभेदप्रयोजक इति वाच्यम्। तैत्तिरीये सृष्ट्यादिप्रक्रियया ब्रह्मावगमितम्, ईशकेनादावन्यथेति प्रकरणैक्यायोगात्। न हीशावास्ये सृष्टिप्रक्रियादिकं कश्चिदुपसंहरति। प्रतिपाद्यार्थैकत्वमात्रेणैकप्रकरणत्वे सर्वे

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

मनुचितमिति। तदसत्। प्राणाद्युपसानविधानस्याप्युपनिषत्सु दर्शनात्। न च तदपि ब्रह्मज्ञानाङ्गमिति वाच्यम्। पृथक् फलश्रवणात्।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

वेदा यत्पदमामनन्तीति श्रुतेः कृत्स्नस्य वेदस्यैकप्रकरणत्वं स्यात्। सर्वाप्युपनिषदेकं ब्रह्मविद्याप्रकरणमिति पाठान्तरम्। इशेत्यादि नम उक्ति विधेमेत्यन्ता सर्वाप्युपनिषत् कृत्स्नोपनिषदिति यावदेकं ब्रह्मविद्याप्रकरणमिति तदर्थः। अस्मिन् पाठे पूर्वोक्ता-संगतिर्नास्ति। तथापि एतन्निराकरणावसरे प्राणाद्युपासनविधानस्याप्युपनिषत्सु दर्शनादिति लिखितत्वात्तत्र वहुवचनदर्शनेन प्रकृतोपनिषदि च प्राणोपासनायाः स्पष्टवर्णनादर्शनेन च प्रथमप्रदर्शितपाठ एव टीकाकारस्येति निश्चीयते। प्रणादीति। 'प्राणो वाव संवर्गः' 'यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' इत्येवं छान्दोग्यादिषु प्राणाद्युपासनविधानात्। आदित्यो ब्रह्मेत्युपास्त इत्यादिसंग्रहार्थमादिपदम्। तदपि=प्राणाद्युपासनमपि। ब्रह्मज्ञानाङ्ग-मिति। मोक्षे फले जननीये कर्मवदेवोपासनमपि ब्रह्मज्ञानसहकारिकारणं, कर्मसमुच्-यवदुपासनासमुच्चयस्याप्यभ्युपगमादिति पक्षसमत्वमित्यर्थः। पृथक्फलश्रवणा-दिति। प्राणाद्युपासनस्य अन्नादत्वज्येष्ठत्वादिप्राप्तिप्रभृतीनि फलानि तत्र तत्र श्रूयन्ते। न हि तेषामर्थवादत्वमात्रं शक्यं वक्तुम्। अन्यथा अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादेरपि परस्परमङ्गाङ्गिभावः स्यात्। तत्र च फलपार्थक्यान्नाङ्गाङ्गिभावोऽत एव प्रकरणभेद-श्चेदिहापि फलपार्थक्यश्रवणेन नाङ्गाङ्गिभावः शक्यः स्वीकर्त्तुम्।

ननु संयोगपृथक्त्वन्यायेन दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यादिवत् स्वतन्त्रपुरुषार्थ-स्यापि प्राणाद्युपासनस्य ब्रह्मविद्याङ्गत्वमङ्गीक्रियतामिति चेन्न। दध्ना जुहोतीति वाक्यान्तरवद् उपासनाया अङ्गत्वप्रतिपादकवाक्यान्तरविरहात्। न च श्रुतिविर-हेऽपि प्रकरणप्रमाणेनैव तदङ्गत्वसिद्धिरिति वाच्यम्। प्रकरणैक्यस्याद्याप्यसिद्धत्वात्। न हि छान्दोग्योपनिषदेकेति तत्र प्रकरणमप्येकं, येन प्रकरणप्रमाणेन प्राणाद्यु-पासनाया अङ्गत्वं सिद्ध्येत्। तथा सति यजुर्वेदसंहितादिरकैक इति दर्शपूर्णमास-सोमयागादीनामप्येकप्रकरणत्वापत्तिरित्युक्तो दोषः।

नन्वङ्गत्वं प्रधानजनकत्वम्। दध्ना जुहोतीत्यत्र दध्ना होमं भावयेदित्यर्थः। तथा च होमजनकतया दध्नो होमाङ्गत्वम्। एवमुपासनादेरपि ब्रह्मविद्याङ्गत्वं ब्रह्म-विद्याजनकत्वलक्षणं सिद्धान्तेऽप्यभ्युपगम्यते। न च दध्ना जुहोतीति होमाङ्गत्वप्रति-पादकवाक्यवदुपासनया ब्रह्मविद्यां भावयेदित्यर्थकवाक्यान्तरविरहात् कथमङ्गत्वमिति वाच्यम्। यज्ञेन विविदिषन्तीत्यादिश्रुत्यन्तरेण तत्सिद्धेः। तत्र तपसेत्यनेनोपासनाया अपि ग्रहणादिति चेत्? सत्यम्! चित्तशुद्धिविक्षेपनिवृत्त्यादिद्वारा ब्रह्मविद्या-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

जनकत्वं यद्यप्यभ्युपगम्यते। तथापि नाङ्गत्वमुररीक्रियते। अङ्गत्वं हि न केवलं जनकत्वमीश्वरेच्छादेरपि यज्ञाद्यङ्गत्वापत्तेः। नाप्यसाधारणकारणत्वमङ्गत्वम्। पृथिव्यादेरप्यङ्गत्वापत्तेः। अन्तरिक्षादावग्निचयनप्रतिषेधात्पृथिव्या एवाग्निचयनाद्यसाधारणकारणत्वात्। किं तु सहकारिकारणत्वमेवाङ्गत्वम्। एककार्यकारित्वे सहकारिकारणत्वं भवति। तत्र होमस्तु काष्ठघृतादिभिरपि संपद्यत इति नियतपूर्ववर्त्तित्वलक्षणकारणत्वं दध्नि नास्ति। न च दधिकरणकहोमं प्रति दध्नो नियतपूर्ववर्त्तित्वादस्ति कारणत्वं तृणारणिमणि न्यायेन विशिष्यकार्यकारणभावस्य वक्तव्यत्वादिति वाच्यम्। दधिकरणकहोमत्वावच्छिन्नं प्रति दध्नः कारणतायाः प्रत्यक्षसिद्धतया तस्या विधिविषयत्वायोगात्। किन्तु होमजन्यादृष्टोत्पत्तौ दध्नः कारणत्वम्। नचैवं दधिकरणत्वेन होमादृष्टं भावयेदिति वाक्यार्थः स्यात्। तथा सति भावनाभाव्यनिर्वर्तकत्वेन करणान्वयःक्वचिदाश्रयतयाऽन्वयःदध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यत्र, तत्र दधिकरणकत्वाश्रयतया होमस्यान्वय इति मीमांसासमयेन विरोधः स्यात्, भवन्मते दध्ना जुहोतीत्यत्रापि होमस्यदध्याश्रयत्वेनैवान्वयात् होमादृष्टस्यैव दधिकार्यत्वादिति वाच्यम्। होममनिष्पाद्य दध्नोऽदृष्टोत्पादकत्वासंभवेनादृष्टजनकहोमे करणतया दध्यन्वयात्। दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यत्र तु दध्ना जुहोतीति वाक्यान्तरेण दधिकरणत्वस्य होमे प्राप्ततया तत्राश्रयत्वेनान्वयो युक्तः। न चैवमपि दध्ना होमं तद्द्वाराऽदृष्टं च भावयेदित्यन्वये वाक्यभेदापत्तिः। अदृष्टे तदनन्वये प्रागुदीरितदोषतादवस्थ्यमिति वाच्यम्। दध्ना जुहोतीत्यस्य स्वर्गजनकत्वयोग्यतावद्धोमं भावयेदित्यर्थस्यावश्यकत्वाददृष्टविशिष्टहोमस्यैव स्वर्गजनकत्वाद्विशिष्टजनकस्य विशेषणजनकताया अप्यर्थसिद्धत्वात्। न चादृष्टविशिष्टहोमो न हुधात्वर्थ इति कथमुक्तार्थलाभ इति वाच्यम्। प्राप्तानुवादकत्वाद् अग्निहोत्रं जुहोति अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यादौ स्वर्गजनकतायोग्यहोमस्यैव प्रस्तुतत्वात्तथाविधार्थसिद्धेः। शाब्दविधया मा भूद्वाऽदृष्टे दध्यन्वयः। तथापि वस्तुतो दध्नः करणस्य विरहे करणान्तरनिष्पन्नहोमस्यादृष्टजनकत्वं न भवत्येवेत्यङ्गत्वमदृष्टजनकतयैव दध्यादीनामिति। किं च प्रकरणप्रमाणेन प्राणोपासनादेर्ब्रह्मविद्याङ्गत्वे फलोक्तिरर्थवादः स्यात्। इन्द्राणी वा अग्रे देवतानां समनह्यत। साऽऽर्ध्नोत्। ऋद्ध्यै संनह्यति इति दर्शपूर्णमासप्रकरणपठितदर्भसंनहनफलसमृद्धिप्राप्त्यादेः श्रूयमाणस्याप्यर्थवादत्वात्। न च प्राणाद्युपासनफलोक्तिरर्थवादमात्रमिति शक्यं वक्तुम्। ब्रह्मलोकप्राप्त्यादेः सर्वैरेव प्राणाद्युपासनाफलत्वाङ्गीकारात्।

❀ आनन्दगिरीयटीका ❀

तेनापि व्याकृताव्याकृतोपासनसमुच्चयविधानस्य प्रकरणभेदेनैवेष्टत्वात्, व्याकृताव्याकृतोपासनस्यापक्रान्तत्वात् । तस्माद् यथा कर्मकाण्डेऽग्निहोत्रादिप्रकरणं भिन्नमेवेष्यते-भिन्नाधिकारत्वात्तत्तत्कर्मणः, तथोप-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

प्रकरणभेदं न मृष्यामीति चेत्तदपि नेत्याह—तेनापीति । भास्करेणापीत्यर्थः । व्याकृतेत्यादि । अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामित्यादि प्रथम कर्मोपासनयोः समुच्चय इति सिद्धान्तिमतम् । ज्ञानकर्मणोः समुच्चय इति भास्करमतम् । अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमित्यादि द्वितीयं मतद्वयेऽपि व्याकृताव्याकृतोपासनासमुच्चयपरम् । तच्च प्रकरणभेदेनैव भास्करेणाप्युपगम्यत इति प्रकरणभेदाऽसहिष्णुत्वं क्व खलु भास्करस्यापीत्यर्थः ।

ननु कथमेकस्यामुपनिषदि प्रकरणभेद इति तटस्थशङ्कां दृष्टान्तमुखेन समादधत् प्रकृतमुपसंहरति—तस्मादिति । एकस्मिन् कर्मकाण्डे परस्परविरोधरहितानामपि अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां प्रकरणानि भिन्नानि चेत् परस्परविरुद्धज्ञानोपासनादिप्रकरणानां भिन्नत्वे का तव परिदेवनेत्यर्थः । अग्निहोत्रादिप्रकरणमपि कुतो भिन्नमिष्यते इति जिज्ञासमानं प्रत्याह—भिन्नाधिकारत्वात्तत्तत्कर्मण इति । ननु कथं भिन्नाधिकारत्वं? कर्मजन्यफलस्वाम्यं ह्यधिकारः । अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामोयजेतेत्येवं स्वर्गस्यैकस्यैव फलत्वेन श्रवणात् । न च समिधो यजति तनूनपातं यजतीत्यादौ यजतिपदावृत्त्या यथा कर्मभेदः "एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं स्याद्" इति न्यायात् तथा स्वर्गकाम इति पदावृत्त्या स्वर्गोऽपि भिद्येतेति वाच्यम् । क्रियाणां साध्यत्वेन कर्तृकर्मादिभेदेन नानात्वेऽपि स्वर्गस्य सिद्धवस्तुनो नानात्वायोगात् । न हि नाना स्वर्गः क्वापि प्रसिद्ध इति चेन्न । स्वर्गस्यापि साध्यत्वेन क्रियातुल्यत्वात् । "यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्" इति सुखविशेषस्यैव स्वर्गपदार्थत्वात् । अन्यथा कश्चिद्यागोऽल्पायाससाध्यः, अपरो बहुलायाससाध्य इति फलतारतम्यविरहेऽधिकायाससाध्यकर्मणि प्रवृत्त्यनुपपत्तेः अप्रवर्त्तकत्वलक्षणमप्रामाण्यं वेदैकदेशस्यापद्येत । अत एव "पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोती"ति श्रुतेरन्यकर्मानर्थक्यशङ्कायां प्रकृतक्रतुसाध्यसकलफलप्राप्तिमात्रमर्थ इति "सर्वत्वमाधिकारिकम्" इत्यनेन सूत्रेण निर्णीय प्रकृतक्रतोरकरणे प्रकृतत्वस्यैवासिद्धेस्तत्कर्त्तव्यतां च साधयित्वा तर्हि पूर्णाहुतिवैयर्थ्यमित्याशङ्कायां "फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः फलविशेषः स्यादि"ति समाधिः कृतः । फलस्य कर्मनिष्पत्तेः कर्मभिर्निष्पत्त्यवश्यंभावात् तेषां प्रकृतक्रतूनां फलविशेषः फले विशेषः परिमाणतो

❀ भाष्यम् ❀

वेदार्थः। "ईशावास्यमिदं सर्वं" "मा गृधः कस्यस्विद्धनमि"ति। अज्ञानां जिजीविषूणां ज्ञाननिष्ठाऽसंभवे "कुर्वन्नेवेह कर्माणि

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

निषत्स्वपि भिन्नाधिकारत्वात् कर्माविरुद्धतद्विरुद्धविद्याप्रकरणभेदो न

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

न्यूनाधिकपरिमाणतः स्यात्। कथं? लोकवत्। यथा लोके निष्केण प्रस्थं व्रीहिं क्रीत्वा पुनर्निष्कान्तरेण प्रस्थान्तरक्रयणे मिलित्वा द्विगुणपरिमाणो व्रीहिर्लभ्यते तद्वदिति सूत्रार्थः। तथा च तत्तत्कर्मभिः प्राप्याः पृथक्पृथगेव स्वर्गा इति अधिकारभेदः सिद्धः।

उपनिषत्स्वपि भिन्नाधिकारत्वादिति। कर्तृत्वाद्यभिमानसद्भावासद्भावाभ्यामिति भावः। ननु विद्यां चाविद्यां चेत्यत्र विद्या समुपात्ता। ईशावास्यमित्यादिकापि विद्यैव। तथा सति कथं प्रकरणभेद इत्याशङ्क्य, नामैक्येऽपि विद्यापदार्थयोः स्वरूपभेदेन भिन्नत्वान्नैवमिति परिहरति—कर्माविरुद्धेति। एका कर्माविरुद्धा उपासनात्मिका, अपरा कर्मविरुद्धा ब्रह्मविद्यालक्षणेति तयोर्विद्ययोर्भिन्नत्वात्तत्प्रकरणभेदो युज्यत इति भावः।

सर्वैषणात्यागेन ज्ञाननिष्ठोक्ता इति कथं प्रथमो वेदार्थ इति जिज्ञासायां सर्वैषणात्यागबोधकमंशं ज्ञाननिष्ठाबोधकमंशं च निष्कृष्य दर्शयति भाष्ये—ईशेत्यादि। ईशावास्यमिदं सर्वमित्यंशेन ज्ञाननिष्ठोक्ता मा गृध इत्यंशेन सर्वैषणात्याग उक्त इति विवेकः।

यद्यपि टीकाकारेण तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा इत्यस्यैव सर्वैषणात्यागविधायकत्वं प्रागुदर्शितम्। तथापि भाष्यकारमते जगदाच्छादनरूपत्यक्तेनात्मानं पालयेथा इत्येवार्थं इति प्रागस्माभिः प्रदर्शितत्वात् मा गृधः कस्यस्विद्धनमित्येष एव सर्वैषणात्यागसूचकतया तद्बोधकः। अयमर्थः ईशावास्यमिदं सर्वमिति वाक्यमेव सर्वैषणात्यागपूर्वकसर्वात्मभावनालक्षणज्ञाननिष्ठाबोधकम्। तद्घटकीभूतसर्वैषणात्यागसूचको मा गृधः कस्यस्विद्धनमिति नियमविधिरिति। अज्ञानां जिजीविषूणामिति। असंभावितज्ञाननिष्ठानां कामिनामित्यर्थः। जिजीविषूणामिति सर्वैषणापरित्यागाऽसमर्थकामिपुरुषकथनमशक्त्वोपपादकतयोक्तम्। रागो लिङ्गमबोधस्येति वचनाद् रागिणां ज्ञानाऽसिद्धेः। कर्मनिष्ठाहेतुश्चाशक्त्वं कामित्वमित्युभयमपि ज्ञेयम्। द्वितीयो वेदार्थ इति। प्रसङ्गवशेनोपात्तो द्वितीयो वेदार्थ इत्यर्थः। प्रसङ्गः कथमित्यत आह—ज्ञाननिष्ठाऽसंभव इति। इत्थं च द्वितीयवेदार्थेन न प्रथमवेदार्थप्रकरण-

❀ भाष्यम् ❀

जिजीविषेदि"ति कर्मनिष्ठोक्ता द्वितीयो वेदार्थः । अनयोश्च निष्ठयोर्विभागो मन्त्रप्रदर्शितयोर्बृहदारण्यकेऽपि प्रदर्शितः । सोऽकामयत जाया मे स्यादित्यादिना अज्ञस्य कामिनः कर्माणीति । मन एवास्यात्मा वाग् जायेत्यादिवचनादज्ञत्वं कामित्वं च कर्म-

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

विरुध्यते । मन्त्रार्थे ब्राह्मणसंमतिं दर्शयितुमुपक्रमते—अनयोश्चेत्यादिना । तत्र वाक्ये कथमज्ञत्वमवगम्यत इत्याशङ्क्याह—मन एवेति । जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति कामयमानस्य सर्वथैव बाह्यो जायादिर्यदा न संपद्यते तदाध्यात्मजायादि-

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

विच्छेदापत्तिरिति ध्येयम् । अधिकमग्रे निरूपयिष्यामः । अनयोरिति । अनयोर्मन्त्रप्रदर्शितयोर्ज्ञानकर्मनिष्ठयोर्विभागो वृहदारण्यकेऽपि प्रदर्शितः । अपिनाऽत्र मन्त्रेऽपि सूचितः "मा गृध" इति "जिजीविषेदि"ति च परस्परप्रतिकूलार्थाभ्यां वाक्याभ्यामिति भावः । वृहदारण्यके कथं प्रकर्षेण दर्शित इत्यत आह—सोऽकामयतेत्यादि । कर्माणीतीति । प्रदर्शितमिति लिङ्गव्यत्ययेनानुषङ्गः ।

अज्ञस्य कामिन इति भाष्यम् । ननु सोऽकामयतेति प्रत्यक्षश्रुत्या कामित्वं सिद्धं, न त्वज्ञत्वम् । न च मा सिद्ध्यतु, कामवतः कर्मनिष्ठा एषणात्यागवतो ज्ञाननिष्ठेत्येतावन्मात्रस्य सिषाधयिषितत्वाद्, भाष्येऽज्ञस्येत्युक्तिस्तु फलतः प्रदर्शनमात्रमेवेति वाच्यम् । ज्ञानिनामपि रागाभाससंभवाद्, सोऽकामयतेत्यत्रानाभासरागसिद्ध्यर्थमज्ञत्वस्य विशेषणीयत्वाद्, एतेन रागो लिङ्गमबोधस्येत्यपि परास्तं, रागो वा रागाभासो वेति निर्णयस्य ज्ञानाज्ञानाभ्यामेव संभवादित्याशयेन चोदयति—टीकायां तत्र वाक्य इति । सोऽकामयतेत्यादिवाक्ये । मन एवेतीति प्रतीकधारणम् । इदमावर्त्तनीभम् । इत्याशङ्क्याह इति वचनकर्मतया, अग्रेऽध्यात्मजायादिसंपत्तिं दर्शयतीति दर्शनकर्त्तृतया च पृथक् प्रयोक्तव्यत्वात् । अध्यात्मजायादिसंपत्तिं दर्शयतीत्यानन्तर वागूजायेत्यादि इति प्रतीकधारणं पठनीयम् । "आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव । सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान् वै कामो नेच्छंश्च नातो भूयो विन्देत् तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति । स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते । तस्यो कृत्स्नता मन एवास्यात्मा वाग् जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तमि" त्यादि वृहदारण्यके । अत्र बाह्यजा-

❀ आनन्दगिरिय टीका ❀

संपत्तिं दर्शयति [वाग् जायेत्यादिना] एतच्चाज्ञत्वलिङ्गं, मन आ-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

यादिरहितस्यात्मानमकृत्स्नं मन्यमानस्य मन एवास्यात्मा वाग्जायेत्यादिना कृत्स्नताऽध्यात्मजायादिना संपादिता। कथमनेनाऽज्ञत्वं सिद्धयतीत्यत आह—एतच्चाज्ञत्वलिङ्गमिति।

नन्वयमुपासनविधिरिति कथमनेनाज्ञत्वसिद्धिः। न हि प्राणो ब्रह्मेति वचनचोदितप्राणब्रह्मदृष्टिमनुतिष्ठतोऽज्ञत्वं शक्यते वक्तुम्। फलमप्यस्योक्तं—तदिदं सर्वमाप्नोति य एवं वेदेति। अज्ञत्वं ह्यधिष्ठानस्वरूपज्ञानविरहप्रयुक्तम्। यथा रज्जुस्वरूपज्ञानविरहवतोऽयं सर्प इति। अत्र चेयं वागिति स्वरूपज्ञाने सत्येव तत्र जायादिदृष्टिर्विधीयते। एतेन स्वाप्नकामिनीदृष्टान्तोऽपि टीकाकारस्य परास्तः। तत्राप्यधिष्ठानमनोवच्छिन्नचैतन्याज्ञाननिबन्धनत्वात् स्वाप्नजायादेः। यदि चातथाभूतवस्तुनि तथात्वदृष्टयवष्टम्भनमात्रेणाज्ञत्वमभिधीयते तदा "उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिर" इत्यादिकमपि तथेति वाग्जायापर्यन्तागमनमप्यफलं स्यात्। किं च बाह्यो जायादिर्यस्य सर्वथैव न संपद्यते तस्य वागादौ जायादिकल्पनादज्ञत्वमस्तु स्वाप्नमनोविजृम्भितकामिन्युपभोक्तृवद्। यस्य बाह्यो जायादिर्विद्यते तस्य कर्मकर्त्तुः कथमज्ञत्वं सिद्धयेत्? तत्र स्वाप्नदृष्टान्तानुपपत्तेः। न च बाह्यजायादिमतो वाग्जायादिकल्पनाविरहेऽपि तादृशकल्पनायोग्यत्वमस्त्येव, दूरगतेन तेन कस्यचिद्विप्रलम्भकस्य तव जाया मृतेति वचनश्रवणे वाग्जायादिकल्पनासंभवादिति वाच्यम्। वाग्जायादिकल्पनायोग्यतायामवच्छेदकानिर्वचनात्। यदि चाज्ञत्वं तत्रावच्छेदकमित्युच्यते तदाऽज्ञत्वपूर्वकं वाग्जयादिकल्पनायोग्यत्वमवगम्यते वाग्जायादिकल्पनायोग्यत्वं चाज्ञत्वलिङ्गमिति तद्योग्यत्वज्ञानेऽज्ञत्वं गम्यत इत्यन्योन्याश्रयापातात्। अत्रोच्यते। स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यत इति श्रुत्यैव मन्यतिं प्रयुञ्जानया कर्मकर्त्तुरज्ञत्वमभिव्यज्यते। न हि वस्तुत आत्मनोऽकृत्स्नत्वमस्तीत्यकृत्स्नत्वमभिमानमात्रमिति श्रुत्यर्थस्य स्पष्टत्वात्। तादृशाकृत्स्नत्वाभिमानस्य तद्विरोधिकृत्स्नत्वबोधस्य चाज्ञानविलासत्वात्।

एतदुक्तं भवति। आत्मानं यः कृत्स्नं मन्यते स एव कर्मण्यधिकरोति नान्यः। कृत्स्नत्वं जायादिप्रयुक्तम्। परं तु वस्तुतो नात्मनोऽकृत्स्नत्वं, न वा जायादिप्रयुक्तं कृत्स्नत्वमिति अकृत्स्नत्वमानी जायादिप्रयुक्तकृत्स्नत्वमानीत्युभावप्यज्ञानिनावेव। तदुक्तं सोऽकामयत जाया मे स्यादित्यादि। अकृत्स्न एव तावन्मन्यत इत्यन्तम्। न चात्र श्रुतौ अकृत्स्न एव तावन्मन्यत इति स्वरूपकथनमात्रम्। न तु जायाद्यभावप्रयुक्ता अकृत्स्नता कर्मानधिकारप्रयोजिकेति वा जायादिसंपत्तिप्रयुक्तकृत्स्नता-

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

दिष्वात्मत्वाद्यभिमानस्याज्ञानकार्यत्वाद् । यथा च बाह्यकामिन्यलाभे सुप्तौ मनोविजृम्भितकामिनीमुपभुञ्जानोऽज्ञः प्रसिद्धस्तद्वद्‌यमपीत्यर्थः ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

कर्माधिकारप्रयोजिकेति वा श्रुतिविवक्षितमिति वाच्यम् । तथा सति तस्यो कृत्स्नता मन एवास्यात्मा वाग् जायेत्यादिना कृत्स्नत्वसंपादनायासवैफल्यापत्तेः । तथा च मन एवास्यात्मा वाग्जायेत्यादिवैज्ञानिकजायादिप्रयुक्तकृत्स्नत्वसंपादनान्निश्चितमिदमवगम्यते यद् जायादिप्रयुक्तकृत्स्नत्वाभिमान्येव कर्मण्यधिकरोतीति सिद्धमज्ञत्वं कर्मनिष्ठस्य ।

नन्वकृत्स्न एव तावन्मन्यत इति श्रुत्या यथोक्तरीत्या कृत्स्नमात्मानं मन्यमान एव कर्मण्यधिकरोतीत्यर्थो भवतु नाम । तथापि तत् कृत्स्नत्वं किंप्रयुक्तमिति न श्रुतौ नियमितम् । कृत्स्नत्वं हि द्विविधम् । जायादिप्रयुक्तमाभिमानिकं, स्वरूपज्ञानप्रयुक्तं वास्तविकं च । तत्र ये जायादिकं विना नात्मानं कृत्स्नं मन्वते ते जायादिं संपाद्यात्मानं कृत्स्नं कृत्वा कुर्वन्तु, जायाद्यलाभे वाग्जायेत्यादिवैज्ञानिकजायादिभिः कृत्स्नत्वं संपाद्य कर्म कुर्वन्तु । ये तु स्वरूपज्ञानेनात्मानं कृत्स्नं जानन्ति ते जायादिकं विनैव कर्म कुर्वन्त्वित्येवमेव श्रुतिव्याख्या संभवतीति चेन्न । यतो वाग जायेत्यादिवैज्ञानिकजायादिसंपादनमात्रेण जायादिप्रयुक्तकृत्स्नत्वमलोकसिद्धम् । न ह्याशामोदकमुपभुञ्जानस्य क्षुच्छान्तिर्भवति न वोदरकृत्स्नत्वानुभवः । तस्मात्कृत्स्नत्वमाभिमानिकमेव कर्मप्रयोजकमिति सिद्धयति । न तु स्वरूपज्ञानप्रयुक्तकृत्स्नत्वमपि । न च वास्तविकजायादिप्रयुक्तकृत्स्नत्वविरहे स्वरूपज्ञानप्रयुक्तकृत्स्नत्वविरहे च वाग्जायेत्यादिश्रुतिविहितं वाचनिकं कृत्स्नत्वं कर्मप्रयोजकमित्येव श्रुत्यर्थं इति नाभिमानिकत्वेन विशेषरूपेण कृत्स्नत्वलाभसंभव इति वाच्यम् । अकृत्स्न एव तावन्मन्यत इति लौकिकाऽकृत्स्नताप्रतियोगिलौकिककृत्स्नतैवेति श्रुत्यैव लाभात् । अन्यथा मन्यतिप्रयोगवैयर्थ्यापत्तेः । अकृत्स्न एव तावद्भवतीत्येव वक्तव्यतापत्तेः । तथा च जायाद्यभावप्रयुक्ताऽकृत्स्नताप्रतियोगिकृत्स्नता यथोक्ताकृत्स्नतासमकक्षत्वादज्ञानपरिणामभूतैवोपतिष्ठत इति सैव जायादिभिः संपादनीया, जायादिविरहे च सैव वाचनिकी संपादनीयेति कर्मप्रयोजकतयाऽज्ञानपरिणामभूतकृत्स्नताया एव प्राप्तेः । यथा बाह्यदीपधूपाद्युपहारप्रयुक्तं पूजाकृत्स्नत्वं बाह्यधूपादिविरहे सांकल्पिकधूपादिभिः संपाद्यते, न तु तत्र किंचिदपरं कृत्स्नत्वं तद्वत् ।

ननु मन्यतिप्रयोगादज्ञानपरिणामभूता अकृत्स्नता, तत्प्रतियोगि चाज्ञानपरिणामभूतं कृत्स्नत्वं, कर्मप्रयोजकं न तु वास्तविकमिति युक्तम् । परं तु वाग् जायेत्यादिवैज्ञानिकजायादिभिः संपाद्यमानं कृत्स्नत्वं पूर्वोक्तकृत्स्नत्वप्रतिनिधिभूत-

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

मेव भवितुमर्हति, न तु तदेव। वास्तविकजायादिभिर्व्यावहारिककृत्स्नत्वोपपत्तेः। वैज्ञानिकजायादिभिस्तु वाचनिककृत्स्नत्वमेव भवति, न तु व्यावहारिककृत्स्नत्वम्, वाचनिककृत्स्नत्वं प्रतिनिधिरिति यावत्। तच्च ज्ञानिनामपि संभवति। ज्ञानिभिरपि वागादौ जायादिचिन्तनस्य कर्त्तुं शक्यत्वात्तैरपि वाचनिककृत्स्नत्वस्य संपादयितुं शक्यत्वात्। तस्मादज्ञत्वमेव कर्मनिष्ठस्येति कथं घटत इति चेन्न। स्वतः सिद्धपरिपूर्णत्वलक्षणकृत्स्नत्वज्ञाने सति जायादिप्रयुक्तकृत्स्नतासंपादने प्रवृत्त्यसंभवाद् दूरतो वैज्ञानिकवाग्जायादिप्रयुक्तकृत्स्नतासंपादने। न हि सर्वतः संप्लुतोदके सागरे खेलन् मरीचिकाविभ्रमजन्यजलेन कृत्स्नतां संपादयितुं कोऽपि प्रवर्त्तते। तस्माद्वास्तविककृत्स्नत्वाववोधवान् स्वात्मनि सागरोपमे बाह्यजायादिप्रयुक्तं वा वाग्जायादिप्रयुक्तं वा कृत्स्नत्वं नैव संपादयितुं प्रयतेतेति तादृशकृत्स्नत्वसंपादनपरायणोऽज्ञ एव भवितुमर्हति। किं चाकृत्स्न एव मन्यते तस्यो कृत्स्नतेति तत्पदेन पूर्वोक्ताऽकृत्स्नाभिमानिन एव परामर्शाज्ज्ञानिनो वाचनिकं कृत्स्नत्वं न श्रुतेरभिमतमेव। किन्त्वकृत्स्नत्वाभिमानिन एव वाचनिकमपि कृत्स्नत्वम्। तथा च जायादिप्रयुक्ताज्ञानपरिणामकृत्स्नत्ववान्, तादृशाज्ञानसमानाधिकरणवाचनिककृत्स्नत्ववांश्च कर्मण्यधिकरोतीति कर्मनिष्ठस्याज्ञत्वं निश्चितमवगम्यत इति भाष्यार्थः।

टीकाकारस्तु समाधिलाघवाद् वाग्जायादिप्रयुक्तं कृत्स्नत्वं स्वाप्नसममङ्गीकृत्य व्याचख्याविति द्रष्टव्यम्।

नन्वकृत्स्न एव तावन्मन्यत इत्यकृत्स्नाभिमानिनः कर्मानधिकारमात्रं द्योत्यते न तु कृत्स्नत्वभिमान्येव कर्माधिकारीत्यपि। अभिमानं विनापि केवलं जायादिसद्भावमात्रेण कर्मप्रवृत्तिसंभवात्। न चैवं वाग् जायेत्यादिवैज्ञानिकजायादिसंपादनवैफल्यं स्यादिति वाच्यम्। तस्योपासनाप्रयोजकत्वात्। तदिदं सर्वमाप्नोति य एवं वेदेति फलश्रवणेनोपासनाविधेः स्पष्टत्वात्। न वा वाग्जायेत्यादिसंकल्पनमात्रेण कश्चित् कर्मण्यधिकरोति। पत्न्यवेक्षणादिकर्मणां वैज्ञानिकवाग्जायादिभिरसंभवात्। किं च चक्षुर्मानुषं वित्तमिति श्रुतम्। न हि चक्षुर्वित्तेन ब्राह्मणदक्षिणा दातुं शक्या। न वा यज्ञसामग्री क्रेतव्या क्रेतुं शक्या। न च तस्यो कृत्स्नता इत्यनेन कृत्स्नत्वं संपाद्यमुच्यते न त्वकृत्स्नत्वाननुसन्धानमात्रम्। अत एव कर्मण्यपि कृत्स्नत्वं सम्पाद्यमर्थाल्लभ्यते। न त्वकृत्स्नत्वाननुसन्धानमात्रम्। अत एव द्विजातिरहं न काणकुब्जत्वाद्यनधिकारप्रयोजकधर्मवानित्यात्मानं मन्यत इति उपोद्घातभाष्येऽपि मन्यत इत्युक्तम्। न ह्यशुचित्वानुसन्धानाभावमात्रं सन्ध्याप्रयोजकं, किन्तु शुचित्वानुसन्धानमिति च प्राभाकरादयः। मम पत्नीयमित्यनुसन्धानविरहे पत्नीसत्त्वेऽपि कर्मानुपपत्तेश्चेति वाच्यम्। एवमप्यत्र नास्त्यन्यतरनिर्णायकस्तर्कः। जायानुसन्धान-

❁ भाष्यम् ❁

निष्ठस्य निश्चितमवगम्यते। तथा च तत्फलं सप्तान्नसर्गः,

❁ आनन्दगिरीय टीका ❁

तेषां च कर्मणां फलं संसाराप्तिरेवेत्यपि तत्रैव दर्शितमित्याह—तथा चेति। एकं साधारणमन्नं यदिदमद्यते, द्वे देवानां हुतप्रहुते दर्शपूर्णमासौ वा, त्रीणि स्वस्य भोगसाधनानि मनोवाक्प्राणलक्षणानि, पश्वर्थमेकं तत्पय इति सप्तान्नसर्गो दर्शितः श्रुत्या—"यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पितेत्यादिना। अत्रैकैको यजमान एव विहितप्रति-

❁ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❁

शुचित्वानुसन्धानादिकं भवतु तत्र तत्र प्रयोजकम्। तथापि जायादिप्रयुक्तकृत्स्नत्वानुसन्धानमावश्यकमित्यत्र न विनिगमनां पश्यामः। अथ वा आत्मकृत्स्नत्वज्ञानवत्वोऽपि लेशाविद्याप्रयुक्तं जायादिप्रयुक्तकृत्स्नत्वानुसन्धानं भवितुमर्हति। आरोपितविप्रत्वादिकमादाय लोकसंग्रहिणां कर्मदर्शनाच्च। तस्मात्कर्मनिष्ठस्याज्ञत्वमिति यथोक्तश्रुत्या दुःसाधमिति यदि कश्चिद् ब्रूयात् तर्हि तं कर्मफलकथनपरा श्रुतिरेव प्रतिब्रूयादित्याशयेनाह—भाष्ये—तथा च तत्फलमिति।

ज्ञानिनामसंभावितं स्वीकर्त्तुमशक्यं कर्मादिफलं सप्तान्नसर्गं विविच्याह—टीकायाम् एकं साधारणमित्यादि। हुतमग्नौ हवनम्। प्रहुतं हुत्वा बलिहरणम्। मेधया=उपासनलक्षणया। वाग्जायेत्यादिरुपासनैत्र। तपसा=कर्मणा बाह्यजायादिप्रयुक्तेन। सप्तान्नानि—यथोक्तानि। साप्तविध्येन प्रविभज्यमानं जगदिति यावत्। यदजनयत् पिता—यजमानः। न तु प्रजापतिः। अप्रकृतत्वात्। तथा चेदं यजमानकृतकर्मणां फलमभिहितमिति भावः। ननु कथं यजमानस्य पितृत्वं, न हि सर्वं जगद्यजमानो जनयतीति तत्राह—अत्रैकैक इति। न हि हिरण्यगर्भादयोऽपि निरपेक्षतया जगत्स्रष्टुमीशते वैषम्यनैर्घृण्याद्यापत्तेरिति कर्मप्रयुक्तत्वात्सर्वस्य जगतो यजमानस्य पितृत्वं सिद्धम्।

ननु प्रत्येकयजमानस्य पितृत्व जगत्स्रष्टृत्वात्मकमनुपपन्नम्। ब्रह्माण्डानामानन्त्यादनन्तब्रह्माण्डभोक्तृत्वानुपपत्तेः। न च कालस्यानाद्यनन्तत्वात्सर्वेषु ब्रह्माण्डेषु परिभ्रमन्नेकैको यजमानस्तत्तद्ब्रह्माण्डेषु भोगान् भुङ्क्त इति युक्तं तत्तद्यजमानकर्मजन्यत्वं सर्वेषां ब्रह्माण्डानामिति वाच्यम्। अनन्तस्य परिच्छेदायोगात्। परिच्छेदे वाऽनन्तत्वानुपपत्तेः। ब्रह्माण्डेषु च प्रत्येकमनन्ताः पदार्थाः कथं यजमानेन भुज्यन्ताम्। उत्पन्नविनष्टानामनन्तानामर्थानां चिन्तनमात्रस्याप्यसंभवादिति चेद्? मेवम्। प्रत्येकपदार्थानामनन्तब्रह्माण्डैः सह साक्षात्परम्परया वा सम्बन्धोपगमात्।

भाष्यम्

तेष्वात्मभावेनात्मस्वरूपावस्थानम् । जायाद्येषणात्रयसंन्यासेन

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

षिद्धज्ञानकर्मानुष्ठानात् सर्वस्य संसारस्य साक्षात्पारम्पर्याभ्यां जनक-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

परस्पराकर्षणप्रयुक्तविलक्षणस्वभावस्थितिमत्त्वाद्भुज्यमानपदार्थानां परम्परया भोग-प्रयोजकत्वं सर्वत्राक्षतमिति भोगप्रयोजकस्य सर्वस्य कर्मजन्यत्वमपि निर्विवादमेव।

यजमान इति च कर्मानुष्ठातृपरम्। न तु यागकर्तृपरमेव। विहितप्रतिषिद्धेत्युभयोर्ग्रहणेन प्रतिषिद्धकर्तुर्यजमानत्वायोगात्। न हि कलञ्जभक्षणादिनिषिद्धकर्मकर्त्तुर्यजमानत्वं संभवति। न च कदाचिन्निषिद्धकर्मकर्तुरपि कदाचिद्विहितकर्मकर्त्तृत्वसत्त्वाद्यजमानत्वमक्षतमिति वाच्यम्। यत्कालावच्छेदेन निषिद्धाचरणं तत्कालावच्छेदेन यजमानत्वविरहात्। यजमानत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वविवक्षणे वा वरं कर्मकर्त्तृत्वोपलक्षणमेव। विहितप्रतिषिद्धज्ञानकर्मानुष्ठानादिति। ज्ञानमुपासनम्। तत्र विहितमश्वपृष्ठ्युद्दष्ट्यादि। निषिद्धं प्रेतभूताद्युपासनं तामसं परदारचिन्तनादिकं वा। उपासनस्य कर्मविशेषत्वेऽपि मानसत्वात्पृथगुपन्यासः।

ननु ज्ञानमत्र नोपासनमात्रं, किन्तु बोधात्मकमपि। यद्वा ज्ञानं बोध एव। उपासनं कर्मपदेनापि संग्राह्यम्। न च विहितनिषिद्धज्ञानाऽप्रसिद्धिः। "नाञ्जयन्तीं स्वके नेत्रे न चाभ्यक्तामनावृताम्। न पश्येत् प्रसवन्तीं च तेजस्कामो द्विजोत्तमः" 'परनिन्दां न शृणुया' दित्येवं प्रतिषिद्धज्ञानस्य आज्यमवेक्षेत इत्यादिविहितज्ञानस्य च प्रसिद्धत्वादिति चेन्न। अक्षिण विवृते वस्तुनि च संमुखस्थिते प्रतिषेधसहस्रेणापि ज्ञानस्य वारयितुमशक्यतया अदर्शनसंकल्पविधानस्य दर्शनानुकूलव्यापारविशेषप्रतिषेधस्य वा नाञ्जयन्तीमित्यादिशास्त्रवाक्यविषयत्वात्। आज्यमवेक्षेतेत्यादावपि आज्यावेक्षणानुकूलव्यापार एव विधिविषयः। न चैवमन्धादेरप्यधिकारः स्यात् अवेक्षणानुकूलव्यापारस्य नेत्रचालनादेस्तैरपि कर्तुं शक्यत्वादिति वाच्यम्। फलोपहितव्यापारस्य विधिविषयत्वात्। अन्धादीनां फलोपधानविरहान्न तदीयनेत्रचालनादेर्विधिविषयत्वमिति। तस्माज्ज्ञानं न विधिप्रतिषेधविषय इति सिद्धान्तः।

सर्वस्य संसारस्य=सर्वस्य जगतः।

भाष्ये तेष्वात्मभावेनात्मस्वरूपावस्थानमिति। तेषु सप्तान्नेषु सप्तधा प्रविभज्यमाने जगति आत्मभावेन=अहंममाध्यासेन आत्मस्वरूपस्य यदवस्थानं तत्फलमिति योजना। आत्मन्यात्मभावेनात्मस्वरूपस्यावस्थानं मोक्षः, अनात्मन्यात्मभावेनात्मस्वरूपस्यावस्थानं च संसारः।

❀ भाष्यम् ❀

चात्मविदां कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्येनात्मस्वरूपनिष्ठैव दर्शिता किं प्रजया करिष्यामो येषां नोयमात्मायं लोक इत्यादिना ।

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

त्वात् पितोच्यते । तेषु च सृष्टेष्वन्नेषु तस्य पितुरहमिदं ममेदमित्यात्मत्वाध्यासेन मनआदिष्वितरेषु च सम्बन्धाध्यासेनावस्थानं संसारः प्रसिद्ध इत्यर्थः । एवं मन्त्रप्रदर्शिते निष्ठाद्वये ब्राह्मणसंमतिं दर्शयित्वा

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

व्याचष्टे टीकाकारः—तेषु चेत्यादि । आत्मत्वाध्यासेनेति । अहंकारे इत्यादिः । मन आदिष्वितरेष्वित्युत्तरं पाठात्तावत्पाठास्तित्वं वा कल्प्यम् । तेषु चेत्यादिटीकानुसारेण केचिद्भाष्यपाठमेवं कल्पयन्ति— 'तेषु च तस्यात्मभावेनावस्थानम्' इति । इत्थं च तेषु चेत्यस्य सृष्टेष्वन्नेष्विति टीका । तस्येत्यस्य पितुरिति, आत्मभावेनेत्यस्य अहमिदं ममेदमिति स्वरूपाभिनयः । अहमिदमित्यस्यात्मत्वाध्यासेनेति विवरणम् । ममेदमित्यस्य सम्बन्धाध्यासेनेति विवरणम् । अवस्थानमिति मूलशब्द एव । फलत्वं स्फुटयितुमाह—संसारः प्रसिद्ध इतीति योजनाऽञ्जस्येनोपपद्यत इति च वदन्ति ।

एवं विभक्तकर्मनिष्ठां बृहदारण्यकप्रदर्शितां निरूप्य तत्प्रदर्शितामेव ज्ञाननिष्ठां विभक्तां निरूपयति भाष्ये जायादीति । ननु निष्ठाद्वयं प्रदर्शितं बृहदारण्यक इत्येतावन्मात्रमायातं, निष्ठयोर्विभागो दर्शित इति तु न विचारसह इति शङ्कमानं प्रत्याह—कर्मनिष्ठाप्रातिकूल्येनेति । प्रातिकूल्यं च किं प्रजयेत्याक्षेपे स्पष्टम् । कर्मनिष्ठायां जाया मे स्यादथ प्रजायेयेति प्रजाकामनादर्शनात् । तथा च श्रुत्यन्तरं—न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुरिति । अत्र त्यागपदसूचितज्ञाननिष्ठायां कर्मप्रजाधनानां सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति कर्मनिष्ठाप्रतिपादकश्रुत्युदीरितसाधनानां प्रायः सर्वेषां प्रतिक्षेपः कृतः । इत्थं च परस्परविरोधप्रदर्शनेन स्पष्ट एव निष्ठयोर्विभाग इति भावः ।

ननु मा गृध इति जिजीविषेदिति च निष्ठाद्वयविभागः स्पष्टः, परस्परप्रतिकूलार्थत्वात् । सोऽकामयतेति किं प्रजया करिष्याम इति च ब्राह्मणेऽप्युक्तविभागः प्रदर्शित इति स्पष्टतरो विभागो जातः । तदधुना ये तु ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनः ये तु कर्मिणः. कर्मनिष्ठा इत्येवं किं विभज्यप्रदर्शयतीत्याकाङ्क्षायां प्रकरणविभागं दिदर्शयिषुरिति यत्प्रथममभिहितं तं प्रकरणविभागं दर्शयतीत्याह—टीकायाम्—एवं मन्त्रेत्यादि । निष्ठाविभागं प्रदर्श्य प्रकरणविभागं दर्शयतीत्यर्थः ।

❁ भाष्यम् ❁

ये तु ज्ञाननिष्ठाः संन्यासिनः, तेभ्योऽसुर्या नाम त इत्यादिनाऽविद्वन्निन्दाद्वारेणात्मनो याथात्म्यं स पर्यगादित्येतदन्तैर्मन्त्रैरुपदिष्टम् । ते ह्यत्राधिकृताः, न कामिन इति । तथा च श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि "अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्" इत्यादि विभज्योक्तम् । ये तु कर्मिणः कर्मनिष्ठाः कर्म कुर्वन्त एव जिजीविषवस्तेभ्य इदमुच्यते—

❁ आनन्दगिरीय टीका ❁

प्रकरणविभागं दर्शयति—ये तु ज्ञाननिष्ठा इत्यादिना । अत्याश्रमिभ्य इति । उत्तमाश्रमिभ्य इत्यर्थः ।

❁ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❁

भाष्ये संन्यासितः एषणात्रय संन्यासिनः । ईशावास्यमित्यादिना प्रक्रान्ता इति शेषः । उपदिष्टमिति । तथा चात्रैव प्रकरणसमाप्तिरिति भावः । तेभ्य इति कुतः ? तत्राह—ते हि ज्ञाननिष्ठाः सन्यासिन एव अत्र=आत्मयाथात्म्ये । ननु कर्मनिष्ठानां कृतेऽप्ययमुपदेशोऽस्तु उपदेशे नाम का हानिरत आह—तथा चेति । अनधिकारिणामुद्दिश्य नोपदेशोऽपि संभवतीति भावः ।

अत्याश्रमिभ्य इत्यनेन कर्मनिष्ठात उद्गता विवक्षिता इत्याशयेन व्याचष्टे टीकायाम् उत्तमाश्रमिभ्य इति । न चाश्रमातीता अवधूता अपि ज्ञाननिष्ठाधिकारिण इति कथमुत्तमाश्रमिभ्य इति व्याख्यानमिति वाच्यम् । सिद्धज्ञाना एवावधूता भवन्तीति तेभ्य उपदेशानर्थक्यात् । संन्यस्य श्रवणं कुर्यादिति श्रवणोपयोगितया संन्यासशासनात् ।

इतः परं कर्मनिष्ठप्रकरणमित्याह भाष्ये—ये तु कर्मिण इति । एषणात्रयसंन्यासरहिता इत्यर्थः । तेन कर्मनिष्ठा इत्यत एवोपपत्तौ कर्मिण इति पृथगुपादानं किमर्थमिति नाशङ्कनीयम । ज्ञननिष्ठाः संन्यासिन इति प्रागभिहिततया संन्यासिविपरीतार्थस्येह वक्तव्यत्वात् । मन्त्रलब्धोऽयमर्थ इति सूचयन् कर्मिणः कर्मनिष्ठा इत्युक्तमेव मन्त्रार्थेन विवृणोति—कर्म कुर्वन्त एव जिजीविषव इति । एतेन कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेदिति मन्त्राक्षराणि स्मारितानि । कर्मेति बाह्यमानसोभयविधकर्मपरत्वादुपासका अपि ग्राह्याः ।

ननु मेधया तपसेति कर्मोपासनयोस्तपोमेधापदाभ्यां पृथगुपादानात् कथमुपासनायाः कर्मान्तर्भावः । यदेव विद्यया करोतीति कर्मतः पार्थक्येन विद्योपादानाच्च ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

तथा च मेधेति ज्ञानात्मिकैव मेधा । विषयभेदात्तु ब्रह्मज्ञानोपासनयोर्भेदः । तत्त्वज्ञानं ब्रह्मविषयकमुपासना तु देवताविषयिणीति । भवतु ज्ञानकर्मणोर्मध्यावस्थाऽत्रोपासनेति चेन्न । "द्वाविमावेव पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः । प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभाषित" इति मार्गद्वयावधारणात् तृतीयमार्गानुपपत्तेः । विषयभेदेन ज्ञानोपासनयोर्भेद इत्यप्यसमञ्जसम् । ब्रह्मोपासनाया अपि प्रसिद्धत्वाद् ब्रह्मज्ञानतदुपासनयोर्विषयभेदविरहेण भेदानापत्तेः । मध्यावस्थात्वं च निर्वक्तुमशक्यम् । तत्किं प्रवृत्तित्वनिवृत्तित्वोभयधर्माक्रान्तमित्यभिधीयते किं वा प्रवृत्तित्वनिवृत्तित्वोभयशून्यमिति । न द्वितीयः । गोत्वाश्वत्वोभयशून्यहस्तिनस्तृतीयत्वमिव मार्गस्यापि तृतीयत्वापत्तौ द्वित्वावधारणविरोधस्योपदर्शितत्वात् । न प्रथमः । प्रवृत्तित्वनिवृत्तित्वयोः परस्परविरुद्धतयैकत्र समाहारायोगात् । न च

> योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
> ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
> निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
> तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥
> यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
> न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥

इति भक्तियोगस्योपासनापरपर्यायस्य तृतीयमार्गत्वमभिहितम् । ज्ञाने न्यासिनामिति कर्मणि कामिनामिति च विरोधमभिधाय न निर्विण्णो नातिसक्त इति उभयाभावो भक्तियोगेऽभिहित इति वाच्यम् । नातिसक्त इत्यत्रातिपदेन यत्किंचिदासक्तेर्भक्तियोगिनां सूचनेन तस्य कर्मयोगान्तर्भावावश्यकत्वात् । प्रेमलक्षणा भक्तिस्तु यद्यपि न कर्मात्मिका तथापि सा फलभूता न साधनमिति भक्ताः संगिरन्ते । आत्मानन्दानुभूतिर्वाऽऽमेच्छा वा सेति वेदान्तिनः । इह तु मार्गकथनावसरे न तदुपस्थितिः । किन्तु भगवद्ध्यानधारणादिरेवेति तस्य मानसव्यापारात्मकत्वमव्याहतमेव । इत्थं चाग्रे कर्मोपासनयोरुभयोरपि प्रतिपादनसत्त्वेऽपि ये कर्मिणस्तेभ्य इदमुच्यत इति भाष्यस्य नासंगतिः ।

अथात्र प्रकरणविभागसाधनार्थमेतावतः प्रयासस्य नास्ति प्रयोजनम् । फलभेदोक्त्यैव प्रकरणभेदसिद्धेः । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा इत्यात्मरक्षणं फले ज्ञाननिष्ठायाः । नाशुभं कर्म लिप्यते स्वर्गादिप्राप्तिर्भवतीति कर्मनिष्ठायाः फलम् । न हि परस्परविरोधोऽपि प्रकरणविभागे बीजम् । परस्परविरोधविरहवतोरप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासयोः प्रकरणभेदेन विभागस्थितेः । इहापि कर्मोपासनसमुच्चयप्रकरणमेकं व्याकृताव्याकृतोपासनासमुच्चयप्रकरणमपरमिति प्रकरणविभागः स्थितः ।

❀ जयमङ्गलाचार्यं विवरणम् ❀

न च तयोः परस्परविरोधो विद्यते । न वा तत्प्रकरणद्वयविभागप्रदर्शनाय कोऽप्यायास आस्थीयते । फलभेदेनैव प्रकरणविभागसिद्धेरिति चेत् ? न । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा इति न कर्म लिप्यते नर इति चैकफलमेवाभिधीयते फलद्वयं वेति निश्चयविरहेण प्रकरणविभागविचारावश्यकत्वात् । टीकाकृन्मते च त्यागस्य स्तुतिपरतया भुञ्जीथा इत्युक्तिरिति न ततो ज्ञानफलप्रतीतिरेव । भुञ्जीथा भोगं कुर्वीथा इति च वहवः । न कर्म लिप्यत इति च नाशुभं कर्म लिप्यते पुण्यफलेन स्वर्गो लभ्यत इत्यादिरर्थः परैर्नाङ्गीक्रियते । किन्तु नैष्कर्म्यं मोक्षलक्षणं भवतीत्येव । तस्मात्फलभेदस्याऽस्पष्टत्वान्मीमांसयैव फलसाधनस्वरूपभेदं संसाध्य प्रकरणभेदः ससाधनीयः । प्रमाणान्तरपर्यालोचनलभ्यफलभेदोऽपि प्रकृतसाधनाय नालं भवतीति स्वरूपसाधनभेदविचारस्याप्यावश्यकत्वात् । तथा च युक्तमेवात्राधिकारिसाधनस्वरूपादिभेदविचारः प्रकरणविभागसाधनाय ।

कर्मोपासनासमुच्चयव्याकृताव्याकृतोपासनासमुच्चयप्रकरणविभागस्तु स्पष्टं फलभेदप्रदर्शनेनैव सिद्धत्वान्न विचारणीयोऽस्ति । न च अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते विनाशेन मृत्युं तीर्त्वासंभूत्यामृतमश्नुत इति तत्रापि फलैक्यात्प्रकरणविभागचिन्तनमावश्यकमिति वाच्यम् । शब्दैक्येऽपि फलयोरैक्यविरहात् । यथा ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेत्यादौ स्वर्गकामशब्दैक्येऽपि न स्वर्गैक्यम् । अन्यथा पृथक् पृथगुच्चारणवैयर्थ्यापत्तेरित्यन्यत्र विस्तृतम् । किं च द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्चेति वेदेषु मुख्यं प्रकरणद्वयमेव । अत एव भगवता भाष्यकृता प्रथमो वेदार्थः द्वितीयो वेदार्थ इति शब्दः प्रयुक्तः । तत्र प्रवृत्तिलक्षणाद्धर्माज्जन्ममृत्युसंसारचङ्क्रमणफलाद्विरक्तस्य ज्ञानप्राप्त्यर्थमुपनिषदो मुख्यरूपेण प्रवृत्ता इति प्रवृत्तिधर्मप्रकरणादेव विविच्य मुख्यतया निवृत्तिधर्मः प्रतिपादनीय इति तयोर्विभाग एव महता श्रमेण भाष्यकृद्भिः संपादितः । यश्च प्रवृत्तिमुख्यप्रकरणे कर्मोपासनासमुच्चयव्याकृताव्याकृतोपासनसमुच्चयाद्यवान्तरप्रकरणविभागः स नास्त्येव विशेषरूपेण मुमुक्षुभ्यः प्रदर्शनीय इति न तत्र यत्नः क्रियत इति ।

अत्रेदं बोध्यम् । निवृत्तिलक्षणधर्मः प्रथमो वेदार्थः ईशावास्यमित्यादिना निरूपितः । ततः प्रवृत्तिलक्षणधर्मो द्वितीयो वेदार्थः कुर्वन्नेवेत्यादिना दर्शितः । असुर्या नामेत्यादिसपर्यगादित्यन्तेन प्रथमवेदार्थं एवात्मयाथात्म्यप्रदर्शनेन विवृतः । अन्धं तम इत्यादि च द्वितीयवेदार्थवर्णनम् । तत्र ईशावास्यमितिमन्त्रोऽसुर्या नाम त इत्यत्रोत्क्रष्टव्यः प्रकरणनैरन्तर्यलाभाय । कुर्वन्नेवेति चान्धं तम इत्यत्रोत्क्रष्टव्यः । यद्वा कुर्वन्नेवेति मन्त्र एक एवोत्क्रष्टव्यः । तदुत्कर्षणे सति ईशावास्यमित्यस्यासुर्या

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

नाम त इत्यादिमन्त्रैः सह व्यवधानाभावात्स्वयमेव प्रकरणसम्बन्धसिद्धेः। न चोत्कर्षे प्रमाणाभाव इति वाच्यम्। स्थानप्रमाणसत्त्वात्। तथा हि 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेद्' 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेदि'ति क्रमेण श्रूयते। ततश्च याज्यानुवाक्याः पठ्यन्ते 'इन्द्राग्नी रोचना दिव' इति युगलं प्रथमम्, वैश्वानरोऽजीजनदित्यादिकं द्वितीयम्। तत्र यथासंख्यपाठात्मकपाठसादेश्यलक्षणस्थानप्रमाणात् प्रथमस्य प्रथमं द्वितीयस्य द्वितीयमङ्गमिति सिद्धान्तितम्। एवं प्रकृतेऽपि ईशावास्यमिति प्रथमं कुर्वन्नेवेति च द्वितीयं पठितं तदुपपादनाय असुर्या नामेत्यादि प्रथमम्। अन्धं तम इत्यादिद्वितीयमिति यथासंख्यपाठात् प्रथमस्य प्रथमेन द्वितीयस्य द्वितीयेन सम्बन्धोऽवगम्यते। न च स्थानप्रमाणं पूर्वतन्त्रेऽङ्गत्वप्रयोजकतयैव प्रदर्शितम् न ह्यत्राङ्गाङ्गिभावो विद्यते ऐन्द्राग्नैकादशकपालतन्मन्त्रयोरिवेति वाच्यम्। न्यायानां लोकत उपपत्तिप्रभृतितश्च सिद्धस्यैव वेदमीमांसार्थं जैमिनिना स्वीकरणादङ्गाङ्गिभावसाधकतया प्रदर्शितप्रमाणानां परस्परसम्बन्धोपपादकतयाप्युपयोक्तुं शक्यत्वात्। अत एव भाष्कारैष्टीकाकारैश्च तत्र तत्र मन्त्रलिङ्गादिकमर्थनिर्णयकतया दर्शितम्। भवतु वा ईशावस्यमिति मुख्यं तदुपपादकमसुर्यानामेत्यादि। तथा कुर्वन्नेवेति मुख्यं तदुपपादकमन्धं तम इत्यादि। तथा च मुख्यत्वोपपादकत्वलक्षणाङ्गाङ्गिभावोऽत्रापि विद्यत एव। तस्माद्यथासंख्यपाठलक्षणपाठसादेश्यात्मकात् स्थानप्रमाणादीशावास्यमित्यस्यासूर्यानामेत्यनेनेतरस्येतरेण च सम्बन्धः सिद्धः। न चैवमपि सम्बन्धमात्रं सिद्धं, न तूत्कर्षणमिति वाच्यम्। उत्कर्षणं विना सम्बन्धानुपपत्तेः। 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पारदौर्बल्यं पूर्वविप्रकर्षा'दिति जैमिनीयसूत्रे पारदौर्बल्योपपादकतयाभिहितो हेतुः पूर्वविप्रकर्षो नाम पूर्वकल्पनाव्यवधानमेव। स्थानेन प्रकरणं कल्प्यते प्रकरणेन च वाक्यादिकमिति तत्र सूत्रार्थः। तथा चात्रापि स्थानेन प्रकरणकल्पना भवति। उभयाकाङ्क्षा च प्रकरणम्। न चाव्यवधानेनोपस्थितिं विनोभयाकाङ्क्षा भवति। विजातीयव्यवधाने सति आकाङ्क्षापरिसमाप्तेः। न ह्यश्वो गच्छति घटो जलवान् ग्रामम् इत्युक्ते गच्छतीत्यस्य ग्राममित्यनेनान्वयः। कं गच्छतीति कर्मकारकाङ्क्षाया उत्पन्नाया अपि विजातीयेन घटो जलवानित्यनेन व्यावधानादाकाङ्क्षायाः परिसमाप्तेः। अथ वास्तु स्थानप्रमाणेनोभयाकाङ्क्षामात्रानुमानं, न त्वेकदेशपाठस्तथापि प्रकरणप्रमाणेन वाक्यमुन्नीयत इति तत्रैव व्यवस्थापितम्। समभिव्याहारश्च वाक्यम्। समभिव्याहारो नाम परस्पराकाङ्क्षावतोः सहोच्चारणम्। शेषशेषिवाचकपदयोः सहोच्चारणमिति स्वङ्गत्वप्रकरणे व्याख्या। सहोच्चारणं चोत्कर्षं विना न संभवतीति भवत्यत्रोत्कर्षः। एवं च सति ईशावास्यमित्यादिज्ञाननिष्ठाप्रकरणे कुर्वन्नेवेति मन्त्रो नास्ति। उत्कृष्ट-

❀ भाष्यम् ❀

अन्धं तम इत्यादि ।

कथं पुनरेवमवगम्यते, न तु सर्वेषामिति ? उच्यते, अकामिनः साध्यसाधनभेदोपमर्देन यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः इति यदा-

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

साध्यसाधनोपमर्देन यदात्मैकत्वविज्ञानं यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवा भूदित्यवधारणेनोक्तं पूर्वार्धेन, उत्तरार्धेन च संसारनिवृत्तिफलकमुक्तं

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

त्वात् । कुर्वन्नेवेत्यादिकर्मनिष्ठाप्रकरणे च स पर्यगादित्यन्तात्मयाथात्म्यवर्णनं नास्ति । एतेनेदमपास्तं यदाहुः केचित् ईशावास्यमिति कुर्वन्नेवेति च वक्तव्यविषयोपक्षेपमात्रम् । प्रकरणारम्भस्तु ज्ञाननिष्ठाया असुर्या नाम त इत्यादिनैव कर्मनिष्ठायाश्चान्धं तम इत्यादिनैवेत्येव भाष्यकाराभिमतम् । असुर्या नाम त इत्यादिना स पर्यगादित्येतदन्तैर्मन्त्रैरिति कर्मनिष्ठेभ्य इदमुच्यते अन्धं तम इत्यादीति च भाष्योक्तत्वादिति । वक्तव्योपक्षेपस्यापि वक्तव्येन सह सम्बन्धं विनाऽसंभवेनोत्तरसम्बन्धस्यावश्यवक्तव्यत्वे उत्कर्षे एवान्ततः पर्यवसानाच्च ।

कर्मिभ्य एवान्धं तम इत्याद्युपदेश इत्युक्ते चोदयति—कथमिति । एवमवगम्यते=कर्मनिष्ठानामेवान्धं तम इत्यदीति इत्येवमवगम्यते न तु सर्वेषां=कर्मनिष्ठज्ञाननिष्ठाविशेषेण सर्वेषां नेति कथमवगम्यत इति योजना । ज्ञानकर्मणोर्विरोधस्य दर्शितत्वान्न ज्ञाननिष्ठस्य वक्ष्यमाणकर्मोपासनान्यतरसंभवः दूरात्समुच्चययोग इति समाधत्ते—उच्यत इति । ननु श्रुतिर्ज्ञानसहिकारितया कर्मोपासने वदति, न हि वचनस्य कश्चिद्भारोऽस्तीत्यत आह—अकामिन इति ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतानीत्यादि कृत्स्नो मन्त्रो नात्मैकत्वज्ञानपरः, किन्तु पूर्वार्धं आत्मैकत्वविज्ञानपरः, उत्तरार्धस्तु तत्फलप्रदर्शनपरः । तत्कथम् "इति यदात्मैकत्वविज्ञानम्" इत्येवं सर्वमन्त्रतात्पर्यविषयात्मैकत्वविज्ञानमात्रं भाष्यकृता कथ्यत इत्याशङ्क्य भाष्यगतेतिपदस्याव्ययस्य इत्येवंस्वरूपमित्येवंफलकं चेत्युभयथा योज्यार्थत्वान्नैवमिति परिहरति टीकायां—साध्येत्यादि । न च इत्येवंफलकमिति फलप्रदर्शनमफलमिति वाच्यम् । यतः पूर्वार्धेऽपि ज्ञानस्वरूपं न स्पष्टतया निर्दिष्टमस्ति । अहमेवास्मीत्यादिज्ञानाकारस्याऽप्रदर्शनात् । किन्तु सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूदित्येवोक्तम् । तत्र आत्मैवेत्येवकारेण साध्यसाधनादिद्वैतोपमर्दः सकलप्रलयेन वाऽन्यथा वेति स्पष्टमप्रतिभासादुत्तरार्धेनैव तस्पष्टीकरणं भवति । "आत्मैवेदमग्र

❀ भाष्यम् ❀

त्मैकत्वविज्ञानं तन्न केनचित् कर्मणा ज्ञानान्तरेण वा ह्यमूढःसमु-

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

तन्न श्रौतेन स्मार्त्तेन वा कर्मणा केनचिदमूढः समुच्चिचीषति ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

आसीत्" "अग्रदेवदमग्र आसीदि"त्यादिश्रुतिभिः प्रलये साध्यसाधनोपमर्दपूर्वकात्म मात्रस्थितिसत्त्वेऽपि न शोकमोहनिवृत्तिः । तमसा गूढमग्र इत्यादिश्रुतिभिस्तदानीं तमःशब्दिताविद्यायाः स्वीकारात् । अविद्यायां च शोकमोहौ निहितावेव । शोक-निवृत्तिस्तु विद्यासत्त्वे एव भवितुमर्हति, तरति शोकमात्मविदिति श्रुतेः । तस्माद् यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूदिति साध्यसाधनद्वैतोपमर्दप्रयोजकं तत्त्वज्ञानमेवेति निश्चायनार्थं तत्र को मोह इत्युत्तरार्धोदाहरणमावश्यकम्। न च आत्मैवाभूद्विजानत इति जानातिप्रयोगादेव विज्ञानार्थलाभ इति वाच्यम् । व्य कृताव्याकृतोपासनाया अपि जानातिना वक्तुं शक्यत्वात् । न चैवं तत्र को मोहः कः शोक इत्युत्तरार्धं एवोदाह्रियतां किमर्थं पूर्वार्धमुच्यत इति वाच्यम्। कर्मादिसमुच्चयविरोधोपास्थापकस्य साध्यसाधनद्वैतोपमर्दनस्योत्तरार्धे विरहात् । न चैकत्वमनुपश्यत इत्येकत्वोक्त्या द्वैतोपमर्दसिद्धिरिति वाच्यम् । द्वैतेन सह भेदाभेद इति सिद्धान्ते एकत्वस्य द्वैताविरोधित्वात् । मृत्तिकया सह घटादेर्भेदाभेद इति सिद्धान्ते मृत्तिका एकैव तथापि घटादिभेदकृतद्वैतमपि वर्तते । तस्मात्सावधारणनिर्देशं विना न केवलाद्वैतसिद्धिरिति सावधारणनिर्देशात्मकमात्मैवाभूदित्यप्युदाहरणीयमेव ।

परे तु पूर्वार्धोत्तरार्धौ स्वातन्त्र्येणैवात्मैकत्वविज्ञानप्रदर्शनाय भाष्यकारैरुदाहृतौ । विजानत आत्मैवाभूदिति विज्ञानं प्रयोजकं द्वैतोपमर्दः प्रयोज्यः, तथा एकत्वमनुपश्यतः कः शोकः को मोहः इति एकत्वविज्ञानं साधनं शोकमोहनिवृत्तिः फलम् । तथा च इति यदात्मैकत्वविज्ञानमित्यस्य द्वैतोपमर्दप्रयोजकतया यदात्मविज्ञानं कथितं यच्च शोकमोहनिवृत्तिफलकतयाभिहितमित्यर्थः । एतदेव टीकाकारस्याप्यभिप्रेतमिति वर्णयन्ति ।

तन्नेत्यादि भाष्यम् । तदात्मैकत्वविज्ञानं विद्यादिपदेनानूद्य, केनचित् कर्मणा—येऽविद्यामुपासत इत्यत्र प्रतिपादितेनेति प्रकृतार्थः । ज्ञानान्तरेण'वा येऽसंभूतिमुपासत-इत्यादौ प्रतिपादितेन ज्ञानान्तरेण=उपासनयेति यावदिति प्रकृतार्थः । अमूढः समुच्चिचीषतीति । तथा च कोऽतिभारः श्रुतेरित्यादिकथनमसंगतमेव । न हि श्रुतिरत्यन्तविरुद्धमर्थं वक्तुं प्रभवति। तथाप्रतीतौ वाऽन्यार्थतैव श्रुतीनां स्यात् । अन्यथाऽऽदित्यो यूपः स्तेनं मनः तस्माद्धूम एव दिवाग्नेर्ददृशे नार्चिरित्यादावपि यथा श्रुतार्थपरिकल्पनैव स्याद् । वचनस्य भारविरहादिति सर्वमीमांसाविप्लवः स्यादित्यर्थः।

❀ भाष्यम् ❀

च्चिचीषति। इह तु समुच्चिचीषयाऽविद्वदादिनिन्दा क्रियते। तत्र च यस्य येन समुच्चयः संभवति न्यायतः शास्त्रतो वा तदिहोच्यते यद् दैवं वित्तं देवताविषयं ज्ञानं कर्मसम्बन्धित्वेनोपन्यस्तं न परमात्मज्ञानम्।

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

अन्धं तमः इत्यादौ तु समुच्चिचीषयाऽविद्वदादिनिन्दा दृश्यते। ततः किम्? इत्यत आह—तत्र च यस्येति। कस्य तर्हि ज्ञानस्य कर्मसमुच्चयः सभवतीत्यत आह—यद्दैवं वित्तमिति।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

नन्वत्र ज्ञानसाधनविषया कर्मोपासनयोरभिधानमित्यस्तु। तथा च विद्यापदस्य मुख्यज्ञानार्थकत्वं संभवति। तथा सति चान्धं तम इत्यादिकं ज्ञाननिष्ठानामपि भवितुमर्हति। ज्ञाननिष्ठाकाले भावनादिमानसव्यापारप्रवृत्तिवत्कर्मोपासनयोरपि प्रवृत्तिस्वीकारे क्षतिविरहादित्याशङ्कायामत्र विद्यासाधनत्वमात्रस्यानभिधानाद् उभयं सहेति स्पष्टं समुच्चयदर्शनान्नैवमिति परिहरति—इह तु समुच्चिचीषयेति। न च सहेत्यनेन क्रमसमुच्चय एवोररीक्रियतां, समसमुच्चये एवोक्तदोषप्रसक्तेरित्यत आह—अविद्वदादिनिन्देति। न हि साध्यप्रशंसार्थं साधननिन्दा क्वापि दृष्टा। अत्र चान्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामिति साधननिन्दा गम्यते। सा चोभयोः समत्वे एव संगच्छत इति भावः। एवं स्थिते विद्याशब्देन विवक्षणीयोऽर्थः कः स्यादिति सोपपत्तिकं निरूपयति—तत्र चेति। न्यायत इति। यथा हि यज्ञदानतपसां समुच्चयः। यज्ञेन शारीरादिदोषस्य दानेन धनदोषस्य तपसा मनोदोषस्य नाशेन पावनानि मनीषिणामित्युक्तपावनत्वैककार्यकारित्वात्। एवं कर्मोपासनयोरपि न्यायसिद्धः समुच्चयः। मलविक्षेपनिवर्त्तनेन ज्ञानयोग्यत्वैककार्यकारित्वात्। व्याकृताव्याकृतोपासनाद्वयसमुच्चयः शास्त्रमात्रसिद्धः इत्युभयोर्ग्रहणम्। यद्वा वाकरश्चार्थे। न्यायतः शास्त्रतश्चेति योजनीयम्। न्यायसहितशास्त्रेणेति यावत्। तदिहोच्यत इत्युत्तरानुरोधात्। इह न्यायसहितशास्त्रलभ्यसमुच्चय एवाभिधीयत इति। तदिहोच्यते इति। किं तदित्याकाङ्क्षायामाह—यद्दैवमिति। दैवं वित्तमित्यस्यैव व्याख्या—देवताविषयं ज्ञानमिति। कीदृशं ज्ञानं तर्हि व्यावर्त्यत इत्यत आह—न परमात्मज्ञानमिति।

भाष्ये कर्मसम्बन्धित्वेनोपन्यस्तमित्यस्य कर्मसम्बन्धयोग्यमित्यर्थः। एतद्विशेष-

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

यच्चोक्तं भास्करेण ईशावास्यमिति मन्त्रे ब्रह्मविद्यायाः प्रक्रान्तत्वात् तस्या एव समुच्चिचीषया निन्दोच्यत इति। तदसत्। न हि प्रकृत-मित्येतावता सम्बध्यते, किं तु सम्बन्धयोग्यम्। शुद्धब्रह्मात्मैकत्व-विद्यायास्तु कर्तृत्वाद्यध्यासोपमर्दकत्वान्नास्ति कर्मसम्बन्धयोग्यता। किं च यस्मिन्निष्पन्नेऽपि फलस्य व्यवधानं संभाव्यते तस्यैव सहकारि-समुच्चय इष्यते [यथा] दर्शादेः। इह त्वेकत्वमनुपश्यतः को मोहः

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम ❀

णोपादाने बीजभूतं भास्करमतमुत्थाप्य निरस्यति टीकायां—यच्चोक्तमित्यादि। तस्या एव=ब्रह्मविद्याया एव। निन्दोच्यते। ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता इत्यनेन। प्रकृतमिति। प्रक्रान्तमित्यर्थः। तेन प्रकरणप्राप्तत्वलक्षण-प्रकृतत्वस्य प्रकरणभेदविचारावसरेऽव्याप्यसिद्धत्वेऽपि न क्षतिः। यद्वा भास्करः स्वदृष्ट्याह—प्रकृतमिति तदनूद्यते चात्र। नास्ति कर्मसम्बन्धयोग्यतेति। ननु लोकसंग्रहार्थं ज्ञानिनोऽपि कर्मणि प्रवर्त्तमाना दृश्यन्त इति न ज्ञानकर्मणोः सामा-नाधिकरण्यलक्षणसम्बन्धयोग्यत्वानुपपत्तिः। न च कर्तृत्वब्राह्मणत्वादिबाधे सति क्रियमाणं कर्म वस्तुतः कर्मैव न भवति किन्तु चेष्टामात्रमेवेति वाच्यम्। भवतु तर्हि कर्मानुकारिचेष्टयैव समुच्चयः, सर्वथा कर्तृत्वादिभानविरहे जीवितुमप्यशक्यत्वा-च्चेत्यत आह—किं च यस्मिन्निति। तस्यैवेति। यथा तन्तौ निष्पन्नेऽपि पटा-त्मकं कार्यं नोत्पद्यत इति तन्तुस्तुरीवेमादिं सहकारितयापेक्षत इति तद्वदिति भावः। यथा दर्शादेरिति। यथा दर्शादियागनिष्पत्तावपि न स्वर्गः फलं भव-तीति कालादृष्टेश्वरेच्छादिसमुच्चयः। यथा दर्शादेरित्यनन्तरं सहकारिसमुच्चय इत्यस्यानुषङ्गः। क्वचिद् यथेति पाठो नास्ति। तत्र तस्यैव दर्शादेः सहकारिसमुच्चय इत्यन्वयः। सहकारिसमुच्चय इत्यनेन नात्र सामानाधिकरण्यसम्बन्धमात्रं विवक्षितं किन्त्वेककार्यकारित्वमित्युक्तं भवतीति ज्ञेयम्। तस्यैवेत्येवकारार्थं स्फुटयति—इह त्विति। ज्ञाने निष्पन्ने फलविलम्बाभावान्न सहकार्यन्तरसमुच्चयप्रसक्तिः। विल-म्बाभावस्य ज्ञानिनामनुभवसिद्धत्वेऽपि सर्वसाधारण्यविरहाच्छ्रुतिं प्रमाणयति एकत्व-मनुपश्यत इति। ननु 'शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युरि'ति श्रुतिवचनात् श्रवण-जनितौपनिषदज्ञानवन्तोऽपि सहकार्यन्तरविरहेण यं न प्राप्नुयुरित्यर्थकादुपनिषच्छ्र-वणोत्तरमपि शोकाद्यनिवृत्तेः प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्चास्ति सहकार्यन्तरापेक्षा। न च शृण्व-न्तोऽपि परोक्षतया श्रावणज्ञानं सम्पादयन्तोऽपि यं न विद्युर्यं नापरोक्षतया जानीयु-रिति श्रुत्यर्थः लोके श्रवणोत्तरमपरोक्षज्ञानानुत्पत्तेरेव शोकमोहाद्यनिवृत्तिरिति अपरो-क्षज्ञानस्योभयमपि न सहकार्यन्तरसापेक्षतां साधयितुमीष्ट इति वाच्यम्। यस्माज्ज्ञादपरो-

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

कः शोक इत्येकत्वदर्शनसमकालमेव मोहादिनिवृत्त्यभिधानान्न कालान्तरीयफलम्। ततो न सहकारिसमुच्चिचीषा। किं च [अस्या मन्त्रोपनिषदो ब्राह्मणे] ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेनेत्यादौ तृतीयाश्रुत्या यज्ञादेरिष्यमाणवेदने करणत्वेन सम्बन्धः प्रतीयते। तत्कथं दुर्बलेन प्रकरणेन सहकारितया सम्बन्धः प्रकल्प्यते।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

त्वाद् ब्रह्मेति श्रुतेर्ब्रह्मणः साक्षादपरोक्षत्वेन तद्विषयकज्ञानस्य परोक्षत्वायोगात्। न च पुरुषापराधवशेनापरोक्षमपि ज्ञानं न फलजननाय कल्पत इति वाच्यम्। तादृशपुरुषापराधापनयनद्वारा तर्हि कारणान्तरसमुच्चयस्य बलादापतनादित्याशङ्क्याह—किंचेति। अपरोक्षज्ञाने सत्यपि पुरुषापराधवशेन न शोकमोहनिवृत्तिलक्षणफलमिति स्वीकारेऽपि पुरुषापराधविगमस्यैवापेक्षा न तु तज्जनकस्यापि। दिनोदयेऽपि मेघवशात्सूर्यो न प्रकाशयति वायुनापनीते च मेघे सूर्यः प्रकाशयतीत्येतावता वायोरपि प्रकाशने न सहकारिकारणत्वं स्वीकर्त्तुं शक्यम्। स्वीक्रियतां वा कथंचित्पुरुषापराधापगमप्रयोजकमनननिदिध्यासनयोः कारणत्वं कथंचित्, तथापि कर्मणां सहकारिकारणत्वमसंभावितमेव। मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति मननादीनामिव कर्मणां सहकारिकारणताबोधकप्रमाणाभावात्। ननु ईशावास्यमित्यादिप्रकरणप्रमाणेनैव कर्मणां सहकारिकारणत्वं स्यादित्याशङ्कायां प्रकरणापेक्षया श्रुतिप्रमाणस्यान्यत्र विनियोजकस्य सत्त्वान्मैवमिति परिहरति—ब्राह्मणा विविदिषन्तीति। शाखाभेदेन व्यवस्थाभेदाशङ्कां निराकर्त्तुम्—अस्या मन्त्रोपनिषदो ब्राह्मणे इत्युक्तम्। अयं च पाठः क्वाचित्कः। इष्यमाणवेदन इति। अश्वेन जिगमिषतीत्यादाविष्यमाणगमनेऽश्वकरणकत्वान्वयदर्शनाद् यज्ञेन विविदिषन्तीत्यत्रापि यज्ञकरणत्वस्येष्यमाणवेदनेऽन्वय इत्यभिप्रायेणेदम्। अभ्युपगमवादश्चायम्। इष्यमाणवेदन एवान्ततोऽन्वयसंभवो न तु ततः परे मोक्षेऽपि इत्येतावन्मात्रं विवक्षितम्। दुर्बलेन प्रकरणेनेति। श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसामाख्यानां पारदौर्बल्यं पूर्वविप्रकर्षादिति न्यायादिति भावः। प्रकल्प्यत इति। प्रकरणपाठेन हि प्रथममस्य मोक्षेण कश्चन सम्बन्धोऽस्ति अन्वयबोधप्रयोजकः अन्यथा प्रकरणपाठवैयर्थ्यादिति प्रथमं समभिव्याहारात्मकवाक्यकल्पना। वाक्येन पुनर्लिङ्गकल्पना ततः श्रुतिकल्पनेति अन्तरितप्रकरणस्य विलम्बितप्रतिपत्तिकत्वात्ततः प्रथममेव यज्ञेनेति तृतीयाश्रुत्या यज्ञादिकर्मणां करणतया विविदिषायामन्वयो भविष्यति। न च श्रुत्या विविदिषाहेतुत्वमप्यस्तु प्रकरणेन मोक्षहेतुत्वमपीति वाच्यम्। करणत्वेन विविदिषासम्बन्धे शान्ताकाङ्क्षतया पुनरन्यत्रान्वयायोगात्। ननु यज्ञेन विविदिषन्तीत्यत्र यज्ञस्येष्य-

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

प्रधानस्य च विद्याया सहकारिसम्बन्धविधित्सया निन्देत्यप्ययुक्तम्। अत एवचाग्नीन्धनाद्यनपेक्षेति सूत्रविरोधश्च।

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

माणवेदने करणतयाऽन्वयो न संभवति। वेदनस्य श्रवणादिजन्यतायाः प्रत्यक्ष-सिद्धत्वात्। वेदनस्य वस्तुतन्त्रतया यज्ञकरणकत्वायोगाच्च। अत एव विविदिषा-यामपि नान्वय इत्यत आह—प्रधानस्य चेति। हेतुगर्भविशेषणमिदम्। प्रधानस्तु-त्यर्थमन्यनिन्दा क्रियते। यथा अपशवो वा अन्ये गवाश्वेभ्यः पशवो गोअश्वा इत्यत्र अजादीनां पशुत्वेऽपि अपशुत्वोक्त्या तन्निन्दा गोअश्वप्रशंसार्था, प्रकृते च ब्रह्मविद्या मुख्या। कर्म सहकारिकारणमिति स्वीकर्तुस्तत्र मते ब्रह्मविद्यायाः प्रधानत्वमक्षतमिति तन्निन्दा न युज्यत इति भावः। ननु न वयं ज्ञानकर्मणोः प्रधानाऽप्रधानभावमभ्यु-पगच्छामः। किन्तूभयोः समानत्वमेव। समसमुच्चयोपगमात्। किं च प्रधानस्य निन्दा न भवतीत्यप्यसमञ्जसम्। 'को हि तद्वेद यदमुष्मिल्लोके अस्ति वा न वे' त्यर्थवादे स्वर्गेऽस्तित्वसंशयापादनेन प्रधाननिन्दादर्शनात्। स्वर्गोद्देश्येन यागादिसर्वकर्म-करणात्स्वर्गस्य प्रधानत्वमक्षतम्। स्वर्गे संशयविषयीकृते तदर्थे क्रियमाणयागादेरपि निन्दाप्रतीतिसंभवाच्च। न च स्वर्गादेरस्तु तत्तत्स्थाने प्रधानत्वं तथापि यत्र यद्वि-धीयते तत्र तस्य प्रधानत्वमित्यभ्युपगमः, यथा विवाहे पितृपितामहराजामात्यादिबहु-तरमहिष्ठसद्भावेपि वरस्यैव प्रधानत्वम्, प्रकृते च 'दिक्ष्वतीकाशान् करोती'ति यज्ञशालायां धूमनिर्गमनार्थद्वारनिर्माणविधौ द्वारनिर्माणस्यैवापेक्षिकप्रधानत्वात्को हि तद्वेदेति स्वर्गादिनिन्दोपपद्यते, परलोकोऽस्तु वा मास्तु इहैव धूमेन कुतो दुःखमनु-भवामेति इति वाच्यम्। एवं सति प्रकृतेऽपि समानम्। कर्मविधानावसरे तस्यैव प्रधानतया ज्ञाननिन्दोपपत्तेरित्याशङ्क्याह—अत एवेत्यादि। 'अत एव चाग्नी-न्धनाद्यनपेक्षा' इति सूत्रम्। अत्र 'अत' इत्यनेन प्रागभिहित परामृश्यते। पुरुषोऽर्थोऽतः शब्दादि'ति पूर्वमभिहितं सूत्रम्। तस्यार्थः—अतः=ब्रह्मविज्ञानतः पुरुषार्थः=परमपुरुषार्थो मोक्षो भवति। कुतः? शब्दात्=तरति शोकमात्म-विदित्यादिश्रुतिवचनादिति। अत एवचाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा। अग्नीन्धनशब्देनाश्रम-कर्मोपलक्ष्यते। ब्रह्मविद्या मोक्षफले जननीये कर्माणीतिकर्त्तव्यतयाऽपेक्षत इति पूर्वपक्षः। न च यज्ञेन विविदिषन्तीतिश्रुतेर्यज्ञादीनां विविदिषोत्पादकत्वमेव न तु तदुत्तरविद्याप्रयोज्यमोक्षकारणत्वमिति वाच्यम्। यतो विविदिषा न यत्नसाध्या। किन्तु विषयसौन्दर्यजन्या। तस्माद्विविदिषन्तीत्यत्रेच्छाविषयज्ञानसाध्ये मोक्षे एव यज्ञेनेत्यस्यान्वय इति। सिद्धान्तस्तु ब्रह्मविविदिषा न विषयसौन्दर्यमात्रजन्या। अविशुद्धान्तःकरणानां विषयसौन्दर्यप्रतिसन्धानायोगात्। तस्मादन्तःकरणशुद्धिद्वारा

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

विविदिषाजनकत्वं यज्ञेनेति तृतीयाश्रुत्या संभवति। न वा मोक्षेण सह यज्ञेनेत्यस्य सम्बन्धसंभवः। मोक्षस्याश्रूयमाणत्वात्। शब्दार्थस्य शब्दार्थेनैवान्वयनियमात्।

यद्यपि टीकाकृद्भिरनुपदमेवेष्यमाणवेदने यज्ञेनेत्यस्यान्वय उक्तः। अश्वेन जिगमिषतीत्यादाविष्यमाणगमनेऽश्वकरणत्वान्वयवत्। तथापि परम्परयैवेष्यमाणेऽन्वयः प्रकृतविवक्षितः। अन्यथा यज्ञस्य वेदनकरणत्वमदृष्टविशेषद्वारा कल्पनीयं स्यात्। न हि यज्ञादीनामध्ययनादिवद्वेदनं दृष्टं प्रयोजनम्। सत्कर्मभिरन्तःकरणशुद्धिस्तु प्रत्यक्षसिद्धेति न कल्पनागौरवमस्ति। विशुद्धान्तःकरणस्य विषयसौन्दर्यप्रतिसन्धाने सतीच्छाप्यनुभवसिद्धैव। न च विविदिषोर्वेदनमपि ततः परं प्रत्यक्षिकमिति वाच्यम्। तथाप्यध्ययनादिसापेक्षत्वात्। विविदिषायाः प्रथमोपस्थितत्वाच्च। अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षेत्यधिकरणव्याख्याने न्यायनिर्णये स्वयमपि विविदिषायामेवान्वयस्याभिहितत्वाच्चेति द्रष्टव्यम्।

ननु ब्रह्मविद्यया मोक्षजनने सहकारिकारणतया कर्मादीनां पूर्वमेव निरस्तत्वेनास्याधिकरणस्योत्थानं कथमित्याशङ्कायां यद्यपि भाष्यकृता पूर्वप्रपञ्चनपरत्वेन समाहितं, यथापि कल्पतरुकारेण तत्परवर्त्तिभिश्चेतिकर्त्तव्यविधया कर्मणां प्राप्तमोक्षकारणत्वप्रतिषेधपरत्वं विशेषेण प्रपञ्चितम्। प्रदर्शितं च तदस्माभिरनुपदम्। तदेतत्कथं घटतां नाम! को नाम विशेष इतिकर्त्तव्यतापदेन प्रत्युपस्थापित इति चेत्? अत्र वदन्ति। इतिकर्त्तव्यत्वं नाम तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्। सहकारिकारणत्वं च नाम केवलं तज्जन्यजनकत्वमेवेत्युभयोर्विशेषः। यथा कुठारजन्यत्वे सति कुठारजन्यच्छिदिजनकत्वादुद्यमननिपातने इतिकर्त्तव्यता। यथा वा भावनाजन्यत्वे सति भावनाजन्यस्वर्गजनकत्वं प्रयाजादेः। न चार्थवादज्ञाप्यप्राशस्त्यस्य लिङादिज्ञानजन्यत्वं नास्तीति प्राशस्त्यस्येतिकर्त्तव्यतात्वं न स्यादिति वाच्यम्। शब्दभावनास्थलीयेतिकर्त्तव्यताया अन्यादृशत्वेऽपि अर्थभावनास्थलीयेतिकर्त्तव्यताया उक्तलक्षणवत्त्वनियमात्। न च शब्दभावनास्थलीयेतिकव्यत्वमन्यादृशं न मीमांसकसम्मतमिति वाच्यम्। कर्त्तव्यस्य प्रकार इतिकर्तव्यता कर्त्तव्यश्च क्रियाविशेष एवेति सामान्यस्य क्रियारूपत्वे तद्विशेषात्मकतत्प्रकारस्य क्रियारूपत्वावश्यंभावित्वात्। तथैव तत्र तत्र मीमांसकैर्निर्वचनाच्च। अथ वा लिङादिरिति न लिङश एव 'त' इति प्रत्ययमात्रस्य प्रवर्त्तकत्वविरहात्। किन्तु लिङादिघटितवाक्यम्। तत्रार्थवादवाक्यतो वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवतेत्यादेर्वायुदेवतायाः क्षेपिष्ठत्वमात्रं प्रथमं गम्यते तस्य प्राशस्त्ये तात्पर्यं वायव्यं श्वेतमालभेतेतिविधिश्रवणानन्तरमेव। तथा च प्राशस्त्यज्ञानजनकत्वं लिङादेस्तज्ज्ञानस्य चाक्षतमेव। प्राशस्त्यज्ञाने च सति अर्थभावना भवतीति तज्जन्यजनकत्वमपि प्राशस्त्यज्ञानेऽस्तीति लक्षणसमन्वयः। न

❁ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❁

च क्रियात्वविर-ात्कथमितिकर्त्तव्यत्वमिति वाच्यम्। कथमित्याकाङ्क्षोपशमनहेतुत्वेन तदुपपत्तेः। लिङादिज्ञाने सत्यपि बहवो यागा दभावनां न कुर्वन्ति। तत्कुतो लिङादिज्ञानं यागभावनां न जनयति कथं च जनयेदित्याकाङ्क्षायां प्राशस्त्यज्ञानविरहान्न भावनां जनयति प्राशस्त्यज्ञानं सहायीकृत्य च भावनां जनयतीत्युत्तरदर्शनाच्च कथंभावाकाङ्क्षोपशमनहेतुत्वसिद्धेः। तत्र प्रत्यक्षक्रियास्थले इतिकर्तव्यत्वं प्रत्यक्षक्रियारूपम्। यथा कुठारक्रियासामान्यं प्रात्यक्षिकमुद्यमननिपातने विशेषः। लिङादिज्ञाननिष्ठा उत्पादनक्रिया न प्रत्यक्षा किन्तु शक्तिविशेषरूपिणीति प्राशस्त्यज्ञानमपि शक्तिविशेषरूपेण उत्पादनप्रयोजकं भवतीत्युपपत्तिः।

ननु तज्जन्यत्वमित्यत्र तत्पदेन कारणं वा विवक्ष्यते करणं वा। नाद्यः। लिङादिर्हि कारणं लिङादिज्ञानं च करणं, तत्र लिङादिज्ञानमेव तात्पर्यबोधकविधया प्राशस्त्यज्ञानजनकम् न तु लिङादिरेव। न द्वितीयः आर्थीभावनारूपकारणमेव प्रयाजादिं जनयति न तु यागरूपं करणमिति चेन्न। कारणजन्यत्वमेव ब्रूमः। लिङादिरपि स्वज्ञानद्वारा प्राशस्त्यज्ञानं जनयतीति नानुपपत्तिः। यथा च पुरुषः कुठारद्वारा उद्यमननिपातने करोति। करणकारणान्यतरजन्यत्वं ऽस्त्विति न कश्चिद्दोषः।

ननन्वेवमपि ब्रह्मविद्यायाम् इतिकर्त्तव्यत्वं कथं कर्मणां स्यात्। न हि कर्माणि ब्रह्मविद्याजन्यानि। न च ब्रह्मविद्योत्तरं ज्ञातब्रह्मणो भावनात्मकमानसव्यापारसंभवात्तादृशमानसव्यापारकर्मणां ब्रह्मविद्याजन्यत्वमक्षतमिति वाच्यम्। अग्नीन्धनोपलक्षितसकलाश्रमकर्मणां ब्रह्मविद्याजन्यत्वविरहात्। न च ब्रह्मदृष्टिविशिष्टकर्मणां ब्रह्मविद्याजन्यत्वमस्ति, ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविरित्यादिब्रह्मदृष्टिविशिष्टाश्रमकर्माण्येव चेतिकर्तव्यतारूपाणीति न दोष इति वाच्यम्। विशेष्यस्य ब्रह्मविद्याजन्यत्वविरहेण फलतो ब्रह्मदृष्टेरेव ब्रह्मविद्याजन्यत्वात्। इतिकर्त्तव्यतारूपेण च कर्मणामेव विवक्षितत्वादिति चेद्। अत्र भामती। विद्यायाः क्रत्वर्थत्वे सति तया क्रतूपकरणाय स्वकार्याय क्रतुरपेक्षित इति। न चैवमपि क्रतूपकारकत्वमेवायातं न तु क्रतुजनकत्वमिति वाच्यम्। उपकारकं विना क्रतूत्पत्तेरसंभवात्। व्रीह्यादयः क्रतूपकारकास्तान् विना क्रतोरेवानिष्पत्तेः। न च विद्यां विनापि क्रतुनिष्पत्तिः प्रत्यक्षसिद्धा, किं चोपकारका एवेतिकर्त्तव्यताभावं भजन्ते न तूपकार्यः, प्रयाजादेरुपकारकस्यैवोपकार्ययागेतिकर्त्तव्यतात्वादिति वाच्यम्। ज्ञात्वा कुर्वीतेति वाचनाज्ज्ञानविशिष्टकर्माणि ज्ञानस्योपकारकत्वाज्ज्ञानस्य तज्जनकत्वाज्ज्ञानस्य मोक्षजनकत्वेन मुख्यत्वाच्चोभयोपपत्तेः। प्रयाजादिर्हि न साक्षात्स्वर्गजनक इति वैषम्यात्। ज्ञात्वा कुर्वीतेत्यस्य च ज्ञानसंस्कारविशिष्टकर्माणि संपादयेदित्यर्थः। न चात्र संस्कारजन-

❁ आनन्दगिरीय टीका ❁

[अग्नीन्धनोपलक्षितकर्म]समुच्चयश्च परेणापि नेष्यते। विरोधेन च परिजह्रे। तस्मात् कर्माविरुद्धदेवताज्ञानस्यैवात्र समुच्चयो

❁ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❁

कत्वमेवायातं न तु कर्मजनकत्वमिति वाच्यम्। विशिष्टशुद्धयोर्भेदोपगमेन ज्ञान-संस्कारविशिष्टकर्मणः शुद्धकर्मतो वैलक्षण्यसत्त्वात्।

रत्नप्रभाकृतस्त्वत एव चेत्यादिसूत्रं ज्ञानकर्मसमुच्चयनिराकरणपरतयैव योजयामासुः, ब्रह्मविद्या स्वफले मोक्षे जनयितव्ये सहकारित्वेन कर्माण्यपेक्षते न वेति वादिविवादात् संशये तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजस इत्यादिश्रुत्या ज्ञानकर्मसमुच्चयेन मोक्षप्राप्तिकथनादपेक्षत इति प्राप्ते विद्याया मुक्तिहेतुत्वादविद्यानिवृत्त्याख्यमुक्तौ न कर्मापेक्षेति सिद्धान्तयतीति रत्नप्रभाक्षराणि।

एतदेव वा मनसिकृत्य समुच्चयपक्षेऽपि व्याचष्टे—अग्नीन्धनोपलक्षितकर्मसमुच्चयश्चेति। परेणापि नेष्यत इति। भास्करेणाप्यग्नीन्धनोपलक्षिताश्रमकर्मसमुच्चयो ज्ञानेन सह न स्वीकृतः। समुच्चये संभवति प्राप्ते वा कथं वारितस्तत्राह—विरोधेन चेति। ब्रह्म विद्याया अश्रमकर्मणां च विरोधान्न समुच्चय इति समुच्चयो निरस्तो भास्करेण।

ननु अग्नीन्धनमग्निदीपनमग्न्याधनाग्निहोत्रादिकं कर्म। तत्र जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनदधातेति श्रूयते आहिताग्निश्चाग्निहोत्रादिकं करोति। त्यक्तैषणस्य च ब्रह्मविदो न पुत्राद्यभिलाषा संभवति। आहिताग्नेरपि स्वर्गादीच्छाविरहान्नाग्निहोत्रादिकं संभवतीति विरोधादग्निकर्मणां ब्रह्मविद्यायाश्च न समुच्चयः। नित्यनैमित्तिकानि सन्ध्यावन्दनादीन्यविरुद्धत्वात्समुच्चीयन्तामित्याशङ्कायां यथा कामनासद्भावासद्भावप्रयुक्तौ ब्रह्मविद्याकर्मविशेषयोर्विरोधो भवताऽभ्युपगम्यते तथा कर्तृत्वादिभावसद्भावासद्भावप्रयुक्तोऽपि विरोधो ब्रह्मविद्याकर्मसामान्ययोर्दुर्निवारः। तस्मात् कर्मणा सह तस्यैव समुच्चयो यस्य यथोक्तविरोधो न भवति तस्यैव प्रकृते विधित्सेत्याशयेनोपपादितमर्थमुपसंहरति—तस्मादिति।

अत्र विद्यापदेन देवताविषयज्ञानमेव विवक्षितं न परमात्मज्ञानमित्युक्ते हेतुविद्यया विद्यया देवलोक इति श्रवणादिति भाष्यावतारः प्रतीयते। यदि परमात्मज्ञानं विवक्षितं स्यात्तदा मोक्षस्यैव तत्फलत्वाद्देवलोकफलश्रवणानुपपत्तिरिति तदर्थश्च प्रतीयते। परं तु नैतत्संगतम्। न्यायतः शास्त्रतश्च समुच्चययोग्यमिह विवक्षितमित्युक्त्यैव परमात्मज्ञानव्यावर्त्तनोपपत्तेः। न वा विद्यया देवलोक इति श्रुत्यवष्टम्भेन प्रकृते देवताविषयज्ञानसमर्थनसंभवः। तस्या अन्यत्र पठितत्वात् प्रकृते ब्रह्मविद्या वा देवताविद्या वाऽर्थ इति निर्धारणाऽप्रयोजकत्वात्। अन्यथा आत्मना विन्दते

❀ भाष्यम् ❀

विद्यया देवलोक इति पृथक् फलश्रवणात् ।

❀ आनन्दगिरीयटीका ❀

विधित्स्यते । ननु देवताज्ञानस्य कर्मफलातिरिक्तफलाभावात् समुच्चयो न संभवतीत्यत आह—विद्ययेति ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

वीर्ये विद्यया विन्दतेऽमृतमित्यादावपि विद्यापदस्य देवताविषयज्ञानार्थता स्यात् । न च तत्र विद्यया विन्दतेऽमृतमित्यमृतफलश्रवणाद्विद्यान्तरं तदिति वाच्यम् । इहापि विद्ययामृतमश्नुत इति तथैव श्रूयत इति कथं विद्या देवलोक इति श्रुत्यन्तरेण देवताविषयज्ञानार्थता निश्चेतुं शक्येत्यतष्टीकाकारो भाष्यमन्यथा योजयति—ननु देवताज्ञानस्येति । कर्मफलातिरिक्तफलाभावादिति ।

नन्वतिरिक्तफलं न समुच्चयप्रयोजकम् । शैत्यस्य फलान्तरविरहेऽपि पित्तप्रशमने मधुरेण समुच्चयनात् । पटादृष्टस्य फलान्तरविरहेऽपि तन्तुभिः सह पटजनने समुच्चयदर्शनात् । न च कर्मणो यत्फलं तदेव देवताज्ञानस्यापि फलं चेत् कर्मणैव फलनिष्पत्तौ देवताज्ञानस्य वैयर्थ्यात् समुच्चयानुपपत्तिः, अदृष्टादिदृष्टान्तस्त्वनुपपन्नः, अदृष्टादिकं विना तन्त्वादिभिः फलानिष्पत्तेः, न ह्येवं प्रकृते, उपासनं विनापि कर्मभिः फलनिष्पत्तेः, एष एव च समुच्चये सहकारितायां च विशेषो यत् समुच्चयेऽन्यतरं विनापि फलमुत्पद्यते, सहकारितायां सहकारिणं विना फलमेव नोत्पद्यत इवीति वाच्यम् । विद्यया देवलोक इति भाष्यसंगत्यनुपपतेः । अत्र यत्फलान्तरमभिहितं तदवतरणिकयैव टीकाकारेण फलान्तराभावेन समुच्चयायोगशङ्कोत्थापनात् । न ह्येवं पूर्वपक्षेण फलान्तरवत्त्वसपादनं समुच्चयप्रयोजकं भवति । किं चात्र कर्मफलातिरिक्तफलाभावे निष्फलत्वमेवापतति । कर्मफलस्य कर्मणैव लाभात्तदतिरिक्तस्यान्यथासिद्धत्वात्फलान्तरकथनेऽप्यन्यथासिद्धेर्वारयितुमशक्यत्वात् । किं च कर्मफलप्रयोजकत्वमेवोपासनाया इत्युररीकारेऽपि न तद्वैयर्थ्यं प्रसज्यते । प्रयोजकान्तरसमवधाने उत्कृष्टफलजनकत्वोपपत्तेः । अत एव अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णातीति श्रुत्योः प्रामाण्यं सिद्धयति । विकल्पाश्रयणेऽपि ग्रहणाग्रहणयोः फलवैषम्यविरहे व्यर्थप्रयासस्य प्रेक्षावद्भिः कर्त्तुमशक्यतया षोडश्यग्रहणस्यैव सर्वत्र प्राप्तौ षोडशिग्रहणश्रुतेरननुष्ठापकत्वलक्षणाऽप्रामाण्यस्य वारयितुमशक्यत्वात् । तस्माद् षोडश्यग्रहणेन यागवैगुण्यविरहेऽपि षोडशिग्रहणे सत्युत्कृष्टफलं भवतीत्येव स्वीकर्त्तव्यम् । एवमत्रापि उपासनाविरहे कर्मफलनिष्पत्तावपि उपासनासमवधाने उत्कृष्टफलं भवतीत्यर्थात्प्राप्यते । यदेव विद्यया करोति तदेव

॥ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ॥

वीर्यवत्तरं भवतीति स्पष्टश्च तेश्चेति चेद् ? अत्र ब्रूमः। फलवदफलवतोः संनिहितयोरङ्गाङ्गितैव स्यादिति स्वयमेव भाष्यकारैवंप्रमाणतया यदि विद्यायाः फलान्तरम् न स्यात्तदा तस्याः कर्माङ्गत्वमेव स्यान्न तु समुच्चयः।

नन्वङ्गाङ्गिभावे समुच्चये च को विशेषः। न चाङ्गाङ्गिभावे कर्मणो यत्फलं तदेव स्यान्न त्वतिरिक्तमिति वाच्यम्। अङ्गाधिक्यप्रयुक्तफलोत्कर्षस्य दर्शितत्वात्। यदेव विद्यया करोतीति श्रुतेः। न चाङ्गाङ्गिभावे विद्याया अङ्गत्वेऽङ्गं विना कर्मणां फलमेव न स्यादिति वाच्यम्। वीर्यवत्तरमिति श्रुतेर्विद्याविरहे वीर्यवत्त्वस्य सिद्धत्वान्निष्फलत्वायोगात्। अन्यथा तरप्प्रत्ययानुपपत्तेः। अत्राहुः। विद्याया अङ्गविधयाऽनुष्ठाने कर्मणो यत्फलं तत्रैव किंचिद्वैशेष्यं स्याद्। यथा वृक्षे आरोपिते गोमयादिनिधाने फलं वीर्यवत्तरं भवति। न हि गोमयनिधाने आम्रवृक्षः पनसफलमुत्पादयति। समुच्चये पुनः फलान्तरं भवति। यथा मधुरं शर्करादिकं जैह्वमानन्दमुत्पादयति। शैत्यं त्वाचाद्यानन्दमुत्पादयति। तयोः समुच्चये पित्तप्रशमनं भवति। न चैवमाम्रपनसयोः समुच्चयेन फलान्तरं स्यादिति वाच्यम्। ययोः समुच्चयो लोकशास्त्रादिसिद्धस्तयोरेव समुच्चयस्य फलान्तरोत्पादकत्वात्। न हि आम्रपनससमुच्चयो लोकशास्त्रान्यतरसिद्धः। अद्यत्वे वैज्ञानिकैर्भिन्नजातीयलताद्वयादिसमुच्चयेन भिन्नजातीयपुष्पाद्युत्पादनदर्शनाच्च। अथ वा समुच्चयस्थले क्वचित्तृतीयं विलक्षणं फलं भवतु यथा चूर्णकहरिद्रयोः संयोगे रक्तवर्णोत्पत्तिः। क्वचित्तु समुच्चीयमानयोः स्वस्वफलोत्कर्ष एव भवति। यथा श्रेष्ठिसेवकयोः समुच्चयस्थले सेवकं प्राप्य श्रेष्ठी बहुतरं धनमर्जयति। सेवकश्च श्रेष्ठिनं प्राप्य उपकरणसम्पत्त्या स्वीयकार्यमुत्कृष्टतरं करोति। एतेन समुच्चयस्थले यदि तृतीयमेव फलं तदा अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुत इति फलद्वयकथनमुत्तरत्र नोपपद्येतेति परास्तम्। न चैवमङ्गाङ्गिभावे समुच्चये च वैशेष्यं न स्यात्तत्रापि फलोत्कर्षस्य दर्शितत्वादिति वाच्यम्। तत्राङ्गिनः फलोत्कर्षसंभवेऽपि अङ्गस्य पृथक्फलविरहाद्वैशेष्योपपत्तेः। षोडशिग्रहणेनातिरात्रफले उत्कृष्टतरत्वोपपत्तावपि अतिरात्रग्रहणस्य स्वयं किंचित्फलं नास्त्येव। तथैव विद्यायाः कर्माङ्गत्वे कर्मफलपितृलोक एव किंचिद्वैशेष्योपपत्तावपि स्वयं विद्यायाः किंचित्फलं न स्यात्। तस्मात्समुच्चयस्थले पृथक्फलवत्त्वमभ्युपगन्तव्यमेव।

इत्थं चैषा भाष्ययोजना। यस्य येन समुच्चयः संभवति न्यायतः शास्त्रतो वा तत् कर्म सा विद्या च देवताविषयज्ञानलक्षणोपासना इह मन्त्रे उच्यते। उपासनाकर्मणोः समुच्चयस्य न्यायतः शास्त्रतश्च सिद्धत्वात्। न च समुच्चयनीययोः पृथक्

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

फलवत्त्वनैयत्यादुपासनायाश्च पृथक् फलविरहात् कथं न्यायतः शास्त्रतश्चोपासनया समुच्चयः सिद्ध्यतीति शङ्क्यम्। विद्यायाः पृथक्फलश्रवणात्। विद्यया देवलोक इति श्रुतेरिति।

अथैवं भाष्ययोजनायां कर्मणोऽपि फलवत्त्वं दर्शयितव्यमस्ति। अन्यथा विद्यायाः सफलत्वेनाङ्गत्वविरहेऽपि अङ्गित्वमेव किं न स्यात् कर्म चाङ्गमिति कुतो न स्वीक्रियेतेतिशङ्कोत्थानाद्। न च कर्मणः सफलत्वस्य श्रुत्यादावतिप्रसिद्धत्वान्न तस्याङ्गत्वसंभावनेति वाच्यम्। विद्याफलस्यापि श्रुत्यादावतिप्रसिद्धत्वात्। नित्य-नैमित्तिकादिकर्मणां फलवत्त्वस्यातिप्रसिद्धत्वविरहाच्च। कर्मणा पितृलोक इति प्रसिद्धं चेद् विद्यया देवलोक इति तदनन्तरपठितं कथमप्रसिद्धं भवेद् येन तदुपन्यासावश्य-कता स्यादिति चेन्न। अविद्यापदस्य कर्मार्थकत्वे विप्रतिपत्तिविरहाद् विद्यापदस्यैव ब्रह्मविद्या वाऽर्थ उपासना वाऽर्थं इति संशयोत्पत्तेर्विद्याविषये एव वक्तव्यत्वात्। यत्र तूभयोर्विशेषेण वक्तव्यतास्ति तत्र वक्ष्यत्येव भाष्यकारः अवान्तरफलभेदं विद्या-कर्मणोः समुच्चयकारणमाहेत्यग्रिममन्त्रावतरणिकायामिति टीकानुसारी पन्थाः।

परे तु विद्येति ब्रह्मविद्यायां प्रसिद्धत्वात् कथमत्र देवताविषयमुपासनात्मकं ज्ञानं विद्यापदार्थतयाभिधातुं शक्यं लक्षणाद्याश्रयणस्य सदोषत्वादित्याशङ्कायां विद्यापदस्योपासनार्थोऽपि प्रसिद्ध एव विद्यया देवलोक इत्यादौ विद्यापदस्योपास-नार्थदर्शनादित्याह भाष्ये विद्यया देवलोक इतीति। ननु तत्रापि विद्यापदं ब्रह्मविद्यापरं किं न स्यादित्यत आह—इति पृथक्फलश्रवणादिति। तत्र विद्यापदस्य ब्रह्मविद्यापरत्वे मोक्षस्यैव तत्फलत्वात्पृथक्फलोक्तिरसंगता स्यात्। न च सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान्, जक्षत् क्रीडन् रममाणो वा इत्येवं तत्र तत्र पृथक्फलश्रवणेऽपि वेदेत्या-देर्नोपासनमर्थ इत्यतोऽप्याह—पृथगिति। कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक इत्येवं श्रुतौ पितृलोकात् पृथक्कृत्य देवलोकफलमभिहितम्। तत्र विद्यया सर्वमित्येव वक्तव्ये पृथक्कृत्याभिधानं पितृलोकादिफलानन्तर्भावं सूचयति। न च ब्रह्मविद्यायास्तदु-चितम्। सर्वान् कामानिति उक्तश्रुतिविरोधात्। "यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतो-दके तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः" इति स्मृतावपि ब्रह्मविद्याफले सर्वफला-न्तर्भावदर्शनात्। न च सर्वद्वैतनिर्मुक्तलक्षणमोक्षे सर्वकामाद्यप्रसिद्धेर्लक्षणयैव सोऽश्नुते सर्वान् कामानित्यादि व्याख्यातव्यम्। निरतिशयानन्दरूपेणावस्थानमुप-लक्षणीयार्थः। तथात्राऽपि दीव्यतीति देवश्चासौ लोकश्च स्वयंज्योतिःस्वरूपावस्थान-मित्यर्थ इति विद्यापदस्य ब्रह्मविद्यार्थकत्वं संभवतीति वाच्यम्। रूढार्थे सति यौगिका-र्थस्यानुपस्थितेः। कर्मणा पितृलोक इति कर्मपितृलोकयोः साहचर्याच्चेति व्याचक्षते।

❀ भाष्यम् ❀

तयोर्ज्ञानकर्मणोरिहैकैकानुष्ठाननिन्दा समुच्चिचीषया, न निन्दापरैव। एकैकस्य पृथक्फलश्रवणात्—"विद्यया तदारोहन्ति" "विद्यया देवलोकः" "न तत्र दक्षिणा यन्ति" "कर्मणा पितृ-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

इह तु समुच्चिचीषयाऽविद्वदादिनिन्दा क्रियत इति प्रागुक्तम्। तदयुक्तम्। प्रत्येकानुष्ठानप्रतिषेधार्थतया निन्देति व्याख्यातुं युक्तत्वाद्। यथा स्तुत्यर्थवादस्थले विधिः कल्प्यते तथा निन्दार्थवादस्थले निषेधस्यापि कल्पयितुं युक्तत्वादित्याशङ्कां पूर्वोक्तार्थस्मारणपूर्वकं निरस्यति भाष्ये—तयोरित्यादि। न निन्दापरैवेति। न प्रतिषेधार्थेत्यर्थः। कुतः? तत्राह—एकैकस्येति। पृथक्फलश्रवणादिति। तथा च फलश्रुत्या विधिः कल्प्यः स्यात्। ततश्च निन्दाश्रुत्या निषेधकल्पने फलश्रुतिरप्रमाणिकी स्यात्। न च विधिनिषेधयोरुभयोः प्राप्तौ विकल्प एव स्यान्न तु केवलप्रतिषेधावशेष इति वाच्यम्। तथापि पाक्षिकाप्रमाण्यस्य दुर्वारत्वात्। अस्मन्मते च निन्दाश्रुतेः समुच्चयफलसत्त्वान्नाप्रामाण्यसंभावनेति यथाश्रुतभाष्यार्थः।

तत्रेदं विचार्यते। अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यादिप्रत्यक्षविधिरन्धं तम इत्याद्यर्थवादकल्पनीयनिषेधेन बाधितुं न शक्यते। प्रत्यक्षश्रुतेः प्रबलत्वात्। यावदर्थवादेन निषेधः कल्प्यते ततः पूर्वमेव प्रत्यक्षश्रुत्या विधिप्रत्ययाद्बाधोपस्थितेर्लिङ्गस्यानुमापकत्वायोगात्। न चात्राविद्याशब्दितं कर्म नाग्निहोत्रादि। किन्तु कर्मणा पितृलोक इत्यादिश्रुतिकथितफलकल्पनीयकर्मान्तरमेवेति वाच्यम्। यतः किं तत् कर्मान्तरम्? कानि तस्याङ्गानि। नह्यनवगताङ्गसाधनं किंचित्कर्म विधातुं शक्यम्। कर्मणा पितृलोकं भावयेदित्यत्र केन भावयेत् कथं भावयेदित्याकाङ्क्षानुपशमात्। न च विश्वजिदादीन्यश्रुतफलान्यत्र कर्माणि गृह्यन्त इति वाच्यम्। तेषामपि स्वर्गफलतायाः कल्पितत्वेन फलाकाङ्क्षाविरहात्। विश्वजिता यजेतेत्यत्र विधेः प्रत्यक्षत्वेन पितृलोकफलकल्प्यत्वविरहेण निन्दाकल्प्यनिषेधेन बाधायोगाच्च। विश्वजिदतिरिक्तं च पितृलोकफलकल्प्यं कर्म चेत्तत्र करणेतिकर्तव्यत्वाद्यनवगमदोष उक्त एव। तर्हि कर्मणा पितृलोक इत्यत्र किं कर्म विवक्षितं यस्य फलं पितृलोक इति चेदग्निहोत्रादिकमेवेति ब्रूमः। न चाग्निहोत्रादेः स्वर्गः फलं न तु पितृलोकः। अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति श्रुतेरिति वाच्यम्। यतः पितृलोकोऽपि स्वर्गविशेष एव। उत्कर्षापकर्षतारतम्यादितः पितृलोकः बृहस्पतिलोकः गन्धर्वलोकः देवलोक इत्यादिभेदाः। कर्मोत्कर्षापकर्षाभ्यां स्वर्गोत्कर्षापकर्षस्य सिद्धान्तितत्वात्। न च तर्हि कर्मणा पितृलोक इति वाक्यं प्रदर्शयता भाष्यकृता अग्नि-

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

ननु समुच्चिचीषया निन्देति किमिति व्याख्यायते ? अध्ययनविधेर्मोक्षादर्वाक्पर्यवसानानुपपत्तेर्देवलोकादिप्राप्तेः फलाभासत्वात् प्रहाणार्थैव निन्दा किं नेष्यते ? तत्राह—तयोर्ज्ञानकर्मणोरिति । न

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

होत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्येव स्पष्टवाक्यं कुतो न प्रदर्शितमिति कर्मान्तरमेव भाष्यकृदभिमतमिति प्रतिभातीति वाच्यम् । अविद्यापदव्याख्याने तामविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणामिति स्वयंव्याख्यास्यमानत्वात् । कर्मणा पितृलोक इति वाक्योदाहरणं तु उपनिषद्गतत्वेन संनिहितत्वात् । किं चाग्निहोत्रं जुहुयादित्युदाहरणे केवलाग्निहोत्रकर्म संगृहीतं स्यान्न त्वन्यत् । कर्मणा पितृलोक इत्यनेन तु निषेकादिश्मशानान्तानि सर्वाणि कर्माणि । एतच्च पञ्चदशमन्त्रावतरणिकायां भाष्ये स्पष्टम् । "तत्र निषेकादिश्मशानान्तं कर्म कुर्वन् जिजीविषेद्यो विद्यया सहापरब्रह्मविषयया तदुक्तं विद्यां चाविद्यां चे"त्यादि तत्र भाष्यम् । वस्तुतस्तु अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति काम्यविधेर्नित्यविधिः पृथगेव । नित्यविधिश्च यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादिति पृथगेवाम्नातः । तथा च नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तरूपेण प्राप्तानि अग्निहोत्रादीनि निषेकादिश्मशानान्तान्येव कुर्वन्नेवेह कर्माणीत्यत्र विद्यां चाविद्यां चेत्यत्र कर्मणा पितृलोक इत्यत्र च विवक्षितानीति ध्येयम् । एवं च साक्षाच्छ्रुतिलभ्यविधेरर्थवादकल्प्यनिषेधेन बाधितुमशक्यत्वात् तयोर्ज्ञानकर्मणोरित्यादिभाष्योत्थानं न घटते । यत्तु अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति श्रुतेः स्वर्गः फलमस्तु, अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामिति श्रुतेर्नरकोऽप्यस्तु, तथा च न प्रत्यक्षविधिबाधलक्षणो दोषः । पुष्टिकामो घृतं भुञ्जीत घृतेन मन्दाग्निर्भवतीत्यत्र विधिसहितभूतार्थवादात्मकनिन्दादर्शनादिति । तदसत् । स्वर्गनरकयोर्विरुद्धत्वात् । अन्यथाऽध्वरे पशुं हिंस्याद् मा हिंस्यात्सर्वाभूतानीति वाक्यद्वयादपि स्वर्गनरकोभयकल्पनापत्तेरित्यतस्तयोरित्यादिभाष्यमन्यथा योजयति टीकाकारः—ननु समुच्चिचीषयेत्यादि । अध्ययनविधेः= स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति विधेः । मोक्षादित्यादि । तव्यता परमफलमोक्षसाधनस्यैव प्रतिपादनौचित्यात् । फलान्तरस्यानृतस्याऽपुरुषार्थतया वेदेन वक्तुमयोग्यत्वाद्, एवं सति विध्यन्तराण्यपि सुतरां तथैवेति भावः । यद्वा अध्ययनविधेः =स्वाध्यायाध्ययनावगतविधेः अग्निहोत्रं जुहुयादित्यादेरित्यर्थः । मोक्षादर्वाक्पर्यवसानानुपपत्तिः कुतः इत्यत आह—देवलोकादिप्राप्तेः फलाभासत्वादिति । न हि पुरुषार्थप्रतिपादनपरा श्रुतिः फलाभासं वक्तुमर्हतीति भावः । प्रहाणार्थैव निन्देति । देवलोकादिविषयकेच्छाप्रहाणार्थैवान्धं तम इत्यादिनिन्देत्यर्थः । न तु कर्मप्रहाणार्थेत्यर्थः । तथा सति

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

फलशब्दो मोक्षे रूढः, मोक्षमनिच्छतामपि समीहिते फलव्यवहार-दर्शनात्। ततो यो देवलोकादिमुपादित्सते तस्य तदपि फलं भवत्येवेत्यर्थः।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

यस्तद्वेदोभयं सहेति पुनर्विधानानुपपत्तेः। तस्माद्देवलोकादिफलप्रहाणार्था तस्यान्धतमसत्वकथनात्मिका निन्देत्येवार्थः। न चैवं भाष्ये एकैकानुष्ठाननिन्देति कर्मानुष्ठाननिन्दैवोपक्रान्ता न तु फलनिन्देति भाष्याननुकूलता स्यादिति वाच्यम्। फलनिन्दायास्तत्प्रयोजकानुष्ठाननिन्दापर्यवसायित्वात्। न चैवं प्रागुक्तदोषाः पुनरुक्तिष्ठेयुरिति वाच्यम्। स्वर्गादिफलनिन्दाया स्वर्गादिफलविशिष्टानुष्ठाननिन्दा-पर्यवसायित्वात्। स्वर्गादीच्छया कर्माणि निन्द्यानीत्युक्तेऽपि सामान्यानुष्ठानस्य निन्दाविषयत्वाभावात्। न चैवमपि प्रत्यक्षश्रुतिविरोधतादवस्थ्यमेव स्वर्गकामो जुहुयादिति वाक्ये स्वर्गप्रयोजकतयैवाग्निहोत्रादिविधानादिति वाच्यम्। अन्धं तम इत्येतदनुरोधेन स्वर्गकामत्वोक्तेरर्थवादमात्रत्वात्। यथा यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति इति पर्णमयीत्वविधौ पापश्लोकाऽश्रवणफलमर्थवादमात्रम्। वस्तुतस्तत्र पर्णमयीत्वस्य क्रत्वर्थत्वमेव न तु पुरुषार्थत्वम्। एवमिहापि यज्ञेन विविदिषन्तीत्यादिश्रुतेर्मोक्षार्थत्वमेव कर्मणां न तु स्वर्गाद्यर्थत्वमपि। फलाभासे स्वर्गादौ वेदतात्पर्याभावादिति।

यस्य पर्णमयी जुहूरित्यादौ अक्रियारूपाया जुह्वाः पुरुषार्थजनकत्वाऽसंभवात् क्रत्वर्थत्वे सिद्धे क्रतुफलातिरिक्तफलानुपपत्तेर्न स पापं श्लोकं शृणोतीत्यस्यार्थवादताया युक्तत्वेऽपि अग्निहोत्रादिकर्मणां स्वयं पुरुषार्थरूपाणां प्रतिपादितफलजनकतायां बाधाभावात्तत्रार्थवादत्वोक्तिर्न सामञ्जस्यमेति, अन्यथा सर्वमीमांसाविप्लवापत्तेः। न च स्वर्गादीनां फलाभासत्वान्न श्रुतिस्तान् प्रतिपादयितुमर्हतीति वाच्यम्। अज्ञानिभिरर्थ्यमानतया तदुपायतयाऽग्निहोत्रादेः श्रुत्या प्रतिपादने क्षतिविरहात्। यज्ञेन विविदिषन्तीति तु संयोगपृथक्त्वेनाप्युपपादयितुं शक्यम्। तस्माच्छ्रूयमाणं स्वर्गादिफलं भवत्येवेति अन्धं तम इत्यादिनिन्दा पारिशेष्यात्समुच्चयविधिपरतायामेव पर्यवस्यतीत्युत्तरभाष्यं विवृणोति—न फलशब्दो मोक्षे रूढ इति। फलत्वं न मोक्षमात्रस्येत्यर्थः। पुरुषार्थत्वं न मोक्षमात्रस्येति यावत्। तेनात्र श्रुतौ फलशब्दविरहेऽपि नासंगतिः।

अत्रेदं चिन्त्यते—तयोर्ज्ञानकर्मणोरित्यादि भाष्यं सैद्धान्तिकमन्त्रोपक्रम-परतया प्रवृत्तम्। तत्र पितृलोकदेवलोकयोर्मिथ्यात्वेन फलाभासत्वे तद्वदेव मृत्यु-तरणपूर्वकामृतत्वप्राप्तेरपि *अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुत इति श्रुति-*

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

लब्धाया मिथ्यात्वाविशेषात्तस्या अपि फलत्वं कथमुपपद्यते ? न ह्यत्र मुख्यममृतत्वं किन्त्वापेक्षिकमिति हि वक्ष्यते। न हि भास्करादिवत् सिद्धान्ते मुख्यममृतत्वं विवक्षितमस्ति। तथा चैकमनृतं विनिन्द्यापराऽनृतविधानमिति कस्य मेधाविनः शोभास्पदम् ?

तस्माद्भाष्यमिदमेवं व्याख्येयम्:—अत्रैकैकानुष्ठाननिन्दा न प्रत्येकप्रहाणार्था। कुतः ? प्रत्येकस्यापि तत्र तत्र फलाभिधानात्। किन्तु समुच्चिचीषया= समुच्चितस्यापि विधानार्थम्। न च निन्दानुमेयनिषेधस्य प्रत्यक्षविधिबाधकत्वं न भवतीति प्रागुपपादितत्वात् कर्मप्रहाणार्थत्वं निन्दाया न शङ्कितुमर्हमिति वाच्यम्। अग्निहोत्रं जुहुयादिति विधिप्राप्तमप्यग्निहोत्रं विद्यासहितमेव कुर्यादित्येवमर्थसंभवात्। यथा "प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यति मूर्धा ते विपतिष्यति" इति विद्वत्समीपेऽविद्वन्निन्दया विद्यासाहित्यस्यापि तत्र कर्माङ्गत्वं सिद्धान्तितम्। तथाग्निहोत्रादावपि विद्यासाहित्यस्याङ्गत्वमिति पूर्वपक्षिणाऽऽपादयितुं शक्यत्वात्।

नन्वेवं सिद्धान्तेऽपि विद्याविद्ययोः केवलयोः प्रहाणेन सर्वत्र समुच्चितविधानार्थमेवान्धं तम इत्यादीति कथं न स्वीक्रियतामिति चेन्न। तथा सति समुच्चितविधानस्य पृथक्फलकथनानुपपत्तेः। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वेत्यादि पृथगिह फलमभिधीयते। न ह्येवं विद्वत्समीपे विद्यया सह कृतकर्मणः पृथक् फलमाम्नायते। दक्षिणोत्तरमार्गव्यवस्था च भग्ना स्यात्, विद्यारहितकर्मफलत्वाद्दक्षिणमार्गस्य। यथोक्तरीत्याश्रयणे च विद्यारहितकर्मण एवासंभवात् निन्दतत्वेनानुष्ठातुमशक्यत्वात्, विद्वत्समीपे विद्यारहितकर्मानुष्ठानायोगवद् अनुष्ठितस्यापि विद्यासाहित्यलक्षणाङ्गवैकल्येन फलजनकत्वायोगाद्।

वस्तुतस्तु अन्धं तम इत्यादेर्निन्दापरत्वे निश्चीयमाने "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यादेर्विध्याभासत्वमेव स्यात्। यथा—"जर्त्तिलयवाग्वा वा जुहुयाद्" इति श्रूयमाणोऽपि विधिः "अनाहुतिर्वै जर्त्तिला" इत्यादिनिन्दाश्रवणाद्विध्याभास एव। न च "पयसा जुहोती"ति विधिप्राशस्त्यार्थकमेव जर्त्तिलयवाग्वा वा जुहुयादित्यादिविधितन्निन्दे, प्रकृते तु अग्निहोत्रं जुहुयादिति विध्यानर्थक्यमेव सर्वथा स्यात्तन्निन्दायामिति वाच्यम्। समुच्चयविधिप्राशस्त्यार्थत्वेनात्रापि तत्सार्थक्योपपादनसंभवात्। अतएव न हि शास्त्रविहितं किंचिदकर्त्तव्यतामियादित्युत्तरभाष्यसंगतिः। अकर्त्तव्यताप्राप्तावेव तन्निषेधसंभवात्। इति भाष्यकारदर्शितपूर्वपक्षाशयः।

नन्वेवमेकैकानुष्ठाननिन्दा न निन्दैवेति सिद्धान्तः कथं संगच्छते ? अनाहुतिर्वै

❀ भाष्यम् ❀

लोक" इति । न हि शास्त्रविहितं किंचिदकर्त्तव्यतामियात् ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

जर्तिला इतिवन्निन्दापरत्वमेव किं न स्यादित्याशङ्क्याह-भाष्ये—एकैकस्य पृथक् फलश्रवणादिति । न हि जर्त्तिलयवाग्वा वा जुहुयादित्यत्र किमपि फलं श्रूयते इति युक्तं तत्रानाहुतिर्वै इत्यस्य निन्दापरत्व जर्त्तिलयवाग्वा वा जुहुयादित्यस्य विध्याभासत्वं च । न ह्येवं प्रकृते । अत्र फलस्य श्रवणात् । न च जर्त्तिलयवाग्वा वा इत्यत्रापि "न ग्राम्यान् हिनस्ति नारण्यान्" इति फलमभिहितमस्तीति वाच्यम् । यतो न तद्यागफलम् किन्तु यागस्वरूपे ग्राम्यादिपशुहिंसाराहित्यस्य सिद्धस्यानुवादमात्रमेवेति वैषम्यात् । अत एव अपशवो वा ह्यन्ये गवाश्वेभ्यः पशवो गोअश्वा इति निन्दा न निन्दापरा । किन्तु गवाश्वस्तुतिपरा । अजालम्भनादेः पृथक्फलश्रवणात् । एवं चात्रापि पितृलोकादेः पृथक फलस्य श्रवणाद् अन्धं तम इत्यादेर्न निन्दापरत्वं न वाऽग्निहोत्रं जुहुयादित्यादेर्विध्याभासतापत्तिश्चेति सर्वं चतुरस्रम् ।

वयं पुनर्भाष्यस्य सरलार्थमेवमालोचयामः—निषेकादिश्मशानान्तानि कर्माणि यानि तेषु कानिचिद्विधिवाक्यप्राप्तानि कानिचित् स्मृत्यवगतानि कानिचिच्च शिष्टाचारप्राप्तानीति सर्वेषामनुष्ठेयत्वं न श्रौतविधिलभ्यम । अत्र तान्येव कर्माणि अविद्यापदेनानूद्यन्ते न तु अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्यादिविधिप्राप्तानि । भाष्ये अग्निहोत्रादीनि इति तु यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादितिश्रुत्यवगताग्निहोत्रपरम् । तथा च तेषां निन्दाऽन्धं तम इत्यनेन संभवति । श्रौतकतिपयकर्मस्वपि जर्त्तिलयवागून्यायप्रसरसंभवात् । अन्येषां विधेः कल्प्यत्वात् । तथा च निन्दानुमेयनिषेधेन तेषां बाधः स्यादेव । नातिरात्र इत्यत्र निषेधमात्रं न तु निन्देति विशेष इति पूर्वपक्षः । सिद्धान्ते तु कर्मणा पितृलोक इति फलश्रवणान्निन्दास्तुत्योः समकक्षत्वेन विधिनिषेधविकल्पप्रसक्तौ पाक्षिकाप्रामाण्यं दुर्वारमिति वरं समुच्चिचीषया निन्दा न तु निषिषेधयिषया स्वर्गनरकोभयस्य विरुद्धस्य कल्पनागौरवाभावादिति ।

भाष्ये शास्त्रविहितमिति । फलश्रवणेन विध्याभासत्वे निरस्ते सति कर्मणः शास्त्रविधिविषयत्वं सिद्धम् । ततश्च शास्त्रविहितस्य 'अन्धं तम' इत्यादिना निन्दयाऽकर्त्तव्यत्वं नापद्यते । एवं सति निन्दार्थकशब्द एव स्वार्थात् प्रच्यवत इति भावः ।

केचित्तु ईशावास्यमित्यादि ज्ञातव्यमिति यज्ज्ञानमुपासनात्मकमभिहितं यच्च कुर्वन्नेवेहेति कर्माभिहितं तदुभयमिह समुच्चिचीषितम् । तथा च वर्णाश्रमधर्मानुगृहीतया विद्यया कर्मसमुच्चितया निःश्रेयसावाप्तिरिति मन्त्रत्रयतात्पर्यमित्याहुः—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रताः ॥९॥

❀ भाष्यम् ❀

तत्र—अन्धं तमः=अदर्शनात्मकं तमः प्रविशन्ति । के ? येऽविद्यां=विद्याया अन्या अविद्या तां कर्मेत्यर्थः, कर्मणो विद्याविरोधित्वात्, तामविद्याम्—अग्निहोत्रादिलक्षणामेव केव-

जयमङ्गलाचार्य विवरणम्

तदसत् । यतः किमर्थं समुच्चयोऽत्र वक्तव्यः । अज्ञातज्ञापनार्थं वा स्मारणार्थं वा नाद्यः। प्रथममन्त्रद्वये एव त्वयोभयसमुच्चयस्य वर्णितत्वात् । न च पृथक्कारणद्वयमेव तत्रोक्तं न समुच्चय इति वाच्यम् । शतं समाः कुर्वन्नेवेत्युक्तौ कर्मत्यागस्याप्राप्तत्वात्तेनैव मोक्षसंभवे ईशावास्यमित्युपदेशवैयर्थ्याच्चार्थतः समुच्चयसिद्धेः । न च भिन्नाधिकारत्वशङ्कयाऽसमुच्चयप्रसक्तिस्तत्र संभवति । यतः कथं सा शङ्का ? यदि विरोधात्तदा वचनेनापि समुच्चयविधानमशक्यम् । यदि च पुरुषेच्छयाऽन्यतरमात्रप्रसक्तिरुच्यते तदा अन्धं तम इत्यादयोऽपि किं करिष्यन्ति पुरुषेच्छाया बलीयस्त्वात् । यथा नास्तिकानाम् । तस्मादिदं प्रकरणान्तरमेवोपासनाविशेषकर्मणोः समुच्चयविधानपरमिति ।

अन्धं तमः । भाष्ये तत्रेति । समुच्चिचीषायां सत्यामित्यर्थः । इदमुच्यत इति शेषः । तत्र= समुच्चयासमुच्चयकारिणोर्मध्ये इति वा । कुहूनिशीथिनीगतान्धतमसादिप्रवेशो नात्र विवक्षणार्हः, तत्प्रवेशेऽपि प्रातः प्रकाशप्राप्तेः, लोकालोकाचलोत्तरान्धतमसप्रवेशस्तु पितृलोकादिगमनश्रुतिविरुद्ध इति व्याचष्टे—अदर्शनात्मकं तम इति । प्रकृतिलयात्मकान्धतमसप्रवेशस्तु नात्र व्याख्यातः । तस्यांव्याकृतोपासनफलत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । न च वचनात्कर्मणोऽपि फलं तदस्त्विति वाच्यम् । यो यत्क्रतुर्भवति स तदभिसंपद्यत इति प्रकृत्युपासकस्य प्रकृतिलयवत् स्वर्गादिकामुकस्य कर्मिणः प्रकृतिलयानुपपत्तेः, फलान्तरवचनविरोधाच्च । स्वमते तु पितृलोकादिगमनेऽप्यदर्शनात्मकतमसोऽविशेषादुपपत्तिः । विद्याया अन्यत्वं घटादेरप्यस्तीत्यतो नञो विरोधार्थकतया कर्मपर्यवसायित्वमाह—कर्मणो विद्याविरोधित्वादिति । यद्यपि विद्याविरोधित्वमज्ञानस्याप्यस्ति, तत्रैव चाऽविद्यापदं रूढं तथापि अविद्यया मृत्युं तीर्त्वेत्युत्तरानुरोधेनाविद्यापदस्य कर्मार्थकत्वं वक्तव्यम् । तत्र कया वृत्त्या कर्मार्थकत्वमित्येतद्दर्शयितुं विद्याविरोधित्वादित्युक्तमिति बोध्यम् । अविद्यापदबोधितं कर्म न प्रसिद्धकर्मतोऽन्यदित्याशयेनाह—अग्निहोत्रादिलक्ष-

❀ भाष्यम् ❀

लामुपासते=तत्परास्सन्तोऽनुतिष्ठन्तीत्यभिप्रायः। ततस्तस्मादन्धात्मकात्तमसो भूय इव=बहुतरमेव ते तमः प्रविशन्ति । के ? कर्म हित्वा ये उ=ये तु विद्यायामेव=देवताज्ञानेएव रताः=अभिरताः९

भाष्यम

णामिति । समुच्चयश्रविधावपि कर्मसत्त्वादविद्योपासनसामान्यस्यान्धतमसप्रवेशोक्त्यसामञ्जस्यं स्यादित्यतोऽविद्यामिति पदं सावधारणतया व्याचष्टे—एव केवलामिति । न चान्धं तम इत्यस्यादर्शनात्मकं तम इत्यर्थकरणे समुच्चयस्थलेऽपि तदव्याहतमेव । आपेक्षिकामृतत्वस्य वक्ष्यमाणतया तादृशामृतप्राप्तिसमयेऽपि अदर्शनात्मकतमसः सत्त्वादिति वाच्यम् । यतोऽन्धं तम इत्यस्यादर्शनात्मकं तम इति भावार्थत्वेऽपि शब्दतो निन्दाया गम्यमानत्वात्तस्य समुच्चयानुष्ठानफलकाले स्वीकर्त्तुमशक्यत्वात् । समुच्चयस्तवनपरतया क्रियमाणनिन्दाविषयस्य स्तुत्येऽयोगात् । न च स्वीकाराशक्यतादिकमकिंचितकरं समुच्चयफलकाले तत्सत्त्वस्य दुर्वारत्वादिति वाच्यम् । समुच्चयानुष्ठानेनान्तःकरणशुद्धयाधिक्येऽत्यन्तान्धतमसविरहात् । अन्धं तम इत्यनेनात्यन्तान्धतमसविवक्षणात् । यद्वा समुच्चयानुष्ठाने सति यदधिकसुखं प्राप्यते तदप्ययं न प्राप्नोतीत्यधिकाज्ञानित्वपरमन्धं तमः प्रविशन्तीति । अथवा लोकालोकपर्वतानन्तरान्धतमसव्यावृत्तिमात्रपरतयादर्शनात्मकमिति भाष्यकार आह । यद्वा वस्तुस्थितिमनुक्त्वाऽयं मामन्धतमसे निक्षिप्तवानिति लौकिकप्रयोगानुसारेण तथार्थमाह । अन्धशब्दस्य चक्षुर्हीने प्रसिद्धतयाऽदर्शनात्मकत्वार्थस्वारस्याद्वा । कर्मण उपासनं कर्मविषयकमानसवृत्तिप्रवाहात्मकं नात्र विवक्षितं, किन्तु कर्मानुष्ठानमेव । तत्र तत्परतालाभार्थमुपासत इति प्रयुक्तमित्याशयेन व्याचष्टे—तत्पराः सन्तोऽनुतिष्ठन्तीति । भूय इव बहुतरमेवेति । कर्मप्राप्यपितृलोकाद्यपेक्षयाऽधिककालपर्यन्तमुपासका देवलोकादौ वर्तन्त इति शीघ्रनिस्तारविरहाद्बहुतरत्वम् । न चैवं समुच्चयविधातुस्ततोऽपि बहुतमान्धतमसप्रवेशस्वीकारापत्तिरिति वाच्यम् । यतो मृत्युतरणपूर्वकापेक्षिकमृतफलस्यैव परमपुरुषार्थत्वं मन्यमानः शोचति देवलोकेऽपि इतो निस्तारे सति पुनर्मनुष्यो भूत्वा समुच्चयानुष्ठानं विधास्य इति । परं शीघ्रनिस्ताराभावाद्बहुतरतमःप्राप्तिसिद्धिः परमपुरुषार्थत्वाभिमानाच्च समुच्चयफले नान्धतमसत्वोक्तिरिति । अधिकमग्रे । अत्रापि विद्यायामिति सावधारणमित्याशयेनाह—कर्म हित्वेति । देवताज्ञाने समुत्पन्ने रता इति नार्थः किन्तु तत्समुत्पादनेऽपीत्याशयेनाभीत्युपसर्गं योजयित्वा व्याचष्टे—रता अभिरता इति ॥९॥

इति नवममन्त्रविवरणम्

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

❈ भाष्यम् ❈

तत्रावान्तरफलभेदं विद्याकर्मणोः समुच्चयकारणमाह, अन्यथा फलवदफलवतोः संनिहितयारङ्गाङ्गितैव स्यादिति, अन्यदेवेत्या-

❈ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❈

अन्यदेव । नन्वविद्ययाऽन्धतमसप्रवेशस्ततो बहुतरान्धतमसप्रवेशो विद्ययेति कथनेनैवान्यत्फलमविद्याया अन्यत्फल च विद्याया आयातमिति अन्यदेवेत्यादि-मन्त्रोत्थानमफलम् । न चान्धतमसे किंचिदधिकतमोमेलनेन बहुतरतमस्त्वमिति शङ्कां व्यावर्त्तयितुमन्धतमस्त्वं बहुतरतमस्त्वं च पृथक् पृथगेवेति वक्तुमयं मन्त्र इति वाच्यम् । निन्दाया प्रयोजनान्तरत्वेनैवं विधविभागकरणस्याप्रयोजनत्वादित्या-शङ्क्य पूर्वमन्त्रोक्तान्धतमसाधिकतरतमसोर्विभज्य प्रदशनाय नायं मन्त्रः प्रवृत्ते, किन्तु विहितयोः पुरुषार्थभूतफलविभागप्रदर्शनाय । न च तदपि व्यर्थम् । समुच्च-यविध्युपयोगित्वादित्याशयेनोत्तरमन्त्रमवतारयति— तत्रावान्तरफलभेदमिति । आहेति । अन्यदेवेत्यादीति परेणान्वयः । अन्यथा = अवान्तरफलभेदाभावे । एकफलत्वे विद्याकर्मणोरन्यतरन्मुख्यं स्यात्फलवत् । अपरं चाफलवदिति फलव-त्संनिधावफलं तदङ्गमिति न्यायेन परस्पराङ्गाङ्गिभाव एव स्यान्न तु समुच्चयः ।

ननु किमत्र फलवत् किं चाफलवत् ? । उभयोरपि फलस्यान्यत्र श्रुतत्वात् । अनधीतवेदस्य चोभयोरपि फलवत्त्वं न ज्ञातमिति कथमङ्गाङ्गिभावेनान्वयप्रसक्ति-रिति चेन्न । कर्मिकुलोत्पन्नो वृद्धव्यवहारादिना कर्मणः साफल्यमवगच्छति उपा-सककुलोत्पन्नश्चोपासनाया वृद्धव्यवहारादिना सफलत्वमवगच्छतीति तत्तत्कुलजयो-रङ्गाङ्गिभावज्ञानप्रसङ्गसंभवात् । न चानध्ययननिबन्धनभ्रम एव न तु वस्तुतोऽ-ङ्गाङ्गिभाव इति वाच्यम् । अनध्ययननिमित्तभ्रमवारणायैव अन्यदेवेत्यादिश्रुत्यावा-न्तरफलभेदकीर्त्तनात् । अन्यथाऽवान्तरभेदस्यान्यत्रोक्तस्यानुवादवैयर्थ्यमेव स्यात् । न चात्रान्यत्रोक्तफलानुवादो नाङ्गीक्रियते । श्रुतीनां सर्वासामेव निरपेक्षत्वेनात्रैवावा-न्तरफलभेदोक्तेरिति वाच्यम् । अन्यदेवाहुरिति ब्रूधातोः प्रयोगेणानुवादस्य स्पष्टत्वात् । आहुरन्यत्र तदिहानूद्यत इति । अन्यदेवेति फलविशेषानुक्तेश्च । किं तत्फलमिति जिज्ञासाया उपशमे श्रुत्यन्तरस्यैव शरणत्वात् । न चैवमपि भाष्यकृता अङ्गाङ्गि-भावभ्रमप्रसक्तेरेव वक्तव्यत्वेऽङ्गाङ्गिभावापत्तिप्रदर्शनमयुक्तं स्यादिति वाच्यम् । तत्रैव तात्पर्यात् । अथ वा विद्याकर्मणोरिति द्विवचनेनोभयोरवान्तरफलभेदमाहेत्यर्थ

❀ जयमङ्गलाचार्यं विवरणम् ❀

आयाति । ननु किमर्थमुभयोः फलभेद उच्यते । एकस्यैव फलमुच्यताम् । न च कस्य फलं वक्तव्यं ? न ह्यत्र विनिगमनेति वाच्यम् । कुर्वन्नेवेह कर्माणीति कर्मण उपक्रान्तत्वात्तस्यैव फलमुच्यताम् । तत्राह—अन्यथेति । विद्याकर्मणोरुभयोरवान्तरफलभेदमनुक्त्वा एकस्यैव फलकथन इत्यर्थः । यद्वा कुर्वन्नेवेह कर्माणि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यत इति पूर्वं कर्मणां कर्मलेपाभावः फलमुक्तः स इहानुवर्त्तेतेति विद्यायास्तदङ्गत्वमेव स्यादित्यर्थः । न च तत्र कर्मपदेन कायिकमानसिकोभयकर्म विवक्षितमिति सामान्येनोपासनाफलमप्युक्तमेवेति वाच्यम् । कर्मपदेन मुख्यतया स्थूलकर्मणामेव ग्रहणात् । अत एव प्रागपि भाष्यकारेण विद्यया देवलोक इति पृथक्फलश्रवणादिति विद्याया एव फलान्तराभिधाने यत्नः कृतो न कर्मणः । न चैवमत्र विद्याया एव फलं वक्तव्यमित्युभयोरवान्तरफलोक्तिरफला स्यादिति वाच्यम् । विद्याफलमात्रोक्तौ तदेव कर्मणोऽपि फलं चेत्स्यादिति शङ्कोत्थाने समुच्चयप्रतिपादनानुपपत्तेः । तस्मात्पृथक्फलमेव वक्तव्यम् ।

वस्तुतस्तु अवान्तरफलभेदमित्यस्य तादृशफलविशेषमिति नार्थः । किन्त्ववान्तरफलपार्थक्यमित्यर्थः । न हि अन्यदेवेत्यादिमन्त्रे फलविशेषः शृङ्गग्राहिकयोक्तः किन्तु परस्परफलपार्थक्यमात्रम् फलस्यान्यत एवावगततया पार्थक्यमात्रस्येह समुच्चयकारणस्य वक्तव्यत्वात् । न च कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक इति फलपार्थक्यमप्यन्यतोऽवगतमेवेति वाच्यम् । न कर्म लिप्यत इति क्वचिन्नैष्कर्म्यस्य स्वर्गकामो यजेतेति क्वचित् स्वर्गस्योक्तत्वेन फलपार्थक्यस्याऽस्पष्टत्वात् । एवं सति कर्मोपासनयोः फलैक्यमेव देवपित्रादिशब्दप्रतिपाद्यसुखविशेषात्मकं स्यादिति किंचिदेकं मुख्यं फलवत् स्यादन्यच्चानतिरिक्तफलत्वादङ्गं स्यात् । न च कतरन्मुख्यं कतरच्चाङ्गमिति न निर्णय इति वाच्यम् । व्यक्तिभेदेन मुख्यगौणवैयत्यात् । तत्र ये कर्मिणः कर्म कुर्वन्तो जिजीविषन्ति तेषां कर्म मुख्यं विद्या चाङ्गं स्यात् । ये पुनरुपासनमात्रपरायणास्तेषामुपासना मुख्या कर्म तदङ्गम् । यद्वा पितृलोकदेवलोकादेः स्वर्गविशेषत्वात्स्वर्गस्य सुखविशेषात्मकत्वादन्तःकरणस्थितः सः । उपासना मानसव्यापाररूपेति सांनिध्यादुपासना मुख्या अङ्गमितरदित्येवं कल्पना संभवतीति दिक् ।

नन्वङ्गाङ्गिभावेनैवास्तु समुच्चयः, अङ्गाङ्गिनोरपि समुच्चयाभ्युपगमात् तथा च पृथक्फलकथनमनुपयुक्तमेवेति चेन्न । समुच्चयो नाम परस्पराङ्गाङ्गिभावत्वे सति पुरुषार्थकारणत्वं, न त्वङ्गाङ्गिभावमात्रम् । अङ्गाङ्गिभावे सति अङ्गस्य क्रत्वर्थत्वमङ्गिनः पुरुषार्थत्वमिति स्यात् ।

नन्वेवमपि यस्तद्वेदोभयँ सह इति सहवचनात्समुच्चयः प्राप्नोति ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

तत्राङ्गाङ्गिभावसंज्ञया वा समुच्चयसंज्ञाया वा भवतूभयोरनुष्ठानं को नाम ततो भेदः स्यात्। अग्निरङ्गं तण्डुलोऽङ्गीति वा अग्नितण्डुलयोः समुच्चय इति वा संज्ञाभेदमात्रान्न भक्तफले किमप्यन्तरं भवति। न ह्यनुष्ठाने किंचदपि वैलक्षण्यं संज्ञाभेदमात्रेणेति चेन्न। अनुष्ठानस्य समानाकारत्वेऽपि मानसभावनाया भेदावश्यंभावात्। उपासनाया अङ्गत्वे क्रत्वर्थतया तामनुतिष्ठामीति भवति मतिः, समुच्चये तु पुरुषार्थतयानुतिष्ठामीति मतिः। न च मतिमात्रमकिंचित्करमिति युक्तं वक्तुम्। दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादित्यत्र पुरुषार्थतया इन्द्रियं मे स्यादिति भावनया क्रियमाणदधिहोमे दध्ना जुहोतीति क्रत्वर्थतया क्रियमाणदधिहोमे च बहिराकारभेद-विरहेऽपि भावनाभेदेन फलभेददर्शनात्। न हि इन्द्रियकामनां विना क्रियमाण-दधिहोमस्य वस्तुस्वाभाव्येनेन्द्रियजनकत्वमस्ति। तथैवोपासना पुरुषार्थसाधनमित्य-जानता तत्कामनाविरहवता केवलकर्माङ्गतयाऽनुष्ठीयमानया तया पुरुषार्थोत्पत्त्य-योगात्। यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरमिति श्रुतेः कर्मफलं वीर्यवत्तरं भवतु नाम तथापि विद्याफलं वीर्यवत्तरं वा स्वारूपिकं वा ततो न भवति पुरुषार्थतयाऽ-ननुष्ठानात्। एवमविद्यापक्षेऽपि। तस्मादङ्गाङ्गिभावस्थले समुच्चयव्यवहार एव नास्ति पारिभाषिकत्वात् समुच्चयपदार्थस्य। सत्त्वेऽपि तद्व्यवहारे यौगिकः सः।

केचित्तु फलवदफलवतोः संनिहितयोरङ्गाङ्गितया जामितैव स्यादिति पाठं स्वीकृत्य—अङ्गाङ्गित्वेनैव समुच्चयः सिद्धः, अङ्गविहीनस्य फलाधायकत्वायोगात्, तस्मादङ्गाङ्गिनोः समुच्चयोऽर्थसिद्ध एवेति तस्यैव विधाने जामितैव पुनरुक्तिरेव स्यादिति तदर्थं चाचख्युः। तच्चिन्त्यम्। समुच्चयपदस्य पारिभाषिकार्थकताया अस्माभिरनुपदं व्यवस्थापितत्वेनाङ्गाङ्गिभावमात्रस्थले विवक्षितसमुच्चयस्यैव नभ्यु-पगमात्। अवान्तरफलभेदं समुच्चयकारणमिति पूर्वभाष्यविरोधाच्च। अङ्गाङ्गि-स्थलेऽपि समुच्चयसत्त्वेनावान्तरफलभेदस्य व्यभिचारितया नियतपूर्ववर्त्तित्वलक्षण-कारणत्वस्य तत्रायोगात्।

ननु तादृशभाष्यपाठे भवन्मते कोऽर्थः स्यादिति चेदुच्यते। अवान्तरफल-भेदविरहे फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमिति न्यायेन कर्माङ्गं विद्येत्येव स्यात्। तथा सति यस्तद्वेदोभयं सहेति जामिता पुनरुक्तिरेव। यदेव विद्यया करोतीति श्रुत्यन्तरे विद्यासहितकर्मणो वीर्यवत्तरफलस्योक्तत्वात्। न च श्रुत्यन्तरोक्तस्य श्रुत्यन्तरेण कथने पुनरुक्तिदोषो नास्ति। उभयोर्निरपेक्षप्रामाण्याविशेषादिति वाच्यम्। एवमपि फल-वत्संनिधिपाठेनैवाङ्गाङ्गिभावसिद्धौ पुनरङ्गाङ्गिभावबोधकस्य यस्तद्वेदोभयँ सहेत्य-स्यार्थसिद्धार्थत्वेन पुनरुक्तित्वापरिहारात्। नच सहशब्देन समुच्चय उच्यत इति न पुनरुक्तिरिति वाच्यम्। फलवत्संनिधिपाठेनाङ्गाङ्गिभावे सिद्धे सहेत्यस्याङ्गाङ्गिभा-

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

वार्थतायामेव पर्यवसानापत्तेः। न हि सहशब्दस्य समुच्चयार्थो रूढः।

ननु प्रथमासमानाधिकरणसहशब्दः समसमुच्चयस्थले एव भवति न त्वङ्गाङ्गिभावस्थले तत्र सहयुक्तेऽप्रधान इति तृतीयैव प्रसज्यते। पुत्रेण सह गतः पितेति प्रयोगात्। न चासंजातविरोधिन्यायेन प्रथमं संनिधिपाठेनाङ्गाङ्गिभावे सिद्धे पश्चात्पठितसहशब्दस्याङ्गाङ्गिभावलाक्षणिकत्वमुपेयम्। उच्चैर्ऋचा क्रियत इत्यत्र ऋग्वेदाद्यर्थवदिति वाच्यम्। संनिधिपाठेन यावदङ्गाङ्गिभावबोधकश्रुतिकल्पना भवति ततः पूर्वमेव सहेत्यनेन समुच्चयविधानादिति चेन्न। प्रथमासमानाधिकरणसहपदस्य समुच्चयरूढत्वविरहात्। अङ्गाङ्गिनौ सह क्रियेते इत्यत्र समुच्चयार्थासंभवात्। तस्मात् साहित्यमात्रं सहशब्दार्थः।

नन्ववान्तरफलभेदः समुच्चयकारणमित्ययुक्तम्। अवान्तरफलभेदाननुसन्धानेऽपि शैत्यमधुरयोः पित्तप्रशमने समुच्चयदर्शनात् यथा वा दर्शपूर्णमासयोः। न हि तत्र दर्शः पूर्णमासाङ्गं पूर्णमासो वा दर्शाङ्गम्। न वा दर्शस्य पूर्णमासस्य च पृथक्फलमस्ति। उभयं समुच्चितं च स्वर्गं भावयति। न च तत्रैकमेव कर्म न तु कर्मद्वयमिति न समुच्चयप्रसक्तिरिति वाच्यम्। दर्शपूर्णमासाभ्यामिति द्विवचनविरोधापत्तेरिति चेन्न। दर्शपूर्णमासौ मिलित्वैकमेव कर्म न तु कर्मद्वयम्। अन्यथा तत्र आग्नेयोऽष्टकपाल इत्येव षण्णां यागानां विहिततया द्विवचनानुपपत्तिः। त्रिकं त्रिकं राशीकृत्य च दर्शपूर्णमासावुच्येते। न चैवं षट्कमपि राशीकृत्यैकनामधेयेन कथं नोक्तमिति वाच्यम्। दर्शपूर्णमासाभ्यामिति विधाने गौरवविरहात्। यत्र तु गौरवं तत्र क्रियत एव राशीकृत्यैकनामधेयकरणं यथा चातुर्मास्ययागेषु प्रथमपर्वण्यष्टानां यागानां राशीकरणेन वैश्वदेवसंज्ञा वैश्वदेवेन यजेतेति। शैत्यमधुरस्थले फलभेदाननुसन्धानेऽपि फलभेदो विद्यत एव।

ननु भास्करेण ब्रह्मविद्याकर्मणोः समुच्चय उररीकृतः। समुच्चिताभ्यां मोक्षो भवति। परं तु अवान्तरफलभेदो नास्ति। कर्मणः स्वर्गादिफलभेदसत्त्वेऽपि ब्रह्मविद्याया मोक्षैकफलत्वेन प्रधानफलातिरिक्तावान्तरफलविरहादिति चेन्न। भास्करेणापि ब्रह्मविद्यायाः अवान्तरफलभेदोपगमात्। किं तत् फलान्तरमिति चेत्? विद्यया देवलोक इतिश्रुत्यैव। न चेदमुपासनाफलमिति वाच्यम्। भास्करमतेऽत्रापि विद्यापदस्य ब्रह्मविद्यार्थकत्वस्योक्तत्वात्। तर्ह्युपासनायाः किं फलमिति चेत्? यत्र यत्फलमुक्तं तदेव।

अन्यशब्दस्यानिर्वचनीयोत्कर्षार्थोऽपि प्रसिद्धः, तपसाऽयमन्य एव संवृत्तः इत्यादौ। किं चान्धं तमः प्रविशन्तीत्युक्तं ततोऽन्यदेवाहुरिति यद्यर्थस्तदा श्रुतिद्वय-

❀ भाष्यम् ❀

दि । अन्यत्=पृथगेव विद्यया क्रियते फलमिति आहुः=वदन्ति । "विद्यया देवलोको" "विद्यया तदारोहन्ति" इति श्रुतेः । अन्यदाहुः अविद्यया=कर्मणा क्रियते "कर्मणा पितृलोकः" इति श्रुतेः । इति=एवं, शुश्रुम=श्रुतवन्तो वयं धीराणां=धीमतां वचनम्, ये—आचार्या नः=अस्मभ्यं तत्=कर्म [च] ज्ञानं च विचचक्षिरे=व्याख्यातवन्तः, तेषामयमागमः पारम्पर्यागत इत्यर्थः ॥१०॥

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

विरोधापत्तिरित्यतोऽत्रावान्तरफलभेदपरतया व्याचष्टे पृथगिति । विद्यया क्रियत इति । ननु किमर्थं कर्त्तरि तृतीयां स्वीकृत्य क्रियत इत्यध्याह्रियते । हेतुतृतीयायाः सुगमत्वात् । अन्यदेवाहुः संभवादित्यत्र हेतुपञ्चमीदर्शनाच्च । तस्माद् विद्यया भवतीति व्याख्यातुमुचितमिति चेन्न । मोक्षः फलमिति वदतां मतमपाकर्त्तुं कर्तृतृतीयया व्याख्यानात् । मोक्षो न क्रियत इति तद्व्यावृत्तिलाभात् । "सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोक" इत्युदाहरणीयश्रुतौ विद्यया देवलोको जेतव्य इति करणतृतीयादर्शनेन करणस्य कर्त्तृविवक्षया काष्ठेन पच्यत इतिवदत्र भाष्यकृता व्याख्यानाच्च । अथ वा करणतृतीयैवात्रास्तु श्रुत्यन्तरानुरोधात् । कर्त्तुश्चाध्याहारः । मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्य इत्यत्रापि कर्त्रध्याहारसाम्यादिति बोध्यम् । धृतिमदर्थकधीरपदस्यानतियुक्तत्वाद्धीमदर्थतया व्याचष्टे—धीमतामिति । शुश्रुम इति लिटं श्रुतवन्त इति सामान्यभूतार्थेन विचचक्षिर इति च व्याख्यातवन्त इति व्याख्यातम् । न हि श्रवण व्याख्यानं च स्वस्य कृते परोक्षं भवितुमर्हतीति, तथापि श्रुतौ लिटः प्रयोगे किं विशेषतात्पर्यमित्यत आह—तेषामयमागमः पारम्पर्यागत इत्यर्थ इति । यद्यपि चरमवक्ता चरमश्रोता चापरोक्षतया स्थितौ तथापि अनादिकालतो ये श्रोतारस्तान् सर्वान् वयमिति संगृह्य तथाविधा यावन्तो वक्तारस्तांश्चाचार्या इति संगृह्य यदोच्यते तदा बहुतरव्याख्यानं बहुतरश्रवणं च परोक्षमेवेति लिट्प्रयोग उपपद्यते । परोक्षे लिडितिसूत्रे परोक्षत्वमात्रं विवक्षितं न त्वपरोक्षत्वाभावोऽपि । इत्थमेव गीतायामपि नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम इति लिटः प्रयोगः । एतच्च वक्तृश्रोत्रोः पारम्पर्यस्थल एवोपपद्यते । तेषामाचार्याणां व्याख्यातृपरम्परया व्याख्यातोऽयमागमः श्रोतृपरम्परयाऽस्माभिः श्रूयत इति । अत एव न इति द्वितीयान्ततया न व्याख्यातं द्वितीयान्तत्वे साक्षादुपदेशप्रतीत्यापत्तेः । केचित्तु तेषामित्यंशं पूर्वेण योजयन्ति तेषामा-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

चार्याणामिति। अयमागमः पारम्पर्यागत इत्येतावन्मात्रं वाक्यान्तरमिति चाभिप्रयन्ति।

विशिष्टाद्वैतिनस्तु विद्ययेति व्यत्ययेनोपदेशात्पञ्चम्यर्थे तृतीया। विद्याया अन्यदेव मोक्षसाधनम्। अविद्यायाश्चान्यदेव मोक्षसाधनम्। किं तर्हि मोक्षसाधनमिति चेत्। समुच्चितोभयमिति वक्ष्यामः।

नन्वेवंविधव्याख्यानं कुतः क्रियत इति चेदुच्यते। अन्यो घटादित्युक्तेऽन्यत्व-निरूपितप्रतियोगित्वाकाङ्क्षैव प्रथममुपतिष्ठते। न तु जनकाद्याकाङ्क्षा। इत्थं चान्यदेवाहुः संभवादित्युत्तरत्र पञ्चम्यनुसारेण संभवभिन्नमित्यर्थोपस्थितौ पूर्व-मन्त्रेऽपि तत्सारूप्याद् विद्याभिन्नमित्येवार्थो न्याय्यः। माध्यंदिनीयैः "अन्यदेवाहु-र्विद्यायाः" इति पञ्चमीपाठाच्च। अन्यदेव फलं विद्यया, अन्यदेव भवति विद्यये-त्यादियोजनायामध्याहारगौरवाच्च। अन्धतमसादिप्रवेशफलस्य प्रागेवोक्तत्वेन फलाकाङ्क्षाभावाच्च। न च पूर्वोदितफलपरकं नेदं वचनं, किन्तु समुच्चयघट-कीभूतप्रत्येकफलपरकमिति वाच्यम्। तस्योत्तरमन्त्रे एव वक्तव्यतयाऽत्र तत्कथन-वैफल्यात्। न चोत्तरमन्त्रे फलविधिः समुच्चयविधिश्चेति द्वितयविधाने वाक्यभेदा-पत्तेरेतन्मन्त्रकथितफलभेदमनूद्य समुच्चयमात्रविधानमुपगन्तव्यमिति वाच्यम्। सामान्येनोक्तस्य विशेषेणानुवादायोगात्। अत्र हि फलमस्तीत्येतावन्मात्रमुच्यते। मृत्युं तीर्त्वेत्यादिविशेष उत्तरमन्त्रे दृश्यते। अन्धं तम इति निन्दया समुच्चय-विधिकल्पनसंभवेनोत्तरमन्त्रे फलमात्रस्यैव विधेयत्वाच्चेत्याहुः।

तत्तुच्छम्। विद्याया अन्यदाहुरित्युक्ते किमाहुरित्यत्यन्ताज्ञातार्थबोधकपद-स्याध्याहरणीयत्वेनातिक्लेशस्य स्पष्टत्वात्। मोक्षसाधनमिति हि भवता अध्याहर्त्त-व्यम्। न हि तत्पूर्वप्रकृतम्। येनानुसन्धानक्लेशं विना तदध्याहारसंभवः। किं च भिन्नार्थकान्यादिपदानां यथाऽन्यत्वनिरूपितप्रतियोगित्वाकाङ्क्षा नियता तथाऽन्य-त्वनिरूपितानुयोगित्वाकाङ्क्षापि नियतैव। भिन्नमित्युक्ते कस्माद्भिन्नमितिवत् किं भिन्नमित्याकाङ्क्षाया अपि नियतोपस्थितिदर्शनात्। न पुनर्नियततया विधेयाद्या-काङ्क्षा भवति। ब्राह्मणभिन्न इत्युक्ते अयं पुरुष इत्यनुयोगी ह्याकाङ्क्षितः। स एव चाध्याह्रियेत। न तु कर्षक इति वा वेदपाठक इति वा विधेयाकाङ्क्षा नियता। नाप्युद्देश्याकाङ्क्षा। पर्युदासस्थलेऽपि स्वसमभिव्याहृतपदार्थ-सदृशपदार्थोपस्थितेर्विद्याभिन्नं कर्माद्येवाध्याह्रियेत। संशयो वा स्यात्। अन्धं तमो वा विद्याया अन्यत् स पर्यगादित्युक्तं वा विद्याया अन्यदिति। मन्मते तु विद्ययेति हेतुतृतीयायां फलाकाङ्क्षायाः करणतृतीयायां कर्माकाङ्क्षा-याश्च नियतत्वात् विद्यया अन्यदेव भवति, विद्ययाऽन्यदेव क्रियत इत्यादिरीत्या विनैव क्लेशमर्थानुसन्धानं भवति। अनुसन्धानविल-

❁ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❁

म्बो ह्यध्याहारस्थले दोषः। यत्र चानुसन्धानविलम्बो नास्त्येव तत्राध्याहारो नैव दोषापादकः। यथा कुतो भवान्? पाटलिपुत्रात्, इत्यादौ प्रथमे आगत इति द्वितीये अहमागत इति चाध्याहारे नास्त्येव क्लेशः। अत एव 'प्रश्नाख्यानयोश्च' इत्यादीनि पञ्चमीविधायकानि वार्त्तिकानि 'इदमत्र प्रयोक्तव्यं सन्न प्रयुज्यते कुतो भवानागच्छति पाटलिपुत्रादागच्छामीति' इत्येवमध्याहारेणार्थलाभं कृत्वा भाष्ये (महाभाष्ये) प्रत्याख्यातानि। अर्थानुसन्धानक्लेशविरहेणाध्याहारस्यादोषत्वात्। अन्यथा कुत इत्यादेर्वार्त्तिककृन्मते निर्दोषत्वाद् भाष्यमते चाध्याहारेण सदोषत्वाद्वैषम्यं प्रसज्येत। प्रत्युत नियतसाकाङ्क्षस्थले पदप्रयोगस्यैव गौरवदोषवत्त्वं मन्यन्ते साहित्यरसिकाः। अत एव देवदत्तयज्ञदत्तावभुञ्जातां न तु विष्णुमित्र इत्येतावन्मात्रं प्रयुज्यते। तत्र हि अभुञ्जातामितिपूर्वपदस्य नानुकर्षसंभवः। द्विवचनान्तत्वात्। किन्त्वभुङ्क्तेति पदाध्याहार एव। न च तत्र धातोरनुकर्षः प्रत्ययमात्रस्याध्याहार इत्यपि शक्यं वक्तुम्। प्रत्ययसम्बद्धप्रकृतेरेकपदत्वेन प्रकृतिमात्रानुकर्षायोगात्। अत एव 'सं ते वायुर्वातेन गच्छतां सं यजत्रैरङ्गानि सं यज्ञपतिरायुषे'ति मन्त्रे 'व्यवायान्नानुषज्यत' इति सूत्रमनुषङ्गाभावमाह। अन्यथा धात्वनुषङ्गसंभवादनुषङ्गसामान्यनिषेधासंगतिः स्पष्टैव। शावरभाष्ये च बहुवचनान्तादिलौकिकपदाध्याहार उक्तो न तु प्रत्ययमात्राध्याहारः। इत्थं च न तु यज्ञमित्र इत्यत्राभुङ्क्तेति पदाध्याहारे एव लाघवं न तु प्रयोगे इति लौकिकानुभवान्नाध्याहारमात्रेणात्रापि गौरवमस्मन्मत आपादयितुं शक्यम्। अनुसन्धानक्लेशविरहात्। क्वचिद्धेतुफलादिविषया नित्यसाकाङ्क्षत्वात्कचित्पूर्वप्रसङ्गादिति अनुसन्धानाऽक्लेशो न नियतं बीजम्। अनुसन्धानं विना यथेच्छं यदपि किंचिदध्याह्रियेत तदा कश्चित् विद्याया अन्यदेव शाकसाधनमिति व्याचक्षीत, इतरश्च विद्याया अन्यदेव सूपसाधनमिति ब्रुवीत। न च नेदं शाकसूपादिसाधनप्रकरणं किन्तु मोक्षसाधनप्रकरणमिति वाच्यम्। यतो जिजीविषेच्छतं समा इत्यस्य व्याख्यायां 'ब्रह्मविदोऽपि यावद्विद्यपूर्त्ति जीवनमिष्टं भवतीति ज्ञापनाय सन् प्रयोग' इति ब्रुवता सूपशाकादिकं नेष्टमिति कथं शक्यं वक्तुम्। जीवनान्तर्गतत्वाच्छाकसूपादेः। प्रत्युत "तमेव विदित्वातिमृत्युमेती" त्यादिषु सहस्रशः श्रुतिषु विद्याया मोक्षसाधनत्वप्रसिद्धेर्विद्याया अन्यदेव सूपशाकसाधनमित्येव युक्तिसंगतमध्याह्रियेत। तदलं मूर्खैः सह बहुलालापेन।

यत्तूक्तं विद्यां चाविद्यां चेति फलविधिरेव। न तु समुच्चयविधिः। समुच्चयस्य 'अन्धं तमः प्रविशन्ती'त्यादिनिन्दयैव गम्यमानत्वादिति। तदपि तुच्छम्। असमुच्चयबोधकपदस्यान्धं तमः प्रविशन्तीत्यत्र विरहादसमुच्चितविद्यादितोऽन्धतमसादिप्रवेश इत्यर्थस्य शब्दतोऽलभ्यत्वात् तृतीयमन्त्रे यस्तद्वेदोभयं सहेति समुच्चयविध्य-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

न्यथानुपपत्त्याऽर्थादसमुच्चितविद्यादेरन्धतमसादिफलकत्वलाभस्य वक्तव्यतया कथमन्धतमसप्रवेशनिन्दार्थवादेन समुच्चयविधिलाभसंभवः। समुच्चितविधलाभेऽसमुच्चितनिन्दावगमः। असमुच्चितनिन्दावगमे समुच्चितविधिलाभ इत्यन्योन्याश्रयस्य दुरुद्धरत्वात्।

यच्चोक्तम् अन्यदेवाहुर्विद्ययेति सामान्योक्तफलस्य मृत्युं तीर्त्वेति विशेषानुवादो न संभवतीति। तदपि मौढ्यात्। आहुरित्यनेनान्यत्र प्रतिपादितस्य स्मारणात्। 'कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः' इत्यन्यत्र विशेषेणोक्तफलस्यैव मृत्युं तीर्त्वेत्येवं शब्दान्तरेणानुवादसंभवात्। त्वन्मते मोक्षसाधनमित्यध्याहारात्त्वया तथा वक्तुमशक्यत्वाच्च।

यदपि अन्धतमसादिप्रवेशफलस्य प्रागेवोक्तत्वेन फलाकाङ्क्षाभावादन्यदेवाहुरित्यादि न फलबोधकमिति। तदतीव साहसम्। न हि सत्कर्मणां सदुपासनानां चान्धतमसादिप्रवेशफलं बालेनाप्युपगन्तुं शक्यम्। 'निन्दापरकं हि तद्वाक्यं न तु फलकथनपरम्' इति स्वीयाचार्यविरुद्धार्थाभिभाषी खल्वेषोऽन्योदितमर्थं चेद्विरुन्ध्यात्तत्र नैव किमप्याश्चर्यम्।

यच्चान्यादिपदानामन्यत्वनिरूपितप्रतियोग्याकाङ्क्षैव प्रथममुपतिष्ठत इति तदप्यसत्। 'अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय' इत्यादिवैदिकप्रयोगे 'अन्यदेव तीर्थयात्रयाऽन्यदेव च गुरुसेवये'त्यादिलौकिकप्रयोगे चान्यादिपदावृत्तिस्थले पृथक्पृथगित्येवार्थदर्शनाद्यथोक्तनियमासिद्धेः। तत्र प्रतियोग्याकाङ्क्षाया अदर्शनात्। तत्र स्वरूपयोर्हेतुतृतीयार्थज्ञाप्यफलयोश्च परस्परभेद उपतिष्ठत इत्युच्यते तदा प्रकृतेऽपि तुल्यम्। अन्यदेवाहुः संभवादित्याद्यैकरूप्याय व्यत्ययो युक्त इत्यप्ययुक्तम्। हेतौ तृतीयायाः पञ्चम्याश्च विधानाद् विनापि व्यत्ययमर्थैकरूप्ये स्थिते शब्दैकरूप्यस्याप्रयोजकत्वात्। प्रत्युतार्थैकरूप्यादत्रत्यतृतीयानुसारेण माध्यंदिनीयपञ्चमीपाठेऽपि हेत्वर्थे एव पञ्चमी सिद्ध्यति। किं च समुच्चितविद्या मोक्षसाधनं चेत् कथं विद्याया अन्यन्मोक्षसाधनम्। समुच्चितविद्याया अपि विद्यात्वात्। नीलघटो न घट इति प्रयोगाभावात्। उक्तं च दीधितौ—'न हि भवति नीलघटो घटादन्य' इति। यदि च विद्यापदमसमुच्चितत्वविशिष्टविद्यापरं तदा तादृशार्थो जघन्यवृत्तिमन्तरा नैव लभ्यत इति लक्षणाश्रयणगौरवमेको दोषः। असमुच्चितविद्याभिन्नं मोक्षसाधनमित्यत्र समुच्चितविद्याया मोक्षसाधनत्वाद्विशेषणाभावप्रयुक्त एव विशिष्टभेदो वक्तव्यः। तथा चासमुच्चितत्ववैशिष्ट्याभावस्य कारणतावच्छेदकत्वे महागौरवम्। तथा हि समुच्चितकारणत्वं नातिरिक्तं किंचित्। क्लृप्तकारणतयैव कारणव्यवहारोपपत्तेरतिरिक्तकारणतायां मानाभावात्। समुच्चितकारणत्वं नाम सह-

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

❀ भाष्यम् ❀

यत एवमतः—विद्यां चाविद्यां च देवताज्ञानं कर्म

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

कार्यान्तरविशिष्टत्वे सति कारणत्वमेव । अत एव दण्डादिविशिष्टकुलालत्वेन न काचन विलक्षणकारणता कुलालादौ । न चैवं केवलदण्डादिमात्रेणापि घटोत्पत्तिः स्यादिति वाच्यम् । घटोत्पत्तिं प्रति कारणसमुदायात्मकसामग्र्याः प्रयोजकत्वात् । सामग्र्याः प्रयोजकत्वेऽपि न सामग्रीत्वावच्छिन्ना कारणता । तथा सत्यरण्यस्थदण्डादौ कारणतावच्छेदकविरहापत्तेः । इष्टापत्तिरिति चेन्नारण्य-दण्डाद्यानयनप्रवृत्त्यभावापत्तेः । न चात्र मन्त्रे सामग्रीत्वेन विद्याविद्ये उच्येते मोक्षसाधनमिति मोक्षसामग्रीत्यर्थंतयोच्यत इति वाच्यम् । पुरुषकालेश्वरकृत्यादी-नामपि सामग्रीघटकतया केवलविद्याविद्ययोः सामग्रीत्वानुपपत्तेः । इत्थं च दण्डविशिष्टकुलालत्वादिना कारणतायां यथा गौरवं तथा समुच्चितविद्या-त्वादिना मोक्षसाधनतायामेव गौरवं, समुच्चितत्वाभाववैशिष्ट्याभाववत्त्वेन कारणतायां महागौरवमिति द्वितीयो दोषः । असमुच्चितविद्याभिन्नत्वं घट-पटादिष्वप्यस्तीति तेषामपि मोक्षसाधनत्वं प्राप्नोतीति तद्वारणाय समुच्चितविद्या मोक्षसाधनमिति पुनर्वक्तव्यमिति तादृशाध्याहारेऽपरं महागौरवं , श्रूयमाणवैयर्थ्या-पत्तिरुत्तरमन्त्रवैयर्थ्यापत्तिश्च स्यात् । यदि च असमुचितविद्याभिन्नं मोक्षसाधन-मित्यस्य असमुच्चितविद्या न मोक्षसाधनमित्यर्थः क्रियते तदा पञ्चम्याः प्रथमान्तेन विपरिणामोऽन्यपदस्य विधेयकोटिप्रवेशिता च स्यात् । यदि चैवकारेणायमर्थः प्रापयिष्यते तदापि असमुच्चितविद्या न मोक्षसाधनमित्येतावतैवोपपत्तौ असमुच्चित-विद्याभिन्नं मोक्षसाधनमित्यंशवैयर्थ्यध्रौव्यमिति तृतीयो दोषः । अच्छिद्रघटो जला-हरणसाधनमित्यर्थे घटादन्यो जलाहरणसाधनमिति प्रयोगस्य लोकवेदेषु कुत्राप्य-दृष्टत्वादसमुच्चितविद्याभिन्न मोक्षसाधनमित्यर्थे विद्याभिन्नं मोक्षसाधनमित्येवमप्रति-पत्तिकप्रयोगस्वीकार इति चतुर्थो दोषः । व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे तृतीयास्वीकार इति पञ्चमो दोषः । मोक्षसाधनमित्यप्रस्तुतशब्दाध्याहारक्लेश इति षष्ठो दोष इत्यहो वेदव्याख्यानकौशलम् । तस्माद् भगवत्पादप्रदर्शित एव वेदार्थ इत्यलमतिविस्तरेण ।

। इति दशममन्त्रविवरणम् ।

विद्यां चाविद्यां च । भाष्ये यत एवमत इति । यतः प्रत्येकानुष्ठानस्यानु-

❀ भाष्यम् ❀

चेत्यर्थः। यस्तदेतदुभयं सह एकेन पुरुषेणानुष्ठेयं वेद, तस्यैवं समुच्चयकारिण एवैकपुरुषार्थसम्बन्धः क्रमेण स्यादित्युच्यते—अविद्यया=कर्मणा—अग्निहोत्रादिना मृत्युं=स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं च मृत्युशब्दवाच्यमुभयं तीर्त्वा=अतिक्रम्य विद्यया=देवताज्ञानेन अमृतं=देवतात्मभावम् अश्नुते=प्राप्नोति। तद्ध्यमृतमुच्यते यद्देवतात्मगमनम् ॥११॥

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

त्कृष्टफलकारित्वेनान्धतमसादिकारितुल्यत्वं, यतश्च समुच्चयप्रयोजकावान्तरफलवत्त्वमत इत्यर्थः। उभयवेदनमुभयःभिन्नपुरुषानुष्ठेयतावेदनं चापर्यासमतो व्याचष्टे—एकेन पुरुषेणानुष्ठेयं वेदेति। अनुष्ठेयतावेदनमपि न ज्ञानमात्रमपि त्वानुष्ठानपर्यवसायीत्याह—तस्यैवं समुच्चयकारिण इति। समुच्चयकारिणो न तु समुच्चयवेदिन एव। एकपुरुषार्थसम्बन्धः=उत्कृष्टविशिष्टपुरुषार्थप्राप्तिः। क्रमेण=प्रथमं विशेषणप्राप्तिः पश्चाद्विशिष्टप्राप्तिरिति क्रमेण। अत्र मृत्युतरणमेकममृतत्वमपरमिति पुरुषार्थद्वयप्राप्तिश्चेत्कर्मणो विद्यायाश्च क्रमेण फलं तदा समुच्चयानुष्ठानमनुपपन्नमित्यत एकपुरुषार्थेत्युक्तम्। तथा च मृत्युतरणसहितामृतत्वप्राप्तिरेकमेव फलम्। तत्र विशेषणकारणं कर्म विशेष्यकारणं विद्या विशिष्टं प्रति चोभयमपि कारणम्। तत्र विशेषणविशेष्ययोः क्रमश एवोत्पत्तिस्तथापि विशिष्टं परमफलं तु द्वाभ्यामेव जन्यत इति भावः। तत्र मृत्योरवश्यंभावित्वात्कथं मृत्युतरणमतो व्याचष्टे—स्वाभाविकं कर्म ज्ञानं चेति। परसम्पदुत्कर्षादिविषयकं दुःखप्रयोजकं ज्ञानं स्वाभाविकम् तदुत्कर्षपरिहारप्रयोजकं रागद्वेषादिमूलकं हिंसादिकर्म च तथा। तच्च पितृलोकादिगतानामपि भवतीति तदुभयं दुःखकारणं मृत्युशब्दवाच्यमित्यर्थः। देवतात्मभावमिति। अन्योऽसावन्योऽहमित्युपासनापरस्य पशुभावो भवति देवलोकगतस्यापि। समुच्चयकारी तु देवात्मभावं प्रतिपद्यत इति विशेष इत्यर्थः। मुख्यामृतत्वार्थताया निराकरिष्यमाणत्वादीदृशमेवामृतत्वमिह विवक्षितमित्याह—तद्धीति।

इदं पुनरिहावधेयम्। समुच्चयो नाम परस्पराङ्गाङ्गिभाववत्त्वे सत्येकपुरुषार्थजनकसम्बन्धः। तत्राङ्गाङ्गिभावेन यदुत्कृष्टफलद्वयं क्रमेण भवति तदेव विशिष्टं सत् पुरुषार्थः। तच्चोत्कृष्टं फलं क्वचित्स्वफले एव कश्चिदुत्कर्षः। क्वचिच्च फलान्तरात्मकमेव। अत्र कर्मणा पितृलोक इति स्वफले पितृलोक एव कश्चिन्नोत्कर्षः क्रियते किन्तु स्वाभाविकज्ञानाद्यतितरणलक्षणं फलान्तरमेव क्रियते। संभूतिं च विनाशं चेत्यत्र

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याँ रताः ॥१२॥

❁ भाष्यम् ❁

अधुना व्याकृताव्याकृतोपासनयोः समुच्चिचीषया प्रत्येकं निन्दोच्यते—अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिं संभवनं संभूतिः । सा यस्य कार्यस्य सा संभूतिस्तस्या अन्याऽसंभूतिः प्रकृतिः

❁ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❁

स्वफल एव कंचिदुत्कर्षं दर्शयिष्यामः । न च यदेव विद्यया तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति स्वफल एव सर्वत्रोत्कर्षः प्रतीयत इति वाच्यम् । तत्राङ्गाङ्गिभावमात्र-मादायोक्तत्वात् । यदि च तत्रापि समुच्चयपर्यन्तमभीप्सितं तथापि यदेवेतियत्पदेनोक्त-कर्मण एव तदेव वीर्यवत्तरमित्युक्तम् । न तु फलमपि तदेव वीर्यवत्तरमिति । तत्र साधनस्य वीर्यवत्तरत्वे फलान्तरमपि दृष्टम् । यथाऽल्पशीतं जलं शैत्यं वर्धयति अधिकशीतं हिममौष्ण्यमुत्पादयति इति ॥११॥

इत्येकादशमन्त्रविवरणम्

अन्धं तमः॥ व्याकृताव्याकृतेति । व्याकृतं हिरण्यगर्भः अव्याकृतं प्रकृतिः । तत्रासंभूतिपदस्य प्रकृत्यर्थत्वं व्युत्पादयति— संभवनमिति । सा यस्य कार्यस्य सा संभूतिरिति । धर्मधर्मिणोरैक्येन निर्देश इति भावः । न संभूति-रिति नञ्तत्पुरुषार्थमाह—तस्या अन्या इति । संभूतिः कार्यं विकारात्मकं तदन्या तु प्रकृतिरेव भवितुमर्हतीत्याशयेनाह—असंभूतिः प्रकृतिरिति । ननु न विद्यते संभूतिर्यस्या इति बहुव्रीहिणा यथोक्तार्थलाभसंभवात् । संभूतिपदस्य धर्मधर्म्यैक्य-विवक्षया कार्यपरत्वव्याख्यानं क्लिष्टम् । न च तत्पुरुषसमासे समासस्येत्यन्तोदात्तत्वं स्यात्, बहुव्रीहौ तु "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वा-च्छेषनिघातेनानुदात्तत्वं स्यात् अनुदात्तं पदमेकवर्जमिति शासनादिति वाच्यम् । तत्पुरुषे तुल्यार्थेत्यादिना नञ्समासे तत्पुरुषेऽपि पूर्वपदप्रकृतिस्वरविधानात् । अव्यये नञ्कुनिपातानामिति तत्र परिगणनवार्त्तिकमिति चेन्न । बहुव्रीहा-वेवान्तोदात्तत्वापत्तेः । तथा च सूत्रम् । "नञ्सुभ्याम्" । बहुव्रीहावुत्तरपद-मन्तोदात्तम् । तत्र ये असंभूतिमित्यत्र ये इत्युदात्तः । तेन सहाकारस्यानुदात्तस्य सन्धौ एकादेश उदात्तेनोदात्त इति उदात्तत्वं यद्यपि भवति । ततः परमुदात्ता-दनुदात्तस्य स्वरित इति सकारोत्तराकारस्य स्वरितत्वमपि भवति । एतावत्पर्यन्तमाद्युदात्तत्वेऽन्तोदात्तत्वे च समानम् । ततः परं तत्पुरुषत्वे प्रचयः

❀ भाष्यम् ❀

कारणमविद्याऽव्याकृताख्या तामसंभूतिमव्याकृताख्यां प्रकृतिं कारणमविद्यां कामकर्मबीजभूतामदर्शनात्मिकामुपासते ये ते तदनुरूपमेवान्धं तमोऽदर्शनात्मकं प्रविशन्ति। ततः=तस्मादपि भूयः=बहुतरमिव ते तमः प्रविशन्ति य उ संभूत्यां=कार्य-

❀ आनन्दगिरिय टीका ❀

चित्तन्त्रा माया परमेश्वरस्योपाधिः "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इत्यादि श्रुत्यन्तरप्रसिद्धाऽत्र संभूतिशब्देनोच्यते,

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

स्यादनुदात्तयोः। बहुव्रीहित्वेऽनुदात्तोदात्तौ स्यावाम्। पदपाठे च स्फुटो विशेषः स्याद्। किं च बहुव्रीहिणा तिकारस्योदत्तत्वे ततः परस्योपासत इत्युकारस्योदात्तादनुदात्तस्य स्वरित इति स्वरितत्वं स्यात्। उपेत्युकारस्य तिङि चोदात्तवति इत्यनुदात्तत्वात्। किं चान्यत्। अविद्यामिति नञ्तत्पुरुषसहचरितत्वादसंभूतिमित्यपि नञ्तत्पुरुषो युक्तः। किं च न विद्यते संभूतिर्यस्येति विग्रहे सामान्ये नपुंसकं स्यात्। तथा चाऽसंभूत्येति प्रयोगोऽनुपपन्नः स्यात्। न च न विद्यते संभूतिर्यस्याः प्रकृतेरितिव्याख्यानान्नानुपपत्तिरिति वाच्यम्। विशेष्यवाचकपदविरहादध्याहारक्लेशापत्तेः। अन्यदवाहुरसंभवादित्यत्रापि न विद्यते संभवो यस्या इति विग्रहेणासंभवाया इति प्रयोगापत्तेः। तत्राव्यक्तमिति विशेष्यान्तरप्रक्षेपे प्रक्रमभङ्गापत्तेः। तस्माद्वैदिकपद्धत्या लौकिकरीत्या च नञ्तत्पुरुषस्वीकार एव युक्त इति।

ननु केयं प्रकृतिरविद्याव्याकृतादिशब्दबोध्येत्यत आह—टीकायां चित्तन्त्रेति। चिदधीना। न तु सांख्यादीनामिव स्वतन्त्रा। साक्षात् प्रकृतित्वानुपपत्तेरिति। प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्। इति न्यायस्तु मायाद्वारा विवर्त्तकारणतया प्रकृतित्वमाह, न तु साक्षादिति भावः।

नन्वसंभूतिरित्यनेन विकृतिभिन्नत्वमेवायाति न तु प्रकृतित्वमपि इति प्रकृतित्वानुपपत्तिरकिंचित्करी विकृतिभिन्नत्वेनैव ब्रह्मणोऽपि ग्रहीतुं शक्यत्वादिति चेन्न। विकृतिभिन्नत्वकथनेन विकृतिसमीपप्रकृतेरेव ग्रहणसंभवात् यथाऽब्राह्मण इत्युक्ते ब्राह्मणभिन्नः पश्वादिर्न गृह्यते किन्तु सजातीयो मनुष्यः क्षत्रियादिरेव।

भाष्ये तदनुरूपमेवान्धं तम इति। न चैवं वस्तुकथनात्मकत्वान्निन्दानुपपत्तिरिति समुच्चिचीषया निन्देति न स्यादिति वाच्यम्। स्वरूपतो निन्दात्वावगमात्। न हि अविद्यात्मिकां प्रकृतिमुपासीनोऽपि अन्धं तमः प्रवेष्टुमिच्छति। न हि प्रेतगणोपासकोऽपि प्रेतभावं प्रतिपत्तुमिच्छति। तथा चावगम्यत एवात्र निन्दा।

❀ भाष्यम् ❀

ब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः ॥१२॥

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

न ब्रह्म । तस्य निर्विकारस्य साक्षात् प्रकृतित्वानुपपत्तेः ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

बहुतरमिव तमः प्रविशन्ति कार्यब्रह्मणि हिरण्यगर्भाख्ये रताः । नन्वेतदनुपपन्नम् । पूर्वं हि अविद्यापेक्षया गरीयस्या विद्याया उपासकस्य बहुतरान्धतमसप्रवेश उक्तः । एवमत्रापि कार्यब्रह्मसंभूत्यपेक्षया गरीयस्याः कारणीभूतायाः प्रकृतेरुपासकस्यैव बहुतरतमःप्रवेशौचित्येन वैपरीत्योक्त्यसगतेः । न च प्रकृतिरविद्या कार्यब्रह्म च हिरण्यगर्भो विद्यास्थानीय इति अविद्यापेक्षया विद्योपासनस्य गरीयस्त्वं युक्तमिति न पूर्वोक्तिवैपरीत्यमिति वाच्यम् । यतः पूर्वमविद्यापदेन न कारणब्रह्म प्रकृतिर्गृहीता । किन्तु कर्म । तदपेक्षया विद्याया गरीयस्त्वं युक्तम् । इह तु अविद्या कारणब्रह्मरूपिणी गृह्यते । न हि तदपेक्षया गरीयस्त्वं हिरण्यगर्भस्य युज्यत इति चेद् ? अत्राहुः । प्रकृतिलीनस्य सुषुप्तवदेव भयेर्ष्यादिराहित्येन भूयस्तमःप्रवेशानुपपत्तेः । हिरण्यगर्भोपासकस्तु हिरण्यगर्भलोकं गतोऽपि पुनरावृत्तिभयस्तिष्ठतीति तस्य भूयस्तमःप्रवेशः । हिरण्यगर्भलोकगतानामप्यस्त्येव पुनरावृत्तिः । इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्त इत्यत्रेममिति विशेषणेन एतन्मानवावर्त्तेऽनावृत्तेरेव सिद्धेः कल्पान्तरीयमानवावर्त्ते आवृत्तिसंभवात् । स्पष्टं चैतत्तत्रैव भाष्ये । आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन इति च भगवताप्युक्तम् । न च सुखभोगकालः कल्पदीर्घोऽपि क्षणवदपगच्छतीति तदानीं क्व पुनरावृत्त्यादिचिन्तनप्रसक्तिरेवेति वाच्यम् । ब्रह्मलोके किंचिद्विवेकस्यापि सत्त्वात् । यद्वा ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्द इति परीच्छिन्नसुखेषु ब्रह्मलोकसुखस्य सर्वोत्कृष्टत्वात्तदुपभुञ्जानस्य हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धत इति न्यायेन महातृष्णोदयाद् भूय इव तम इत्युक्तम् । समुच्चयोपासकस्तु प्रकृतिलीन एव भवतीति विषयतृष्णावृद्धेरप्रसक्तेर्न तस्य तथात्वम् तच्च वक्ष्यति—अनैश्वर्याधर्मकामादिदोषं तीर्त्वेति । न च केवलहिरण्यगर्भोपासकस्यापि अनैश्वर्याधर्मकामादितरणं तुल्यमिति वाच्यम् । ब्रह्मलोकनिवासकाले कामादितरणेऽपि तत्समाप्तिसामीप्ये तत्समाप्तौ चाविकामोत्पत्तेर्युक्तत्वात् ! समुच्चये तु तदूर्ध्वं प्रकृतिलय एवेति कामोत्पत्तेः सहसा प्रसक्तिविरहात् । केवलप्रकृत्युपासकापेक्षया यश्च तस्य विशेषस्तं तत्रैव वक्ष्यामः ।

इह टीकाकृतस्तु ब्रह्मपरकतयाऽसंभूतिपदं व्याचक्षाणस्य मतं निरस्यन्त इहैव वक्ष्यमाणमन्त्रे प्रसङ्क्ष्यन्तीं शङ्कामुत्थाप्य परिजह्रुः सांसारिकदुःखेत्यादिना ।

❀ आनन्दगिरीयटीका ❀

भास्कराभिमतस्तु परिणामवादस्तत्त्वालोके निरस्त एवास्माभिः सांसारिकदुःखानुभवाभावेन च सुषुप्तिवत् प्रकृतिलयस्य पुरुषेणार्थ्यमाननताप्युपपद्यते। फलं च कर्मोपासन इव प्रकृत्युपासनेऽपि परमेश्वर एव दास्यति। ततो जडत्वात् प्रकृतेः फलदातृत्वानुपपत्तेरुपास्यत्वानुपपत्तिरित्यपि कुचोद्यमेव ॥१२॥१३॥१४॥

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

अत्रैवं टीकायोजना-ननु ब्रह्मणः परिणामिकारणत्वोपगमात् साक्षात्प्रकृतित्वं संभवतीति असंभूतिपदस्य ब्रह्मार्थत्वं कथं न संभवतीत्यत आह—भास्कराभिमतस्त्विति। तत्त्वालोके निरस्त इति। कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वेत्यादिना ब्रह्मसूत्रेष्वपि तन्निरासो द्रष्टव्यः। ननु असंभूत्यामृतमश्नुत इति वक्ष्यते, तन्न घटते यद्यसंभूतिपदस्याव्याकृतार्थत्वं स्याद्, न हि प्रकृतिलयः पुरुषार्थः। अतोऽसंभूतिपदस्य ब्रह्मार्थकत्वमेव युक्तमित्यत आहसांसारिकेति। ननूपास्यमानायाःप्रकृतेर्जडत्वात्तस्याः फलदातृत्वं कथं संभवति। न च परमेश्वरो दास्यतीति वाच्यम्। उपास्यदेवताया एव फलदातृत्वप्रसिद्धेः। न हि श्रेष्ठिभृत्यस्य भृतिं राजा ददाति, उपासकाश्च स्वीयामुपास्यदेवतामेव फलदानाय प्रार्थयन्ते तस्मादसंभूतिपदार्थं उपासनाविषयः फलदानसमर्थश्चेतन एव भवितुमर्हतीत्यत आह—फलं चेति। कर्मोपासन इवेति। येऽविद्यामुपासते—अविद्यया मृत्युंतीर्त्वेत्यादिना पूर्वं कर्मोपासकस्य फलमभिहितम्। न ह्युपास्यमानं कर्म जडत्वात्फलं दातुमीष्टे। तस्मात्तत्र भवतापि फलप्रदाता परमेश्वर एवेति स्वीकर्त्तव्यं, तदा इहापि परमेश्वरस्यैव फलप्रदातृत्वस्वीकारे को दोष इति भावः। ननु कर्मोपासनं नाम न कर्मविषयकमानसवृत्तिप्रवाहकरणं किन्तु कर्मानुष्ठानमेव। येऽविद्यामुपासत इति च सेवते करोतीत्यर्थात्। यत्र मानसवृत्तिप्रवाहात्मिकोपासना तत्रोपास्यमाना विष्णुशिवादय एव फलप्रदातार इति विषम उपन्यास इति चेन्न। "यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्" इति भगवदुक्तेर्विष्णुशिवाद्युपासनास्थलेऽपि अस्मच्छब्दार्थब्रह्मण एव फलदातृत्वोक्तेः। भवन्मते तु उषा वा अश्वस्य मेध्यस्येत्यादिश्रुत्युक्तोपासनाकर्त्तुः फलमुपास्यमानोऽश्व एव दास्यति। परं त्वश्वाय वरं वयमेव दातुं प्रभवामो घासादिप्रदानेन। तस्मात् कुचोद्यमेवैतदित्याशयेनोपसंहरति—तत इति। इत्थं चात्रासंभूतिपदस्याव्याकृताख्यकारणप्रकृत्यर्थत्वं भाष्योक्तं समीचीनमेवेति तात्पर्यम्।

विशिष्टाद्वैतिनस्तु संभूत्यसंभूतिपदयोः कार्यब्रह्मप्रकृत्यर्थताया अप्रसिद्धत्वादत्यन्ता-

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

प्रसिद्धार्थलक्षणाया अप्यन्याय्यत्वादत्र "एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि" "धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि" इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धा ब्रह्मप्राप्तिरेव संभूतिः। तां पर्युदस्यन्नयमसंभूतिशब्दस्तदासन्नं प्रतिबन्धकविनाशमभिधत्ते। अत एव सभूतिं च विनाशं चेत्यत्र विनाशशब्दप्रयोगः। न च ब्रह्मप्राप्तिः प्रतिबन्धककर्मनिवृत्तिश्च न भिन्नमर्थद्वयमिति नोपासनाद्वयं घटत इति वाच्यम्। ब्रह्मप्राप्तित्व-कर्मनिवृत्तित्वाभ्यां भेदात्। अभिसंभवामीत्युत्तमपुरुषप्रयोगबलात्कर्मनिवृत्तिब्रह्म-प्राप्त्योरनुसंधानकर्तव्यतालाभात्तदुभयमपि मोक्षसाधनविद्याऽङ्गमिति निश्चीयते। यद्वा संभूतिशब्दोऽर्चिरादिमार्गपरः। उक्तं चाक्षरध्यधिकरणश्रुतप्रकाशिकायाम्—"अतो मार्गस्य कर्मविनाशस्य च चिन्तनं विद्याङ्गत्वेन समुच्चित्य विधीयत" इति।

अत्रोच्यते। संभूतिपदस्य ब्रह्मप्राप्तिर्वा अर्थस्तत्प्राप्तिमार्गो वा। तथाऽसंभूतिपदस्य संभूतिसंनिहितसकलार्थकत्वं वा कर्मनाशमात्रार्थकत्वं वेति युष्मदीयाचार्यद्वयेनैव संशयितत्वान्मोक्षसाधनानिर्णयाद् युष्माकं मोक्षोऽपि गगनकुसुमायित एव। विषयविशयाद्युपस्थितावपि दुरवगममर्थमिमं कथमिव वेदार्थमीमांसाकृन्मुनिद्वयमपि न पस्पर्शेत्यपरमाश्चर्यम्। किं च "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं, चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य, धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि" इति मन्त्रे अश्वकर्तृकरोमविधूननसदृशपापविधूननं, चन्द्रकर्तृकराहुमुखप्रमोकसदृशपापविमोकः, शरीरधवनं, कृतात्मत्वं, ब्रह्मलोकप्राप्तिरिति पञ्चतयमुपास्यत्वेन प्राप्तं तत्र त्रितयेन किमपराद्धं, येन द्वयमेवोपास्यं मोक्षसाधनतयाऽभिधीयते। श्यामाच्छबलं प्रपद्य इत्यादिकमपि तत्पूर्वोक्तमुत्तमपुरुषप्रयुक्तमुपास्यत्वेन प्राप्तं कथं परित्यज्यते। न च संभूतिं च विनाशं चेति मन्त्रे द्वयस्यैव ग्रहणाद् द्वयोपासनामात्रं लभ्यत इति वाच्यम्। अत्र संभवासंभवपदयोरर्थस्याद्याप्यनिर्णीतत्वात्, तन्निर्णयाय तद्वाक्योदाहरणात्। न च संभूतिभिन्नाः सर्वेऽपि श्यामशबलप्राप्त्यादयोऽसंभूतिपदबोध्या इति न किंचित्परित्यागदोष इति वाच्यम्। युष्मदीयाचार्याभ्यां तदकथनात्। विनाशेनेति कर्मविनाशमात्रस्य ग्रहणात्। न च श्रुतप्रकाशिकायां संभूतिपदेन मार्गस्योक्तत्वान्मार्गपदेन यथोक्तानां पञ्चानामन्येषां च ग्रहणं भविष्यतीति वाच्यम्। अर्चिरादिमार्गे मार्गपदप्रसिद्धेर्युष्मत्सयूथ्यैस्तथैव श्रुतप्रकाशिकार्थवर्णनाच्च। संभूतिपदस्य यथोक्तपञ्चतयाद्यर्थत्वे विनाशपदेन तदन्तःपातिकर्मनाशकथनवैयर्थ्यापत्तेश्च। किं च पञ्चतये एकस्य संभूतिपदेन ग्रहणमपरेषां संभूतिभिन्नत्वेन रूपेणेत्यत्र संभूतिभिन्नत्वेन रूपेण चतुर्णां ग्रहणं कुतः कृतम्। तेष्वन्यतममात्रस्यानुसंधानार्थं वा लाघवार्थं वा। नोभयमपि। संभूतिं च विनाशं चेत्यत्र विनाशपदेन प्रपत्ति-कृतार्थत्वादेरसंग्रहात्। तत्र विनाशपदस्य संभूतीतरेषु लक्षणा चेत् स एव दोषः। किं

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

च लक्षणोपगमेऽपि यथोक्तविकल्पद्वये न प्रथमः। अन्यतममात्रं चिन्तनीयमित्यत्र प्रमाणाभावात्। न ह्यसंभूतिशब्देनान्यतमार्थो लभ्यः। अश्व इव रोमाणीत्यादावेकरूपेण गृहीतेषु चतुर्ष्वन्यतममात्रग्रहणस्य न्यायविरुद्धत्वाच्च। न च येऽसंभूतिमिति वचनबलादेवान्यतमोपासनसिद्धिरिति वाच्यम्। एतद्वचनार्थस्याद्याप्यनिर्णीतत्वात्। न द्वितीयः। भिन्नत्वादीनां व्यासज्यवृत्तिधर्मत्वविरहेण यत्किंचित्संभूतिभिन्नानुसन्धानमात्रेण उभयसमुच्चयविधिसार्थक्योपपत्तेः। न हि घटमघटं चानयेत्युक्ते सर्वे घटाः सर्वेऽघटाश्चानीयन्ते। तत्कस्य हेतोः? । घटत्वादेर्व्यासज्यवृत्तित्वाभावादेव। यदि चासंभूतिपदं संभूतीतरचतुष्टयत्वादिपर्याप्त्यधिकरणलाक्षणिकं तदा चतुष्टयत्वादेरपेक्षाबुद्धिविशेषजन्यतया प्रत्येकज्ञानमावश्यकमिति कथं लाघवं संपादितम्। संभूतिपदेनैवान्तिमार्थवाचिना पञ्चतयत्वादिपर्याप्त्यधिकरणलक्षणार्थं ततोऽपि लाघवसत्त्वेनासंभूतिग्रहणवैयर्थ्यापाताच्च। निन्दां कर्तुं पृथक्कृत्यकथनमित्याद्युत्तरमप्यकिंचित्करमेव। प्रकारान्तरेणापि तत्संभवात्। अपि च अश्व इव रोमाणि विधूयेत्यादिवाक्यान्ते आख्यातश्रवणात्सर्वेषामपि अनुसन्धेयत्वं तयैव श्रुत्या सिद्धमिति अत्रानुवादमात्रता स्यादित्यप्रामाण्यं प्रसज्येत। न च अश्व इवेत्यादेः शाखान्तरगतत्वेन नानुवादप्रसक्तिरिति वाच्यम्। यतस्तत्रैव शाखान्तरोक्तार्थानुवादत्वं न भवति यत्र परस्परनिरपेक्षता स्वार्थबोधने स्यात्। इह तु संभूत्यसंभूतिपदार्थज्ञानायोक्तश्रुतेर्बलादपेक्षणीयत्वात्तदुक्तार्थकथनेऽनुवादत्वं दुर्वारमेव स्यात्। न हि संभूत्यादिपदं ब्रह्मप्राप्त्यादौ रूढमस्ति येन तदनपेक्षा स्यात्। न हि तत्र समुच्चयार्थो नावगम्यत इत्यपि शक्यं वक्तुम्। एकप्रत्ययविहितानेकार्थेन्यतमपरित्यागायोगेन फलतः समुच्चयसिद्धेः। विशिष्टविधानाच्च वाक्यभेदाभावात्। किं च ब्रह्मलोकमभिसंभवामीत्युक्तसंभूतेरत्र प्रत्यभिज्ञानमपि नास्ति। तत्र संभवतेरभ्युपसृष्टत्वादत्र चोपसर्गविरहात्। न ह्येकत्र प्रहार इत्युक्तस्यान्यत्र 'हार इत्यनेन प्रत्यभिज्ञानं भवति। अभ्युपसृष्टः संभवतिः सकर्मकः प्रसिद्धः। तद्रहितश्चाकर्मकः। क्वचित्स्मृतावभ्युपसर्गं विना प्रयोगसत्त्वेऽपि तत्र श्रुत्युक्तप्रसिद्धाभिसंभवतिशब्दस्मारणपूर्वकमेव शाब्दबोधो भवति। अन्यथा संभवतेः सकर्मकत्वमुपगम्य प्राप्त्यर्थतास्वीकारे लोकेऽपि घटादिप्राप्त्यर्थे घटं संभवामि धनं संभवामीत्यादिप्रयोगो दुर्वारः स्यात्। न च भवन्मतेऽपि धनं प्राप्नोतीत्यर्थे धनमभिसंभवतीति प्रयोगः स्यात्। न ह्येवं लोके प्रयोगो दृश्यत इति वाच्यम्। तादृरूप्येणाविर्भावस्यैवाभिसंभवतेरर्थत्वात्। अभीत्युपसर्गस्य कर्मप्रवचनीयत्वादभिमुखीभूयेत्यर्थश्रवणाद्वा तादृशप्रयोगस्थले द्वितीयोपपद्यते। अत एव दक्षिणामभिजायते लोक-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

मभिजायत इत्यादिप्रयोगाः। न हि जनिधातोः प्राप्त्यर्थकत्वमस्ति। एतेन भूप्राप्ता-वात्मनेपदी तस्य व्यत्ययेन संभवामीति प्रयोग इति परास्तम्। व्यत्ययं विनैवाभ्यु-पसृष्टस्य सकर्मकत्वसंभवेन व्यत्ययाश्रयणानर्थक्यात्। न च तां समभवत् ततो मनुष्या अजायन्तेतिप्रयोगादभ्युपसर्गविरहेऽपि सकर्मकत्वं भवतीति वाच्यम्। तत्र संभवतेर्यभनार्थलाक्षणिकत्वात्। 'धातोरर्थान्तरे वृत्तेः' इत्यादिनैकस्यैव धातोरर्थ-भेदेन सकर्मकत्वाकर्मकत्वयोरुक्तत्वात्। न च तत्र संभवतिः प्राप्त्यर्थक एव। प्रकर-णान्मैथुन्येन प्राप्तवानित्यर्थे लक्षणेति वाच्यम्। मैथुन्येन प्राप्तवानित्यस्य निरर्थक-त्वात्। मिथुनीभावं प्राप्तवानित्यर्थस्यैव विवक्षिततया पुनर्लक्षणाप्रसङ्गात्। न हि प्राप्तौ मैथुन्यं करणम्। हेतुतृतीययोक्तावपि अध्ययनेन वसतीत्यादावसमाप्ताध्ययनार्थ-दर्शनादत्रापि भाविमैथुन्यमेव प्रतीयेत। सहार्थतृतीयोपगमे प्राप्तवानिति व्यर्थ एव। अत एव भगवत्पादभाष्ये मैथुन्यमुपगतवानित्येव व्याख्यातम्। मैथुनमुपगतवा-निति पाठेऽपि स एवार्थः। न च वार्त्तिककारेण 'तां स्त्रियं मैथुनेनाथ मनुः समभव-त्तदा' इत्युक्तेः समभवदित्यस्य प्राप्तवानित्येवार्थः स्वीकृतः। अन्यथा मैथुनेनेत्यस्य पौ-नरुक्त्यापत्तेरिति वाच्यम्। तत्राभेदतृतीयया तथाप्रयोगात्। ज्योतिष्टोमेन यजेतेत्यादौ ज्योतिष्टोमादेर्यागादावभेदान्वयदर्शनात्। न च ज्योतिष्टोमेन यजेतेत्यत्र व्यापकीभूतयाग त्वस्य ज्योतिष्टोमेनेति विशेषणेन संकोच्यत इति सार्थकं विशेषणं न त्विहेति मैथुना-भिन्नप्राप्त्यर्थ एव वक्तव्य इति वाच्यम्। संभवशब्दस्यार्थान्तरे वृत्तिसत्त्वादत्र मैथु-नार्थकतैवेत्येतदर्थं विशेषणसार्थक्यात्। मैथुनात्मकसंभवं कृतवानिति वार्त्तिकाक्ष-रार्थात्। ननु संभवतेर्यभनलाक्षणिकतायां जहल्लक्षणाऽभ्युपगन्तव्या स्यात्। तद्वरं प्राप्त्यर्थकमुपगम्य मैथुन्याभिन्नप्राप्तावजहल्लक्षणेति चेन्न। संभवामि युगे युगे इत्यादौ जन्मार्थकतायाः संभवतेः प्रसिद्धत्वात् 'तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैतज्जनयति। तदस्य प्रथमं जन्मेत्येवमैतरेये जन्मरेतःसेचनयोः कार्यकारणभावोक्त्या संभवकारणत्वेन यभनार्थलाभसंभवात्। यदा ह्येव रेतः सिक्तं प्राण आविशत्यथ तत् संभवतीति जैमिनीये संभवतेरेव प्रयोगाच्च। तथा चायुर्वै घृतमित्यादौ कार्यवाचकपदस्य प्रयोगस्य बहुलमुपलम्भान्नात्र काचन क्लिष्टलक्षणा। भवता तु परस्मैपदिभवतेः प्राप्त्यर्थकत्वं च कल्पनीयं लक्षणा चोपगन्तव्येति स्पष्टं गौरवम्। किं चात्राभ्युपसर्ग-विरहेण तां समभवदित्यादौ प्रसिद्धसंभूतेरेव प्रत्यभिज्ञानं स्यात्। तथा च मैथुनो-पासनाविधायकमिदं वाक्यं स्यात्। तच्च त्वादृशस्य शोभतेतमाम्। प्राणमेवाभि-संभवति, धूममेवाभिसंभवन्ति, अर्चिषमेवाभिसंभवन्ति इत्येवं बहुस्थलेऽभिसंभवन-स्योक्तेरत्र ब्रह्माभिसंभवमात्रं च कथं शायेत। "ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव" एतौ वा अश्वं महिमानमभितः संबभूवतुः। इत्याद्युक्तसंभूतयश्च कथं व्यावर्त्येरन्। तथा

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

च यथाकथंचित् संभवतेः प्राप्त्यर्थत्वाभ्युपगमेऽपि ब्रह्मप्राप्त्यर्थकत्वं लक्षणयैवोपगन्तव्यं स्यात् अन्यथा प्राप्तिसामान्यस्योपासनीयत्वे घटादिप्राप्तेरप्यविशेषेणोपासनाप्रसङ्गापत्तेः। न चामृतफलान्यथानुपपत्त्या ब्रह्मसंभूतेरेव यत्क्रतुन्यायेन ग्रहणमिति वाच्यम्। यत्क्रतुन्यायेन ब्रह्मसंभूत्यभिसंपत्त्यापत्तेः। विनाशोपासनाया अनर्थकरत्वापत्तेश्च। वचनाद्विनाशसमुच्चितब्रह्मसंभूत्युपासनयाऽमृतत्वमिति चेद्? वचनादेव विना लक्षणां सभूतित्वेन घटादिप्राप्तिसाधारणसंभूत्युपासनयाऽमृतत्वस्वीकारापत्तेः।

परं तु संभवतेः कार्यार्थकत्वप्रसिद्धेस्तत्साहचर्येणासंभूतेः कारणार्थप्रतीतेश्चोपासनाप्रकरणवलात्कार्यब्रह्मकारणब्रह्मणोर्लाभादनायासेन हिरण्यगर्भोपासनं प्रकृत्युपासनं च लभ्यत इति तद्विहाय ब्रह्मप्राप्त्युपासनं कर्मनाशोपासनं च श्रुतिस्मृतीतिहास पुराणानाघ्रातगन्धं मुनिद्वयासंस्पृष्टं लक्षणया गृह्णन् प्रादर्शय एव वेदव्याख्यानकौशलम्। अपि च यत्तदादेरिवोत्तमपुरुषस्यापि विधिशक्तिक्षपणकारित्वमेव दृश्यते न हि गच्छेदित्यत्र विधिप्रतीतिरिव गच्छेयमित्यत्र विधिप्रतीतिर्भवति। लटा विधिप्रतीतिरिति ततोऽपि स्थवीयः। तथा चाभिसंभवामीति विधिकथनं कथमुपपद्येत। कल्प्यत इति चेद्। भूतप्रयोगेणापि कथं न विधिकल्पनम्। तथा च सोऽरोदीदित्यादौ यतो रुद्रोऽरोदीत्ततो रोदनं कर्त्तव्यं शिष्टपरिगृहीतत्वादित्यर्थलाभसंभवात् सामगानशस्त्रशंसनादिवद्रोदनस्यापि यागाङ्गत्वे क्षतिविरहात्, यथा मरणं न भवति तथोपायेन यत्किंचिन्निजवपोत्खननं कुर्यादित्येवं प्रजापतिर्वपामुदखिददित्यादावपि विधिकल्पनासंभवादेवं विधकल्पनामार्गप्रदर्शकः प्राकट्य एव मीमांसापाण्डित्यम्।

वस्तुतस्तु संभूतिपदस्य व्याकृतार्थत्वं प्रसिद्धमेव श्रुतिषु। तथा हि बृहदारण्यके "सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति। स मनसा वाचं समभवद्" इत्युपक्रम्य "तद्रेत आसीत् स संवत्सरोऽभवद्" इति रेतसः संभवजनितस्य संभूतिपदार्थस्य संवत्सरत्वोक्तेः "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे" इति प्रथमोत्पन्नस्य हिरण्यगर्भत्वोक्तेश्च संभूतिर्हिरण्यगर्भ इति सूचितम्।

जैमिनीयब्राह्मणोपनिषदि च "प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत्। सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेये" त्युपक्रम्य "स षोडशधात्मानं व्युकुरुत भद्रं च समाप्तिश्च भूतिश्च संभूतिश्चे" त्यादिना संभूतिघटितषोडशव्याकृतिं परिगणय्य तद्व्याख्यानावसरे तत्रैव "संभूती रेतोऽस्य तद्रेतसो हि संभवति" इति रेतसः संभूतित्वं स्पष्टमुक्तम्। तत्र प्रजापतिः परमात्मा। तस्य व्याकृतस्वरूपविषया मुख्यं रेत उच्यते। प्रजापतिरेतश्च हिरण्यगर्भ एवेत्युक्तम्। किं च तत्रैव षोडशव्याकृतिव्याख्यानसमनन्तरं "स एवैष हिरण्मयः पुरुष उदतिष्ठत् प्रजानां जनिते" त्युपसंहृतम्। रेत एव पुरुषरूपेणोत्तिष्ठतीति प्रसिद्धम्। स च 'हिरण्मय' इति हिरण्यगर्भस्य संभूतिपदार्थत्वं विस्पष्ट-

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

❀ भाष्यम ❀

अधुनोभयोरुपासनयोः समुच्चयकारणमवयवफलभेदमाह—[अन्यदेवेति ।] अन्यदेव=पृथगेवाहुः फलं संभवात्=संभूतेः कार्यब्रह्मोपसानाद् अणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

मुपनिषदभ्युपगतमिति नास्त्येव तत्र लक्षणा । वचनसिद्धत्वात् । तथा च सत्यसंभूतिपदं सुगमतया प्रकृतिपरं शक्यं ज्ञातुम् ।

एवं स्थिते शास्त्राऽप्रसिद्धं स्वरूपतो ज्ञातुमशक्यमचत्वेऽश्वपृष्ठघदुष्टयादिवत्केवलपुस्तकमात्रस्थितमिदं ब्रह्माभिसंभवनाद्युपासनं मोक्षसाधनतया वर्णयन्तो मोक्षमेव गगनकुसुमोपमतां प्रापयन्तो व्यर्थप्रयासे जनान् योजयित्वा परेषां जीवनमेव वितथयन्त एते जनवञ्चका एव भवितुमर्हन्ति । स्वमतेऽपि लक्ष्मीविष्णुरामकृष्णाद्युपासनानामेव मोक्षसाधनतया स्वीकृतत्वाद् ब्रह्माभिसंभवनाद्युपासनायाः मोक्षसाधनतया शिष्यपरम्परोपदेशे त्यक्तत्वाच्च तस्या इह तथात्वेनोपदेशः स्वीयं महावञ्चकत्वं वा परासहिष्णुत्वेन मिथ्याप्रलापित्वं वा स्फुटयतीति वेदार्थकदर्थनपराः सनातनधर्मविटपिकुठारभूता इमे शठास्त्याज्या एव सर्वथा मुमुक्षुभिर्बुधैः ॥ १२ ॥

इति द्वादशमन्त्रविवरणम् ।

अन्यदेवाहुः ॥ अत्र संभवादिपदम् अन्यदेवाहुर्विद्ययेत्यादाविव न संभवादिस्वरूपमात्रप्रतिपादनपरम् । अविद्यादिपदवाच्यकर्मादीनां साध्यत्वेन फलजनकत्वसंभवेऽपि हिरण्यगर्भादेः सिद्धस्य साध्योपासनादिवैशिष्ट्यमन्तरा तदयोगात् । अतः संभवादिपदं तत्तदुपासनापरतया व्याचष्टे—कार्यब्रह्मोपासनादिति अव्याकृतोपासनादिति च । अणिमाद्यैश्वर्यलक्षणमिति । 'आप्नोति स्वाराज्यम्' 'सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति' 'तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' इत्यादिश्रुतयः कार्यब्रह्मोपासकानामणिमाद्यैश्वर्यलक्षणं फलमाहुः । स्वाराज्यादिपदेन विशेषाख्यानं कृतं न त्वणिमादिनामनिर्देशमात्रमित्याशयेन व्याख्यातवन्त इत्युक्तम् ।

केचित्त्वग्रिममन्त्रभाष्ये—अनैश्वर्यमधर्मकामादिदोषजातमिति पाठं दृष्ट्वाऽत्रापि ऐश्वर्यस्योपलक्षणत्वं मन्वाना धर्मज्ञानवैराग्याणामपि ग्राह्यत्वमाहुः । धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याणि बुद्धेः सात्त्विकरूपाणि । तथा चाहुः अध्यवसायो बुद्धिर्ज्ञानं विराग ऐश्वर्यमिति । तच्चिन्त्यम् । एवं सति कार्यब्रह्मोपासकानां पुनरावृत्त्यनुपपत्तेः । न च

❀ भाष्यम् ❀

तथा चान्यदाहुरसंभवाद्=असंभूतेः=अव्याकृताद्=अव्याकृतोपासनाद्, यदुक्तम्:-"अन्धं तमः प्रविशन्ति" इति, प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यते। इति=एवं शुश्रुम धीराणां वचनं ये नस्तद्विचचक्षिरे व्याकृताव्याकृतोपासनफलं व्याख्यातवन्त इत्यर्थः ॥१३॥

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

पुनरावर्त्तते अनावृत्तिः शब्दादिति श्रुतिन्यायाभ्यां कार्यब्रह्मोपासकस्य ब्रह्मलोकगतस्य नैवावृत्तिरिति वाच्यम्। विशिष्टाधिकारिणामेव तदुपपत्तेः अन्येषां पुनरावृत्तेरनुपदमुपपादितत्वात्। विशिष्टाधिकारिग्रहणे वा प्रत्येकनिन्दासमुच्चयविधानयोरनुपपत्तिः स्यात्। केवलव्याकृतब्रह्मोपासनेनैव परमपुरुषार्थसिद्धेः। उत्तरमन्त्रव्याख्याने अधर्मकामेति पाठः क्वाचित्कः। तत्पाठपक्षेऽपि उत्कटाधर्मकामादेरेवग्रहणम्। अन्यथा कार्यब्रह्मोपासकस्य तत्प्राप्त्या कृतार्थत्वात्समुच्चयोपासनाया एव प्रकृतिलयपर्यवसानाया निन्द्यत्वमापद्येत।

ननु अग्ने नयेत्यादिमन्त्रभाष्ये निर्विण्णोऽहं दक्षिणेन मार्गेण गतागतलक्षणेनातो याचे त्वां पुनः पुनर्गमनागमनवर्जितेन शोभनेन पथा नयेति व्याख्यास्यते। तत्र निर्विण्ण इत्यनेन विवेकपूर्वकवैराग्यं गमनागमनवर्जितेनेत्यनेन पुनरावृत्तिराहित्यं चाभिहितमिति कथमेतद्ग्रन्थसंगतिः। प्रकृतिलयवतः पुनः संसारध्रौव्यात्तस्योत्कर्षानुपपत्तेरिति चेन्न। गमनागमननिर्वेदेऽपि वास्तविकवैराग्यासिद्धेः। तत्रैव राये धनाय कर्मफलभोगाय सुपथा नयेति भोगेच्छायाः स्पष्टत्वात्। तथा चोत्कटाऽधर्मकामाद्यभावपरकतया यदस्माभिरनुपदं दर्शितं तत्रैव तात्पर्यमेतद्भाष्यस्याग्रिमभाष्यस्य च मन्तव्यम्।

नन्वेवं के नाम ब्रह्मलोकगता मुच्यन्त इति चेद्। 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे' इति श्रुत्युक्ता इति ब्रूमः। सुनिश्चितार्था न पुनः साक्षात्कृतब्रह्माण इति ब्रह्मलोकागमनमपि तेषामुपपद्यते। यदुक्तमन्धं तमः प्रविशन्तीति। नन्विदं फलविषया न पूर्वमभिहितं किन्तु निन्दात्मकतयेति फलत्वकथनमनुचितमिति चेन्न। क्वचिन्निन्दाबोधकशब्दस्य वस्तुकथनपरत्वमपि दृष्टमेव। यथा मूर्खोऽसीति आक्रोशरूपोऽपि ज्ञानशून्यतारूपवस्तुकथनात्मको भवति शब्दः। परं तु निन्दारूपेण श्रुतेऽन्धतमसप्रवेशे पुरुषप्रवृत्तिर्न स्यादिति अव्याकृतोपासनाविधायकशास्त्रमप्रवर्त्तकत्वेनाप्रामाणिकं स्यादित्यतः शब्दान्तरेणाह—प्रकृतिलय इति च पौराणिकैरुच्यत इति। प्रकृतिलयमुद्दिश्यैव च पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तका इ युक्तम् ॥१३॥

इति त्रयोदशमन्त्रविवरणम्

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयँ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा-संभूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥

❀ भाष्यम् ❀

यत एवमतः समुच्चयः संभूत्यसंभूत्युपासनयोर्युक्त एवैक-पुरुषार्थत्वाच्चेत्याह—संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह । विनाशेन विनाशो धर्मो यस्य कार्यस्य स तेन । धर्मिणाऽभेदे-नोच्यते विनाश इति । तेन तदुपासनेनानैश्वर्यम् अधर्मकामादि-दोषजातं च मृत्युं तीर्त्वा—हिरण्यगर्भोपासनेन ह्यणिमादिप्राप्तिः फलं, तेनानैश्वर्यादिमृत्युमतीत्य, असंभूत्या अव्याकृतोपासनया अमृतं—प्रकृतिलयलक्षणमश्नुते । संभूतिं च विनाशं चेत्य-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

संभूतिं च । अनैश्वर्यमधर्मकामादिदोषजातं चेति । ऽनैश्वर्यमैश्वर्याभाव-मात्रमिति तन्न दोषत्वेन कीर्त्तितः । अधर्मस्तु न धर्माभाव एव किन्तु भावात्मकः । कामादीत्यादिना द्वेषादिपरिग्रहः । न त्वज्ञानम् । प्रकृतिलयेऽज्ञानावश्यंभावात् । तदेतदुभयमिह मृत्युशब्दितम् । तत्रैश्वर्यप्राप्त्या अनैश्वर्यतरणम् । वैराग्यादिप्राप्त्या कामादितरणम् । ब्रह्मलोकगतानां यद्यपि ब्रह्मलोकगतानन्दभोक्तृत्वाद्वैराग्यं दुर्घटम् । तथापि अविवेकवशात्स्वर्गादिगता यथा कामान्धा न तथा ब्रह्मलोकगता इति विशेष इति बोध्यम् । अमृतं प्रकृतिलयलक्षणमश्नुत इति । ननु कथं प्रकृतिलयस्य पुरुषार्थत्वम् । मूढावस्थया चिरकालं स्थितिर्हि प्रकृतिलयः । न च सांसारिक-दुःखानुभवाभावेन सुषुप्तिवत्प्रकृतिलयस्य पुरुषार्थत्वं भवतीति टीकाकारेण समा-हितमेतदिति वाच्यम् । तथा सति समुच्चयं विनैव प्रकृत्युपासनया तत्प्राप्तिसंभवात् समुच्चयविध्यानर्थक्यापत्तेः । न चैश्वर्यादिप्राप्तिपूर्वकत्वं विशेष इति वाच्यम् । तावता तस्यान्धं तम इत्यादिना निन्दानुपपत्तेः । न ह्यैश्वर्या दपूर्वकत्वमात्रेण प्रकृतिलयकाले कश्चिद् विशेष उपपद्यत इति चेन्मैवम् दुःखानुभवाभाव उभयसामान्यम् । सुषुप्तव-दिति च विशेषः । तत्र सुषुप्तौ सत्त्वरजस्तमोगुणानां तारतम्यात् सुखमहमस्वाप्सं, दुःखमहमस्वाप्सं गाढं मूढोऽहमस्वाप्समित्येवं त्रिविधा प्रतीतिरुत्थितस्य दृश्यते । तथा च केवलप्रकृत्युपासकस्य प्रकृतिविलीनस्य तमोगुणाधिक्येन मूढता रजोगुणा-धिक्येनेषद्दुःखभारश्च संभाव्यते । तदुक्तम्—अन्धं तमः प्रविशन्तीति । अन्धमित्य-नेन तमोगुणाद्याधिक्यसूचनात् । समुच्चितोपासकस्य तु सात्त्विकसुषुप्तवत्सुखविशे-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

षाभिव्यक्तिर्भवति। तदेवाभिव्यञ्जयितुं मन्त्रे समुच्चयफलं प्रकृतिलयशब्देनानुक्त्वाऽमृतशब्देनोक्तम्। ननु दुःखमहमस्वाप्सं सुखमहमस्वाप्समित्यादिकमुत्थितस्यैव विशेषानुसन्धानम्। सुषुप्तिकाले तु दुःखसुखवैशिष्ट्येण को विशेषः। विशिष्टप्रतीतेस्तदानीं विरहात्। न च सुखसुषुप्त्यर्थं सर्वे प्रयतन्ते, उत्थितस्य मनोमालिन्यविरहार्थं, न तु सुषुप्तिकाले सुखविशेषार्थम्, न ह्येवं प्रकृते। प्रकृतिलयस्यैव फलत्वेन तदुत्तरव्युत्थानादेरपरीक्षणीयत्वादिति वाच्यम्। यतः सुषुप्तादुत्थितः सत्त्वगुणाधिक्ये ज्ञानार्जनादिकं करोति रजोगुणाद्याधिक्ये विस्मृतिशीलवत्तूष्णीमास्ते इत्यनुभवसिद्धम्। एवमेव प्रकृतिलयादुत्थितः कश्चित्समुच्चयकारी सत्त्वगुणाधिक्यात्सात्त्विकं शरीरं प्राप्य ज्ञानार्जनादिकं करोति, अपरः असमुच्चयकारी तमोगुणाद्याधिक्यात्पश्वादियोनिं प्राप्नोतीत्युत्तमयोनिप्रापकस्य सुखविशेषविशिष्टस्यैव प्रकृतिलयस्य पुरुषार्थत्वौचित्यात्।

नन्वेकपुरुषार्थत्वाच्चेति पूर्वमभिहितं समुच्चयोपासनफलम्। न चात्रैकपुरुषार्थत्वं दृश्यते। प्रकृतिलयात्प्राक् अणिमाद्यैश्वर्यसत्त्वेऽपि न प्रकृतिलये। प्रकृतिलयकाले च नाणिमाद्यैश्वर्यम्। तथा च भिन्नावेव पुरुषार्थौ। न चाणिमाद्यैश्वर्यपूर्वकत्वविशिष्टप्रकृतिलय एक एवेति वाच्यम्। तत्पूर्वकत्ववैशिष्ट्यस्य कार्यतानवच्छेदकत्वात्। तन्तुकपालाभ्यां क्रमेण पटघटयोरुत्पत्तौ न पटपूर्वकत्वविशिष्टघटत्वं तन्तुसमुच्चितकपालस्य केनचिदप्यभ्युपगम्यते। किन्तु तत्र तन्तोः कार्यतावच्छेदकं पटत्वं कपालस्य कार्यतावच्छेदकं घटत्वमिति पृथक् पृथगेवोपगम्यते इति चेद्? अत्र वदन्ति। समुच्चयस्थले प्रत्येककारणयोर्यत्फलं तत्रैव कश्चिदुत्कर्ष उपजायते। यथा प्रत्येकपुरुषेणाऽवाह्यापि शिबिका पुरुषचतुष्टयसमुच्चयेनोह्यते। तत्र परस्परसमुच्चयात् प्रत्येकस्योत्थापनशक्तावुत्कर्षो भवति। यथा वा श्रेष्ठिसेवकसमुच्चये प्रत्येकफलोत्कर्षः प्राग् दर्शितः। यथा च विद्यया देवलोकगमनं कर्मसमुच्चितविद्यया तत्रोत्कर्षो देवतात्मभावः। न च ज्ञानकर्मसमुच्चयवादिभास्करमते ज्ञानफले मोक्षे कर्मणा क उत्कर्ष इति वाच्यम्। यतो ज्ञानस्य केवलस्य फलं न मोक्षः। किन्तु कर्मसमुच्चितस्यैव तस्य। केवलज्ञानफलं तु ब्रह्मलोकादिरेव योगभ्रष्टवत्। न चैवं कर्मसमुच्चयेन ब्रह्मलोक एवोत्कर्षः स्यान्न मोक्ष इति वाच्यम्। मोक्षस्य ब्रह्मलोकोत्कर्षात्मकत्वात्। सर्वाधिकानन्दो ब्रह्मलोक इति श्रुतिप्रसिद्धं, तस्मिन्नानन्दे पुनरुत्कर्षो यतो वाचो निवर्त्तन्त इत्यादिश्रुत्युक्तमपरिच्छिन्नत्वमेव। उत्कृष्टफलं च क्वचिद्विजातीयमपि भवति। यथा शैत्यमधुरयोः समुच्चये पित्तप्रशमनम्। न चैवमेकपुरुषार्थत्वाच्चेति भाष्यासंगतिः, वस्तुतः पुरुषार्थद्वयपर्यवसानात्, ज्ञानकर्मसमुच्चयस्थले च कर्मणो यत्फलं तत्रैवोत्कर्षेण फलान्तरासङ्गश्च भास्करमत इति

❀ भाष्यम् ❀

ऽवर्णलोपेन निर्देशो द्रष्टव्यः। प्रकृतिलयश्रुत्यनुरोधात् ॥१४॥

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

वाच्यम्। यतः क्वचित्समुच्चयफलेनोत्कृष्टेन प्रत्येकफलमभिभूयते। यद्वा ज्ञाने कर्मणि च स्वतन्त्रतत्तत्फलकत्वसत्त्वेऽपि प्रत्येकस्मिन् मोक्षफलजननसामर्थ्यमपि भवति तदभिव्यक्तिश्च परस्परसमुच्चये सति भवति इति भास्करमतोपपत्तिः। तथैव दिशा एकपुरुषार्थत्वाच्चेति भाष्यमपि नेयम्। एकैकपुरुषार्थत्वाच्चेति पाठान्तरं भाष्ये दृश्यते क्वचित्कोशे। तत्र च नानुपपत्तिगन्धोऽपि। न चैकैकपुरुषार्थत्वे समुच्चय-वैयर्थ्यम्। फलोत्कर्षस्य दर्शितत्वात्। तथा च समुच्चयो नानास्वरूपः। क्वचित्स्व-स्वफले परस्परसमुच्चयेनोत्कर्षः। यथा विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुत इति। यथा वा लोके स्वामिसेवकयोः। क्वचिच्चोत्कृष्टं फलान्तरं, यथा भास्करस्य ज्ञानकर्मसमुच्चयेन मोक्षः। यथा वा शैत्यमधुरयोः समुच्चयेन पित्तप्रशमनम्। तत्रापि उत्कृष्टफलान्तरेण क्वचित्प्रत्येकफलाभिभूतिः। यथोक्तमोक्षस्थल एव। यथा च चूर्णकहरिद्रयोः समुच्चयस्थले रक्तवर्णेन प्रत्येकफलश्वैत्यपीतिम्नोरभिभवः। तदेवं समुच्चयानां नानारूपत्वात्तत्र तत्र फलभेदो नानुपपन्नः। प्रकृते च कार्यब्रह्मोपास-नायाः फले उत्कर्षमात्रं तथा प्रकृत्युपासनेऽपि उत्कर्षः। प्रकृतिलय उत्कर्षश्च सत्त्वा-धिक्यादस्माभिः प्रागेव दर्शित इति न किंचिदनुपपन्नम्।

भाष्येऽवर्णलोपेन निर्देश इति। छान्दसोऽवर्णलोप इत्यर्थः। यत्तु ये न-स्तद्विचचक्षिरेऽसंभूतिं चेत्यत्र सन्धौ "एङः पदान्तादति" इति पूर्वरूपेणाऽ-कारादर्शनमर्थं इति। तन्न। पदपाठादावकारच्छेदस्यादर्शनात्। नञ्तत्पुरुषे पूर्वपदप्रकृतिस्वराभ्युपगमेन शेषानुदात्तत्वात्सकारोऽनुदात्तः स्यात्। ततश्चोदात्ता-दनुदात्तस्य स्वरित इति स्वरितत्वे शेषप्रचये च सति प्रसिद्धभूकारस्वरितत्वं सकारोदात्तत्वं च बाध्येत। यथापाठे चोपसर्गस्वरेण संभूतिमित्यत्र सकारोत्तराकार उदात्तस्तदुत्तरस्य भूइत्यूकारस्यानुदात्तस्य उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित इति स्वरित-त्वाच्छेषप्रचयाच्च यथाश्रुतस्वरोपपत्तिरिति। न च नञ्समासोत्तरमकारलोपे कृतेऽपि नञ्प्रयुक्तस्वरः स्यान्नञः स्थानिवत्त्वादिति वाच्यम्। अल्विधित्वेन स्थानिवत्त्वा-नुपपत्तेः। न च नञिति नैकालिति नाल्विधित्वमिति वाच्यम्। यतो न नञो लोपः नलोपोत्तरमकारस्य लोपात्। तथा चात्र लोपद्वयमेवेति प्रत्येकवर्णयोरेव स्थानि-त्वात्। न च नकारलोपोत्तर यद्यकारे नञ्त्वं न स्यात्तदा च नञ्प्रयुक्तस्वरोऽपि न स्यादिति प्रथमलोपे नञ्त्वस्वीकार्यमिति वाच्यम्। एकदेशविकृतमनन्यवदित्येव तत्र नञ्त्वसिद्धेः।

❁ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❁

अत्रेदं विचार्यते। पूर्वमविद्याविद्ययोः समुच्चय उक्तः। इह च संभूत्यसंभूत्युपासनयोः। तत्राऽविद्या नाम कर्म। असंभूतिश्च प्रकृत्युपासनेति स्पष्टो भेदः। विद्यासंभूत्योस्तु को विशेषः। न च विद्या नाम देवतोपासना संभूतिश्च हिरण्यगर्भोपासनेति विशेषः। अत एव देवात्मभावः विद्याफलम्, अणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिः संभूत्युपासनफलमिति फलभेदश्चेति वाच्यम्। हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्र इत्युपक्रम्य कस्मै देवाय हविषा विधेमेति हिरण्यगर्भस्यापि देवत्वोक्तेः। उभयोरपि देवलोकप्राप्तिः समानैव। न हि हिरण्यगर्भोपासको देवलोकमगत्वैवेहैवाणिमाद्यैश्वर्यमात्रं लभते। न च देवलोकात् पृथगेव हिरण्यगर्भोपासकस्य ब्रह्मलोकः, देवानामानन्दः ब्रह्मण आनन्द इति पृथगेव श्रुतौ श्रवणात्, तथा च विद्यापदेन हिरण्यगर्भातिरिक्तदेवविषयकविज्ञानं विवक्षितमिति वाच्यम्। "विद्यया देवलोकः, न तत्र दक्षिणा यन्ति" इति भाष्योदाहृतश्रुतेरुत्तरमार्गेण विद्यावतां देवलोकप्राप्तिरिति गम्यते। उत्तरमार्गेण गच्छन्तश्च "स एनं ब्रह्म गमयति" "तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः" इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्ब्रह्मलोकमेव प्रतिपद्यन्त इति देवलोकब्रह्मलोकशब्दयोः पर्यायमात्रत्वनिश्चयात्। किं चास्तु देवलोकब्रह्मलोकयोर्भेदः। तथापि विद्यया देवलोक इति सामान्यफलोक्तिमात्रम्। फलान्तरप्रयोजकोपासनास्वपि य एवं वेदेत्येवं विदःत्वप्रसिद्धेरत्र विद्यापदेनोपासनाविशेषमात्रपरिग्रहे किं मानम्।

अत्र केचिदाहुः। विद्या नाम देवताज्ञानम्। तच्च आदित्यो ब्रह्मेत्युपास्ते वैश्वानरमुपास्त इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धा आरोपात्मिका दृष्टिः। मूर्धैव सुतेजा इत्यादावपि सुतेजसि मूर्धत्वादिदृष्टिविधानात्। हिरण्यगर्भोपासना तु आ प्रणखाद् हिरण्यवर्ण इत्यादिश्रुतेर्हिरण्यश्मश्रुवादिविशिष्टव्यक्तिविशेषविषयिणीति परस्परं भेदः। एवमसंभूत्युपासनापि नारोपदृष्टिः किन्तु प्रकृतिचिन्तनमात्रमिति सापि विद्यापदार्थाद्भिन्नैवेति।

परे तु एवमुपासनानां स्वरूपभेदो भवतु कामम्। तथापि हिरण्यगर्भाद्युपासना विद्यापदार्थान्न व्यावर्त्तयितुं शक्यन्ते। न हि विद्यापदस्यारोपितदृष्टिविशेषात्मकोपासनार्थे रूढिरस्ति। निर्गुणविद्यायां तदसंभवात्। न च विद्यापदं हिरण्यगर्भोपासनेतरविषयकतया संकोच्यत इति वाच्यम्। संकोचे मानाभावात्। न च संभूतिं च विनाशं चेति पृथगुपदेशात्पूर्वत्र संकोचः क्रियत इति वाच्यम्। विरोधविरहेण पृथगुक्तिमात्रस्य संकोचाऽप्रयोजकत्वात् यत्र हि "यजतिषु येयजामहं करोति नानुयाजेष्वि"त्यादौ विरोधः प्रतीयते तत्रैव संकोचस्वीकारात्। न च ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्यायेत्यत्र ब्राह्मणपदं विरोधविरहेऽपि कौण्डिन्येतरविषयकतया यथा संकोच्यते कौण्डिन्यानां विशेषार्थविधानात्तथात्रापि विना-

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

शेन मृत्युं तीर्त्वेत्यादिविशेषफलविधानात्पूर्वं विद्यापदं हिरण्यगर्भोपासनादीतरविषयकतया संकोचनीयमिति वाच्यम्। वैषम्यात्। न हि कर्महीना ब्राह्मणा अपूज्या ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्यायेत्युक्ते ब्राह्मणा अपूज्या इत्यत्रापि कौण्डिन्येतरब्राह्मणानां कर्महीनानामपूज्यत्वमिति गम्यते। तथा च फलांशावच्छेदेन संकोचो भवतु नाम तथापि समुच्चयांशे संकोचो न भवितुमर्हति। असमुच्चितनिन्दनात्। तथा च हिरण्यगर्भाद्युपासनास्वपि कर्मसमुच्चय इष्ट एव। न चैवं सर्वोपासनासंग्रहे उषा वा अश्वस्येत्यादिमन्त्रव्याख्याने येषामश्वमेधे नाधिकारस्तेषामस्मादेव विज्ञानात् फलप्राप्तिरित्यादि भाष्यं विद्यया वा कर्मणा वेत्यादि तत्रोदाहृतं श्रौतवचनं चोपरुध्येतेति वाच्यम्। नित्यनैमित्तिकादिकर्मसु सर्वेषामधिकारात्तैः समुच्चये बाधकाभावात्। विकल्पस्त्वश्वमेधकर्माश्वधर्मिकप्रजापतिदृष्ट्यादेरेव। तत्र च विद्यात्वेन प्राप्तवैश्वनरोपासनादिनानाविद्यासु हिरण्यगर्भोपासनं निष्कृष्योपादायोत्कृष्टतरफलकप्रकृत्युपासनासमुच्चयविधानाय प्राक् प्रदर्शितस्यापि देवात्मभावलक्षणामृतफलस्य ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्यां रता इति निन्दा नानुपपन्ना। तथा चानैश्वर्यादितरणपूर्वकप्रकृतिलयस्य सर्वोत्कृष्टफलत्वमपि सूचितं भवति। इत्थं च "मानुषदैववित्तसाध्यं फलं शास्त्रलक्षणं प्रकृतिलयान्तमि"त्यनुपदवक्ष्यमाणभाष्यमपि सुसंगतं भवति। प्रकृतिलयान्तमित्यनेन सर्वोत्कृष्टमन्तिमं फलं प्रकृतिलय इत्यर्थप्रतीतेः। अन्यथा देवात्मभावस्याप्यमृतपदेनोक्तत्वात्प्रकृतिलयस्याप्यमृतपदत्वादत्र कतरच्छ्रेय इति निर्णयायोगादुक्तभाष्यासंगतिरेव स्यादिति प्राहुः।

अन्ये तु विद्यपदमत्र न सर्वविद्यापरम्। किन्त्वपरब्रह्मविषयकविद्यापरमेव। वक्ष्यति च भाष्यकारः विद्यया सहापरब्रह्मविषययेति। केयमपरब्रह्मविषया विद्येति चेत्? तदपि स्पष्टीकरिष्यति भाष्यकार एव "तद्यत् तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुष एतदुभयं सत्यं ब्रह्मोपासीन" इत्यनेन वाक्येन। न चैतादृशोपासनामात्रपरतया विद्यापदसंकोचे मानाभाव इति वाच्यम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि इति मार्गयाचनमन्त्रलिङ्गेनोक्तार्थलाभात्। उक्तमार्गयाचनस्य पूर्वप्रकृतसमुच्चयकारिविषयत्वात्। सोऽहमित्युपासनाया ज्ञानसंनिकृष्टत्वादविशेषितविद्यापदार्थत्वौचित्याच्च।

अपरे तु योऽसावसाविति श्रुतिर्न पूर्वप्रकृतसकलोपासनविषयिणी। संभूत्यसंभूत्युपासनाऽपरिग्रहात्। पूर्वोदितैकदेशग्रहणे विद्यापदार्थैकदेशादित्याक्षिपुरुषोपसनमात्रं वैशेष्यादुपात्तमित्यपि वक्तुं शक्यमेव। अपरब्रह्मविषययेति भाष्यं तु परब्रह्मविद्याव्यावर्त्तकं न तु उपासनान्तरव्यावर्त्तकम्। श्रुत्या पूर्वाभिहितैकदेशमात्रमिह

❀ भाष्यम् ❀

मानुषदैववित्तसाध्यं फलं शास्त्रलक्षणं प्रकृतिलयान्तम् ।

❀ आनन्दगिरीयटीका ❀

विस्तरेणोक्तमर्थं संक्षिप्योपसंहरति—मानुषदैववित्तसाध्यमित्यादिना । शरीरपाटवं गोभूहिरण्यादिसाधनसंपत्तिश्च मानुषं वित्तम् ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

गृहीतमिति निर्णीते कः स एकदेश इति निर्णेतुमेव तद्यत्सत्यमित्यादिभाष्यप्रवृत्तिर्न तु प्रकृतविद्यापदार्थनिर्वचनं कर्तुमिति वदन्ति ॥१४॥

इति चतुर्दशमन्त्रविवरणम्

मानुषेत्यादिभाष्यग्रन्थतात्पर्यमाह टीकायां विस्तरेणेति । ईशेति प्रथममन्त्रेण ज्ञाननिष्ठोपक्रान्ता । कुर्वन्नेवेति कर्मनिष्ठा । असुर्या नामेत्यादिना ज्ञाननिष्ठाया विवरणम् । अन्धं तम इत्यादिना कर्मनिष्ठायाः । तदेतद्विस्तरेणोक्तमर्थजातम् । संक्षिप्येति । सम्यक्क्षिप्त्वेत्यर्थः पूर्वं ज्ञाननिष्ठाकर्मनिष्ठयोर्विवरणमात्रं कृतम् अत्र तु कर्मनिष्ठायाः फलभूता यावत्पर्यन्तसंसारगतिस्ततः परं ज्ञाननिष्ठा फलमिति विविच्य विशेषेण प्रदर्शितमिति । स एव सम्यक् क्षेपः । न च पूर्वमपि ज्ञाननिष्ठाऽसमर्थस्य कर्मनिष्ठेति कुर्वन्नेवेत्यादिमन्त्रावतरणे प्रदर्शितमिति असामर्थ्यलिङ्गेन कर्मनिष्ठातः श्रैष्ठ्यं ज्ञाननिष्ठायाः सूचितमिति वाच्यम् । मन्त्रेषु तदुक्तिविरहेण विस्तरेण मन्त्रप्रदर्शितार्थस्यात्र सम्यक्क्षेपात् । किं चासमर्थस्य कर्मनिष्ठेति प्रदर्शनं न ज्ञाननिष्ठायाः श्रैष्ठ्ये लिङ्गम् । "अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवानि"त्येव मय्येव मन आधत्स्वेत्यादिनोत्तरोत्तरासमर्थस्यात्यन्तसामर्थ्यहीनस्य सर्वकर्मफलत्यागोक्तावपि "श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते । ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरमि"ति सर्वोत्कर्षरूपेण कर्मफलत्यागस्यान्ते वर्णनदर्शनात् । न हि हस्तिवत्पिप्पलशाखाभोजनासमर्थो मनुष्यः शाल्यन्नं भुङ्क्त इत्येतदुक्तिमात्रेण शाल्यन्नस्य निकृष्टत्वं सिद्ध्यति । शाल्यन्नभोजिनां मनुष्याणामत्युत्कृष्टबुद्धिदर्शनेन तस्य निकृष्टत्वाभावात् तस्माज्ज्ञाननिष्ठाऽसमर्थस्य कर्मनिष्ठेति कथनमात्रेण न कर्मनिष्ठाया अपकृष्टत्वं सिद्ध्यति । न वा फलानुत्कर्षावश्यंभाविता । तस्मात्तदुक्तेरत्र सम्यक्क्षेप एव । शरीरपाटवं गोभूहिरण्यादिसाधनसंपत्तिश्चेति । तत्साध्यं कर्मेत्यर्थः । मानुषं वित्तं कर्म दैवं वित्तं देवतोपासनमिति बृहदारण्यकभाष्ये (१-४-१७) वित्तत्वसिद्ध्यै टीकाकृदायासः ।

भाष्ये शास्त्रलक्षणमिति । शास्त्रप्रमाणकमित्यर्थः । प्रकृतिलयान्तमिति ।

❀ भाष्यम् ❀

एतावती संसारगतिः । अतः परं पूर्वोक्तमात्मैवाभूद्विजानत इति सर्वात्मभाव एव सर्वैषणासंन्याससज्ञाननिष्ठाफलम् । एवं द्विप्रकारः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो वेदार्थोऽत्र प्रकाशितः । तत्र प्रवृत्तिलक्षणस्य वेदार्थस्य विधिनिषेधलक्षणस्य कृत्स्नस्य प्रकाशने प्रवर्ग्यान्तं ब्राह्मणमुपयुक्तम् । निवृत्तिलक्षणस्य प्रकाशनेऽत

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

दैवं वित्तं–दैवताज्ञानम् । उत्तरग्रन्थस्यसंबन्धाभिधित्सयाऽर्थविशेषष-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम ❀

संभूतिं चेत्यत्रोपपादितप्रकृतिलयपर्यन्तम् इतोऽधिकमपि किंचित्कुत्रचिदस्ति फलमित्याशङ्कां व्यावर्त्तयति—एतावतीति । अतः परमिति । तथा च ज्ञाननिष्ठाफलस्पर्शोऽपि कर्मनिष्ठया न भवितुमर्हतीति भावः । वक्ष्यति च दूरमेते विपरीते विषूची इति काठकोदाहरणं भाष्ये । एतदाशयेनाह—एवं द्विप्रकार इति । अत्र प्रकाशित इति । चत्वारिंशदध्यायात्मिकायां काण्वसंहितायामित्यर्थः । अत्रेशावास्योपनिषदीत्यर्थं इत्यपि कश्चित् । अत्र संहितायां सूत्ररूपेण प्रदर्शितौ वेदार्थावेव परतो ब्राह्मणग्रन्थेन प्रकाश्येते इत्याह—तत्र प्रवृत्तिलक्षणस्येत्यादि । ननु संहितायामेव प्रकाशितत्वात्को ब्राह्मणोपयोग इत्यत आह—कृत्स्नस्येति । प्रवृत्तिमार्गे कृत्स्नत्वं स्वयमेव सूचयति—विधिनिषेधलक्षणस्येति । संहितायां न विधिनिषेधौ । प्रयोगसमवेतार्थमात्रस्मारकत्वात् । कुर्वन्नेव जिजीविषेत् यस्तद्वेदोभय सहेत्येवं यद्यपि विध्यादिरस्ति । तथापि कार्त्स्न्येन विधिनिषेधौ ब्राह्मणग्रन्थेष्वेवेति न ब्राह्मणग्रन्थानर्थक्यमिति भावः । निवृत्तिलक्षणधर्मस्तु यद्यपि न विधिनिषेधात्मकः । साधनविधिसंभवेऽपि तस्येहैव वर्णनं विद्यते तथापि अतिरहस्यत्वात्सकृदुक्तमपि न बुद्धिपथमारोहतीति नानाविधोपायैस्तन्निरूपणमावश्यकमिति बृहदारण्यकोपयोग इति बोध्यम् ।

नन्वेवं बृहदारण्यकमुपयुक्तमित्यन्तभाष्यस्य विस्तरोक्तार्थसंक्षेपार्थतया सार्थक्येपि तत्र निषेकादीत्यादिपुनस्तत्कथनमफलमित्यत आह टीकायाम्—उत्तरग्रन्थस्य सम्बन्धाभिधित्सयेति । सम्बन्धस्तु तत्र केन मार्गेणामृतत्वमश्नुत इति भाष्येण वक्ष्यमाणः । तं सम्बन्धमभिधित्सुः सम्बन्धबोधे सम्बन्धिबोधस्यावश्यकत्वाद् वक्ष्यमाणसम्बन्धसम्बन्धिनमर्थविशेषं निष्कृष्यानुवदतीत्यर्थः ।

भाष्ये तत्रेत्यादि । विद्यां चाविद्यां चेत्यादिमन्त्रस्य प्रागेवार्थविवरणेऽपि तत्रा-

❀ भाष्यम् ❀

ऊर्ध्वं बृहदारण्यकमुपयुक्तम्। तत्र निषेकादिश्मशानान्तं कर्म कुर्वन् जिजीविषेद् यो विद्यया सहाऽपरब्रह्मविषयया—तदुक्तं "विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह" ।—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुत" इति। तत्र केन मार्गेणामृतत्वमश्नुत इत्युच्यते।

❀ आनन्दगिरिय टीका ❀

मनुवदति—तत्र निषेकादीत्यादिना। तदुक्तमिति। तं प्रत्युक्तं मन्त्रेण विद्यां चेत्यादिना। आपेक्षिकामृतत्वं फलमित्युक्तमस्माभिरिति ॥१५॥

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

विद्यापदेन कुर्वन्नेवेह कर्माणीति मन्त्रोक्तकर्माण्येव विवक्षितानीति न स्पष्टीकृतम्। कानि च तानि कर्माणीति च न स्फुटीकृतम्। विद्या च किंविषयिणीति नोक्तमिति तदिदमखिल स्फोरयितुं व्याख्यां प्रथमं दर्शयित्वा तत्र प्रमाणकथनव्याजेन मन्त्रार्थं व्याख्येयमुपस्थापयति—निषेकादीत्यादिना तदुक्तमित्यादिना मन्त्रार्धेन च। उत्तरार्धस्य पूर्वमेव स्फुटं व्याख्यातत्वात् पूर्वार्धव्याख्यानस्य व्याख्येयार्थमन्त्रस्य च शेषतया यथाश्रुतमुत्तरार्धं पठति—अविद्यया मृत्यु तीर्त्वेत्यादि। यो जीजीविषे-दिति भाष्यगतयत्पदं यद्यपि तत्पदसापेक्षं, तथापि विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सहेति मन्त्रगतयत्पदमपि तत्पदसापेक्षमेवेत्युत्तरार्धे अविद्यया मृत्युं तीर्त्वेत्यत्र 'स' इति तत्पदं योजयित्वैवाध्याहारादेण बोधस्य संपादनीयत्वात् पूर्वं तथैव व्याख्यात-त्वाच्चात्र पुनरध्याहारादिप्रदर्शनमनुपयुक्तमिति तत्पदयोजनं विनैव अश्नुत इतीदं वाक्यं परिसमापितमिति सुधीभिरनुसन्धेयम्। टीकाकारस्तु योजनासौगम्यमालोच्य तदुक्तमिति लिङ्गव्यत्ययाश्रयणेन प्रतीति कर्मप्रवचनीयं चाकाङ्क्षापूरकं योजयित्वा योजयामास तदुक्तं तं प्रत्युक्तमिति। अमृतमश्नुत इति श्रुत्वा कुतो मार्गजिज्ञासा स्यादिति शङ्का मा भूदिति—आपेक्षिकं फलममृतत्वमुक्तमस्माभिरिति पुनर-योजयत्। एतेन मार्गयाचनं क्रममोक्षौपयिकतयेति केषांचिद् व्याख्यानमपास्तम्।

एवमेकसम्बन्धिनमभिधाय संप्रति सम्बन्धं दर्शयति भाष्ये—तत्र केन मार्गे-णेति। इत्युच्यत इति अधुनेति शेषः। वर्त्तमानप्रयोगेण वा वर्त्तमानसामीप्यार्थ-केन अधुनेत्यर्थलाभ इति द्रष्टव्यम्। न चात्र मन्त्रे मार्गयाचनमात्रं दृश्यते न तु केन मार्गेण गमनं कृत्वामृतत्वमश्नुत इत्येतदिति वाच्यम्। मार्गविशेषयाचनालिङ्गेन गन्तव्यमार्गस्यावगतिसंभवात्। न च मार्गं ज्ञात्वा पश्चान्मार्गयाचना भवति, मार्ग-

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

र्याचनालिङ्गेन च मार्गज्ञानमित्यन्योन्याश्रय इति वाच्यम् । यतो नेयं मार्गयाचना लौकिकपुरुषकर्तृका । किन्तु श्रौती । न च श्रुतिर्मार्गयाचनालिङ्गेन मार्गं ज्ञात्वा याचते, सर्वज्ञत्वादिति मन्त्रोपरि यथोक्तपर्यनुयोगायोगादित्यवधेयम् ।

ननूत्तरमन्त्रेणामृतत्वप्रयोजकमार्गस्याभिधानमित्ययुक्तम् । किन्तु याचनाविधिरयमित्येव युज्यते । याचनालिङ्गेन याचना कर्त्तव्येति श्रुत्यनुमानादिति चेन्न । लिङ्गेन प्रमाणेनाङ्गप्रधानसम्बन्धबोधकविधिरेव कल्प्यते, न तूत्पत्तिविधिरपि । याचनाया विध्यन्तरेण प्राप्तत्वे हि अनेन मन्त्रेण याचना कर्त्तव्येति मन्त्रस्य याचनाङ्गत्वं स्यात् यथा बर्हिर्देवसदनं दामीति मन्त्रो लिङ्गप्रमाणेनाङ्गं भवति एकँ स्तम्बं परिदिशेत् तँ सर्वं दायादिति ब्राह्मणप्रमाणविहितदर्भलवनस्य । न तु लिङ्गप्रमाणेन बर्हिर्लवनमपि विधीयते । न च लिङ्गप्रमाणेन याचनाङ्गत्वमात्रं सिद्ध्यतु, याचना पुनरङ्गस्याङ्गिनं विनानुपपन्नत्वादङ्गेनैव कल्पयिष्यत इति वाच्यम् यतोऽङ्गिसिद्धौ तस्याङ्गसापेक्षत्वाल्लिङ्गप्रमाणेन शक्यमङ्गभावबोधनम् । अङ्गिन एवासिद्धौ कस्याङ्गं विधीयेत । अन्यथा मन्त्राणामन्यार्थत्वमेव स्यात् । किं चात्र यदि याचनाविधिरभ्युपेयेत तदा यस्य कर्मोपासनानुष्ठातुर्मरणकाले रोगविशेषेण मूर्च्छादिना याचना नोपपन्ना यस्यापि संजातायामपि याचनायां मन्त्रो विस्मृतस्तस्य मार्गप्राप्तिर्न स्यात् । न चैतत्केनाप्येष्टुं शक्यते । कृत्स्नजन्मकृतकर्मोपासनवैफल्यापत्तेः ।

नन्वेवं याचनामन्त्राणामानर्थक्यं प्रसज्येतेति चेन्न । केन मार्गेणामृतत्वमश्नुत इत्येतदर्थप्रतिपादनपरतया सार्थक्यस्यानुपदं दर्शितत्वात् ।

अत्र केचिदाहुः । हिरण्मयेनेत्यादिमन्त्रेण याच्यमानमार्गप्राप्यममृतत्वं न प्रकृतिलयलक्षणम् । सोऽहमस्मीति दृढवासनात्मकसाक्षात्कारवतः प्रकृतिलयानुपपत्तेः । अत एव भाष्ये "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इति विशेषेणोदाहृतम् । अन्यथा संभूत्यामृतमश्नुत इत्यपि ब्रूयात् । तच्चिन्त्यम् । सोऽहमित्यादिश्रवणजनितापरोक्षज्ञानमात्रस्यात्र श्रुत्या प्रदर्शनात् । सोऽहमित्यपरोक्षज्ञाने जाते मार्गयाचनाया एवानुपपत्तेः । न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीति श्रुतेः । तत्पदार्थाहंपदार्थयोर्विरुद्धधर्माक्रान्ततया भागत्यागे क्रियमाणेऽखण्डरूपेणैक्यप्रत्ययोपपत्तेः । वस्तुतस्तु सोऽहमस्मीत्यध्यात्मपरिच्छेदमात्रापनयनं क्रियते न तु सर्वथाऽनात्मभागत्यागेनाखण्डबोधपर्यन्तमिति देवात्मभावप्राप्तिसमनन्तरमपि प्रकृतिलयाभ्युपगमे न क्वापि क्षतिः । अणिमाद्यैश्वर्यं प्राप्यामृतमश्नुत इति पूर्वं व्याख्यातत्वात् । न चैवं "संभूत्यामृतमश्नुत" इत्यपि कुतो नोदाहृतं भाष्ये इति वाच्यम् । हिरण्यगर्भोपासनासमुच्चयस्यावश्यकत्वाद् विनाशेन मृत्युं तीर्त्वेत्युक्तत्वादुपासनासामान्ये कर्मसमुच्चय-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

स्यापि प्रागभिहितत्वादेकोदाहरणेनोभयलाभात् ।

ननु किमर्थमिदं मार्गपरिज्ञानं ? न हि तज्ज्ञानं स्वतः पुरुषार्थः, सुखदुःखा-भावान्यतरानात्मकत्वात् । नापि कस्यचित् कर्मण उपासनाया वा तदङ्गम् । माना-भावात् । स्फुटीकृतं चेदमनुपदम् । किं चोत्तरेषु मन्त्रेषु कुत्रापि न मार्गः स्पष्टतयो-पदिष्टः । अर्चिरादिमार्गस्याऽत्र मन्त्रेषु स्पर्शमात्रस्याप्यनवलोकनात् । न चाग्ने नय सुपथेति सुपथित्वोक्त्याऽर्चिरादिमार्गसिद्धिरिति वाच्यम् । पुनरन्येन मन्त्रेण मार्गं याचत इति तत्रावतरणभाष्यात्पूर्वमपि मार्गयाचनस्य पृथग्विहितत्वेन भाष्यतः प्रतीतेः । न च याचनाद्वयं पृथगस्तु । केन मार्गेणेत्येतत्तु मन्त्रचतुष्टयेऽभिहितमिति स्वीकारे का क्षतिरिति वाच्यम् । मार्ग एव चेदज्ञातः कथं मार्गयाचनम् ? । किं चात्रावतरणे मार्गं याचत इत्येतावन्मात्रं वक्तव्यं चतुर्थमन्त्रावतरणे च केन मार्गे-णेति वक्तव्यमित्येव समीचीनः पन्थाऽऽसीदिति वैपरीत्येन कथमुच्यते ।

अत्र वदन्ति । अर्चिरादिमार्गस्य श्रुत्यन्तरप्रसिद्धत्वात्तमेवाभिसन्धाय श्रुतिर्हि-रण्मयेनेत्यादि ब्रवीति । केवलकर्मिणां दक्षिणमार्गगामिनामादित्यपुरुषदर्शनस्याऽ-प्राप्त्यादुत्तरमार्गस्य श्रुत्यभिप्रेतत्वसिद्धेः । केन मार्गेणेति भाष्यं तु दक्षिणोत्तर-मार्गयोः कतरेण मार्गेणेत्येतावन्मात्रपरम् । न तु अर्चिरहःशुक्लपक्षोत्तरायणादि-सकलार्थविषयकप्रश्नपरम् । सुपथिज्ञानाच्च प्राशस्त्येन समुच्चयानुष्ठानप्रवृत्तिः स्यादित्यर्थवादविधया मार्गाभिधानसार्थक्यं चेति ।

ननु हिरण्मयेनेत्यादौ द्वारमपिहितमित्युक्तं कल्याणतमं रूपमित्युत्तरमन्त्रे चापि-हितं पुरुषरूपमिति प्रतिपादितं तथा च नात्रार्चिरादिमार्गः प्रतीयते । किन्तु ज्ञाय-मानपुरुषस्वरूपमेव मार्गतया प्रतीयते । न च तर्हि पुरुषज्ञानमेवात्र मार्गत्वेन विव-क्षितमस्तु, उत्तरायणमार्गस्त्वन्तिममन्त्र एव विवक्षितः स्वीक्रियतां, भाष्येऽपि केन मार्गेणेति पुरुषस्वरूपज्ञानमार्गविषयकप्रश्न एव स्यात् । मा चास्तूत्क्रमणादिक-मपीति वाच्यम् । लिङ्गं चेदं ज्ञानकर्मसंस्कृतमुत्क्रामत्विति द्रष्टव्यं मार्गयाचनसाम-र्थ्यादित्युत्तरभाष्यविरोधापत्तेरिति । अत्रोच्यते । मार्गपदमत्रार्चिरादिमार्गपर-कम् । द्वारपदं च द्वारकारणपरम् । तथा चादित्यपुरुषस्वरूपज्ञानं द्वारकारणमिति द्वारं याचत इत्यस्योपपत्तिः । प्रकरणत उत्तरायणमार्गयाचनप्रतीतेर्मार्गनिरूपणमपि युज्यत इति । अथ वा केन मार्गेणेत्यत्र मार्गपदं तन्त्रेणोभयपरम् । अर्चिरादिमार्ग-परमादित्यपुरुषदर्शनात्मकद्वारकारणपरं चेति । तथा च न किंचिदनुपपन्नम् । पद-व्याख्याने चाग्रे स्पष्टीकरिष्यामः ।

यत्तु अर्चिरादिमार्गान्तर्गततयाऽऽदित्यस्याप्यभिधानादत्र यथोक्तार्चिरादिमा-

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

❀ भाष्यम् ❀

"तद्यत् तत् सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः" एतदुभयं सत्यं ब्रह्मो-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

र्याचनं नानुपपन्नम् । एकदेशोक्त्या सर्वोपलक्षणसम्भवात् । न च तर्हि प्रथमप्राप्तमर्चिरादिकमेव कुतो न याच्यते । कुत आदित्ययाचनापर्यन्तधावनमिति वाच्यम् । आदित्यपुरुषस्योपास्यतया तद्याचनोपपत्तेरिति । तन्न । विनापि याचनमादित्यस्य मार्गमध्ये प्राप्तिसंभवात् । सत्यस्य मुखमपिहितं तदपावृणु दृष्टय इत्युक्तेः सत्यात्मदर्शनस्य स्पष्टप्रतीतेः, सत्यात्मदर्शनस्य च मार्गानन्तर्गतत्वात् । अन्यथा सूर्यभेदनं कृत्वोर्ध्वं गच्छेयमिति हि प्रार्थ्येत । न च मुखं द्वारमिति व्याख्यानात्स एवात्रार्थो विवक्षित इति वाच्यम् । तेजो यत्ते रूपमित्युत्तरमन्त्रे स्वरूपोक्तेः । बृहदारण्यके च मुखं स्वरूपमित्येव भाष्यम् ।

ननु बृहदारण्यके गायत्र्युपासनाप्रसङ्गादादित्य एव प्राप्तव्यो न त्वन्य इति तत्र मुखपदस्य स्वरूपार्थकत्वं युक्तं न तु द्वारार्थकत्वम् । अत्र तु हिरण्यगर्भादिप्राप्तिफलमिति द्वारोक्तिसंगतिरिति चेन्न । "सत्यस्य परमार्थस्य द्वारमाच्छादितं रवेः" । इति वार्त्तिककारेण बृहदारण्यकेऽपि द्वारार्थकरणादत्रत्यतत्रत्ययोर्मुखपदयोरेकार्थत्वनिश्चयात् ।

हिरण्मयेन । सामान्यरूपेण सुपथो याच्यमानत्वेऽपि नात्र सूर्यो मार्गमध्यपतितो विशेषेण याच्यत इत्येतमर्थं सूचयन् श्रुतिमुदाहरन्नेव मन्त्रमवतारयति—तद्यत् सत्यमित्यादि । तद्यदिति प्रसिद्धवत्सर्वनाम्ना वक्तव्योपक्षेपः । किमभिप्सितं ? तत्राह—तत्सत्यं ब्रह्म प्रथमजम् । सत्यं किम् ? असौ सः— अमुत्र वर्त्तमानः कोऽसौ ? आदित्यः । ननु कोऽयमादित्यः ? यदि प्रत्यक्षपरिदृश्यमान एव तदा "तत्सत्यमसौ स" इति द्रविडप्राणायामो विफल इत्यत आह—य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुष इत्यादि । य एष इत्यपरोक्षनिर्देशः समुपाधितकार्यब्रह्मणां दृष्ट्या । सोऽयमादित्यपुरुषः सत्यं ब्रह्म । यश्चेति चकारेणाक्षिपुरुषोऽप्यध्यात्मं सत्यं ब्रह्म । तदेतत्स्वयं भाष्यकार आह—एतदुभयं सत्यं ब्रह्मेति । सत्यब्रह्मण एतद् रूपद्वयमित्यर्थः । न तु सत्यब्रह्मद्वयमिति । सत्यमित्येकवचनेनैकत्वस्य विवक्षितत्वात् । न च तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठिताविस्युत्तरांशे द्विवचनप्रयोगोऽप्यस्तीति वाच्यम् ।

❀ भाष्यम् ❀

पासीनो यथोक्तकर्मकृच्च यः सोऽन्तकाले प्राप्ते सत्यात्मानमात्मनः प्राप्तिद्वारं याचते—हिरण्मयेन पात्रेण ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

रूपद्वित्वविवक्षया तदुपपत्तेः । सत्यस्यैकस्यैवात्मनः अशावेताविति तत्र भाष्याच्च । एतदुभयं सत्यं ब्रह्मोपासीनः= सत्यब्रह्मरूपमेतदुभयमैक्यभावनयोपासीनः । यथोक्तकर्मकृच्च= निषेकादिश्मशानान्तकर्मकृच्च । समुच्चयकारीति यावत् । एवमत्र भाष्यकृता विद्याविद्ययोः स्वरूपं स्पष्टीकृतं तत्प्रागप्यनुसन्धेयम् । सत्यात्मानं= ज्ञायमानसत्यात्मानम् । आत्मनः=स्वस्य । प्राप्तिद्वारम्=अमृतत्वप्राप्तिद्वारम् । अस्याभेदेन सत्यात्मानमित्यनेनान्वयः । अमृतत्वद्वारं ह्यैक्यज्ञानविषयीभूतसत्यात्मा ।

ननु सत्यात्मानं प्राप्तिद्वारं याचत इति सामानाधिकरण्यद्वितीयोपगमे "अकथितं च" इति गौणकर्मत्वं सत्यात्मन इति मुख्यं कर्म पृथग् वक्तव्यम् । यदि च सत्यात्मनो मुख्यकर्मत्वमुपेयते तदा गौण कर्म वक्तव्यम् । किं याचते कं प्रति याचत इत्युभयोर्जिज्ञासाविषयत्वात् । न च सत्यात्मन एव मुख्यगौणोभयकर्मत्वं, तत्रोपासनाविषयत्वोलक्षितो गौणकर्म, उपासनाविषयविशिष्टश्च सत्यात्मा मुख्यकर्मेति वाच्यम् । उपासनायाः सम्पन्नत्वेनोपासनाविषयविशिष्टसत्यात्मनः सिद्धत्वाद्याचनावैयर्थ्यप्रसङ्गात् । न च याच्यमानस्योत्कृष्टत्वादर्थवादेन याच्यमानविधिसिद्धिः प्रयोजनं स्यादिति वाच्यम् । यस्तद्वेदोभयं सहेति पूर्वमेव विहितत्वादिति । तस्मात् सत्यात्मानमिति गौणं कर्म प्राप्तिद्वारमिति मुख्यं कर्मेत्येवं व्यधिकरणद्वितीयैवात्र भवितुमर्हतीति चेन्न । मुखं द्वारमपिहितं तदपावृणु सत्यात्मन उपलब्धय इति भाष्यकारैरग्रे व्याख्यास्यमानतयाऽपिहितस्यैवापावरणेनोपलब्धिसंभवाद् द्वारसत्यात्मनोरेकत्वस्यैव भाष्यविवक्षितत्वात् । एतावानत्र विशेषः उपासितसत्यात्मा गौणकर्म तं प्रति याच्यते, ज्ञायमानसत्यात्मा मुख्यकर्म तद् द्वारं याच्यते । तयोश्च वस्तुत ऐक्यात्सत्यात्मानं प्राप्तिद्वारमिति सामानाधिकरण्येन निर्देशोपपत्तिः । अथ वा सत्यात्मानमिति तन्त्रेण पठितम् । सत्यात्मानमुपासितसत्यात्मानं प्रति याचते, किं याचते ? सत्यात्मानं प्राप्तिद्वारं याचते द्वारात्मकं ज्ञायमानसत्यात्मानं याचत इति । एतदुक्तं भवतिः—सत्यात्मोपासना सत्यात्मज्ञानं जनयित्वाऽमृतत्वं गमयति । सत्यात्मोपासनाया अमृतजनकत्वे उपास्यमानसत्यात्मनोऽपि तत्त्वमस्त्येव । न हि निर्विशेषणोपासना अमृतत्वकारणम् । भेदोपासनाया अपि तत्त्वप्रसङ्गात् । विशिष्टोपासनायास्तत्त्वे विशेषणस्यापि तत्त्वं भवत्येव । उपास्यमानसत्यात्मनोऽमृतत्वजनकत्वे मध्ये

❀ भाष्यम् ❀

हिरण्मयमिव हिरण्मयं ज्योतिर्मयमित्येतत्, तेन पात्रेणेवापिधा-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

सत्यात्मज्ञानस्य तजन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वलक्षणद्वारत्वात्सत्यात्मज्ञानजनकत्वमपि सिद्धमिति युक्तं सत्यात्मानं प्रति तज्जन्यसत्यात्मज्ञानयाचनम् ।

नन्वज्ञातविषयकोपासनाया असंभवात् पूर्वमादित्यादिपुरुषैक्यज्ञानात्मकसत्यात्मज्ञानस्य जातत्वे तस्योपासनाजन्यत्वविरहात्कथमुपासितसत्यात्मान प्रति तज्ज्ञानात्मकमार्गयाचना । मार्गत्वं च कथं तस्येति चेन्न । औपदेशिकपरोक्षादिपुरुषसत्यात्मैक्यज्ञानेनाप्युपासनासंभवात् । द्वारं तु नौपदेशिकज्ञानमात्रं किन्तु सत्यात्मापरोक्षज्ञानमेव । तद् वक्ष्यति—सत्यधर्माय दृष्टय इति । यद्वा - भवतु व्यधिकरणद्वितीयैवात्र । सत्यात्मानम्=उपासितसत्यात्मानं प्रति, प्राप्तिद्वारं=दृष्टय इति वक्ष्यमाणं सत्यात्मापरोक्षज्ञानात्मकममृतप्राप्तिद्वारं याचत इति योजना ।

नन्वत्र याचनात्मकार्थवादेन दर्शनस्य विधेयत्वमित्युच्यते तदा तदसंभवि । दर्शनादेरविधेयत्वात् । न चात्मा वा अरे द्रष्टव्य इत्यादौ दर्शनार्हत्वार्थवदत्रापि दर्शनार्हत्वमुच्यत इति वाच्यम् । तत्र श्रवणादिसाधनविधानार्थं दर्शनार्हत्वकथनसार्थक्येऽपि प्रकृते साधनविशेषानुपन्यासेन तदुक्तिसार्थक्यायोगात् । न च समुच्चितोपासनायाः साक्षात्कारकरणत्वात्तद्विधानाय तत्सार्थक्यमिति वाच्यम् । समुच्चितोपासनायाः शब्दत एव पूर्वं विहिततया पुनरत्र तद्विधानानुपपत्तेरिति चेन्न । समुच्चितोपासनाया अमृतत्वे जननीय आदित्यादिपुरुषैक्यसाक्षात्कारस्य द्वारकारणतया यथोक्तोपासनाजन्यत्वेऽपि तत्साक्षात्कारेऽस्ति साधनान्तरमपीति तत्संपादनाय दर्शनार्हताप्रतिपादनसार्थक्यात् । यथा तार्किकाणां परामर्शस्य व्याप्तिज्ञानजन्यत्वेऽपि पक्षधर्मताज्ञानमपि पृथक् कारणं परामर्शे द्वारात्मके तद्वत् । किं तत्साधनान्तरमिहेति चेत् ? सत्यधर्मायेति शब्दलभ्यसत्यधर्मत्वस्यैव साधनान्तरत्वादिति गृहाण । न च सत्यस्योपासनात्सत्यं धर्मो यस्येति भाष्यात् सत्यधर्मत्वमपि न सत्योपासनातोऽतिरिक्तमिति वाच्यम् । तथापि धर्मपदेन निरन्तरानुष्ठानस्य विवक्षितत्वात् । आवृत्तिरसकृदुपदेशादितिवत् । अथ वा यथाभूतस्य धर्मस्यानुष्ठात्रे इति तत्रैव भाष्यकारैरर्थान्तरकरणाच्च ।

आदित्यमण्डलस्य सुवर्णमयपात्रत्वाभावाद् व्याचष्टे—हिरण्मयमिवेति । हर्यते काम्यते भोगमोक्षकाङ्क्षिभिर्हिरण्यं वेदत्रयरूपं, तन्मयं तत्प्रचुरं हिरण्मयं तेन तथा चोक्तम्—आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति तत्र ता ऋचस्तदृचा मण्डलमित्यादिनेति केचित् । तदसत् । वेदेन सत्यमुखापिधानानुपपत्तेः । न चेशावास्य-

❀ भाष्यम् ❀

नभूतेन सत्यस्य=आदित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मणः अपिहितम्=आच्छादितं मुखं=द्वारम्। तत् त्वं हे पूषन् अपावृणु=अपसारय

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

मिति तद् वैदिकज्ञानापिधानमभिधीयत इति वाच्यम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणिवत्यपावरण-प्रार्थनानुपपत्तिप्रसङ्गात्। अत्यन्ताप्रसिद्धश्च हिरण्मयशब्दस्य वेदार्थत्वम्। आच्छादितमिति। ज्योतिर्मयमण्डलं दृष्ट्वा जनाः क्व सूर्यः क्वाहमित्यत्यन्तभेदेनादित्यपुरुषमवगच्छन्ति, तेन यथोक्तमण्डलेनापिहितमिवापिहितम्। मुखं द्वारमिति। प्रागुक्तसत्यात्मेत्यर्थः। तस्यैव प्राग्द्वारत्वोपपादनात्। सत्यात्मदृष्टिर्द्वारमिति पक्षेऽपि दृष्टिविशेषणस्य सत्यात्मनो द्वारत्वमक्षतमेवेति द्रष्टव्यम्। आदित्यपुरुषाक्षिपुरुषैकत्वभावना विलुप्तेति फलितार्थः। एवं च मुखं मुख्यं स्वरूपमिति बृहदारण्यकभाष्येण न विरोधः। अत्र द्वारपदेन तत्र स्वरूपपदेन चैकस्य सत्यात्मन एव विवक्षितत्वात्। अपिधाने हेतुर्बृहदारण्यके दर्शितः—असमाहितधियामदृश्यत्वादिति। असमाहितधियां मध्ये ज्योतिर्मयमण्डलव्यवधानेनादित्यपुरुषाक्षिपुरुषयोरत्यन्तभेददर्शनादैक्यभावना तेषां नोदेतीति तस्यार्थः।

अयं भावः—घटोऽस्ति अहमस्मीत्येवमुभयत्रास्धात्वर्थसत्ता प्रतीयते। न च सत्ताभेदः। समानप्रत्ययात्। अत एव गत्यन्तरमपश्यद्भिस्तार्किकैरप्यनुगतप्रतीत्यनुरोधेन सत्ताजातिरेकेति स्वीकृतम्। एवं घटसत्ताया आत्मसत्तायाश्चैकत्वेऽपि घटोऽस्ति अहमस्मीत्यत्र भेदेन सत्ताप्रतीतिर्भवति। तत्कस्य हेतोः? अखण्डसत्ताया मध्ये घटाद्युपाधिव्यवधानात्। तत्राहमस्मीति प्रत्यगात्मा साक्षात् प्रकाशते। तदुपरि अहंकारावरणम्। तदनन्तरं घटोपाधिरूपव्यवधानं तदनन्तरं सत्तेति द्व्यन्तरितत्वेन सत्ताभेदप्रतीतिः। यथा कश्चित्स्वगृहे स्थितो गृहान्तरास्थितमपावृतद्वाराकाशं पश्यति। तत्र स्वीयगृहेण प्रथमं प्रत्यगात्मस्थानीयस्वगृहाकाशो वेष्टितः इति एकव्यवधानं, ततः परगृहं द्वितीयव्यवधानमिति परगृहीयाकाशं द्व्यन्तरितम्। तत्र स्वगृहाकाशः परगृहाकाशश्च वस्तुत एकोऽपि पृथगुपलभ्यते तद्वत्। एष एव सन्तं घटं पश्यन्नस्मीत्यस्यार्थः। द्वारापावरणविरहकाले च नितरामाकाशभेदप्रतीतिः। तत्रास्तीति तिपा घटव्यवधानेन पराक्त्वेन, अस्मीति मिपा स्वयमन्तर्वर्त्तित्वेन नित्यप्रकाशस्य प्रत्यक्त्वेन प्रतीतिः। स्पष्टीकृतं चेतदस्माभिर्वेदान्तसिद्धान्तपुष्पाञ्जलौ—अस्तीत्यस्मीत्येवमात्मन् पराञ्चं प्रत्यञ्चं च त्वामुपाधिप्रभिन्नम्। एकं सन्तं चक्षतेऽनेकधाऽथोऽखण्डं सध्ये कल्पितार्थव्यपाये' इति। अहंकारघटयोर्मध्यकल्पितयोर्मिथ्याभूतयोर्व्यपाये

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

बाधेऽखण्डस्य सतोऽवस्थानमिति तत्रार्थः। अत्रापि ज्योतिर्मयपात्रस्य मध्यतो व्यपाये आदित्याक्षिपुरुषयोरैक्यसाक्षात्कारो भवति। यद्यप्यत्र बाधात्मकव्यपायो न भवति। उपासकस्य तत्त्वज्ञानानुदयात्। तथापि ऐक्यभावनया बाधितमिव भवतीति भवत्यैक्यसाक्षात्कारः। एतदेव चापावृणु इत्यनेन प्रार्थ्यते। अन्यथा वस्तुतो ज्योतिर्मयमण्डलस्यापावरणमसंभावितमेव स्यात्! न खल्वद्यावधि सहस्रश उपासकानां प्रार्थनया ज्योतिर्मण्डलमपाकृतम्। तस्मादादित्यपुरुषाक्षिपुरुषयोरसकृदैक्यभावनया मध्यव्यवधानानवभास एवात्रापिधानापावरणमिति ध्येयम्। स्पष्टं चैतद् बृहदारण्यके। तदासौ चाक्षुष आदित्यपुरुषो रश्मीनुपसंहृत्य केवलेनौदासीन्येन रूपेण व्यवतिष्ठत इति तत्र भाष्यम्। रश्मीनुपसंहृत्य=रश्मीन् बाधित्वाऽऽच्छाद्येति वा। केवलेनौदासीन्येन रूपेण=चाक्षुषत्वादित्यस्थत्वलक्षणविभाजकधर्मवैशिष्ट्यरहितकेवलसत्यात्मरूपेण। न च वास्तविकरश्म्युपसंहार एव तत्र विवक्षितः 'विरश्मि चन्द्रमण्डलमिव पश्यती' ति तत्र भाष्यादिति वाच्यम्। यतस्तदिदमरिष्टदर्शनमात्रं प्रतिपादितमिति वस्तुतो रश्म्युपसंहारानुपपत्तेः प्रार्थनाफलत्वायोगात्। एतदाशयेन च भाष्यकार आदित्यमण्डलस्थस्येत्यभिदधौ। अत एवादित्यमण्डलस्थत्ववैशिष्ट्यार्थविवक्षाभ्रान्तिरध्येतॄणां मा भूदिति आदित्यमण्डलस्थस्येत्यनन्तरं पुरुषस्येत्यनुक्त्वा ब्रह्मण इत्युक्तं भाष्ये। बृहत्त्वात्परिच्छेदपरिहाराद् ब्रह्म। ब्रह्म चात्र न परं ब्रह्म किन्तु कार्यब्रह्मैवेति न प्रसङ्गासंगतिरिति ध्येयम्।

एक एव सवितृदेवः कार्यब्रह्मापरपर्यायः सकलजनचक्षुर्वर्ती मण्डलवर्त्ती च। तथापि मण्डलचक्षुरुपाधिभेदेन पार्थक्येनानुभवन्ति लौकिकाः। मण्डलतादात्म्यापन्नमेव शास्त्रतोऽप्यवगच्छन्ति शास्त्राध्येतारः। तत्र मण्डलाभेदभ्रान्तिनिवारणमेव रश्म्युपसंहरणं नाम। तथा च चक्षुरध्यात्मपरिच्छेदपरिहारे मण्डलतादात्म्याध्यासपरिहारे च कार्यब्रह्मणः स्वीयसत्यस्वरूपेण साक्षात्कार उपासकस्य भवति तदेवात्र कार्यब्रह्मस्वरूपेणावस्थानलक्षणदेवात्मभावप्राप्तिद्वारमिति हृदयम्। स्पष्टं चेदं वार्त्तिके:—'अक्ष्यादित्याख्यनीडस्थौ स्थानमात्रप्रभेदतः। भिन्नाविव समीक्ष्येते देवतैकैव सा सती' त्यत्र। यद्यप्युत्क्रमणं विनापि परिच्छेदपरित्यागमात्रादेवंविधदेवात्मभावः संभवति। तथाप्युत्क्रमणं शास्त्रानुरोधादिति द्रष्टव्यम्।

अक्षिपरिच्छिन्नस्यापि अहंत्वेन प्रत्यक्षात्तत्स्वरूपं न सर्वथाऽपिहितमित्याशयेन सत्यपदमादित्याक्षिपुरुषोभयसाधारणपुरुषार्थकमपि केवलादित्यस्थपुरुषार्थपरतया व्याचष्टे—सत्यस्यादित्यमण्डलस्थस्य ब्रह्मण इति।

ननु च ज्योतिर्मयमण्डलेन व्यवधानेनापिहितमादित्यपुरुषाक्षिपुरुषयोरैक्यलक्षणं द्वारं चेद् योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मीत्यैक्यप्रतीतिः कथम्। न चापावरण-

❀ भाष्यम् ❀

सत्यधर्माय=तव सत्यस्योपासनात् सत्यं धर्मो यस्य मम सोऽहं सत्यधर्मा तस्मै मह्यम्। अथ वा यथाभूतस्य धर्मस्यानुष्ठात्रे। दृष्टये=तव सत्यात्मन उपलब्धये ॥१५॥

❀ जयमङ्गलाचार्यं विवरणम् ❀

प्रार्थनासमनन्तरमपिधानापावरणे सतीदमुच्यते योऽसावसाविति न दोष इति वाच्यम्। 'किं चाहं न तु त्वां भृत्यवद्याचे योऽसौ' इत्येवं तदवतरणभाष्यविरोधात् तेन हि सोऽहमिति ज्ञानपूर्वकं याचे न तु भृत्यवद्याच इत्यर्थकेन याचनापूर्वकालीनत्वात् सोऽहं भावनाया इति चेन्न। सोऽहमस्मीतिज्ञानस्यौपदेशिकस्यैव तत्र कीर्त्तनात्। नह्यौपदेशिक ज्ञानं द्वारं, किन्तु साक्षात्कार इत्युपपादितमधस्तात्।

सत्यधर्मायेत्यत्र सत्यपदेन संनिहितं सत्यं ब्रह्मैव प्रथममुपतिष्ठते। परं तु तस्य सिद्धपदार्थत्वाद्धर्मत्वं न घटत इत्यतः स्वरूपेण सिद्धत्वेऽप्युपासनाविषयत्वविशिष्टरूपेण साध्यत्वाद्धर्मत्वं संपादयिष्यन् प्रकृतसत्यलाभाय योजयति—तवेति। उपासनादिति। उपासनाविषयताविशिष्टत्वरूपेण साध्यत्वसम्पादनार्थमिदम्। सत्यं धर्मो यस्येति। सत्योपासकायेत्यनुक्त्वा सत्यधर्मायेति सत्यस्य धर्मत्वकथनं तात्पर्येण निरन्तरतदनुष्ठानपर्यवसायीति द्रष्टव्यम्। एवं संनिहितसत्यपदार्थमादाय व्याख्यातम्। परं तु तत्र धर्मत्वमुपासनाविशिष्टत्वेन क्लेशेन संपादनीयमिति तादृशक्लेशपरिहाराय प्रसिद्धसत्यपदार्थग्रहणाय च प्रकारान्तरमाश्रयति—अथवेति। यथाभूतस्येति। यथाभूतत्व च नियतत्वं वा शास्त्रविहितानतिक्रमित्वं वा पूर्वशिष्टाचरणानुसारित्वं वा बोध्यम्। यथाभूतस्य= यथाभूतार्थकथनात्मकस्य धर्मस्येत्यपि व्याचक्षते। दृष्टय इत्यत्र चक्षुरर्थकत्वादिभ्रमनिवारणाय कर्मबोधकशब्दं च योजयित्वा व्याचष्टे—तव सत्यात्मन उपलब्धय इति॥

केचित्तु प्रस्तुतां समाधिप्रतिबन्धनिवृत्तिं प्रार्थयते हिरण्मयेनेतीतिमन्त्रमवतार्य सत्यस्य जीवस्य मुखं मनो हिरण्मयेन रागाद्रजोमयेन परमात्मविषयकवृत्तिप्रतिरोधकेन पात्रेणापिहितं च्छादितम्। रजःकथनं तमसोऽप्युपलक्षणम्। कर्माधीनभोग्यप्रदर्शनात्। सत्यधर्माय दृष्टये सत्यस्य जीवस्य धर्मभूताय पूर्वोक्तब्रह्मानुभवदर्शनायेत्यर्थं इति व्याचख्युः।

अत्रोच्यते। उत्तरमन्त्रे पश्यामीत्युत्तमपुरुषप्रयोगदर्शनादत्र ममेत्युत्तमपुरुषप्रयोगं परित्यज्य प्रथमपुरुषप्रयोगे को हेतुः? न च भवन्मतेऽपि मह्यमित्यनुक्त्वा सत्यधर्मायेति प्रयोगः कथमिति वाच्यम्। साधनविशेषप्रदर्शनतात्पर्यकत्वेनोपपत्तेः। उपस्थितत्वात्प्रार्थयितुरेव तत्त्वेन सत्यधर्माय मह्यमित्यर्थलाभ-

॥ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ॥

संभवात्। किं च सत्यशब्दो निरुपसर्जनः परमात्मनि प्रसिद्धः सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्ना इत्यादौ। न तु जीवे। न च सत्यस्य सत्यमित्यत्र प्रथमसत्यपदेन सत्यं चानृतं चेत्यादौ सत्यपदेन च जीवोऽप्यमिधीयत इति वाच्यम्। यतो जीवोऽप्यभिधीयते न तु जीव एव। राजराज इत्यादौ प्रथमराजपदस्यापेक्षिकराजत्वार्थवदापेक्षिकसत्यत्वमेव च जीवादौ सिद्धं तदिह कुत आपेक्षिकसत्यत्वेन संकोचनीयम्। अपेक्षिकसत्यत्वेन स्वर्गहिरण्यगर्भघटपटाद्योऽपि ग्रहीतुं शक्यन्त इति जीवमात्रविषयकतया कथं योजनालाभः। जीवस्येत्येव वक्तव्ये सत्यस्येति सामान्यप्रयोगे चासामान्यं बीजं वक्तव्यम्। जीवः सत्यो न तु मिथ्येत्यादि दार्शनिककलहे किल मुमूर्षुः कथंकारं निपतेत्। मुमूर्षोर्हीयं प्रार्थना। यदि च सत्यानुष्ठातृत्वेन सत्यो जीव इति साधनविशेषप्रतिपत्तये सत्यशब्दप्रयोग इत्युच्यते तदापि सत्यधर्मायेत्यत्रैव तादृशार्थव्याख्यानेनार्थप्रापणं न्याय्यम् न त्वत्र लक्षणया।

मन आच्छादितमिति चासंगतम्। मुखपदस्य मनोऽर्थाप्रसिद्धेः। मन एवात्मा वाग्जायेत्यादिवन्मुखत्वेन मनसः क्वाप्यवर्णनाच्च। जीवस्योपलब्धिद्वारं मन इति तस्य मुखत्वमित्यपि न संगतम्। इन्द्रियाणामपि द्वारत्वाविशेषात्। तेष्वपि इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थिताविति रागाद्युक्तेः। पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतस इत्यन्यत्र प्रसिद्धेश्च। मनसश्चापावरणप्रतियोगि कीदृश छादनं विवक्षितम्? । यत्तु द्विविधं पिधानं चन्द्रादेरदृश्यताकरणं पिधानं मेघादिभिः। वृत्तिनिरोधनात्मकंपिधानं चक्षुर्मे पिहितमित्यादौ। अत्र वृत्तिनिरोधनात्मकं पिधानमिति। तदसत्। रसना मे पहिता त्वङ् मे पिहितेत्यादिप्रयोगस्यापि वृत्तिनिरोधमादायापत्तेः। स्वस्य परस्य वा दर्शनयोग्येऽदर्शनानुकूलव्यापार एव पिधानम्। पिहितकर्ण इत्यादावपि हस्ताद्यावरणं परकीयादर्शनानुकूलव्यापार एव। ईशावास्यमित्यत्रेश्वरस्य वस्त्रादिवस्थूलत्वविरहाद्योग्याच्छादनविवक्षा।

हिरण्मयशब्दस्य रजस्तमोऽर्थकत्वमत्यन्तमप्रसिद्धम्। रागेतिशब्दसाधर्म्यमात्र न त्वर्थसाधर्म्यमपि। अन्यथा हिरण्यगर्भस्य रागद्वेषमयत्वस्वीकारापत्तेः। मम तु हिरण्मयः पुरुष इत्यादौ ज्योतिर्मयार्थतायाः सर्वैरङ्गीकार्यत्वान्न ज्योतिर्मयार्थकरणे दोषः। न हि लौकिकसुवर्णमयः कश्चित्पुरुषोऽस्ति। संभवति वा। प्रकाशेन मन आच्छादितमिति च विरुद्धम्। व्यूह रश्मीनित्युत्तरमन्त्रे रश्म्यपनयनस्य त्वयापि व्याख्येयतया तस्यैव दर्शनप्रतिबन्धकतयोपस्थितेश्च। प्रार्थनायां तु पौनरुक्त्यमदोषावहम्। एतेन हिरण्मयशब्देन कर्माधीनभोग्यवर्गः दर्शनमित्यपि परास्तम्। कर्मविशेषेणैवापिधानसंभवे भोग्यवर्गपर्यन्तवैयर्थ्याच्च। सत्यपि भोग्यवर्गे तत्त्वविद्भिः

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह। तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

❀ भाष्यम ❀

[पूषन्निति] हे पूषन् जगतः पोषणात्पूषा रविः, तथा—एक एव

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

परमात्मचिन्तनदर्शनाच्च। असत्यपि भोग्यवर्गे सुषुप्त्यादौ तददर्शनाच्च। कर्मनाशमात्रस्य पूर्वं स्वयं प्रदर्शितत्वेन स्वोक्तिविस्मरणाच्च।

सत्यस्य जीवस्य धर्मो ब्रह्मानुभवदर्शनमिति च मुखमस्तीति वक्तव्यमिति न्यायं स्मारयति। तत्र धर्मपदेन चोदनालक्षणधर्मो वाऽग्नेरौष्ण्यादिवत्स्वाभाविकधर्मो वा गृहीत इति वक्तव्यम्। नाद्यः दर्शनस्याविधेयत्वात्। न ह्यत्र दर्शनमुपासनम्। ज्ञानप्रतिरोधकावरणापनयनस्य तत्रानपेक्षितत्वात्। त्वयाऽपि अनुभवपदं योजयता उपासनात्मकदर्शनव्यावर्त्तनाच्च। न द्वितीयः। स्वाभाविकधर्मस्य प्राप्तत्वेन तत्प्राप्त्युद्देश्यकप्रार्थनानुपपत्तेः। अपिहितो धर्म इति तस्याप्यनावरणतामात्रं विवक्षितमितिचेन्न। कर्माद्यावरणानामपावृण्वित्यनेन गतार्थत्वात्। न च प्रतिबन्धकापनये ज्ञानं प्रकाशलक्षणं द्रव्यात्मकं व्यापकं भवतीति व्यापकतासम्पादनमेवात्र फलतया विवक्षितमिति वाच्यम्। अशब्दार्थत्वात्। दृष्टिः कदाचित्संकुचिता कदाचित् प्रसृतेति व्यापकत्वावच्छिन्नदृष्टेरस्वाभाविकत्वेन धर्मत्वाभावाच्च। सूर्यस्य प्रकाशमात्रं धर्मो न तु व्यापकप्रकाशोऽपि। सान्तस्यानन्तभावापत्तिस्वीकारश्च सान्तत्वानन्तत्वस्वरूपाज्ञाननिबन्धनः। सूर्यप्रकाशस्यापि पृथिव्यागमने अष्टनवनिमेषा आधुनिकवैज्ञानिकैरुपगम्यन्ते। ततः शतसहस्रलक्षगुणवेगेनापि ज्ञानप्रदीप्तिप्रसाराभ्युपगमेऽपि अनन्तदेशव्याप्तिरनन्तकालेनापि दुर्घटैवेत्यलं मूढानामविचारितरमणीयप्रक्रियासमालोचनया।

यत्तु सत्यधर्मायेत्यस्मद्विशेषणत्वे दृष्टय इत्यत्र कर्मवाचकपदमध्याहार्यं सत्यात्मनो दृष्टय इति गौरवमिति। तदसत् देवालयकपाट उद्घाटिते दर्शनं जातमित्युक्तिमात्रेण भगवद्विग्रहदर्शनं जातमित्यर्थस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात्। यस्यावृत्त्यपनयनं क्रियते तस्यैव दर्शनप्रसिद्धेरर्थसिद्धत्वात् परमात्मदर्शनस्य। शाब्दबोधावश्यकत्वेऽपि अर्थसिद्धार्थबोधकपदाध्याहारो न दोषाय, अनुसन्धानविलम्बप्रयुक्तशाब्दबोधविलम्बस्यैव दोषनिदानत्वादित्युपपादितं प्रागेव ॥ १५ ॥

इति पञ्चदशमन्त्रविवरणम्

पूषन् ॥ भाष्ये जगतः पोषणादिति। धर्मवृष्ट्यादिप्रदानेनेत्यादिः। पोषण-

❀ भाष्यम् ❀

ऋषति गच्छतीत्येकर्षिः। हे एकर्षे। तथा—सर्वस्य संयमनाद् यमः, हे यम। तथा रश्मीनां प्राणानां रसानां च स्वी [क] रणात् सूर्यः। हे सूर्य। प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः। हे प्राजापत्य। व्यूह= विगमय रश्मीन् स्वान्। समूह= एकीकुरु=

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

मनुग्रह इति परे वदन्ति। तत्र मतेऽनुग्रहाणास्मानिति संबोधनव्यङ्ग्यार्थः। रश्मिभिः प्रकाशेनानुग्रहं कुर्वन्नेष आदित्योऽस्मिंश्चाक्षुषेऽध्यात्मे प्रतिष्ठित इति च "रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठित" इति बृहदारण्यकवाक्ये भाष्यम्। "पूषा वै देवानां भागदुघ" इतिचब्राह्मणम्। एक ऋषति गच्छतीति। 'सूर्य एकाकी चरती'ति श्रुतेः। गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वादेक एवाद्वितीयः सन् जानाति सर्वज्ञोऽद्वितीय इत्यर्थ इत्यपि वदन्ति। अद्वितीयत्व तु परब्रह्मणा सहैक्यात् संपाद्यम्। सर्वस्य संयमनाद्यम इति। एकर्षिरेक एव चरन् दिनरात्र्याद्युत्पाद्य काल कलयति कालश्च सर्वान् यमयतीति प्रसिद्धं तस्मात्सर्वसंयमनकारणत्वं परम्परया सूर्यस्य, "एष वै यमो य एष तपति एष हीदं सर्वं यमयत्येनेनेदं सर्वं यतमि"ति श्रुतेश्च। परे तु य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तराऽऽदित्यं यमयतीत्यादिश्रुतेरन्तर्यामी सूर्यमण्डलस्थपुरुषः। न च यमादित्यो न वेदेति तत्रैवादित्यपुरुषात् पार्थक्येनान्तर्यामी निर्दिष्टः, न हि आदित्यमण्डलं जडं यमात्मानं न वेदेत्यर्थसंभवः, जडस्य वेदनाऽप्राप्तेर्निषेधवैयर्थ्यादिति वाच्यम्। आदित्यपुरुषपरब्राह्मणोरौपाधिकभेदपरित्यागेनैक्यविवक्षोपपत्तेरित्याहुः। स्वीकरणादिति। अत्र ककारोऽधिको लेखकप्रमादादपतित इति भाति। स्वीरणादिति हि युक्तम्। सुष्ठु ईरणाद् रसान् रश्मीन् प्राणान् धियो वेति बृहदारण्यकभाष्ये। राजसूयसूर्येत्यादिना साधुः। षू प्रेरणे इत्यस्य निपात इति पक्षेऽप्यर्थैक्यमेव। सुष्ठु वीरयते इति सूर्य इति परे। "तं देवा अब्रुवन् सुवीर्यो मर्या यथा गोपायत इति तत्सूर्यस्य सूर्यत्वम्" इति तैत्तिरीयब्राह्मणे। तम्=इन्द्रम्। रसादीरणं प्रत्यक्षसिद्धम्। धियश्चेरणं धियो यो नः प्रचोदयादित्यादिशास्त्रप्रसिद्धम्। प्रजापतेरपत्यमिति। प्रजापतिः परमात्मा "प्रजापतिर्वा इदमेक आसीद्" इति श्रुतेः। "प्राणो हि प्रजापतिः प्रजापतिं ह्येवेदं सर्वमनुप्रजायत" इति श्रुतेर्मुख्यः प्राणः सूत्रात्मा प्रजापतिरिति स्वीकारेऽपि न क्षतिः। "प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायत" इति वा। साक्षात्परमात्मन एवोपाधिविशिष्टत्वेनापत्यरूपतया प्राजापत्यः सूर्य इति पितुर्महीयस्त्वेन महीयानयं सूर्यः प्रजाहितकारी स्यादिति सम्बोधनेन महीयते। विग-

❀ भाष्यम् ❀

उपसंहर ते तेजः= तापकं ज्योतिः। यत् ते= तव रूपं कल्याणतमम्= अत्यन्तशोभनं तत् ते= तव आत्मनः प्रसादात् पश्यामि। किं चाहं न तु त्वां भृत्यवद् याचे—यः असौ=

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

मय रश्मीनि। भौतिकरश्मितादात्म्यमपनयेत्यर्थः। रश्मीनामन्यथाविगमनस्यासंभवात्। "रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठित" इति श्रुतौ अध्यात्मचाक्षुषपुरुषे रश्मिभिरनुग्रहं कुर्वन् यः प्रतिष्ठितस्तस्यानुग्रहकारिरश्मीनामतथाविधविगमनस्यापुरुषार्थत्वाच्च। एकीकुरु उपसंहरेति। "तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति श्रुतेः परमात्मतेजोऽतिरेकितापरिहारेण परमात्मज्योतिष्युपसंहरेत्यर्थः। किमर्थं तेज उपसंहरणीयमित्यतो विशिनष्टि—तापकमिति। एकीकरणविरहकाले द्वैतभावनया ज्योतिरिदं सकलजगद्रूपात्मकं भूत्वा त्वाष्ट्रत्वात्सर्वरूपाणां संसारतापजनकं भवतीत्यर्थः। अत्र पूषन्नित्यादिसम्बोधनैः सूर्यप्रार्थनाया अतिस्पष्टत्वेऽपि योगाश्रयणेन परमात्मपरत्वं व्याचक्षाणा अपि केचिद् रश्मीनित्यस्यार्थान्तरं कथं न कृतवन्त इत्याश्चर्यम्। रश्मीन् स्वोग्ररश्मीनिति तेषां व्याख्या। न खलु परमात्मन उग्ररश्मयः सूर्यस्येव प्रसिद्धाः। ततश्च मनसि स्थितः सूर्य एव वचसान्यथोच्यत इति मनस्यन्यद्वचस्यन्यदित्यादिवचनविषयभूता एव ते। कल्याणतममिति। यदादित्यगतमित्यारभ्य तत्तेजो विद्धिमामकमिति गीतास्मृतौ परमात्मतेजस्त्वेन निरूपितं निरस्तभौतिकतेजस्तादात्म्यं विदलितसकलद्वैतभावमानन्दैकरसं रूपमित्यर्थः। ते तवेति। युष्मच्छब्देन भेदवत्त्वं प्राप्तं वारयन्नाह—आत्मन इति। आत्मस्वरूपस्य तवेत्यर्थः। न तु त्वदीयात्मन इति। एतदेव स्फुटयन्नुत्तरग्रन्थमवतारयति—किं चेति।

केचित्तु यत्ते तव रूपं तत्ते त्वदर्थं पश्यामीति व्याचख्युः। मोक्षसाधनप्रकरणमिदमिति भूयो भूयो निगदन्तो मुमुक्षून् प्रत्युपनिषदुपदेशं स्वीयमोक्षाभिलाषयः तदौपयिकपरमात्मदर्शनप्रवृत्तिं चोपगम्यापि परमात्मार्थे परमात्मन उपकृतये तद्रूपं पश्यामीति व्याख्याय कामुकपुरुषस्य पित्रुद्धारार्थे मैथुनं करोमीति कथां ते ज्ञापयांचक्रुः। कस्तावदुपकारः परमात्मनो भवति त्वत्कर्तृकतद्दर्शनेन? न च दर्शनमपि परमात्मार्थमित्यत्यन्तपारतन्त्र्यानुसन्धानायेत्थमुच्यत इति वाच्यम्। यत एतेन त्वदीयपरमेश्वरस्यैवोपकरणीयस्य वराकस्य पारतन्त्र्यं प्रतीयते न तु स्वस्य। असदर्थं चानुसन्दधानोऽनृतेन प्रत्यूढ इति वचनविषय एव।

योऽसावित्यत्र असावित्यनेन परलोकस्थार्थकेन प्रकृते विवक्षितमाह—

॥ भाष्यम् ॥

आदित्यमण्डलस्थो व्याहृत्यवयवः पुरुषः—पुरुषाकारत्वात्, पूर्णं वाऽनेन प्राणबुद्ध्यात्मना जगत् समस्तमिति पुरुषः, पुरिशयनाद्वा पुरुषः, सोहम् अस्मि= भवामि ॥१६॥

॥ आनन्दगिरिय टीका ॥

व्याहृत्यवयव इति। तस्य भूरिति शिरः। भुव इति बाहुः। सुवरिति प्रतिष्ठा। पादावित्यर्थः ॥१६॥१७॥१८॥

॥ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ॥

आदित्यमण्डलस्थ इति। व्याहृत्यवयव इति। व्याहृतयोऽवयवाः शिरः-, पाण्यादयो यस्य सोऽयं व्याहृत्यवयवः।

कतमा व्याहृतिः कतमावयव इत्यत्र तस्य भूरिति शिरः इत्यादिबृहदारण्यकश्रुत्या स्पष्टीकरोति टीकाकारः—तस्येत्यादि। प्रतिष्ठेत्यस्यार्थमाह—पादावित्यर्थ इति।

भाष्ये व्याहृत्यवय इत्यनन्तरं परोक्षोऽसौ शास्त्रदृष्ट्या प्रत्यक्ष इत्यधिकः पाठः पुरुष इत्यतः पूर्वं क्वचित्। असौ पुरुष इत्यत्रासाविति पुनरुक्तस्येदं तात्पर्यम्। असाविति परोक्षत्वं ब्रूते। कथं गर्हि तदस्तित्वं गम्यते तत्राह—शास्त्रदृष्ट्या प्रत्यक्ष इति। पुरुषत्वं व्युत्पादयति—पुरुषाकारत्वादिति। व्याहृत्यवयवैः शिरःपाणिपादवत्त्वेन पुरुषाकारत्वादित्यर्थः। सोऽहमित्यध्यात्मं पुरुषस्य पुरुषाकारत्वं स्पष्टमेव। प्राणबुद्ध्यात्मनेति। "अथ यः पुरुषः स प्राण" इति जैमिनीये। "अयमेव पुरुषो योऽय पवते"। "प्राण एष स पुरि शेते तं पुरि शेते इति पुरिशयं सन्तं प्राणं पुरुष इत्याचक्षते" "दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुष" इत्यारभ्य "एतस्माज्जायते प्राणो मनः" इत्यादिश्रुतिजातमिहोदाहरणीयम्। अपरोक्षत्वविरहाद् अस्मीत्यस्य भवामीति व्याख्या कृता।

यत्तु—सोऽहमस्मीत्यत्राहंशब्दस्य जीवद्वाराऽन्तर्यामिपर्यन्तार्थत्वम्। अस्मीत्यपि प्रत्यग्रूपविशिष्टपरमात्मविश्रान्तम्। 'अस्मद्युत्तमः' इति सूत्रमस्मच्छब्दोपपदसद्भावमात्रे उत्तमपुरुषं विधत्ते न त्वस्मदर्थमपि। एतेन तत्त्वमसीत्यपि व्याख्यातम्। भागत्यागेन निर्विशेषस्वरूपतात्पर्यपक्षे अपि अस्मीत्यादिरनुपपन्नः स्यात्। प्रतिबोधनीयानुसन्धेययोरभावात्। स्वाज्योपाधिविषयव्युत्पत्तिमच्छब्दसन्निधिमात्रोपजीवनेन मध्यमपुरुषादिसंपत्तिस्वीकारे वरमपरित्यक्तप्रवृत्तिनिमित्तान्तर्यामिपर्यन्तार्थस्वीकार एव। त्वमहमर्थयोश्च सत्ताद्याकारतया नित्यप्रतिपन्नतयाऽनिर्देश्यत्वादननुसन्धेयत्वाच्च वाक्यवैयर्थ्याच्चेति भेदिनां घटाटोपः।

तत्र ब्रूमः। असति बाधके लोकवेदयोरर्थभेदस्य कल्पयितुमशक्यत्वाच्छब्द-

❋ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❋

न्यायाच्च स्वरसतः समुपस्थितार्थविषयक एव शाब्दबोधः। स्वरसत उपस्थितिश्च क्वचिच्छक्त्या क्वचिन्निरुढलक्षणया क्वचित्तादर्थ्यप्रसिद्ध्या च भवति। भूतले घट इत्यादौ भूतलाधिकरणताकघटबोधः शक्त्युपस्थापितार्थविषयकः। राजपुरुष इत्यादौ राजसम्बन्ध्यभिन्नपुरुषबोधो निरूढलक्षणया। ओदनं पचति पाकं पचति तपस्तप्तमित्यादौ प्रसिद्ध्या। तत्राहंशब्दस्य त्रिविधरीत्याप्यन्तर्याम्यर्थकत्वविरहा-ज्जघन्या लक्षणैव समाश्रयणीया स्यात्। तथा अस्मिशब्दादेः प्रत्यग्रूपस्वविशिष्ट-परमात्मार्थतायामपि। न हि जघन्या लक्षणा सत्यां गतौ केनचिदपि तान्त्रिकेणोप-गम्यते। अस्मन्मते सोऽयं देवदत्त इत्यादिवत् प्रसिद्धप्रयोगः सोऽहमस्मि तत्त्वम-सीत्यादिः। सोऽयं देवदत्त इत्यादौ हि भेदभ्रमव्युदासाय प्रयुज्यमाने भागत्याग एव शरणम्। न हि तत्कालादिविशिष्टैतत्कालादिविशिष्टयोरैक्यं कथंचिदुपपद्यते। न च घटोऽनित्य इत्यादौ पदार्थैकदेशव्यक्तिमात्रान्वयेऽपि यथा लक्षणा न भवति तथा देवदत्तमात्रान्वयेऽपि न लक्षणोपगन्तव्या सोऽयमित्यादाविति वाच्यम्। यतो घटत्वस्य नित्यत्वमात्रेण घटत्वविशिष्टघटस्यापि नित्यत्वं नैव संभवति यद्भयेन व्यक्तिमात्रान्वय उररीक्रियेत। विशिष्टान्वयिनो विशेषणान्वयित्वनियमात्तु तथा वक्तव्यम्। न वा तदपि वक्तव्यम्। घटत्वविशिष्टघटस्यैव घटविशिष्टघटत्वस्यैवान्व-यितया घटविशिष्टघटत्वस्य च घटस्यानित्यत्वादनित्यत्वोपपत्तेः। इत्थं च घटोऽ-नित्य इत्यादावेकदेशान्वयो नास्त्येव। प्रकृते च सोऽयमित्यादावेकदेशान्वयोऽपि दुर्घटः। घटो घट इतिवद्देवदत्तो देवदत्त इत्येवमन्वयबोधस्य वक्तुमशक्यत्वात्। तस्मात्तदेतत्कालविशिष्टदेवदत्तयोरुपस्थितौ सत्यां भागत्यागेनाखण्डबोध एव भेद-भ्रमव्युदासायाङ्गीकर्त्तव्यः। एतेनान्यतरपदलक्षणैवोपेयतां कुत उभयपदे लक्षणेति परास्तम्। भेदभ्रमव्युदासस्योभयपदलक्षणयैवोपपत्तेः। लक्षणावदेकपदार्थशुद्धदेव-दत्तस्येतरपदार्थविशिष्टदेवदत्तेन भेदाभेदस्यैव संभवेन भेदव्युदासायोगात्। सोऽयं देवदत्त इत्यादौ अयमेव सः स एवायमिति परस्परभेदव्युदासेन शाब्दबोधस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात्। यत्र भेदव्युदासमात्रतात्पर्यं तत्र प्रयोगान्तरस्याविद्यमानत्वेना-न्यतरोद्देश्यान्यतराविधेयविधया शब्दप्रयोगस्य कर्त्तव्यत्वेऽपि उद्देश्यविधेयभावपरि-त्यागेनैव लक्षणयाखण्डार्थबोधस्याभ्युपगन्तव्यत्वात्। परमतेऽपि तुल्यवित्तिवेद्यत-या परस्परभेदव्युदासेन बोधो भवतीति उभयपदलक्षणाङ्गीकरणीयैव। इत्थं च निरूढलक्षणेव प्रसिद्धलक्षणापि शक्तिसमकक्षत्वाददोषावहैव।

यत्तु असि अस्मीत्यादिप्रयोगाऽसामञ्जस्यमुक्तं, तत्प्रयोगाभिज्ञतानिबन्धन-मेव। प्रज्ञानं ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्मेत्यादावस्यस्म्यादिं विनैव प्रयोगादत्र स्थितमात्रं विचारणीयम्। यथा घटो नील इत्येतावतैवोपपत्तौ घटो नीलो भवतीत्यप्युच्यते।

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

वत्राभेदमात्रतात्पर्यं न त्वतिरिक्तं किंचित्। घटो नील इत्यत्राभेदः संसर्गविधया भासते घटो नीलो भवतीत्यत्र प्रकारविधयेत्येतावन्मात्रं विशेषः। सोऽयमस्ति तत्त्वमसीत्यादावैक्यस्य पदोपस्थापितत्वेऽपि तात्पर्यविरहादखण्डबोध एव भवति। भागलक्षणास्थले च भूतपूर्वगत्याऽऽख्यातप्रयोगः। सोऽयमस्ति अयं स आसीदित्युभयप्रयोगात्। वस्तुतश्च त्वंपदस्य सम्बोध्यात्मशरीरकान्तर्यामिलक्षणायां तवैव सर्वथा मध्यमपुरुषोऽनुपपन्नः। न हि अस्मद्युत्तम इत्यादौ शब्दाश्रयं कार्यम। किन्त्वर्थाश्रयमेव। अन्यथा स्थानिन्यपीत्यस्यानुपपत्तेः। शब्दाश्रयकार्याभ्युपगमे च अतित्वं पचति अत्यहं पचतीत्यत्रापि पचसि पचामीत्येवं मध्यमोत्तमौ स्याताम्। न चात्र युष्मदो रूपं त्वमित्येतावन्मात्रमिति अतिघटितत्वंपदादिप्रयोगे न मध्यमपुरुषादिरिति वाच्यम्। परमत्वं पचसि परमाहं पचामि त्वत्तरः पचसि मत्तरः पचामीत्याद्यनुपपत्तिप्रसङ्गात्। सर्वमपीदं स्पष्टं भाष्ये (महाभाष्ये) एवं स्थिते त्वंपदस्य त्वमर्थात्मान्तर्यामिपरमात्मार्थकत्वेऽनुपपन्न एव मध्यमपुरुषप्रयोगः। मम तु शब्दव्यवहारस्याविद्याकालीनत्वात्तत्त्वमसीति प्रयोगोपपत्तिर्भूतपूर्वगत्या च। अखण्डार्थबोधश्चोपस्थितार्थभागत्यागात्स्वयंप्रकाशत्वादुपपद्यतेतरामिति न कापि क्षतिः। तस्मादनधीतव्याकरणानां रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनं रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणमित्याद्यनुशासनहीनानां बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यतीतिवचनसार्थकीकरणमेवेदम्।

अपर आह—तत्त्वमसीत्यादौ तदात्मकस्त्वमित्यर्थः। अत एव क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धीत्यत्र मदात्मकः क्षेत्रज्ञ इति व्याख्यानम्। अथ वा लक्षणां विनैवोपपद्यते। तत्पदार्थस्य त्वमर्थेऽहंपदार्थस्य क्षेत्रज्ञे च तादात्म्येनैवान्वयः। तादात्म्यमित्यत्र स आत्मा यस्य तद्भाव इति व्युत्पत्तेस्तदन्तर्यामिकत्वमित्यर्थपर्यवसानात्पूर्वोक्त एव फलितार्थ इति। तत्तुच्छम्। प्रथमपक्षे जघन्यलक्षणाश्रयणदोषतादवस्थ्यात्। द्वितीयपक्षेऽपि यथोक्ततादात्म्यस्य सम्बन्धत्वमसिद्धम्। नैयायिकैरुच्यमानं तादात्म्यं ह्यभेदापरपर्यायम् न तु तदन्तर्यामिकत्वलक्षणम्। न हि शब्दसाम्यमात्रं संसर्गत्वप्रयोजकम्। अन्यथा नारायणः स ब्रह्मा स शिव इत्यादौ अभेदेनान्वयः। अस्य अकारपदवाच्यस्य विष्णोर्भेदः अभेदः। अस्त्येव विष्णोर्भेदः शिवादावित्यपि व्याख्यानं स्यात्। न चेष्टापत्तिः। एष सर्वभूतान्तरात्मेत्यत्रापि अस्य भेदः अभेद इति व्युत्पन्नाभेदसम्बन्धेनान्वयापत्तेः। तदन्तर्यामिकत्वमित्यत्रान्तर्यामिणो द्रव्यस्य संसर्गकोटौ प्रवेशः कस्मान्नैयायिकजरठगुरोरधीतो भवता। वस्तुतस्तदन्तर्यामिकत्वं नाम तन्निष्ठान्तर्यामित्वावच्छिन्ननियामकतानिरूपितनियम्यतावत्त्वमेव। अत्र संसर्गस्य दीर्घपरम्परारूपत्वं स्वघटकत्वं च स्पष्टम्। अन्तर्यामित्वावच्छिन्नत्वं चावश्यं वक्तव्यम्।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

अन्यथा देवदत्तो घटः राजा भृत्य इत्यादिप्रयोगाणामपि साधुत्वं स्यात्। देवदत्त-राजादिनिष्ठनियामकतानिरूपितनियम्यताया घटभृत्यादौ सत्त्वात्। न च घटो नास्तीत्यत्र घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगित्वं संसर्गो वक्तव्यः। अन्यथा घटवत्यपि घटान्तरविरहेण घटो नास्तीति प्रयोगापत्तेः। तत्र यथा घटत्वावच्छिन्नत्वस्य संसर्ग-कोटौ प्रवेशस्तथात्रापि अन्तर्यामित्वावच्छिन्नत्वं संसर्गकोटौ प्रविशतु का हानिरिति वाच्यम्। यतो घटो नास्तीत्यादौ प्रतियोगित्वमात्रं सम्बन्धः। तत्र घटपदार्थताव-च्छेदकघटत्वस्यावच्छिन्नत्वसम्बन्धेन घटस्य चाधेयतयान्वयः इत्यत एवोपपत्तौ घटत्वादेः संसर्गकोटिप्रवेशानभ्युपगमात्। संसर्गतावच्छेदकसंसर्गानभ्युपगमेऽपि संसर्गीयप्रतियोगित्वानुयोगित्वभानाभ्युपगमावश्यकत्वादवच्छिन्नत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रति-योगिताविशेषस्यैव घटत्वादौ भानोपगमेन दोषाभावात्। न ह्येवं तत्त्वमसीत्यादौ अन्तर्यामिवाचकपदमस्ति। येन पदार्थतावच्छेदकान्तर्यामित्वस्य पूर्वोक्तविधया नियामकतायामन्वय उपपाद्येत। निपातातिरिक्तनामार्थयोर्भेदेनान्वयस्याऽव्युत्पन्न-तया तदन्तर्यामिकत्वादिसम्बन्धेनान्वयस्य शङ्कितुमप्यशक्यत्वाच्च। न च "ज्योतींषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुरि"त्यादावस्य संसर्गत्वमङ्गीकार्यम्। "यदम्बु वैष्णवः कायस्ततो विप्र वसुन्धरे" त्यादौ जलादेस्तच्छरीरत्वस्मरणादन्तर्यामिश्रुतेश्च। तथा च य आत्मनि तिष्ठन् यस्यात्मा शरीरमिति श्रुत्यनुरोधादेव तत्त्वमसी-त्यादावपि तदन्तर्यामिकत्वसम्बन्धेनेश्वरान्वितजीवार्थसिद्धिरिति वाच्यम्। ज्योतींषि विष्णुरित्यादौ बाधसामानाधिकरण्यस्यैवाभ्युपगमेन दृष्टान्तासिद्धेः। उपपादितं च बाधसामानाधिकरण्यं प्रागेवास्माभिर्विस्तरशः।

अन्तर्यामिश्रुतौ च पृथिवीदेव्यादिशरीरातिरिक्तशरीरं तस्य (अन्तर्यामिणः) नास्ति देवताकार्यकरणस्येश्वरसान्निसांनिध्येन हि नियमेन प्रवृत्तिनिवृत्ती स्यातामित्या-शयो भाष्ये वर्णितः। न च यथाश्रुतार्थपरित्यागे मानाभाव इति वाच्यम्। यथा-श्रुतशरीरत्वानुपपत्तेः। "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्" इति हि न्यायसूत्रे शरीर-लक्षणमभिहितम्। चेष्टा नामेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारानुकूलव्यापारः। न हि परमात्मन इष्टानिष्टे। नापि तस्येन्द्रियाणि। अपाणिपाद इत्यादिश्रुतेः। नापि सुखदुःखलक्ष-णोऽर्थश्च। तथा च कथमीश्वरस्य शरीरं शक्यं प्रतिपादयितुम्। न च लक्षणमिदं मृतशरीरे व्यभिचरितमिति वाच्यम्। भूतपूर्वगत्या तत्र शरीरव्यपदेशात्। त्वन्मतेऽपि देवदत्तस्य शरीरमिति भूतपूर्वगत्यैव मृतशरीरे वक्तव्यम्। मृतशरीरे देवदत्तस्वा-मिकत्वविरहात्। तस्मात्परमात्मनो जगदन्तरात्मत्वाज्जगति भाक्तस्तच्छरीरत्वव्यव-हारः। कथमन्यथा पूर्णावतारांशावतारार्चावतारादिवज्जगदवतारो द्वैतिभिरेव न प्रतिपादितः। किं च घटावतारपटावतारादयोऽपि वक्तव्याः। तेषामपि शरीरत्वा-

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतँ स्मर क्रतो स्मर कृतँ स्मर ॥ १७

❀ भाष्यम् ❀

वायुरिति । अथ=इदानीं=मम मरिष्यतः वायुः=प्राणः अध्यात्मपरिच्छेदं हित्वाऽधिदैवतात्मानं सर्वात्मकमनिलममृतं—सूत्रा-

❀ जयमङ्गलाचार्यं विवरणम् ❀

व्याघातात् । अन्तर्यामिश्रुतिपरिगणितानामेव शरीरत्वे घटादेरशरीरत्वेन पार्थक्याद्विशिष्टाद्वैतं न स्यात् ।

वस्तुतस्तु सोऽहमाजन्मशुद्धानामित्यादौ मन्दः कवियशःप्रार्थीत्यादिपूर्वोदितकालिदासाभिन्नत्वेन रघूणामन्वयं वक्ष्य इति भविष्यद्रघुवंशवर्णनकर्त्तुः कालिदासस्यैव बोधदर्शनात्तत्र तदन्तर्यामिकस्याप्रतीतेरत्रापि सोऽहमस्मीत्यत्र तथैव वाक्यार्थबोधोदयस्य सर्वानुभवसिद्धत्वाल्लक्षणां विना कथमपि भवदभिमतार्थसिद्धिर्न भवतीति मुख्येऽन्याय्यकल्पनेयं महदन्याय्यं महावाक्यार्थान्यथाकरणम् । "ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकमशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम् । एकं सदैकं परमः परेशः स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति" "एकमेवाद्वितीयं" "नेह नानास्ति किंचन" इत्यादयः शतशः श्रुतिस्मृतयो यथाप्रतीत्यर्थपरित्यागमन्तरा नैव भवन्मते सामञ्जस्यमर्हन्तीत्यलं विस्तरेण ।

द्वैतिनस्तु स्वनिर्मितपद्यान्येव काव्यदोषशतदूषितानि श्रुतिस्मृतिरूपेणोपन्यस्य परदूषणं कुर्वन्तोऽतितुच्छत्वान्न तत्र तत्र निरस्तास्तथाप्यत्र निर्दर्शनाय किंचिदुच्यते । "अहं चासावहेयतः । अस्मि नित्यास्तितामानात्" इत्यादि तत्पद्यम् । सोऽहमस्मीत्यत्र ओहाक् त्यागे इति धातोः कृदन्तनिष्पन्नस्य नञ्तत्पुरुषेऽहमिति अहेयमित्यर्थः । 'अस भुवि' 'माङ् माने' इति धातुद्वयस्य रूपम्—'अस्मी'ति नित्यसत्त्वेन प्रमितमित्यर्थः । उभयत्र नपुंसकत्वं छान्दसमिति पद्यव्याख्या । नाहं भृत्यवद्यावे इत्यादि चापव्याख्यानमित्यादि तत्र टीकाकारः । अत्र समाधानम् । "स्वामि वेदान् पुमर्थं च पूर्णप्रज्ञोऽहमस्मि सः" । सोहमस्मीत्यत्र षोऽन्तकर्मणीत्यस्य कृदन्तरूपं सः । पूर्णप्रज्ञः—द्वैती । शेषं सुगमम् ।

इति षोडशमन्त्रविवरणम् ।१६।

वायुः ॥ जीवनावस्थायां कथमियं प्रार्थना वायुरनिलं प्रतिपद्यतामिति । जिजीविषेदित्युक्तेः । मृतस्य च प्रार्थनाया असंभव इत्यत आह—**मम मरिष्यत** इति । वायुरनिलरूप एवेति कैयं प्रार्थनेत्यतो वायुशब्दार्थमनिलशब्दार्थं च पृथक्कृत्याह—वायुः प्राण इत्यादि । अमृतमिति विशेषणलभ्यार्थमाह—**सूत्रात्मान**-

❀ भाष्यम् ❀

त्मानं प्रतिपद्यतामिति वाक्यशेषः । लिङ्गं चेदं ज्ञानकर्मसंस्कृतमुत्क्रामत्विति द्रष्टव्यम् । मार्गयाचनसामर्थ्यात् । अथेदं शरीरमग्नौ हुतं भस्मान्तं भूयात् । ओमिति यथोपासनमों प्रतीकात्मकमग्न्याख्यं ब्रह्माभेदेनोच्यते । हे क्रतो=संकल्पात्मक स्मर यन्मम स्म-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

मिति । ननु वायोः सूत्रात्मप्रतिपत्तौ मम को लाभः ? । बृहदारण्यके तु बाह्यं वायुं प्रति गच्छेदित्युक्तम् । इहत्यमन्त्रत्रयस्य तत्रैकत्वेन अमृतमिति विशेषणस्य सोऽहमित्यत्र योजनाद्वायुविशेषणत्वविरहात्तत्र बाह्यत्राय्वर्थकरणं संगच्छते । परमत्रामृतमिति विशेषणं वायावेव योजयित्वा सूत्रात्मप्रतिपत्तावाग्रहो दृश्यते । परं तु वायोरात्मत्वविरहेण यत्र कुत्रापि स गच्छतु, कस्तत्राग्रहः सूत्रात्मानं प्रतिपद्यतामिति । न च भस्मान्तं शरीरमिति वक्ष्यमाणत्वात्तत्राप्ययं प्रश्नः समानः स्याद्, भस्मान्तं वा भवतु विडन्तं वा तत्र कोऽभिनिवेश इति वाच्यम् । तर्हि भवतु तत्राप्ययं प्रश्नः । वस्तुतस्तु भस्मान्तं शरीरमित्यत्र नायं प्रश्नः । निषेकादिश्मशानान्तानां कर्मत्वाद् भस्मान्तताया अपि कर्मान्तर्भावात् कर्मफलप्राप्तये भस्मान्तत्वावश्यकत्वात् । वायोस्तु सूत्रात्मप्रतिपत्तौ न किंचिदपि प्रयोजनं पश्याम इति चेन्न । हिरण्यगर्भप्राप्तेरेव कर्मोपासनसमुच्चयफलत्वेन प्राणोत्क्रमणमन्तरा तदसंभवात् । बृहदारण्यके तु प्रकरणान्तरत्वात्तथाव्याख्यानम् । सोऽहममृतमिति अमृतत्वबोधोत्पत्तौ प्राणोत्क्रमणप्रार्थनाया अनुपयोगात् । तदिदमभिप्रेत्याह—लिङ्गं चेदमिति । चो ह्यर्थे । प्राणपदेन लिङ्गशरीरं विवक्षितमिति भावः । प्राणस्याध्यात्मपरिच्छेदत्यागेऽपि न लिङ्गस्येत्याशयेनेदमित्यपि वदन्ति । ननु कथमुत्क्रमणार्थलाभ इत्यत आह—मार्गयाचनसामर्थ्यादिति ।

मन्त्रे ॐ क्रतो इति विशेषणद्वयमग्नेः । हे ओंस्वरूप हे क्रतुस्वरूप अग्ने इति योज्यम् । तदिदं व्याचष्टे—ओमिति यथोपासनमित्यादि । ओमिति ब्रह्मणः प्रतीकमिति प्रसिद्धम्, तदेव च ब्रह्मोपास्यतेऽग्न्यादिरूपेणेति यथोपासनं प्रकृतेऽग्न्याख्यं ब्रह्मैव ओमित्युच्यत इति योजना । एवं यत्र कुत्राप्योंकारेण सम्बोधनं तत्र सर्वत्रैव यथोपासनं तत्तद्देवतास्वरूपं ब्रह्म ओंपदार्थः स्यादिति द्रष्टव्यम् । क्रतो संकल्पात्मकेति । यो यत्क्रतुर्भवतीत्यादौ क्रतुपदस्य संकल्पार्थकत्वं प्रसिद्धम् । प्रकृते च म्रियमाणस्य प्रत्यक्षतयाऽग्निविरहान्मनोगतत्वेन सम्बोध्यते—क्रतो इति । क्रतो स्मर कृतं स्मरेत्यत्र द्वितीयस्मरपदस्य कर्माभिहितं कृतमिति । प्रथमस्मरपदस्य मन्त्रे कर्म न दृश्यत इत्यतोऽपेक्षितं पूरयति—यन्मम स्मर्तव्यमिति ।

❀ भाष्यम् ❀

र्त्तव्यम् । तस्य कालोऽयं प्रत्युपस्थितोऽतः स्मर । एतावन्तं कालं भावितं—कृतमग्ने स्मर यन्मया बाल्यप्रभृत्यनुष्ठितं कर्म तच्च स्मर । क्रतो स्मर कृतं स्मरेति पुनर्वचनमादरार्थम् ॥१७॥

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

कृतं स्मरेत्यंशं व्याचष्टे—एतावन्तमित्यादि । कृतमित्यस्य व्याख्या—एतावन्तं-कालं भावितमिति । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । एतावत्कालपर्यन्तं भावितमिति । अस्यैव स्पष्टीकरणं—यन्मया बाल्यप्रभृत्यनुष्ठितं कर्मेति । केचित्तु—एतावन्तं कालं भावितमित्यंशं पूर्वेण योजयामासुः । तन्मन्दम् । कृतं स्मरेत्यनेन पौनरुक्त्या-पत्तेः । यन्मम स्मर्त्तव्यं तत्स्मरेति सामान्येनाग्न्युपरि भारं निधाय पुनः एतावन्तं कालं भावितं स्मरेति नियन्त्रणानुपपत्तेश्च । मम मते तु प्रथमं फलविषयकस्मरणं प्रार्थ्यते । द्वितीयेन साधनविषयकस्मरणम् । यन्मया कर्म साधनभूतं कृतं तत्स्मर । तस्य किं फलं भविष्यतीति नाहं जानामि । फलस्य भगवदायत्तत्वात् । न च विद्ययामृत-मश्नुत इत्युक्तमेव फलमिति कथं न जानासीति वाच्यम् । यतः अङ्गवैकल्यादिहेतो-र्यादृशं फलं भवति प्रमादादेर्यच्च न्यूनाधिकं तन्मया न ज्ञायत एव । किं च फल-विषये किमर्थं विशेषेण वक्तव्यम् । लोकेऽपि च भृत्यः कर्म कृत्वा वदति एतत्कर्म मया कृतं यदस्य फलमुचितं तन्मे देहीति । न हि शालीनो भृत्य इदं फलं देयमे-वेत्याज्ञापयति । तस्मादत्र देयतया यत्स्मर्त्तव्यं तत्स्मरेति युक्तमुक्तं भवति । एवं यानादिविषयेऽपि यत्स्मर्त्तव्यं तत्स्मरेत्युपपद्यते । ननूपनिषत्समाप्तिं विनैव क्रतोः स्मर कृतं स्मरेत्यस्याऽऽवृत्तिः कथम् ? तत्राह—पुनर्वचनमादरार्थमिति ।

अत्रान्येषां व्याख्याः—परिशुद्धात्मपरं वाय्वादिपदम् । विद्याकर्मभ्यां तत्र तत्र गन्तृत्वाद्वायुः । निलीयत इति निलः । न निलः अनिलम् । नपुंसकत्वम-मृताक्षरं विदुरितिवच्छान्दसम् । वायुः प्राणोऽमृतमनिलं प्रतिपद्यतामिति व्याख्याने वायुशब्दार्थसंकोचः । प्राणोऽनिले स्वयमेव लीयत इति प्रार्थनावैयर्थ्यं प्रतिपद्यता-मित्यध्याहारक्लेशश्च । अथ भस्मान्तं शरीरमित्यनन्तरशरीरविनाशकथनानुप-पत्तिश्च । क्षेत्रज्ञशरीरस्य मृतत्वमवश्यंभावीत्याह अथ भस्मान्तं शरीरमिति । कीटान्त-त्वादेरुपलक्षणमिदम् । ईश्वरशरीरस्य वारणाय इदमिति विशेषणम् । क्लेशकर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः तस्य वाचकः प्रणव इत्यादेः ॐ परमात्मा तत्सम्बुद्धावोमिति । क्रतो क्रत्वात्मक । अहं क्रतुरहं यज्ञ इत्यादेः । क्रतुरुपासना तद्गोचरत्वाद्वा हे क्रतो स्मर सानुग्रहया बुद्ध्या विषयीकुरु । अहं स्मरामि मद्भक्त-मित्यादेः । कृतं स्मर मत्कृतं यत्किंचिदनुकूलमनुसन्धाय कृतज्ञस्त्वं मां रक्ष । उक्तार्थे

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

स्वरातिशयाद् द्विरुक्तिरिति।

अत्रोच्यते। परिशुद्धात्मपरं वाय्वादिपदमित्यत्रादिपदेनानिलममृतमिति विशेषणद्वयग्रहणम्। अथ भस्मान्तमित्यादेर्व्याख्यानान्तरकरणात्। तन्न्यूनम्। भस भर्त्सनदीप्त्योस्तस्मान्मनिनि भस्म प्रकाशः। अथेति कार्त्स्न्ये। कार्त्स्न्येन प्रकाशमन्तति बध्नाति, अति अदि बन्धने। मुक्तावस्थायां ज्ञानप्रकाशो व्याप्य प्रवर्त्तत इति तदानीं कृत्स्नप्रकाश उच्यते तादृशं कृत्स्नप्रकाशं लभतेऽसाविति अथभस्मान्तं नपुंसकत्वं पूर्ववच्छान्दसत्वात्। शं कल्याणमृच्छति गच्छत्यनेनेति शरीः। औणादिकः की प्रत्ययः। मलोपश्छान्दसः। मङ्गलप्राप्तिकारणं दर्शनं शरीत्युच्यते। शरीं राति ददातीति शरीरम्। नपुंसकत्व प्राग्वत्। उक्तं च तत्ते त्वदर्थे पश्यामीति। न चैवं क्लिष्टव्युत्पत्तिः कुतः क्रियत इति वाच्यम्। निलीयत इति निलः न निल अनिल इत्येव त्वयैव क्लिष्टव्युत्पत्तिराश्रिता। यावद् अन प्राणने धातोः सलिकल्यनिमहील्यादिना इलच् प्रत्ययेनानिलशब्दः साधितः। प्रकरणानुग्रहार्थं यदि तत्र क्लिष्टव्युत्पत्तिराश्रीयते चेदप्रासङ्गिकशरीरभस्मीभावव्यावृत्तये प्रदर्शितव्युत्पत्तेरपि निराकर्त्तुमशक्यत्वात्। "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" "सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती" "चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात्" इति श्रुतिस्मृतिन्यायैः सर्वेषां शब्दानां परमात्मपरकत्वसंभवेन माध्ववदेव व्याख्योपपत्तौ क्रियाकर्मकारकादिगवेषणक्लेशवैयर्थ्यापाताच्च। न चेष्टापत्तिः। सर्वमीमांसाविप्लवस्य प्रागेवावेदितत्वात्। अनन्वितानि चेमानि विशेषणानि।

यत्तु वायुपदार्थसंकोचादिदोषोऽस्मन्मते प्रदर्शितस्तदसंगतम्. भस्मान्तं शरीरमिति साहचर्येणाध्यात्मिकवायुलाभसंभवेन संकोचने क्लेशविरहात्। अमृतत्वविशिष्टानिलः सूत्रात्मैव तत्प्रतिपत्तिश्च स्वयमेव न संभवतीति न प्रार्थनावैयर्थ्यम्। प्रतिपद्यतामिति च न विलयनार्थकः किन्तु प्राप्त्यर्थकः। प्राणोत्क्रमणे च जीवोऽप्ययं सूत्रात्मानं प्राप्नोतीति तस्येष्टत्वान्नानर्थक्यमपि। न च ब्रह्मलोकप्राप्तिरेव भवति न तु सूत्रात्मप्राप्तिरिति वाच्यम्। ब्रह्मलोकप्राप्तौ ब्रह्मप्राप्तेरप्यवश्यंभावात्। ब्रह्म गमयतीति श्रुत्यन्तरात्। ब्रह्महिरण्यगर्भसूत्रात्मानश्चापृथग्भूताः। पृथग्भावे मानाभावात्। अनिलमिति द्वितीयान्तत्वान्मार्गयाचनप्रकरणाच्च प्रतिपद्यतामित्यस्यार्थसिद्धत्वादनुसन्धानक्लेशविरहान्नाध्याहारक्लेशः। उपपादितं चेदं प्रागेव।

यच्च अथ भस्मान्तं शरीरमित्यस्यानुपपत्तिरिति। तत्किं शरीरभस्मीकरणे सति प्राणो निःसरतीति मत्वानुपपत्तिं मनुषे किं वा प्राणनिःसरणात्प्रागेव पुत्रादिभिः शरीरं भस्मीकरणीयमिति विवक्षसि। उभयमपि मा शाधि

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

स्वपुत्रान् परपुत्रांश्च । तथा सति राजपुरुषकृतमरणदण्डेन पितृभिः सार्धमेव पुत्रा अपि ब्रह्मलोकमागमिष्यन्ति । न च ब्रह्मलोकगमने विलम्बोऽस्ति, स्वीक्रियते वा येन भस्मीभावात्प्रागेव ब्रह्मलोकप्राप्तावनुपपत्तिः स्यात् । ननु भो मया सूत्रात्मविलयानन्तरभस्मीभवनमेवानुपपन्नमुक्तं, सूत्रात्मनि विलयश्च ब्रह्मलोकगतस्य कल्पान्तादावेव संभवतीत्यनुक्तोपालम्भोऽयं भवता क्रियत इति चेत् ? सूत्रात्मप्राप्तिमात्रस्य प्रतिपद्यतामित्यनेनास्माभिरुक्ततया विलयनस्यानुक्ततया स्वयमपि-क्रियमाणमनुक्तोपालम्भं स्वयमेप न निभालयस इत्यहो परदूषणाभिनिवेशप्रयुक्तबुद्धि-कदर्थीकरणम् ।

ननु बृहदारण्यक एवायं दोषोऽस्तु तत्र वायोर्भौतिकानिले विलयव्याख्यानाद् । अत्रापि अध्यात्मपरिच्छेदं हित्वेत्युक्तेः सूत्रात्मनि विलयप्रतीतेरिति चेन्न । प्रथमे प्राणस्य वायौ विलये नास्ति विलम्ब इति अथ भस्मान्तमित्यत्र कथमसंगतिः । स्वतः सिद्धया तदुक्तिवैयर्थ्यदिशङ्करपरिहारं तु तत्रैव वयं व्याख्यास्यामः । अत्रा-ध्यात्मपरिच्छेदहानोक्त्या न सूत्रात्मनि विलयः प्रतीयते किन्तु ब्रह्मलोकगतानां देव-भावादाधिदैविकतापत्तिमात्रं गम्यत इति न किंचिदनुपपन्नम् ।

प्रयोजनविशेषावश्यकत्वं च वम्भण्यमानेन 'अथ भस्मान्तं शरीरमि'त्युक्तेः प्रयोजनं स्वयमपि नाभ्यधायि । न च क्षेत्रज्ञशरीरस्य मृतत्वमवश्यंभावीति ज्ञापनार्थं तदुच्यत इति वाच्यम् । पामराणामप्येतज्ज्ञानसत्त्वादज्ञातज्ञापकत्वाभावात् । भस्मान्त-मित्युक्तेर्विडन्तादिव्याप्त्यभावस्य स्वयमेव विडन्ताद्युपलक्षणतया व्याख्यानात् सान्तमित्येव वक्तव्ये भस्मान्तपर्यन्तगमनप्रयोजनमपि नाभ्यधायि । नित्यत्वेन प्रसिद्धे-श्वरशरीरवारणायेदमिति विशेषणमित्यप्यसंगतम् । जीवप्रकरणत्वेन त्वदभिमतेऽत्रे-श्वरशरीराऽप्रसक्तेः । इदमित्यनेनाकाशादीनां नित्यानामीश्वरशरीरत्वेन त्वदङ्गी-कृतानां व्यावृत्त्ययोगाच्च । अयमाकाश इतीदंत्वेनाकाशादेः सर्वानुभवविषयत्वात् । अयमहमस्मि अयमात्मेत्येवमीश्वरशरीरभूतजीवस्यापीदंत्वेन निर्देशदर्शनाच्च । प्रसिद्धशरीरग्रहणे सर्वेषां शरीराणामनित्यत्वमेवेति व्यर्थं एवंदंशब्दः स्यात् । अस्मन्मते तु कर्मिणां सहाग्निहोत्रशरीरभस्मीकरणसंस्कारस्यावश्यकत्वात्पुत्रादेः प्रमादादिवशात्तदकरणे गन्तव्यगमनविघ्नः स्यादिति प्रार्थनमुपपन्नं भवति । एतदभिप्रायेणैव अग्नौ हुतमिति भगवता भाष्यकृताभिहितम् । प्रकरणाच्चाग्नौ क्रतो इत्यग्निदेवतैव प्रार्थ्यते । अग्ने नयेत्युत्तरमन्त्रे स्पष्टमभिधानाच्च । अग्नेर्नायकत्वं देवतात्वात्प्रार्थनान्यथानुपपत्तेरग्रणीत्वव्युत्पत्तेश्च । तस्माद् यथाभाष्यमेव वेदार्थः ॥१७

इति सप्तदशमन्त्रविवरणम्

—०:❀०:—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥१८॥

इत्युपनिषत् ॥ ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ ॐ शान्तिःशान्तिःशान्तिः ॥

❀ भाष्यम् ❀

पुनरन्येन मन्त्रेण मार्गं याचते—अग्ने नयेति। हे अग्ने नय= गमय सुपथा= शोभनेन मार्गेण। सुपथेति विशेषणं दक्षिणमार्गनिवृत्त्यर्थम्। निर्विण्णोऽहं दक्षिणेन मार्गेण गतागतलक्षणेन, अतो याचे त्वां पुनःपुनर्गमनागमनवर्जितेन शोभ-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

अग्ने नय। पुनरन्येनेति। वायुरनिलमित्यनेनोक्तमेव मार्गं पुनर्याचते प्रकारान्तरेण, न तु मार्गान्तरमिति भावः। निवृत्त्यर्थमिति। अविहितकर्मोपासनानुष्ठानस्य प्रार्थनामन्त्रेणोत्तरमार्गप्राप्त्यसंभवाद् विहिततदनुष्ठानस्य च विनापि प्रार्थनामुत्तरमार्गप्राप्त्युपपत्तेर्विशेषणमिदमितरमार्गनिवृत्तिमात्रपर्यवसितमिति भावः। नन्वितरनिवृत्तिरपि कर्मोपासनसमुच्चयेनैव भवतीत्याशङ्क्य प्रार्थयितुर्भावमाह—निर्विण्णोऽहमिति। निर्वेदहेतुर्गतागतेति। तथा च निर्वेदवशादेव निवृत्तस्यापि निवृत्तिर्याच्यत इति भावः। उपासनाङ्गं प्रार्थनेति पक्षेऽपि प्रार्थयितुराशयः समानः। यद्यप्युत्तरमार्गगामिनोऽपि गतागतं विद्यते। अन्यथा प्राग्दर्शितप्रकरणविभागानुपपत्तेः। कर्मिणां प्रकृतिलयान्तमित्युक्त्यनुपपत्तेश्च। "इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्त" इत्यत्रेममितिविशेषणानुपपत्तेश्च। "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिन" इति स्मृतेश्च। तथाप्युत्तरमार्गेण पुनर्गमनागमनविरहाभिमानित्वादेवमुक्तिः। सर्वथा निर्विण्णस्य राये कर्मफलभोगायेत्यस्यानुपपत्तेः। अगाम सोमममृता अभूमेत्यादिवदापेक्षिकं गतागतराहित्यमिह विवक्षितमिति रहस्यम्। न च ब्रह्मलोकेऽपि कदाचिज्ज्ञानोत्पत्तेर्मोक्षसंभव इति वाच्यम्। यतस्तावता ज्ञानफलमेवायातं तत्र तूपासनफलम्। ज्ञानं च ब्रह्मलोके वा भवतु इहैव वा मर्त्यलोके भवतु, नास्त्येव तत्र कश्चिद्विशेषः। इह ज्ञानेन मुच्यमानानामल्पप्रारब्धनिवृत्त्या शीघ्रं कैवल्यं, ब्रह्मलोकगतानामुपासनाप्रारब्धफलभूतकल्पपर्यन्तस्थित्या विलम्बितं कैवल्यमिति तु विशेषः स्यात्।

❁ भाष्यम् ❁

नेन पथा नय। राये=धनाय—कर्मफलभोगायेत्यर्थः। अस्मान्—यथोक्तधर्मफलविशिष्टान्, विश्वानि= सर्वाणि हे देव वयुनानि—कर्माणि प्रज्ञानानि वा विद्वान्= जानन्। किं च युयोधि= वियोजय= विनाशय अस्मद्= अस्मत्तः जुहुराणं=कुटिलं= वञ्चनात्मकम् एनः=पापम्। ततो वयं विशुद्धाः सन्त इष्टं प्राप्स्याम इत्यभिप्रायः। किन्तु वयमिदानीं ते न शक्नुमः परिचर्यां कर्त्तुम्; भूयिष्ठां= बहुतरां ते=तुभ्यं नम उक्तिं= नमस्कारवचनं विधेम, नमस्कारेण परिचरेमेत्यर्थः ॥१८॥

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" "विनाशेन मृत्युं तीर्त्वाऽसंभूत्याऽमृतमश्नुते" इति श्रुत्वा केचित्संशयं

❁ आनन्दगिरीयटीका ❁

मन्त्रान् पदशो व्याख्याय संक्षेपतो विचारमारभते—अविद्यया

❁ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❁

कर्मफलेति। कर्मोपासनफलेत्यर्थः। यथोक्तधर्मेति। सत्यधर्मेत्युक्तो यो धर्मस्तस्य फलं दृष्टय इत्यनेनोक्तं तद्विशिष्टान्। तादृशधर्मफलयोग्यताविशिष्टानिति वा। किन्तु तत्रापि योग्यत्वमुक्तदृष्टिरेव। "माया वयुनं ज्ञानमि"ति निघण्टूक्तेराह—प्रज्ञानानि वेति। वाकरः समुच्चयार्थकः। युयोधीति। 'यु मिश्रणेऽमिश्रणे च' तस्माल्लोटि च्छान्दसं द्वित्वं गुणो हेर्धिश्चेत्याशयेन व्याचष्टे— वियोजयेति। वियोज्यान्यत्र स्थापनं नात्र विवक्षितमित्याशयेनाह—विनाशयेति। अस्मज्जुहुराणमिति समस्तपदभ्रान्तिं निरस्यन्नस्मदिति पञ्चम्यन्ततया व्याचष्टे—अस्मदस्मत्त इति। जुहुराणमिति। "हृ कौटिल्ये"। लिटः कानच् वस्योत्वं च। यद्वा "हुर्च्छा कौटिल्ये"। छलोपश्छान्दसः। 'शल हुल पत्ल गतौ' इत्यस्माद् नित्यं कौटिल्ये गतौ' इति यङि द्वित्वे यङ्लुकि चानशि रलयोरभेदाज्जुहुराणमिति वा। युयुधान इतिवदभ्यासगुणाभावश्छान्दसः। वञ्चनात्मकमिति। सुखव्याजेन महादुःखप्रापकत्वादिति भावः। ततः= एनोविनाशेन। इष्टं—देवतात्मभावम् ॥१८॥

इति द्वितीयं कर्मप्रकरणम्।

विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुत इति श्रुत्वेति भाष्यम्। ननु विनाशेनेत्यादौ विद्यापदविरहात् तत्र कः संशयः ?। न चासंभूतिपदेन ब्रह्मविद्या-

❀ भाष्यम् ❀

कुर्वन्ति। अतस्तन्निराकरणार्थं संक्षेपतो विचारणां करिष्यामः। तत्र तावत् किंनिमित्तः संशय इति, उच्यते। विद्याशब्देन मुख्या परमात्मविद्यैव कस्मान्न गृह्यतेऽमृतत्वं च। ननूक्तायाः परमात्मविद्यायाः कर्मणश्च विरोधात् समुच्चयानुपपत्तिः। सत्यम्।

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

मृत्युं तीर्त्वेत्यादिना। अमृतत्वं चेति। अमृतत्वं च मुख्यमेव कस्मान्न गृह्यत इति सम्बन्धः।

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

भिधीयत इति वाच्यम्। परेणापि तत्र व्याकृताव्याकृतोपासनाया एव स्वीकृतत्वेन ब्रह्मविद्यापदत्वाभावादिति चेन्न। परेणासंभूतिपदेन कारणीभूतं ब्रह्मैव गृह्यते न तु प्रकृतिः, तस्या जडत्वेन फलदातृत्वानुपपत्तेस्तेन दर्शितत्वात्। तथा चासंभूतिमुपासत इति ब्रह्मोपासना। तथा मुख्यममृतत्वं मोक्ष इति तावदंशे संशयोपस्थितेः। न च ज्ञानकर्मणोः समुच्चयेन मोक्षमङ्गीकुर्वन्तो व्याकृतोपासनाब्रह्मोपासनासमुच्चयेन मोक्षं नाभ्युपगतवन्त इति कथं संशयोत्पत्तिरिति वाच्यम्। शास्त्रमात्रप्रमाणावलम्बिनोपासनाद्वयसमुच्चयेनापि मोक्षस्य श्रुतिप्रामाण्येनाभ्युपगन्तव्यत्वात्।

नन्वेवमस्योत्तरं कथमग्रे न दत्तम्?। ज्ञानकर्मसमुच्चयप्रतिषेधमात्रमुपरिष्टात्समाधानावसरे विहितं, न तु ब्रह्मोपासनयाऽमृतत्वप्राप्तिप्रतिषेधोऽपीति चेत्? सत्यम्। ब्रह्मोपासनया ब्रह्मज्ञानप्राप्तौ मोक्षसंभवेन तत्प्रतिषेधस्य निरर्थकत्वात्। न चैवमत्र संशयं कुर्वन्तीत्यसंगतमेवेति वाच्यम्। वस्तुगत्याऽत्र प्रकृत्युपासनाया एव विहिततया मुख्यामृतत्वस्याविवक्षितत्वात्। वस्तुतस्तु विद्यां चाविद्यां चेत्यत्र विद्यापदं ब्रह्मज्ञानपरं तस्याविद्यापदार्थाग्निहोत्रादिकर्मसमुच्चयेन मोक्षजनकत्वम्, संभूतिं च विनाशं चेत्यत्राऽसंभूतिपदार्थोऽपि ब्रह्मविद्यैव तस्याः संभूतिपदार्थमानसक्रियात्मकव्याकृतोपासनासमुच्चयेन मोक्षजनकत्वमिति भास्करादिसिद्धान्तः। तत्र ब्रह्मज्ञानेन मोक्षफलोद्भावने न बाह्यकर्मणा नापि मानसकर्मणा समुच्चयोऽपेक्षित इति भाष्याशयः। तदुक्तं प्राक्—यदात्मैकत्वविज्ञानं तन्न केनचित् कर्मणा ज्ञानान्तरेण वा ह्यमूढः समुच्चिचीषतीति (पृ० १६०) ज्ञानान्तरेण=उपासनयेति व्याख्यातं प्राक्।

टीकायाम्—इति सम्बन्ध इति। अमृतशब्देनेति शेषपूरणं च वक्तव्यम्। भाष्ये उक्तायाः परमात्मविद्याया इति। सकलद्वैतबाधकत्वेन कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसर्वसंसारोपमर्दिकाया आत्मयाथात्म्यविद्याया इत्यर्थः। विरोधादिति। युक्ति-

❁ भाष्यम् ❁

विरोधस्तु नावगम्यते । विरोधाविरोधयोः शास्त्रप्रमाणकत्वात् । यथा अविद्यानुष्ठानं विद्योपासनं च शास्त्रप्रमाणकं तथा तद्विरोधाविरोधावपि । यथा च "न हिंस्यात् सर्वा भूतानी"ति

❁ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❁

सिद्धादित्यादिः । नावगम्यत इति । शास्त्रेणेति शेषः । शास्त्रेण नावगम्यतां विरोधो युक्त्या त्ववगम्यत इत्याशङ्क्य युक्तेः शास्त्रीयार्थाव्यवस्थापकत्वान्मैवमिति परिहरति—विरोधाविरोधयोरिति । यथाऽविद्यानुष्ठानमित्यादि । धर्मिवद्धर्मोऽपि शास्त्रगम्य एव ।

नन्वेवमुदिते जुहोति अनुदिते जुहोतीत्यादावपि विरोधो न स्याद् । उभयोः शास्त्रविहितत्वात् । न ह्युभयोर्विरोधः शास्त्रेणोक्तः । यथा हि "तद्यदिदमाहुः संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्याद् यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयतीति संवत्सरादपमृत्युजय एकाहादपमृत्युजय इति पक्षद्वये श्रुत्यैव विरोधः प्रदर्शितः, तद्वदिहापि प्रदर्शयितव्यो यदि विरोधः स्यात् । विरोधाभावे च विकल्पानुपपत्तिरिति चेन्न । होमे उदितकालिकत्वानुदितकालिकत्वयोः प्रत्यक्षतो विरोधात् । न हि प्रात्यक्षिको विरोधः शास्त्रेण वारयितुं शक्यः । प्रकृते तु न प्रत्यक्षिको विरोधः । किन्तु तार्किकः । ब्रह्मविद्या हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिकमुपमर्दयति इति कर्तृत्वादिपूर्वककर्मासंभव इत्ययं तर्कगम्यो विरोधः । न हि श्रुत्युक्तोऽर्थस्तर्केण शक्योऽपलपितुम् । तर्कस्य श्रुत्यपेक्षया दुर्बलत्वात् । न च ब्रह्मज्ञानिनां कर्तृत्वादिबुद्धिर्न भवतीति प्रत्यक्षत्वात्कर्तृत्वादिसहितकर्मणोऽपि प्रात्यक्षिक एव विरोधो न तु तार्किक इति वाच्यम् । ब्रह्मज्ञानस्याद्याप्यनुत्पन्नत्वात् । विरोधस्य प्रात्यक्षिकत्वे संशयस्यैवानुपपत्तेः । अन्यदीयब्रह्मज्ञानेन त्वनुमेय एव विरोधः । तत्र ब्रह्मज्ञानिनोऽपि बहुलं कर्मसु प्रवर्त्तमाना दृश्यन्ते "वर्त्त एव च कर्मणी"ति स्मृतेश्च । तस्मादन्ततस्तर्कमात्रमवशिष्यत इति । न हि तर्कमात्रेण श्रुतिबाधसंभवः ।

ननु ज्ञानिनां कर्माणि न कर्तृत्वाद्यनुसन्धानपुरःसराणि । द्वैतोपमर्दादेव । न हि क्रियामात्रं वयं व्यासेधामः । किन्तु ब्राह्मणत्वकर्तृत्वाद्यनुसन्धानपुरःसराणि कर्माण्येव । न ह्येकमेवाद्वितीयमिति सकलद्वैतनिषेधोत्तरमपि कर्तृत्वादिद्वैतप्रपञ्चसंभवः । तथा सति विरोधस्य दत्ततिलाञ्जलितापत्तेः । उदिते जुहोतीत्यादावपि विरोधाभावेन विकल्पो न स्यादित्यत आह—यथा चेति । न हिंस्यादिति शास्त्रं हिंसासामान्यं निषेधति । अध्वरे पशुं हिंस्यादिति च हिंसाविशेषं विधत्ते । तयो-

❁ भाष्यम् ❁

शास्त्रादवगतं पुनः शास्त्रेणैव बाध्यते "अध्वरे पशुं हिंस्यादि"ति, एवं विद्याविद्ययोरपि स्याद्। विद्याकर्मणोश्च समुच्चयः।

❁ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❁

विरोधे प्रसक्ते विरोधपरिहाराय अध्वरीयपशुहिंसातिरिक्तहिंसानिषेध एव न हिंस्यादिति निषेधविषय इत्युपगन्तव्यम्। एवं प्रकृतेऽपि 'एकमेवाद्वितीयम्' 'एकत्वमनुपश्यतः' 'नेह नानास्ति किंचने'त्यादिकं द्वैतसामान्यं निषेधति। ब्राह्मणो यजेत अग्निहोत्रं जुहुयादित्यादिकं च ब्राह्मणत्वकर्तृत्वादिकं द्वैतं प्रतिपादयति। तयोर्विरोधपरिहाराय कर्मोपयोगिब्राह्मणत्वकर्तृत्वाद्यतिरिक्तद्वैतप्रपञ्चो नास्तीत्येवमर्थः 'एकमेवाद्वितीयमित्यादेर्वक्तव्यः। एवं सति न विरोधः शास्त्रद्वयस्य। तदाह—एवं विद्याविद्ययोरपि स्यादिति। विद्या = द्वैतसामान्यप्रतिषेधात्मिका। अविद्या अग्निहोत्रकर्तृत्वादियत्किंचिद्द्वैतप्रतिपादनात्मिका। तयोरपि स्यात् = तयोरपि विरोधतत्परिहारव्यवस्था स्यात्। ततश्च किं? तत्राह—विद्याकर्मणोश्च समुच्चय इति। स्यादित्यनुवर्त्तते। यथा अहिंसाहिंसयोः समुच्चयोऽध्वरपशुहिंसास्थले। अध्वरपश्वितरहिंसाऽभावस्यैव अहिंसात्वात् एवं विद्याविद्ययोरपि समुच्चयः स्यात्। कर्मोपयोगिकर्तृत्वाद्यतिरिक्तद्वैतप्रपञ्चाभावज्ञानस्यैव विद्यात्वात्तया सह कर्तृत्वादिपुरःसरकर्मणः स्थितिसंभवादित्यर्थः। उदिते जुहोति अनुदिते जुहोतीत्यादौ विरोधपरिहारासंभवेन विकल्पाश्रयणम्। परं विकल्पाश्रयणमपि विरोधपरिहारायैव। युगपत्प्राप्तावेव विरोधेन विकल्पेन विरोधपरिहारात्।

ननु न हिंस्यात् सर्वाभूतानि अध्वरे पशुं हिंस्यादिति वाक्यद्वये विरोधः प्रतीयते। तत्परिहारार्थं न हिंस्यादिति वाक्यमध्वरीयपश्वितरविषयतया संकोच्यते इति दृष्टान्ते विरोधावगम एव स्थितस्तत्परिहारश्च कृतः। परं तु दार्ष्टान्तिके विरोधस्तु नावगम्यत इत्युच्यते। तदेवं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकविषया भाष्यग्रन्थोऽनुपपन्न इति चेद्? न। यतो न हिंस्यादित्यादिदृष्टान्तो न 'विरोधस्तु नावगम्यत' इत्याद्युक्तिं प्रति। किन्तु—एवं विद्याविद्ययोरपि स्यादित्युच्यमान एव दार्ष्टान्तिकः। तथा चात्रेदं भाष्यतात्पर्यम्:—द्विविधो विरोधः। अपरिहरणीयः परिहरणीयश्च। यत्र विरोधः तात्पर्येण तात्पर्यान्यथानुपपत्त्या वा प्रतीयते सोऽपरिहरणीयः शास्त्रीयवस्तुनोः। यथा "यद्यथेषीकतूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवꣳ हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोती" त्यत्र पाप्मनामुपासनाविशेषविशिष्टाग्निहोत्रस्य च तात्पर्यान्यथानुपपत्त्या विरोधः प्रतीयते। सोऽपरिहरणीयः। यत्र च वाक्यार्थयोर्विरोधेन प्रामाण्यानुपपत्तिः स विरोधः परिहरणीयः। यथा 'यजतिषु येयजामहं

❀ भाष्यम् ❀

न । "दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्ये"ति श्रुतेः । "विद्यां चाविद्यां च" इति वचनादविरोध इति चेन्न

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

शास्त्रीययोर्ज्ञानकर्मणोर्विरोधाविरोधौ शास्त्रीयावेव ग्राह्यौ, न तर्कमात्रेणेति परेणोक्ते सिद्धान्ती शास्त्रसिद्ध एव विरोध इत्याह—न, दूरमेते इति । विषूची= नानागती विद्याविद्ये दूरं विपरीते = अतिशयेन विरुद्धे इत्यर्थः ।

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

करोति नानुयाजेषु' 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाती'ति । तत्र ज्ञानकर्मणोर्न प्रथमो विरोधः । शास्त्रेण तात्पर्यतया विरोधाऽप्रतिपादनात् । तदाह विरोधस्तु नावगम्यत इत्यादि । द्वितीयविरोधस्तु संभवति । स तु न हिंस्यादित्यत्रेव परिहरणीय इति न समुच्चयानुपपत्तिरित्याह—यथा चेत्यादि ।

एवं चात्र परिहरणीयविरोधप्रदर्शनस्य समुच्चयनिरासाऽप्रयोजकत्वात् शास्त्रतात्पर्यतदन्यथानुपपत्त्यन्यतरसिद्धविरोध एव प्रदर्शनीयः । न हि तादृश शास्त्रमस्ति यस्य तात्पर्येण तात्पर्य न्यथानुपपत्त्या वा ज्ञानकर्मणोर्विरोधः सिद्ध्यतीति पूर्वपक्षे प्रस्तुते अस्ति तावच्छास्त्रं तात्पर्येण विरोधप्रतिपादकमित्याशयेन सिद्धान्ती प्रक्रमते—न दूरमेते इति ।

तमेतमर्थं संक्षिप्याह- टीकाकारः—शास्त्रीययोरित्यादि । प्रकाशान्धकारयोः प्रत्यक्षसिद्धयोः प्रत्यक्षतो विरोधो गृह्यते इति शास्त्रीययोरित्युक्तम् । शास्त्रमात्रसिद्धयोरित्यर्थः । शास्त्रीयावेवेति । शास्त्रतात्पर्यतदन्यथानुपपत्त्यन्यतरसिद्धावित्यर्थः । न तर्कमात्रेणेति । अन्यथा यजतीनामनुयाजानां च परस्परविरोधः कल्प्येत । यजतीनां येयजामहविशिष्टत्वात् । अनुयाजानां तद्विरहित्वात् । तथा चानुयाजानां यजतित्वमेव न स्यात् । यजतित्वानुयाजत्वयोर्विरुद्धवस्तुद्वयनिष्ठत्वात् शैत्यत्वोष्णत्ववद् । शास्त्रसिद्ध एव=शास्त्रतात्पर्यसिद्ध एव । विष्वगञ्चत इति विषूची ।

विद्यां चाविद्यां चेति वचनादविरोध इति चेन्न विरोधाविरोधयोर्विकल्पासंभवादिति भाष्यम् । दूरमेते विपरीते इति श्रुतिर्विरोधमाह उभयं सहेति श्रुतिरविरोधमाहेत्यन्तरमात्रस्य प्रामाणिकत्वं स्वीकर्तुमशक्यमिति शास्त्रद्वयविरोधे विकल्प एव भवति यथाऽतिरात्रे षोडशिग्रहणाग्रहणयोः । न वा प्रकृते विकल्पस्याप्यवसरः । साध्यस्यैव विकल्पसंभवात् । सिद्धवस्तुनि विकल्पायोगात् । न ह्यनिरुष्णोऽनुष्णश्च विकल्पेन भवति । ननु कालभेदाश्रयभेदादिना विरुद्धयोरपि समावेशो

❀ भाष्यम् ❀

[हेतुस्वरूपफलविरोधाद्विद्याविद्या]विरोधाऽविरोधयोर्विकल्पासंभवाद्

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

भवति। यथाऽऽमघटे श्यामवर्णः पक्वघटे रक्तवर्णः। वर्णद्वयस्य परस्परविरुद्धत्वेऽपि कदाचिच्छ्यामत्वं कदाचिच्च रक्तत्वं भवति। एवं कदाचिद्विद्याविद्ययोर्विरोधः कदाचिदविरोध इति भवितुमर्हति। किं च कश्चिद्घटः श्यामः अपरो रक्त इत्येककालेऽपि भवति। तथा विद्यादिव्यक्तीनां भिन्नत्वात् केचिद्विद्याविद्ये विरुद्धे इत्यपि कुतो न स्यादिति चेन्न। अग्निसंयोगपूर्वं श्यामस्तदुत्तरं रक्त इति कालविशेषनियन्त्रणवदत्र कालविशेषनिमानवगमात्। कस्मिन् काले विद्याविद्ययोरविरोधः कदा च विरोध इति दुर्निर्वचम्। एवं व्यक्तिविशेषनिर्वचनमपि। न च काठकाध्येतृनिष्ठविद्याविद्याव्यक्त्योर्विरोधः ईशावास्याध्येतृनिष्ठविद्याविद्ययोरविरोध इति वाच्यम्। यतो विरोधो हि सिद्धवस्तुत्वात्केवलं शास्त्रेण ज्ञाप्यः। न तु साध्यः। ज्ञाप्यश्च विरोधः कारणविशेषप्रयुक्त एव भवति। तेषु कारणेषु सत्सु वचनशतमपि न विरोधं परिमाष्टुमीष्टे। यथाश्वत्वगोत्वे स्वरूपतो विरुद्धे। न हि तयोर्विरोधमश्वत्वं गोत्वं चैकत्र विद्यादिति वचनं परिमार्ष्टि। यथा चाम्रफलपनसफलयोरेकत्रोत्पत्तिर्विरुद्धा। कारणविरोधात्। यथा च पुण्यपापयोः फलविरोधेन विरोधः। प्रकृते च कर्म ज्ञानं च स्वरूपतो विरुद्धम्। हेतुतश्च। कर्तृत्वाद्यभिमानसद्भावासद्भावप्रयुक्तत्वात्। फलं च बन्धमोक्षाविति। तस्माद्धेतुस्वरूपफलविरोधप्रयुक्तोऽयं विद्याकर्मणोर्विरोधः 'दूरमेते' इत्यादिश्रुत्या ज्ञाप्यते न तु कार्यते। स च विरोधः कथं यस्तद्वेदोभय सहेति श्रुत्या मार्जयितुं शक्यते। न च हेतुस्वरूपफलानि कादाचित्कानि येन विरोधस्य कादाचित्कत्वं स्यात्। श्यामरक्तघटदृष्टान्तस्तु विषमः। अग्निसंयोगसद्भावासद्भावकालविशेषाभ्यां श्यामरक्तोभयोपपत्तेः। न ह्येवं कर्मणि कदाचित्कर्तृत्वाद्यभिमानजन्यत्वं कदाचिदतथाविधत्वमिति शक्यं स्वीकर्तुम्। न वा व्यक्तिविशेषेण तत्त्वम्। कस्यचित्कर्म कर्तृत्वाद्यभिमानजन्यमपरस्यातथाविधमिति भेदविरहात्। तस्मात्सिद्धार्थकथने यदि वचनद्वयविरोधः स्यात्तदाऽन्यतरवचनस्यार्थान्तरत्वमेव स्यात्। सिद्धार्थप्रयोजककारणसमवधानवति तदर्थप्रतिपादकवचनं स्वार्थतात्पर्यकमपरमन्यार्थकमिति व्यवस्था तत्र कर्तव्या स्यात्।

ननु 'दूरमेते विपरीते' इति श्रुतिर्विरोधमभिधत्ते। 'विद्यां चाविद्यां च'त्येषाऽविरोधम्। तत्र विरोधाविरोधयोः सिद्धयोर्विकल्पायोग इति मतं तथैवास्तु। अन्यतरश्रुतेरर्थान्तरतेत्यपि तथैवास्तु। परं तु कतरस्याः स्वार्थतात्पर्यं कतरस्या अन्यार्थतात्पर्यमिति निर्णयोऽवशिष्यते। तत्राविरोधप्रतिपादकश्रुतिरेव स्वार्थतात्पर्यवतीति युक्तम्। कुत इति चेद् ? विधिरूपत्वादिति ब्रूमः। 'दूरमेते विपरीते इति' श्रुतिरर्थवादात्मिका। यस्त-

❀ भाष्यम् ❀

समुच्चयविधानादविरोध इति चेन्न। सहसंभवानुपपत्तेः।

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

सहसंभवानुपपत्तेरिति। काऽनुपपत्तिः? काठके विधिश्रवणात्तद्गत-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

द्वेदोभयं सहेतिश्रुतिर्विधिरूपिणी। तत्रार्थवादस्यान्यतात्पर्यकत्वं प्रसिद्धम्। न तु विधेः। 'न विधौ परः शब्दार्थ' इति सिद्धान्तात्। यत्तूक्तं हेतुस्वरूपफलविरोधाद्विरोध एवेति तन्न। मलयोत्पन्नचन्दनस्य हिमालयोत्पन्नगङ्गाजलस्य च शिवपूजने समुच्चयात्। स्वरूपं च तयोर्विरुद्धम्। यद्यपि तत्र फलभेदो नास्ति। प्रकृते ज्ञानस्य कर्मणश्च विरुद्धं बन्धनमोक्षणात्मकम् फलम्। तथापि तदेतदसमुच्चयवादिमते एव। समुच्चयवादिनां मते फलैक्यात्। तथा चाविरोधपक्ष एव बलीयानिति शङ्कते—समुच्चयविधानादविरोध इति चेदिति। विद्यां चाविद्यां चेत्यस्य विधिरूपत्वाद् ज्ञानकर्मणोरविरोधपक्ष एव सिद्धयति न तु दूरमेते विपरीते इत्यार्थवादिकविरोधपक्ष इत्यर्थः। चन्दनगाङ्गसलिलयोः सहावस्थानदर्शनाद् हेतुस्वरूपविरोधेऽपि भवति अविरोधः समुच्चयश्च। प्रकृते तु ज्ञानकर्मणोः सहावस्थानमेवासंभवीति नाऽविरोधो न वा समुच्चयः। एकस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसकलसंसारधर्मोपमर्दनपूर्वत्वात्, अपरस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसकलसंसारधर्मपूर्वकत्वात्। न चैकमेवाद्वितीयमित्यादिश्रुतौ कर्तृत्वाद्यतिरीक्तद्वैतशून्यत्वमेवाभिधीयत इति वाच्यम्। संकोचे मानाभावात्। षड्लिङ्गादिभिः श्रुतितात्पर्यस्य निर्णीतस्यान्यथयितुमशक्यत्वात्। द्वैतस्य मिथ्यात्वे दृश्यत्वादिकं हि प्रयोजकं, तस्य कर्तृत्वादावप्यविशिष्टत्वेन कर्तृत्वादेरपि बाधस्य दुरुद्धरत्वात्। न हि वचनं जगन्मृषा करोति। किन्तु जगतो मृषात्वं ज्ञापयति। मृषात्वं च किंचित्प्रयुक्तम्। तच्च प्रयोजकं दृश्यत्वादि। तस्य कर्तृत्वादावपि समानत्वे कथंकारं वचनं कर्तृत्वादीतरद्वैतमात्रमिथ्यात्वं नियमयितुं प्रभवति। तथा च कर्तृत्वादिसकलद्वैतमिथ्यात्वे सिद्धे ज्ञानं सर्वद्वैतशून्यकालीनं भवति, कर्म च कर्तृत्वादिसमस्तद्वैतसमकालीनमिति रज्जुज्ञानसर्पज्ञानयोरिव तयोरेककाले सहसंभव एवासंभावित इति कथमविरोधः, कथं च समुच्चयः संभावयितुमपि शक्य इति समाधत्ते—सहसंभवानुपपत्तेरिति।

सहसंभवानुपपत्तेरिति भाष्ये हेतुर्न स्फुटः। शास्त्रविरोधाद्वा युक्तिविरोधाद्वा सहसंभवानुपपत्तिरिति पूर्वोक्तमपि शङ्कासमाधानमितः परं योजयन् सहसंभवानुपपत्तिं स्पष्टयितुं टीकाकारस्तदेव प्रतीकतयोपादत्ते—सहसंभवानुपपत्तेरितीति। तत्राक्षिपति—काऽनुपपत्तिरिति। अनुपपत्त्याक्षेपोयमयुक्तः। काठके परस्परविरोधश्रवणस्योक्तत्वादित्यत आह—काठक इति। तद्गतेति। तथा च विद्या-

❁ आनन्दगिरीय टीका ❁

विद्याविद्ययोर्विरोधोऽस्तु, इह त्वविरोधश्रवणादविरोधो भविष्यतीति न वाच्यम्। विरोधाविरोधयोः सिद्धत्वेन विकल्पासंभवात्। उदितानुदितहोमयोर्हि पुरुषतन्त्रत्वाद् युक्तो विकल्प इत्युक्तम्। तर्ह्यविरोध एवास्तु समुच्चयविधिबलादिति चेन्न। मुख्यब्रह्मविद्याऽविद्ययोः शुक्तिविद्याऽविद्ययोरिव सहसंभवानुपपत्तेः समुच्चयविधिरसिद्धः।

❁ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❁

विद्याव्यक्तिभेदाच्छाखाभेदाद्धोमयमुपपद्यत इति भावः। प्रत्यभिज्ञानेन विद्याविद्याव्यक्तिभेदोऽसिद्धः, अत एव शाखाभेदोऽप्यकिंचित्कर इति समाधत्ते—इति न वाच्यमिति। तर्हि भवतु विकल्प एव श्रुतिद्वयविरोधे विकल्पस्याश्रयणीयत्वादित्यत आह—विरोधाविरोधयोः सिद्धत्वेनेति। कथं तर्हि उदिते जुहोति अनुदिते जुहोतीत्यत्र विकल्पः? तत्रापि होमस्य शास्त्रेण सिद्धत्वादित्याशङ्क्यात्र सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यां पुरुषतन्त्रत्वतदभावयोर्विवक्षणान्नैवमिति परिहाति—उदितानुदितहोमयोरिति। पुरुषतन्त्रत्वात्-पुरुषप्रवृत्त्यधीनत्वात्। युक्तो विकल्प इति। पुरुषतन्त्रे पुरुषेण कर्तुमकर्तुं वा शक्यत्वादिच्छानुसारेणोदितहोमो वाऽनुदितहोमो वा स्यादिति विकल्पः संभवति। विरोधस्तु शास्त्रप्रमाणको वस्तुस्वभावसिद्धो न पुरुषप्रवृत्त्यधीन इति स्वेच्छया पुरुषेण कर्तुमकर्तुं वाऽशक्यत्वान्न तद्विकल्पसंभव इति भावः। ननु विद्याविद्ययोरेकत्र विरोध उक्तोऽपरत्राविरोधः। तत्र विरोध एव युक्त इति कथं निश्चीयतेऽविरोध एव किं न स्यादिति शङ्कते—तर्हीति। एवं तर्ह्यविनिगमना स्यादिति शास्त्रनिश्चयो न स्यात्, तस्मात्प्रत्यक्षतो यदुक्तं तदुपेयम्, दूरमेते विपरीते इति च प्रत्यक्षतो विरोधं ब्रूते विद्यां चाविद्यां चेति अविरोधः कल्प्य इति विरोधपक्षस्यैव ज्यायस्त्वं स्यादित्यत आह-समुच्चयविधिबलादिति। तथा च विध्यन्यथानुपपत्त्याऽविरोध एव सिद्ध्यति न तु साक्षादुक्तोऽप्यार्थवादिको विरोध इति भावः। अधुना सहसंभवानुपपत्तेरिति भाष्यार्थं स्फुटयति—मुख्येति। उपासनासमुच्चयस्येष्टत्वान्मुख्यत्वविशेषणम्। ज्ञानकर्मणोरित्यर्थः। शुक्तिविद्याविद्ययोरिवेति। शुक्तिज्ञानरजतयोरिवेत्यर्थः। तेनोदाहरणसंगतिः। आत्मयाथात्म्याऽज्ञाननिबन्धनानि हि कर्तृत्वाद्यध्यारोपपुरःसराणि कर्माणि, यथा शुक्त्यविद्यानिबन्धनं रजतमिति शुक्तिज्ञानरजतयोरिवात्मज्ञानकर्मणोरपि सहसंभवो न संभवतीत्यर्थः। विध्यन्यथानुपपत्त्या सहसंभवं कल्पयिष्यामः, यथा कार्यकारणभावान्यथानुपपत्त्या कारणनाशेऽपि क्षणं कार्यावस्थानं तार्किकाणां, तथा मूलाज्ञाननिवृत्तावपि किंचित्कालं कर्तृत्वाद्यध्यासावस्थानं स्यादित्यत आह—समुच्चयविधिरसिद्ध इति। यदि समुच्चयविधिबलात्सहसंभवः कल्प्येत तदा

भाष्यम्

क्रमेणैकाश्रये स्यातां विद्याविद्ये इति चेद्? न विद्योत्पत्तावविद्या

❁ आनन्दगिरीय टीका ❁

सिद्धे समुच्चयविधौ तद्बलादविरोधावगमः, अविरोधावगमाच्च समुच्चय सिद्धिरित्यन्योन्याश्रयः स्यादित्यर्थः।

सहसंभवानुपपत्तावपि क्रमेणैकाश्रये विद्याविद्ये स्यातामिति चेद्? यदि पूर्वमविद्या पश्चात्तु विद्येति क्रमः, तर्हीष्यत एव। यदि पश्चात् तर्ह्यसंभव इत्याह—न विद्योत्पत्ताविति। पूर्वसिद्धाया अवि-

❁ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❁

सहसंभवप्रयुक्तसमुच्चयविधिरसिद्धः स्यात्। सहसंभवस्य पूर्वमसिद्धेः। यदि च पूर्वमसिद्धस्यापि सहसंभवस्य समुच्चयविधिना सिद्धौ सत्यां प्रयोजकत्वमुपेयेत तदान्योन्याश्रयदोष इत्याह—सिद्धे इति।

ननु समुच्चयविध्यन्यथानुपपत्त्या सहसंभवं वयं कल्पयामः। लौकिकयुक्त्या च भवान् सहसंभवाभावं साधयति। तत्र लौकिकयुक्त्यपेक्षया विध्यन्यथानुपपत्तेर्बलीयस्त्वात् सहसंभवसिद्धिः। न च सहसंभवप्रयुक्तः समुच्चयविधिरित्यन्योन्याश्रयस्योक्तत्वात्समुच्चयविधिरेवासिद्ध इति वाच्यम्। श्रुतेरन्यसापेक्षत्वे निरपेक्षत्वलक्षणस्वतःप्रामाण्यभङ्गापत्तेरिति चेन्न। य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजत इत्यादाविव यदादिपदेन विधिशक्तेः क्षीणत्वाद् यस्तद्वेदेत्यत्रापि विधिः कल्प्य एव भवति फलोक्तेः। तथा च विधेः सहसंभवप्रयुक्तत्वाभावेऽपि विधिकल्पनायाः सहसंभवप्रयुक्तत्वं दुर्वारमेव। कल्पनाया अनुमानात्मकत्वेन सहानुष्ठानविधिपूर्वकत्वानुमाने साध्यतावच्छेदकाऽप्रसिद्धेरनुमित्यनुपपत्तेः।

समसमुच्चयविरहेऽपि क्रमसमुच्चयो भवितुमर्हतीति शङ्कते भाष्ये—क्रमेणेति। अत्र प्रथमं कर्म पश्चाज्ज्ञानमिति न चोदयितुरभि-प्रायः। कर्मणो ज्ञानहेतुताया विविदिषन्ति यज्ञेनेत्यादिश्रुतेः सर्वसम्मतत्वात्। किन्तु ज्ञानानन्तरं कर्मेत्येव। मोक्षं प्रति कर्मापि कारणमिति तदभ्युपगतेः। तमेतं प्रच्छन्नाभिप्रायं शब्दाडम्बरेण परानङ्गीकारयितुकामस्य हृदयं स्फोरयन्निराचष्टे—न विद्योत्पत्ताविति। एतेन क्रमसमुच्चयशङ्किनः पूर्वं विद्या पश्चादविद्येति पक्ष एव कुतो भाष्यकृता निरस्तः, पूर्वं कर्म पश्चाज्ज्ञानमिति पक्षस्यापि क्रमशब्दलभ्यतया व्याख्येयत्वाददिति परास्तम्। पूर्वं कर्म पश्चाद्विद्येति पक्षस्य भास्करेणानुपक्षेपणीयत्वाद्। टीकाकारस्तु पूर्वं कर्म पश्चाद्विद्येति क्रमो भाष्यकृता कुतो न स्पृष्ट इति मन्दाशङ्कानिवृत्तये तं पक्षमुत्थाप्य यदि पूर्वमविद्येत्यादिना इष्टापत्त्या तन्निरासः कृत इति ध्येयम्।

पूर्वमविद्या पश्चात्तु विद्येति क्रमस्तर्हीष्यत एवेति टीका। नन्वेवं सति

❀ जयमङ्गलाचार्यं विवरणम् ❀

तथैवार्थो विद्यां चाविद्यां चेत्यादेः कुतो नादृतः ? विद्यापदस्य मुख्यार्थत्वसंभवे उपासनार्थत्वं किमित्यादरणीयम् ? न च विद्यायाः प्रधानत्वेन प्रधाननिन्दानुपपत्तिरिति वाच्यम्। क्वचित्साधनप्रशंसार्थं प्रधानस्यापि निन्दादर्शनात्। यथा अस्य मन्त्रिणः सकाशे राजापि न किञ्चित् प्रभवतीति। यथा च गीतायां—"तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः" इत्यादि। अशुद्धान्तःकरणानां कर्मणि प्रवर्त्तनार्थं कर्मप्रशंसापर्यवसायित्वाद्विद्यानिन्दायाः। "को वेदामुत्रास्ति न वे"त्येवं परमफलनिन्दया प्रधाननिन्दाया अपि गम्यत्वात्तत्रापि यथोक्तसमाधेरेव वक्तव्यत्वादिति चेद् ? अत्र वदन्ति। इष्यत एवेति टीकया एवमप्यर्थो मन्त्राणां स्वीकुर्म एवेति द्योत्यते। अत एव ऐतरेयभाष्ये "तपआदि विद्योत्पत्तिसाधनं गुरूपसदनादि च कर्माविद्यात्मकत्वादविद्योच्यते। तेन विद्यामुत्पाद्य मृत्युं काममतितरति। ततो निष्कामस्त्यक्तैषणो ब्रह्मविद्ययाऽमृतत्वमश्नुत इत्येतमर्थं दर्शयन्नाह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुत" इत्युक्तम्। एवं तैत्तिरीयभाष्येऽपि—"केवलब्रह्मविद्यारम्भाच्च पूर्वं कर्माण्युपन्यस्तानी"त्युपक्रम्य "विद्योत्पत्त्यर्थानि कर्माणीति, मन्त्रवर्णाच्च 'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुत' इती"ति। एवमन्यत्रापि।

अन्ये तु तैत्तिरीयभाष्यादौ नेशावास्योपनिषद्गतमन्त्र उदाहृत्य व्याख्यातः। किन्तु मैत्रायणीगतः। तत्र हि विद्यापदस्य मुख्यब्रह्मज्ञानार्थकत्वं निश्चितमेव। "इत्येवं ह्याह—दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवो लोलुपन्ते॥ विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते। अविद्यायामन्तरे वेष्टयमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" इति हि मैत्रायण्यामुक्तम्। तत्र पूर्वोत्तरोदाहृतमन्त्रयोरनुसारेण मध्यगतमन्त्रस्थविद्यापदस्य मुख्यब्रह्मविद्यार्थत्वं निश्चितमेव। न च भाष्ये मन्त्रवर्णाच्चेति मन्त्रत्वोक्त्या न मैत्रायण्युपनिषदुदाहरणमिति वाच्यम्। इत्येवं ह्याहेति मैत्रायण्यां मन्त्रोदाहरणात्। काठकगतयमनचिकेतःसंवादस्य प्रथमे स्पष्टत्वात्। न चैवमीशावास्यगतमन्त्रस्यैव तत्रोदाहरणात्तत्र विद्यापदस्य मुख्यब्रह्मविद्यार्थकत्वे इहापि स एवार्थो न्याय्यः स्यादिति वाच्यम्। प्रकरणान्तरस्थत्वेनार्थभेदस्य संभवात्। श्रुतेरधिकपर्यनुयोगायोग्यत्वाच्च। वेदानामानन्त्येनान्यगतमन्त्रोदाहरणस्यापि संभवाच्चेत्याहुः।

❀ भाष्यम् ❀

या ह्यस्तत्वात्तदाश्रयेऽविद्यानुपपत्तेः नह्यग्निरुष्णः प्रकाशश्चेति

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

द्यायाः प्रध्वस्तत्वाद्, अन्यस्याश्चोत्पत्तौ कारणासंभवाद् मूलाभावेन

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

परे तु इयं व्याख्यायमानोपनिषत् काण्वशाखागता। अत्र विद्याविद्यापदाभ्यां ज्ञानकर्मणी विवक्षिते। तैत्तिरीयादावुदाहृतस्तु माध्यन्दिनशाखागतो मन्त्र एव। तत्र च विद्यापदस्य मुख्यब्रह्मविद्यार्थकत्वान्नानुपपत्तिः। ननु तत्रापि स पर्यगादित्यन्तं ज्ञानप्रकरणं ततः प्रकरणान्तरमिति कथं विद्यापदस्य मुख्यब्रह्मविद्यार्थकत्वमिति वाच्यम्। तत्र प्रकरणविभागविरहात्। काण्वशाखायामुपक्रमोपसंहारवैषम्येण प्रकरणभेद उपेयते। न पुनर्माध्यन्दिनशाखायामुपक्रमोपसंहारवैरूप्यमस्ति। तत्र हि चरमो मन्त्रः—"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्। ओं खं ब्रह्म"॥ इति पठ्यते। तत्र ओं खं ब्रह्मेत्यनेनोपाक्रान्तस्यैवेशस्य ब्रह्मण उपसंहारः। न चैवमुपक्रमोपसंहारैक्येऽपि अभ्यासादौ संशयः अनेजदेकं तदेजति तन्नैजतीत्यादिरभ्यासो वा कुर्वन्नेव यस्तद्वेदोभयं सहेत्यभ्यासो वा। तथा नैनद्देवा आप्नुवन् इति वा सत्यस्यापिहितं मुखमिति वाऽपूर्वता। तत्र को मोह इत्यादि वा फलम् अमृतमश्नुते सुपथा नयेत्यादिवेत्यादीनां बहूनां संशयास्पदत्वादिति वाच्यम्। उपक्रमोपसंहारयोर्मुख्यत्वेन तदैक्यसिद्धावन्यत्राऽसरत्संशयस्याभ्यासादिसंशयानुपपत्तेः। अभ्यासेन ह्यर्थभूयस्त्वं गम्यते न त्वपूर्वार्थम्। ज्ञातस्यैवार्थस्य दार्ढ्यमिति यावत्। एवमपूर्वत्वादावपि। तस्मान्माध्यन्दिनशाखायामेकप्रकरणत्वसिद्धेस्तत्र विद्यापदस्य रूढार्थमुख्यब्रह्मविद्यापरकत्वमुचितमिति तैत्तिरियादौ विद्यां चाविद्यां चेत्यादेः कर्मब्रह्म विषयोः क्रमिकसमुच्चयपरतया व्याख्यानमुचिततरमेव। माध्यंदिनशाखायां विद्यापदस्य ब्रह्मविद्यार्थकत्वे निश्चिते च सति तत्रैव ज्ञानकर्मणोः समसमुच्चयाशङ्का समुदेतीति तन्निराकरणार्थं तत्रत्यमन्त्रमुद्धृत्य क्रमसमुच्चयपरतया योजनं च तत्र तत्रोपपन्नतरमेव। तथा च कुतः काण्वशाखोपनिषद एव भाष्यं विरचय्य भाष्यान्तरेषु माध्यन्दिनशाखास्थमन्त्रोदहरणमात्रमब्रवीद्भाष्यकार इत्यादिपूर्वपक्षाणामनुदय एवेति सर्वमुपपन्नमिति प्राहुः। अधिकमग्रे वक्ष्यामः।

विद्योत्पत्तावविद्याया ह्यस्तत्वादिति भाष्यम्। नन्वविद्याया अस्तमनेऽपि पुनरुदयसंभवात्कुतो न पश्चादविद्याया असंभवः। रज्जुज्ञानसमनन्तरमपि कालान्तरे रज्ज्वज्ञानतत्प्रयुक्तसर्पादिदर्शनादित्यत आह टीकायां—अन्यस्याश्चोत्पत्तौ कारणासंभवादिति। अनादिरियमविद्या न कारणजन्या। तथा च कारणविरहान्-

❀ भाष्यम् ❀

विज्ञानोत्पत्तौ यस्मिन्नाश्रये तदुत्पन्नं तस्मिन्नेवाश्रये शीतोऽग्निर-प्रकाशो वेत्यविद्याया उत्पत्तिर्नापि संशयोऽज्ञानं वा। यस्मिन्

❀ आनन्दगिरिय टीका ❀

भ्रमसंशयाग्रहणानामपि विदुषोऽनुपपत्तिरित्यर्थः। विद्योत्पत्तौ मा भूदविद्या, कर्म तु भविष्यति, विदुषोऽपि व्याख्यानभिक्षाटनादिदर्शना-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

ष्टायाः पुनरुत्पादो न संभवितुमर्हति। ननु नष्टाया अपि रज्ज्वविद्यायाः पुनरुत्पादो दृष्ट इति कथमेवमुच्यते। न चात्रस्थाऽज्ञानानामुत्पादविनाशशालिनामुपगमाद्रज्ज्व-ज्ञानपुनरुत्पत्तिसंभव इति वाच्यम्। तत्रापि कारणस्य निर्वक्तुमशक्यत्वदिति चेदत्राहुः। वृत्तिज्ञानेन नष्टायामविद्यायां पश्चाद्वृत्तिविनाशे सति मूलाऽविद्यैवा-वस्थाऽज्ञानमुत्पादयिष्यतीति तत्राज्ञानान्तरोपपत्तिः। न च मूलाज्ञानं निरपेक्षमव-स्थाज्ञानं जनयेत्तदाऽनन्ताऽज्ञानोत्पादापत्तिः, किंचित्सापेक्षत्वे तदेवाज्ञानकारण-मास्तां किं मूलाज्ञानेनेति वाच्यम्। तत्तदज्ञानस्येतरोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वात्। अत एवैकघटोत्पत्तौ नतत्रैव घटान्तरोत्पादः। यद्वा वृत्तिज्ञानेनाज्ञानापसरणमात्रं न तु विनाशः। वृत्त्यपेतौ च पुनरज्ञानप्रसरः इत्याद्यन्यत्र विस्तरः।

न ह्यग्निरित्यादिभाष्यतात्पर्यमाह—मूलाभावेनेत्यादि। **भ्रमसंशयाऽग्रह-णानामपि विदुषोऽनुपपत्तिरिति।** किमर्थमिदं साध्यते? न च विद्योत्पत्त्य-नन्तरं कर्म न भवतीत्येतदुपपादनार्थमिति वाच्यम। विद्योत्पत्तौ तु मा भूदविद्या कर्म तु भविष्यतीति पुनः शङ्किष्यमाणत्वेनात्र कर्मानुपपत्तिप्रदर्शनपरत्वासिद्धेरिति चेन्न। दुःखादीनां भ्रमसंशयादिनिबन्धनत्वेन तदनुपपत्तौ शोकमोहाद्यनुपपत्तेः कर्मणः प्रयोजनाभावमपि सूचयितुं भ्रमाद्यभावसाधनोपपत्तेः। तदाह भाष्यं—यस्मिन्सर्वाणि भूतानीत्यादि। किं च कर्मोत्पत्तौ भ्रमादिकमपि निमित्तं कारणम्। अकर्त्र-भोक्त्रात्मनि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिभ्रमस्य क्वचित् संशयस्यात्मयाथात्म्याग्रहणस्य च कर्महेतुत्वात्। न चैवं निमित्तविरहेणैव कर्माप्रसक्तौ 'विद्योत्पत्तौ मा भूदविद्या कर्म तु भविष्यती'ति ग्रन्थानुत्थानमेवेति वाच्यम्। व्याख्यानभिक्षाटनादिदृष्टान्तेन भ्रमादीनां कर्मनिमित्तकारणत्वाभावं यत्किंचिद्भ्रमादिसद्भावं वा विवक्षित्वा विद्योत्पत्ताविल्यादि-ग्रन्थोत्थानात्। अथ वा भ्रमादिकं बन्धनप्रयोजककर्म कामं भवेत्, मोक्षप्रयोजक-कर्मणि भ्रमादिकं न निमित्तकारणमित्याशयेन विद्योत्पत्ताविल्यादिपूर्वपक्षः। व्याख्यानभिक्षाटनादिदृष्टान्तो विषमः। तेषां कर्मत्वविरहात्। कर्मत्वं नाम चोद-नाविषयत्वम्। न हि चोदनया व्याख्यानादौ प्रवर्त्तन्ते विद्वांसः। किन्तु क्वचिद्दयया क्वचित्प्रारब्धवशात्। अहैतुकदयासिन्धवो हि महान्त इति ब्रह्म व्याचक्षते ते जिज्ञा-

❀ भाष्यम् ❀

सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत इति शोकमोहाद्यसंभवश्रुतेः। अविद्याऽसंभवा-

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

दिदर्शनादित्याशङ्क्याह—अविद्यासंभवादिति। चोदनाप्रयुक्तानुष्ठानं हि कर्म ज्ञानेन सह तव समुच्चिचीषितम, ब्रह्मात्मैकत्वं तु साक्षादनुभवतो न चोदना संभवति, कामाभावात्, कामिनो हि सर्वाश्चोदनाः। "अकामिनः क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कस्यचिद्। यद्यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्" इति स्मरणात्। विद्वच्छरीरस्थितिहेत्वविद्यालेशा-

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

सुभ्यः। भिक्षाटनादिकं प्रारब्धवशात्। भवांस्तु चोदनाविषयाग्निहोत्रादिकर्मसमुच्चयेन ज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वमभिदधातीति स्पष्टं वैषम्यमित्याशयेनाह—चोदनाप्रयुक्तानुष्ठानं हीत्यादि। हिकारेण प्रारब्धादिप्रयुक्तकर्मव्युदासः। तव समुच्चिचीषितमिति। अतथाविधकर्मणां स्वयमेव जायमानत्वेन समुच्चयोक्तिवैयर्थ्यादिति भावः। चोदनाबलादेव तर्ह्यग्निहोत्रादौ प्रवर्ततां विद्वानित्यत आह—ब्रह्मात्मैकत्वमिति। कामाभावादिति। स सर्वान् कामानाप्नोतीति श्रुतेराप्तकामत्वाद्विदुषः। ननु अहरहः सन्ध्यामुपासीतेत्यादौ स्वर्गकामादिपदविरहात् कामाभावे चोदनाऽसंभवोऽनुपपन्न इत्यत आह—कामिनो हीति। सन्ध्यावन्दनादिकर्मणामपि कर्मणा पितृलोक इत्यादिश्रुतिप्रदर्शितफलमस्त्येवेति तत्रापि काम उपपद्यते। ननु 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं' 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु'त्यादिस्मृतेरकामिनोऽपि संभवति चोदनेत्याशङ्कायामनुभवोपोद्वलितां महाभारतस्मृतिं कामनासद्भावे प्रमाणयति—अकामिन इति। त्यक्त्वा कर्मफलसङ्गमित्यादिकं तूत्कटकामत्यागाय प्रयत्नः कर्त्तव्य इत्येतत्परकम्। न च कामाभावासंभवे तदर्थप्रयत्नोपदेशो विफल इति वाच्यम्। उत्कटकामाभावस्य प्रयत्नसाध्यत्वात्। यद्वा कर्मणः प्रसिद्धं यत्पितृलोकस्वर्गलोकेहलोकादिफलं तदासक्तिं परित्यज्य विविदिषार्थं कर्म कर्त्तव्यमित्यर्थः। जातायां विद्यायां च विविदिषाविषयककामाभावान्न तदर्थापि प्रवृत्तिरुपपद्यत इति भावः। अत एव 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यत' इति योगारूढशब्दोक्तज्ञाततत्त्वस्य सर्वकर्मपरित्यागात्मकं शममाह स्म भगवान्। भिक्षाटनादिमुपपादयति—विद्वदिति। स्थितिहेत्विति। 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य' इति श्रुतेः। प्रत्यक्षा च विदुषोऽपि शरीरस्थितिः। अविद्यालेशेति। तं संस्कारं केचिदाचक्षते। अन्ये विक्षेपशक्ति-

❋ भष्यम् ❋

त्तदुपादानस्य कर्मणोऽप्यनुपपत्तिमवोचाम। अमृतमश्नुत इत्या-

❋ आनन्दगिरीय टीका ❋

अयकर्मशेषनिमित्तं तु विदुषो भिक्षाटनादि न कर्म, चोदनाभावात्। किन्तु यावत्प्राणशरीरसंयोगभावि तत् कर्माभासम्। तच्च विद्वान्न स्वगतं मन्यते। कर्माध्यासोपादानाविद्याया असंभवात्, नैव किंचित् करोमीति प्रत्ययाच्चेति भावः। यदुक्तममृतशब्देन मुख्यमेवामृतत्वं किं न गृह्यते? विद्याशब्देन च परमात्मविद्येति तत्राह—अमृतमिति।

❋ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❋

मित्यन्यत्र विस्तरः। कर्मशेषेति। प्रारब्धकर्मशेषेत्यर्थः। धर्मिस्थितौ हेतुभूतप्रारब्धस्य धर्मिस्थितिकारण त्वस्यपि प्रयोजकत्वमव्याहतम्। अन्यथा स्वकार्यनिष्पत्त्यनुपपत्तेरिति भिक्षाटनादिकमपि प्रारब्धशेषप्रयुक्तमेवेत्यर्थः। चोदनाभावादिति। अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्या' इत्यादिनियमविधिरपि आत्मसाक्षात्कारात्प्रागेव वित्रिदिषूणां संन्यासिनां न त्वात्मसाक्षात्कारवताम्। ननु ग्रासान् भुञ्जानस्य तत्त्वविद उक्तवचनस्मरणेऽधिकग्रासतो निवृत्तिर्दृश्यते, शास्त्रेषु भिक्षाटनादिविधिरुपलभ्यते न्यासिनामित्याशङ्कते—किन्त्विति। पूर्वसंस्कारवशेन दृश्यमानापि भिक्षाटनादिप्रवृत्तिर्ग्रासनियमश्च न कर्म, किन्तु कर्माभासमात्रमित्युक्ते हेतुमाह—तच्चेति। तद्धीत्यर्थः। न स्वगतं मन्यत इति। स्वगतत्वप्रकारकमतिविषयत्वमपि कर्मत्वप्रयोजकमेव। स्वगतत्वं स्वनिष्ठकर्तृताकत्वम्। न हि ताडफलपतनेन खल्वाटमस्तकभङ्गे फलस्य तत्कर्म भवति। अहं करोमीति बुद्धिविरहात्। कर्माध्यासेति। कर्तृत्वाध्यासेत्यर्थः। ननु स्वनिष्ठकर्तृताकत्वानुसन्धानमज्ञानामपि न निरन्तरं प्रवर्तत इति क्रियमाणेष्वपि बहुषु कर्मसु कर्मत्वं न स्यात्। यदि च स्वनिष्ठकर्तृताकत्वसंस्कारमात्रममिमतं तदा तत्त्वविदामपि स्वीकृतमेवेत्यत आह—नैव किंचित्करोमीति प्रत्ययाच्चेति। न हि नायं सर्प इति निश्चयानन्तरमपि सर्पसत्त्वमभ्युपगन्तुं शक्यम्। तथा कर्मसत्त्वमपि तद्बाधोत्तरम्।

यदुक्तममृतशब्देनेत्यादि। नन्वेतावता विचारग्रन्थेन कस्य प्रश्नस्योत्तरं दत्तम्? न हि प्रश्नान्तरं संशयान्तरं वा प्राग् दर्शितं यत्समाधिविषया ननूक्तायाः परमात्मविद्याया इत्यादिभाष्यसन्दर्भः प्रवृत्तः। न च ज्ञानकर्मसमुच्चयनिराकरणमेतावता कृतमिति वाच्यम्। यतस्तस्याप्युक्तसंशयसमाधानविधयैव कृतत्वात्। अत्र हि कर्मसमुच्चितं किंचित्साधनं विधीयते, तच्च न ज्ञानं संभवति विरोधात् कि-

❀ भाष्यम् ❀

पेक्षिकममृतम् । विद्याशब्देन परमात्मविद्याग्रहणे हिरण्मयेनेत्यादिना द्वारमार्गादियाचनमनुपपन्नं स्यात् ।

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

मुख्यामृतत्वग्रहणे हिरण्मयादिमन्त्रेण द्वारमार्गयाचनमनुपपन्नं स्यात् ।

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

न्तूपासनैव । न चोपासनायाः फलममृतत्वं मुख्यं संभवतीत्येतावतोऽर्थस्यैतावद्ग्रन्थेन लब्धत्वादित्ययमप्रश्न एवेति चेत् ? सत्यम् । समसमुच्चयो ज्ञानकर्मणोर्न भवितुमर्हति विरोधात् । पूर्वं विद्या पश्चादविद्येत्येवंविधक्रमसमुच्चयोऽपि न भवितुमर्हति विद्योत्तरमविद्यास्तमयात् । तथापि पूर्वं कर्म पश्चाद्विद्येत्येवंविधक्रमसमुच्चये न काप्यनुपपत्तिः । स्वीकृतश्च तादृशः समुच्चय इष्यत एवेत्यादिना । एवं सति तथाविधसमुच्चयमाश्रित्यैव विद्यापदस्य परमात्मविद्यापरत्वममृतपदस्य मुख्यामृतत्वपरत्वं च संभवतीति प्रश्नस्योपपत्तेः ।

ननु चोपक्रमोपसंहारवैरूप्येण प्रकरणभेदावश्यंभावात्परमात्मविद्याप्रकरणत्वाभावादेव विद्यापदस्य न परमात्मविद्यापरकत्वमत एव चामृतपदस्य मुख्यामृतत्वार्थकत्वमिति पुनरपि नास्य प्रश्नस्यावसर इति चेन्न । न ह्युपक्रमोपसंहारवैरूप्यमात्रेण प्रकरणभेदो वा शब्दानामन्यथार्थो वा कल्पयितुं युक्तः । किं च भवतु नाम प्रकरणभेदः । तथापि कर्मप्रकरणपठितानामपि 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इत्यादीनामन्यार्थत्वानभ्युपगमात् । न हि तत्र विदित्वेत्यस्योपास्येति मृत्युमत्येतीत्यस्यानैश्वर्यादिमृत्युमत्येतीति वाऽर्थः केनाप्युपगम्यते इति विद्यापदस्य ब्रह्मविद्यार्थकत्वममृतपदेन मुख्यामृतत्वग्रहणं च युक्तमेव स्यात् ।

अमृतमश्नुत इति आपेक्षिकममृतत्वमुच्यते । विद्यापदेनोपासनाया एव ग्रहणाद् उपासनया मुख्यामृतत्वप्राप्त्ययोगात् । कुत उपासनैव गृह्यते न तु परमात्मविद्या ? तत्राह भाष्ये विद्याशब्देनेति योजनीयम् । द्वारमार्गादियाचनमिति । (द्वारभूतः स्वरूपभूतो यो मार्गः मुखं स्वरूपमिति मुखं द्वारमिति च भाष्यद्वयस्य प्रागुदर्शितत्वात् । आदिपदेन सुपथा राय इत्युत्तरायणमार्गयाचना । अथवा) द्वारं च मार्गश्च द्वारमार्गौ तावादी येषां ते तथा तेषां याचनमिति विग्रहः । मुखमपावृणु इति द्वारयाचनम् । वायुरनिलमित्यादि सुपथा राय इति च मार्गयाचनम् । आदिपदग्राह्यं च व्यूह रश्मीन् समूह तेज इत्यादि । अनुपपन्नं स्यादिति । परमात्मविद्यायां सत्यामुत्तरायणादिमार्गगमनाद्यभावात् । नन्वेतावता विद्याशब्देन परमात्मविद्याग्रहणं न भवतीति समर्थितम् तथापि अमृतमश्नुत इत्यापेक्षिकममृतमित्येतस्य समर्थने न

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" "अत्र ब्रह्मसमश्नुते" इत्यादि श्रुतेः। अतो मुख्यार्थे बाधाद् गौणार्थग्रहणं युक्तमित्यर्थः।

❀ जयमङ्गलाचार्यविवरणम् ❀

किंचिदुक्तमिति प्रतिभाति। अतष्टीकाकारस्तत्रापि द्वारमार्गादियाचनानुपपत्तिमेव हेतुविधया योजयति मुख्यामृतत्वग्रहण इति। ननु विद्यापदेन परमात्मविद्या न गृह्यत इत्यायातं मार्गयाचनसामर्थ्यात्। तथा चोपासना विद्यापदार्थ इति स्थितम्। एवं सति अमृतपदस्य मुख्यामृतत्वग्रहणेऽपि सैवानुपपत्तिः कथं हेतुः? उपासनोत्तर-मुत्तरमार्गेण ब्रह्मलोकं गतो हि ब्रह्मणा सह मुख्यममृतत्वं लभत इति। न। मार्गस्य मुख्यामृतत्वाऽप्रयोजकत्वात्। ब्रह्मलोकगतोऽपि सहसा नामृतत्वं प्राप्नोति। किन्तु तत्र ज्ञानं प्राप्यैवामृतत्वभाग् भवति। तथा चान्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञानस्यैवामृत-त्वहेतुत्वम्। मार्गस्तु न नियतपूर्ववृत्तिरिति व्यभिचारित्वान्नामृतत्वहेतुः। ननु उपा-सनोत्तरममृतत्वप्राप्तौ नियमेन मार्गो वर्त्तत इति कथं व्यभिचारित्वमित्याशङ्काया-ममृतत्वसामान्याऽव्यवहितपूर्ववर्त्तित्वव्यभिचारप्रदर्शनाय श्रुतिमुपन्यस्यति—न त-स्येति। ननु मार्गस्य व्यभिचारित्वं कुत उच्यते उपासनाया एव व्यभिचारित्वस्य वक्तव्यत्वात्। यत्र चोपासनोत्तरं मुख्यामृतत्वप्राप्तिरस्ति तत्र वर्त्तत एव मार्गोऽपीति कथं मार्गयाचनमनुपपन्नं स्यात्। न च विद्यापदेन मुख्यविद्यासिद्धौ मुख्या-मृतत्वप्राप्तिं प्रति द्वारयाचनमनुपपन्नं स्यादित्येव विवक्षितमिति वाच्यम्। तर्हि गौ-णामृतत्वप्राप्तिं प्रति मार्गयाचनं मन्यते भवान्? न हि विद्यापदेन परमात्मविद्याग्रहणे गौणामृतत्वमेव भवति इति मुख्यामृतत्वं प्रतीति विशेषणं निरर्थकमेव। परमात्म-विद्याग्रहणे द्वारयाचनमनुपपन्नं भवतीत्येव वक्तव्यं, न तस्य प्राणा उत्क्रामन्तीति श्रुतेः। न च स एव मम विवक्षितार्थ इति वाच्यम्। तर्हि तद् भाष्य एवोक्तम्। विद्याशब्देन परमात्मविद्याग्रहण इत्यादिना। किमर्थं भवान् तत्परित्यज्य मुख्या-मृतत्वग्रहणे द्वारयाचनमनुपपन्नं स्यादिति ब्रूते। अत्रोच्यते। विद्यापदार्थनिरूपणा-त्प्रागपि अमृतपदेनामृतत्वं मुख्यं न ग्रहीतुं युक्तं मार्गयाचनसामर्थ्याद्। मार्गस्या-न्यथासिद्धत्वादिति टीकातात्पर्यम्। किं च विद्याशब्देनोपासनार्थनिश्चयेऽपि तस्या ब्रह्मलोकप्राप्तिं प्रत्येव हेतुत्वादभ्रान्तपुरुषो ब्रह्मलोकप्राप्तिमुद्दिश्यैव द्वारयाचनं कुर्यान्न तु मुख्यामृतत्वं प्रति। श्रुतिश्च संशयविपर्यासादिरहिता द्वारप्रार्थनां प्रदर्शयतीति द्वारेण उपासनाप्राप्यं ब्रह्मलोकमेवाभिप्रैति न तु मुख्यममृतत्वमिति टीकायोजना कार्या।

ननु माध्यन्दिनशाखायामपि हिरण्मयेनेत्यादिमन्त्रो विद्यत इति तत्र कथं विद्यापदेन परमात्मविद्या गृहीता? न च हिरण्मयेनेति मन्त्रे सत्यस्यापिहितं मुखम्

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

इत्यनन्तरं न प्रार्थना दृश्यते किन्तु योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहमित्येवेति वाच्यम्। हिरण्मयपात्रपिधानप्रत्यभिज्ञानादुपसंहारन्यायेन तत्रापि द्वारयाचनाथाः कल्पनीयत्वात्। अन्यथा विद्योत्पत्त्यनन्तरमपिहित मुखमित्येतदनुपपत्तेदुर्वारत्वात्। परमात्मविद्यया सर्वावरणनिवृत्तेः। किं चाग्ने नय सुपथेति स्पष्टं मार्गयाचनं तत्राप्यस्ति। तस्मात्तत्रापि पूर्वं कर्म पश्चाद्विद्येति क्रमसमुच्चयो न विवक्षितुं शक्येतेति चेद्? अत्र वदन्ति। माध्यन्दिने उपक्रमोपसंहारैक्येनैकप्रकारणत्वे स्थिते ज्ञानोपयोगितया प्रथमं संभूत्यसंभूत्युपासना समुच्चिता विधीयते तत्रासंभूतिर्ब्रह्मैव स्यात्। ततो ज्ञानद्वारा मुख्यममृतत्वम्। विद्यां चाविद्यां चेति ततः क्रमसमुच्चयादप्यमृतत्वम्। कुर्वन्नेवेह कर्माणीति प्रासङ्गिकोक्तमादाय वायुरनिलमिति अग्ने नयेत्यादि च मन्त्रद्वयम्। कर्मिणां हिरण्मयेन पात्रेणापिहितमपि कर्मज्ञानक्रमसमुच्चयाद् योऽवसावादित्ये परमपुरुषः साऽसावहमिति साक्षात्करोमि ओं खं ब्रह्मेत्यद्वैतात्मस्वरूपेणावस्थानं सर्वफलमभिहितमुपक्रान्तस्य चोपसंहारः कृत इति। काण्वशाखायां तु मार्गयाचनयैव नमउक्तिं विधेमेति समाप्तिः। विभक्ते च प्रकरणे मुख्यममृतत्वं परमात्मविद्या च न ग्रहीतुं शक्येते इति।

परे तु माध्यन्दिनशाखायामपि नार्थभेदः। प्रत्यभिज्ञानात्। भाष्यकारैस्तत्र तत्र विद्यापदस्य परमात्मविद्यापरत्वममृतपदस्य मुख्यामृतत्वार्थकत्वं च मैत्रायण्युद्धृतमन्त्रगतस्यैव। यथा "यज्ञस्य घोषदसी"त्यादिमन्त्रतः पूर्वं 'देवस्य त्वा सवितुरि'त्यादि मन्त्र उद्धृत्य ब्राह्मणेन व्याख्यातः। तत्रोद्धृतमन्त्राणां समानानुपूर्वीकतया प्रसिद्धमन्त्रार्थादन्यार्थत्वमपि प्रकरणोपयोगितया बहुधा ब्राह्मणेन व्याख्यातम्। एवं मैत्रायण्यामानूपूर्वीसामान्येऽप्युद्धृतमन्त्रस्यान्यार्थत्वं संभवत्येव। न ह्येतावता समानानुपूर्वीकतयाऽन्यत्रोपलभ्यमानमन्त्रस्यापि तदर्थकत्वमेवेति निश्चयसंभवः। शाखान्तरेषु संप्रत्यनुपलभ्यमानमन्त्राणामप्युद्धारो दृष्टः। यथा तत्रैव 'अविद्यायामन्तरे वेष्टयमाना' इत्यादिमन्त्रः। वेष्टयमानपदघटितवाक्यं संप्रत्यन्यत्र कुत्रापि नोपलभ्यते। किन्तु समुद्धृतं मैत्रायण्याम्। तस्माद् 'अविद्यायामन्तरे वेष्टयमाना' इत्यादिकं सांप्रतिकशाखान्तरनुपलब्धमेव यथोद्धृतं तथा विद्यां चाविद्यां चेत्यपि संप्रत्यनुपलभ्यमानशाखाविशेषत एवोद्धृतमर्थभेदात्। प्रकृतोपनिषद्गततथानुपूर्वीकमन्त्रस्य मार्गयाचनान्यथानुपपत्त्या मुख्यपरमात्मविद्यादिपरकत्वविरहादिति सुधीभिर्विवेचनीयम्।

इत्थं च कर्मज्ञानयोः पूर्वोत्तरभावेन क्रमसमुच्चयसंभवेऽपि न प्रकृतोपनिषदि विद्यां चाविद्यां चेत्यत्र तादृशक्रमसमुच्चयेऽपि तात्पर्यं, मार्गयाचनानुपपत्तेरिति कर्मोपासनयोरेव समुच्चयो विवक्षित इत्युपसंहरति भाष्ये—तस्मा-

❀ भाष्यम् ❀

तस्मादुपासनयासमुच्चयो न परमात्मविज्ञानेनेति यथाव्याख्यात एव मन्त्राणामर्थ इत्युपरम्यते ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ वाजसनेयसंहितोपनिषद्भाष्यं संपूर्णम् ॥

—:०❀०:—

❀ आनन्दगिरीय टीका ❀

यस्मादर्थान्तरं न संगच्छते तस्मादित्युपसंहारः ॥

ईशाप्रभृतिभाष्यस्य शाङ्करस्य परात्मनः ।
मन्दोपकृतिसिद्ध्यर्थं प्रणीतं टिप्पणं स्फुटम् ॥१॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशुद्धानन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य भगवदानन्दज्ञानकृता वाजसनेयसंहितोपनिषद्भाष्यटीका समाप्ता ॥

ॐ तत् सत्

—:०❀०:—

❀ जयमङ्गलाचार्य विवरणम् ❀

दुपासनयासमुच्चय इति ।

टीकायाम्—अर्थान्तरम्=विद्यापदस्य परमात्मविद्यार्थकत्वममृतपदस्य मोक्षार्थकत्वं च । न संगच्छते=न प्रकृतसंगतं भवति, मार्गयाचनादिना संगतिं न लभते इति यावत्! तस्मादित्युपसंहारः=तेन हेतुना उपासनयैव समुच्चय इत्याद्युपसंहारः ।

शोकमोहाद्यसंस्पृष्टं नित्यं व्यापकमद्वयम् ।
चिदानन्दैकसन्दोहं खं ब्रह्म समुपास्महे ॥

इति श्री जयमङ्गलाचार्य (स्वामी काशिकानन्द) विरचित-
मीशावास्यरहस्यविवरणं समाप्तम् ।

॥ शुभं भूयात् ॥

—:०❀०:—



ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृभ्यो
वंशऋषिभ्यो महद्भ्यो नमो गुरुभ्यः ॥१॥

सर्वोपप्लवरहितः प्रज्ञानघनः प्रत्यगर्थो ब्रह्मैवाहमस्मि ॥२॥

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च ।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम् ॥३॥

श्रीशंकराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम् ।
तं तोटकं वार्त्तिककारमन्यानस्मद्गुरून्सन्ततमानतोऽस्मि ॥४॥

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम् ।
नमामि भगवत्पादं शंकरं लोकशंकरम् ॥५॥

शंकरं शंकराचार्यं केशवं बादरायणम् ।
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ॥६॥

ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्त्तिभेदविभागिने ।
व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्त्तये नमः ॥७॥

नारायणसमारब्धां शंकराचार्यमध्यमाम् ।
अस्मदाचार्यपर्यन्तां वन्दे गुरुपरम्पराम् ॥८॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

मुद्रिता ग्रन्थाः

जा० सामान्यलक्षणा तत्त्वप्रदीपसहिता (न्याय)	४-५०
महिम्नः स्तोत्रं हरिहरपत्नीयानुवादसहितम्	१-००
दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रवार्त्तिकं सानुवादम्	१-००
गोपीगीतम् अर्थद्वयसहितम्	०-३०
वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलिः	२-००
नारदीयभक्तिसूत्राणि वार्त्तिकसहितानि प्रथमोभाग —	३-००
द्वितीयो भाग :—	३-००
संक्षिप्तशंकरदिग्विजयः	३-००
ईशावास्यरहस्यविवरणम्	६-००
शिवसंकल्पप्रवचनसारः (गुजराती)	०-३०

मुद्रयिष्यमाणाः

वेदान्तमन्दारतरुः
शिवसंकल्पवार्त्तिकम्
गायत्री प्रवचन (हिन्दी)
दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रवार्त्तिकप्रवचन (हिन्दी)
पञ्चदशी प्रवचन (हिन्दी)
भागवत प्रवचन ,,
भागवत सार ,,
मुण्डक प्रवचन ,,
ईशावास्य प्रवचन ,,
भगवद्गीता प्रकरणसार ,,
भगवद्गीता प्रवचन ,,
अष्टावक्रगीता प्रवचन ,,
माण्डूक्योपनिषद्व्याख्या (संस्कृत)

चित्सुखीव्याख्या, गौडब्रह्मानन्दीव्याख्या, खण्डनव्याख्या, न्यायसूत्रभाष्यार्थसंग्रहः, प्रशस्तपादभाष्यार्थसंग्रहः, न्यायसिद्धान्त रत्नमाला, अनुमिति-अवयव-सत्प्रतिपक्ष-प्रामाण्यवाद-साधारण-सव्यभिचाराणां गादाधर्यास्तत्त्वप्रदीपः शक्तिवाद-व्युत्पत्तिवाद-योस्तत्त्वप्रदीपः केवलान्वयिजागदीशीतत्त्वप्रदीपः, सर्वदर्शन-सिद्धान्ततत्त्वविवेक इत्यादयोऽपि ग्रन्था संभावितमुद्रणाः।